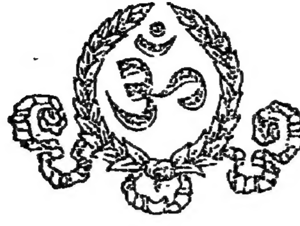


* तत्सद्ब्रह्मणे नमः *

श्री शङ्करेशचरणकमलेभ्यो नमः

श्री विश्वनाथानुवर्तिने नमः

अथ



कर्म्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

* पंचमोऽध्यायः *

ओं तस्य वयꣳ सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम।

ससुत्रा मास्ववाँ इन्द्रोऽअस्मेऽआराच्चि द्वेषः सनुतर्युयोतु।

ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!! (शु० य० अ० २ मं० ५२)



अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा
दगतिच गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ॥
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानाम्
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्मयत्तन्नतोऽस्मि ॥

अहा! आज कुरुक्षेत्रकी रणभूमिमें भारतकुल भूषण अर्जुनके रथकी शोभा वर्णन करनेमें यह छोटी जिह्वा कैसे समर्थ होसकती है? जिस रथका सारथी बननेके लिये स्वयं श्री गोलोकविहारी भक्तहितकारी त्रिलोकीनाथने अपनी सोलहों कलाओंको लिये पदार्पण किया है। आर्यावर्तके वीरशिरोमणियो! युद्धकलामें प्रवीण क्षत्रियवंशावतंसो! उठो! उठो!! चेतो! चेतो!! अपने-अपने शस्त्रोंको ग्रहण करो। रणभूमिकी शोभा देखो! मरो और मारो! क्योंकि तुम वीरों को फिर ऐसा संयोग कहां प्राप्त होगा? कि अर्जुनके रथ हांकते समय परिश्रान्त होनेसे श्यामसुन्दरके ललाट तथा कपोलोंपर श्रमकणोंमें भीगीहुई लटूरियोंकी अलौकिक शोभा देखतेहुए प्राण देकर उनके स्वरूपमें जामिलो। क्योंकि अन्य युद्धोंमें तो मृत्यु प्राप्त होनेसे स्वर्ग ही का सुख लाभ होता है जो नश्वर है, पर इस युद्धमें जहां स्वयं महाप्रभु तुम्हारी मृत्युके समय तुम्हारे सम्मुख सुशोभित रहेगा तहां तुम को कैवल्य परम पद प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है? कुछ भी नहीं तनक भी नहीं।

प्रिय पाठको! चलो हमलोग भी इसी मनोहारिणी छबिको ध्यानमें बनाये हुए अपने विषयकी ओर चलें।

मू०— सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगञ्च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

पदच्छेदः— कृष्ण ! (हे भक्त-पापकर्षण वासुदेव !) कर्मणाम् (नित्य नैमित्तिकादीनाम्) सन्न्यासम् (त्यागम् । विसर्जनम्) पुनः योगम् (कर्मानुष्ठानम्) च [कथम्] शंससि (कथयसि) एतयोः (कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोः) यत् एकम् श्रेयः (प्रशस्यतरम्) तत् मे (मह्यम्) सुनिश्चितम् (सम्यक् प्रकारेण संशयरहितम्) ब्रूहि (कथय) ॥ १ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके पाप खींचनेवाले वासुदेव ! (कर्मणाम्) नित्य नैमित्तिक इत्यादि कर्मोंका (सन्न्यासम्) त्याग (पुनः) फिर (योगम्) कर्मोंका अनुष्ठान (च) भी (शंससि) क्यों कथन करते हो ? इन विरुद्ध वचनोंको श्रवणकर मैं घबराता हूं सो (एतयोः) इन दोनोंमें (यत्) जो (एकम्) एक वचन (मे) मेरे लिये (श्रेयः) कल्याणकारक हो (तत्) उसी एक (सुनिश्चितम्) निश्चय कियेहुएको (ब्रूहि) कहो ॥ १ ॥

भावार्थः— इस गीता शास्त्रका प्रथम अध्याय तो उपोद्घात है, जिसमें इस अमूल्य रत्न गीताके प्रकट होनेका कारण जो अर्जुनका विषाद वर्णन कियागया है और दूसरा अध्याय सूत्रके समान है जिसमें गीताशास्त्रके सर्व प्रकारके विषयोंका वर्णन करदिया गया है । तीसरे और चौथे अध्यायमें अधिकारी भेदसे ज्ञान प्राप्तिका उपाय जो नाना प्रकारके अनुष्ठान तथा ज्ञानकी महिमा वर्णन कीगई

है । अब इस पांचवें और अगले छठवें अध्यायमें कर्म सन्न्यास अर्थात् कर्मोंका त्याग तथा कर्मयोग कर्मोंका अनुष्ठान दोनों विषयोंका वर्णन अधिकारी भेदसे करेंगे ।

अब जानना चाहिये, कि संसारमें दो प्रकारके मनुष्य हैं मूर्ख और ज्ञानी । तिनमें मूर्खोंके लिये तो कर्म-सन्न्यास कहा ही नहीं वरु यहां तक कहा, कि " न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् " अज्ञानी कर्मसंगियोंकी बुद्धिका भेदन नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे न वह इधरका रहेगा न उधरका रहेगा । दोनों लोकोंसे उसे हाथ धोना पडेगा । क्योंकि इधर संसृत-व्यवहारोंमें डूबे रहनेसे अव-काशके अभाववश वैदिक सब कर्मोंको भी छोडदेगा और उधर उसे मूर्खताके कारण आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो ही गी नहीं । बस ! " इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः" होनेसे उसकी दुर्दशा होजावेगी । इसलिये जो ज्ञानी

टिप्पणी— प्रिय पाठको ! बडे शोककी वार्त्ता तो यह है, कि इस वर्त्तमान कलियुगमें तत्वदर्शियोंकी न्यूनताके कारण गुरु-प्रणाली बिगडकर ऐसी नष्ट-भ्रष्ट होगई है, कि साधारण प्राणियोंका तो संसार-जालसे निकलना ही कठिन है, पर जो कोई कुछ इधर उधर टूटे डैनेवाले पक्षियोंके समान उडनेकेलिये चाहता भी है तो फडफडाकर डैना पटककर रहजाता है । क्या करें ? कहां जावें ? किससे कहें ? जिसे देखो वही वेदका ज्ञाता बना बैठा है, पर जो भीतर टटोलिये तो "खं ब्रह्मणे नमः" कहना पडता है । अर्थात् शून्य ब्रह्मको नमस्कार करना पडता है । क्योंकि उनका हृदय सर्वप्रकार शून्य है । मुख्य अभिप्राय यह है, कि तत्वदर्शियों तथा श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठोंकी न्यूनताके कारण भारतवासी अन्य-धर्म्मोंमें जा घुसते हैं और महाघोर तथा अन्यायकी गठरी मस्तकपर ले अन्तमें यमपुरीकी यात्रा करते हैं । इस गीताशास्त्रकी गम्भीरताको समझकर आत्मज्ञान प्राप्त करना तो विधाताने उनके ललाटमें लिखा ही नहीं । ईश्वर उनकी बुद्धिको उज्वल करे और अपनी शरण देवे ।

नहीं है उसे **कर्म-योगका** ही अधिकार है। क्योंकि कर्मानुष्ठान करते करते **अरुन्धतीदर्शनन्यायसे** उसे पहले कर्मोंके फलका त्याग बतावेंगे। जब कर्म-फल-त्यागकी महिमासे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होगी और ज्ञानकी श्रद्धा उस अज्ञानीके हृदयमें उपजेगी तब उसे आत्मज्ञान तथा भगवत्तत्त्वरूपकी प्राप्तिका भेद बतावेंगे। तब वह चाहे कर्म करे चाहे न करे दोनों उसकेलिये समान हैं। इस विषयको भगवान् चौथे अध्यायमें भलीभांति निरूपण करआये हैं।

अब अज्ञानियोंकेलिये **कर्मयोग** अर्थात् कर्मानुष्ठान और ज्ञानियोंकेलिये **कर्मत्याग** का भेद इस पांचवें अध्यायमें कहकर कर्मकाण्डका विषय समाप्त करदेवेंगे। पर इस चौथे अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अर्जुनके प्रति यह कहदिया, कि तू "**योगमातिष्ठ**" कर्मानुष्ठानमें वर्त्तमान होजा! तब अर्जुनके हृदयमें यह चिन्ता हुई, कि भगवान्ने अभी मुझसे कर्मसन्यासकी बडी प्रशंसा की है। अभी मुझसे कहा है, कि "**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते**" (देखो अ० ३ श्लो० १७) अर्थात् जो प्राणी आत्मामें सन्तुष्ट है उसको कुछ भी करना नहीं है। इस बचनसे कर्मका त्याग उपदेश किया है तो क्या अच्छीबात है, कि मैं कर्मका त्याग ही क्यों न करदूं? कर्मका अनुष्ठान क्यों करूं?

यहां अर्जुन तो यह चाहता है, कि किसी प्रकार भगवान् मुझे इस युद्धको छोडकर चलेजानेकी आज्ञा देदेवें, इसी कारण जहां—जहां जिस पदमें तनक भी कर्मके त्यागका लेश देखता है झट उसे अपना

विषय मानलेता है। इसलिये अर्जुन फिर भगवान्से यों प्रश्न करता है, कि [**सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण! पुनर्योगं च शंससि**] हे भक्तों के दुःखोंको खैंचनेवाले श्री कृष्ण ! तुमतो कभी कर्मका सन्न्यास तथा कभी कर्मका अनुष्ठान उपदेश करते हो। ऐसा क्यों करते हो ? इन दोनों प्रकारके बचनोंसे मुझे एक प्रकारकी चंचलता उत्पन्नहोती है, कि कभी तो जी चाहता हैं, कि युद्ध करूं कभी चाहता है, कि न करूं। पर तुमतो मुझे बारंबार युद्ध ही करनेकी आज्ञा देरहे हो इसलिये मैं व्यग्र होकर तुमसे पूछताहूं, कि [**यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्**] इन दोनोंमें जो मेरेलिये अधिक कल्याणकारक हो उसी एक निश्चय कियेहुए मार्गको कहो! अर्थात् जिसमें मेरे दोनों प्रकारके श्रेयोंका लाभ हो, जिससे मेरी बुद्धि स्थिर होजावे, फिर मुझको किसी दूसरेकी शरण जाकर प्रणिपात, सेवा अथवा प्रश्न द्वारा किसी प्रकारकी शिक्षा पानेकी आवश्यकता न रहे ऐसी एक बात निश्चय कर कहो। क्योंकि तुम जगद्गुरू हो। ऐसा कौन मूर्ख होगा ? जो अपनी प्यासकी शान्तिकेलिये समीपमें अमृतकुण्ड छोडकर मृगतृष्णाकी ओर दौडेगा ?। सिंहकी शरण छोड जम्बुककी शरणजाना कौन स्वीकार करेगा ? इसलिये हे कृपासागर ! मुझ दीनपर दया कर मेरी इस ढिठाईको क्षमाकरो, कि मैं बारम्बार तुम्हारे वचनोंके वीकार करनेमें शंकेत हो प्रश्न कियाकरता हूँ। इसलिये मेरा अपराध क्षमाकरो! **कर्मत्याग और कर्मानुष्ठान** इन दोनोंमें जो तुमने मेरेलिये निश्चय कररखा हो सो अवश्य मुझको उपदेश करो ॥ १ ॥

इतना सुन भगवान् बोले—

श्री भगवानुवाच

मू०— सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

पदच्छेदः— सन्न्यासः (कर्मणां त्यागः) च (तथा) कर्मयोगः (कर्मणामनुष्ठानम्) उभौ (द्वौ) निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन मोक्षोपयोगिनौ) [तथापि] तयोः (द्वयोर्निःश्रेयसहेत्वोः) तु कर्मसन्न्यासात् (अशुद्धचित्तेनाविरक्तेनानधिकारिणा कृतात् कर्मत्यागात्) कर्मयोगः (अधिकारसम्पादकत्वेन कर्मानुष्ठानम्) विशिष्यते (उत्कृष्टो भवति) ॥ २ ॥

पदार्थः— श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हैं, कि हे अर्जुन ! (**सन्न्यासः**) कर्मोंका जो त्याग (**च**) तथा (**कर्मयोगः**) कर्मोंका अनुष्ठान (**उभौ**) दोनों ही (**निश्श्रेयसकरौ**) कल्याण कारक अर्थात् मोक्षके उपयोगी हैं तथापि (**तयोस्तु**) तिन दोनोंमें (**कर्मसन्न्यासात्**) कर्मोंके त्यागसे (**कर्मयोगः**) कर्मोंका अनुष्ठान तेरे लिये (**विशिष्यते**) उत्तम है ॥ २ ॥

भावार्थः— अर्जुनने भगवान्‌से पूछा है, कि मेरे लिये उत्तम क्या होगा ? **कर्मसन्न्यास** वा **कर्मयोग** अर्थात् **कर्मोंको छोड़देना** वा **कर्मोंको करना** । अब यह वार्त्ता विचारने योग्य है, कि यदि किसी सन्यासीसे पूछा जावे, कि इन दोनोंमें कौन उत्तम

है तो वह झट बोल उठेगा, कि कर्म-सन्यास उत्तम है। यदि किसी श्रोत्रिय, याज्ञिक, ऋत्विज तथा कर्मकांडीसे पूछा जावे तो वह शीघ्र ही बिना बिचारे यही कहबैठेगा, कि कर्मयोग अर्थात् कर्मका अनुष्ठान करना ही उत्तम है। इसमें सन्देह नहीं, कि इन दोनोंके कथन अपने-अपने स्थानपर उचित हैं। शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके प्रथम और द्वितीय मंत्रमें यों कहा है—

" ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भूञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥ "

अर्थ— यह सम्पूर्ण जगत् उस ईशसे व्याप्त है इसलिये इस जगत्में जो जगत् है अर्थात् पुत्रैषणा, लौकैषणा, वित्तैषणा जो तीन प्रकारकी कामनायें हैं इनको त्याग कर किसी अन्यकी अथवा अपने धनकी इच्छा मत कर! वरु भूञ्जीथाः (पालयेः) अपने आत्मा ही को पालन कर! अर्थात् सब त्याग केवल आत्मज्ञानकी प्राप्ति कर! यह पहला मंत्र कर्मसन्न्यासका निरूपण करता हुआ कहता है, कि मुमुक्षुओंको ही कर्मसन्यासका अधिकार है।

अब दूसरा मंत्र उन लोगोंकेलिये है जो आत्मज्ञानी नहीं हैं सो सुनो!

* ॐ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

* इस मंत्रका भाष्य करतेहुए श्री शंकर भगवान् कहते हैं, कि " अथेतरस्यानात्मज्ञतयात्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशति। " अर्थात् जो आत्मज्ञानियोंसे इतर अनात्मज्ञताके कारण आत्मज्ञानके ग्रहण करनेमें आसक्त हैं उनके लिये यह दूसरा मंत्र यों उपदेश करताहै।

अर्थ— यदि तुझको सौ वर्ष जीनेकी इच्छा है तो कर्मोंका सम्पादन कर ! क्योंकि यज्ञादि कर्मोंको छोड " **अन्यथा न अस्ति** " कोई दूसरा प्रकार तुझमें नहीं है जिससे तेरे इस मनुष्य शरीर में पाप-कर्म न लिपटें। अर्थात् आत्मज्ञानी न होनेके कारण कर्मोंका अनुष्ठान छोड अन्य किसी उपायसे पाप छूटनेका कोई मार्ग नहीं देखपडता है।

शंकर भगवान्‌ने इन मंत्रोंका ऐसा ही भाष्य किया है । इन ही दोनों मन्त्रोंसे ऐसा सिद्ध होता है, कि **कर्म-सन्न्यास** और **कर्म-योग** ये दो मार्ग हैं और इन दोनोंके विषय सैकडों मन्त्र वेदोंमें भरे हुए हैं। ये दोनों कल्याणकारक हैं। पर ऐसा नहीं होसकता, कि एक ही समय एक ही पुरुष इन दोनोंका अधिकारी होसके।

बहुतेरे पण्डित यों कहबैठते हैं, कि वेदोंमें केवल कर्महीका वर्णन है। सन्न्यासका नहीं है। यह उनका कहना भूल है । यह जो शुक्ल यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय है वह सम्पूर्ण अध्याय सन्न्यासका ही बतानेवाला है।

बहुतेरे महात्माओंकी यही सम्मति है, कि इस सम्पूर्ण अध्यायका **कर्मत्याग**में ही विनियोग है कर्म-योगमें नहीं। केवल इसका दूसरा मंत्र थोडा कर्म-योगके विषय कहता है तहां महात्मा शंकरानन्द इसके विषय यों कहते हैं—

" ईशावास्यादयो मंत्रा विनियुक्ता न कर्मणि ।
प्रमाणाभावतस्तेषां कुर्वे व्याख्यामकर्मगाम् ॥ "

अर्थ— इस ईशावास्यके सम्पूर्ण अध्यायके मंत्रोंका कर्म-त्यागमें ही विनियोग है । इसलिये इसका व्याख्यान कर्म-त्याग अर्थात् सन्न्यासमें ही करता हूं ।

इनसे अतिरिक्त जितने महा पुरुषोंने इसका भाष्य किया है सबों की यही सम्मति है । श्री ब्रह्मानन्द सरस्वती इस मंत्रका रहस्य लिखते हुए कहते हैं—

जगद्ब्रह्मैव परमम्ब्रह्मैवेदमिति श्रुतेः ।
यस्माद्ब्रह्मात्मकं सर्वं तस्मात्त्यक्तेन सर्वदा ॥
पालयेथाः स्वमात्मानं स्वस्वरूपं निरंजनम् ।
त्यागशब्देन चाप्यत्र सन्न्यासः परिकीर्तितः ॥
सन्न्यस्य सर्वकर्म्माणि ब्रह्मैवास्मीति भावयन् ।
रक्षणीयः स्वयंचात्मा संसारदत्तकल्पितात् ॥
ब्रह्मानन्दकृतईशावास्यरहस्य श्लोक० ९, १०, ११)

अर्थ— सम्पूर्ण जगत ब्रह्मानन्दस्वरूप है । श्रुति भी इसी प्रकार कहती है, कि (ब्रह्मैवेदम्) जिस कारण सब ब्रह्मात्मक है इसलिये जगद्बुद्धिका त्यागकर स्वस्वरूप जो निरंजन आत्मा उसे पालनकरो । क्योंकि त्याग शब्दसे यहां कर्म-सन्न्यासका ही तात्पर्य्य है । इसलिये सब कर्मोंका सन्न्यास करके " अहं ब्रह्मास्मि " ऐसा अनुभव करते हुए इस अज्ञान-कल्पित संसारसे अपने आत्माकी रक्षा करो ॥

यही महापुरुष एवम् प्रकार प्रथम मंत्रका व्याख्यान कर दूसरे मंत्रका रहस्य लिखते हुए कहते हैं, कि—

सर्वकर्म्माणि सन्न्यस्य मन्तव्यः परमेश्वरः ।
तदशक्तस्य कर्म्माणि कर्तव्यानि श्रुतिर्जगौ ॥ १५ ॥

अर्थ— कर्मोंका त्याग करके केवल परमेश्वरही मानने योग्य है । पर जो प्राणी ऐसा करनेमें असमर्थ है उसीके लिये श्रुतिने कर्मोंका सम्पादन करनेकी आज्ञा दी है । इसलिये इसी दूसरे मंत्रमें कहते हैं, कि " अग्निहोत्रादि " कर्मोंका सम्पादन अवश्य करे । क्योंकि—

प्रकारान्तर नैवास्ति न कर्म लिप्यते यथा ।
ईश्वरार्पणबुद्ध्या तु कर्म्म कुर्वन्न लिप्यते ॥ १८ ॥

अर्थ— इन कर्मोंके बिना दूसरा कोई उपाय नहीं है, जिससे मनुष्यके शरीरमें शुभाशुभ-कर्म न लिपटें । इसलिये ईश्वरार्पण-बुद्धिद्वारा कर्म करते जानेसे कर्म बाधा नहीं करते ।

महात्मा **उवटने** भी इस दूसरे मंतका भाष्य करतेहुए कहा है, कि " **यावदिच्छाप्रवृत्तिस्तावत्कर्मस्वधिकार इति** " अर्थ— जब तक कामना बनीहुई है तबतक प्राणीका अधिकार कर्ममें ही है । ऐसे ही **आनन्दभट्ट, अनन्ताचार्य, शंकरानन्द** इत्यादि विद्वानोंने भी इन दोनों मंत्रोंके अर्थ किये हैं ।

श्यामसुन्दर आनन्दकन्द व्रजचन्द योगेश्वर भगवान अर्जुनके प्रति इसी विषयका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ**] कर्मसन्न्यास और कर्मयोग दोनों कल्याणकारक हैं । अभिप्राय यह है, कि इनमें कर्मसन्न्यास सिद्धान्तका-

लमें कल्याणकारक है और **कर्मयोग** साधनकालमें कल्याणकारक है। इसलिये **कर्मसन्न्यास** का अधिकार उन्हींको है जो आत्मज्ञान प्राप्त-करनेके अभिलाषी हैं। पर संसारी मनुष्य जो संसारके भोगोंकी अभिलाषा रखनेसे चित्तशुद्धि प्राप्त नहीं करसके हैं उनकेलिये कर्मयोग ही कल्याणदायक है।

इसी कारण भगवान दोनों प्रकारके बचनोंको अधिकारभेदसे पहले भी कहचुके हैं, कि " **यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च-मानवः। आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्यकार्य्यं न विद्यते** " (अ० ३ श्लो० १७) अर्थात् जो ज्ञानी सदा आत्मा ही में प्रेम रखता है, आत्माहीमें तृप्त रहता है और आत्माहीमें सन्तुष्ट रहता है उसकेलिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। फिर दूसरीबार यों कहा, कि " **न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्। योजयेत् सर्व्वकर्म्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्** " (अ० ३ श्लो० २६) अर्थात् कर्मासक्त मूर्खोंकी बुद्धिका भेदकरना अर्थात् उनको पराबुद्धिका रहस्य बताना नहीं चाहिये। इन बचनोंसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कि अधिकारी-भेदसे दोनों श्रेयस्कर हैं।

बडे शोककी बात है, कि बहुतेरे विद्वानोंने आजकल प्रवृत्ति-मार्गमें डूबेरहनेके कारण ऐसा समझलिया है, कि **कर्मसन्न्यास** असंभव है इसलिये कर्म्मसन्न्यासकी आवश्यकता ही नहीं है। केवल कर्मयोग ही करतेजाना और फलोंको ईश्वरमें समर्पण करतेजाना चाहिये। पर ये उन ही की सम्मति होसकती है जो बालबच्चोंके स्नेहमें

फंसकर इस निगड-बन्धनको तोडकर निवृत्तिमें जाना कठिन समझ रहे हैं, नहीं तो चार वर्ण और चार आश्रम ये अनादिकालसे चले आरहे हैं, परमात्माकी सृष्टिमें जितनी आदिसे रचनायें होआयी हैं और जितने विषयोंका वर्णन वेदोंमें है उनमें एकभी निर्बीज नहीं होसकता तो फिर ऐसा समझना, कि कर्मसन्न्यासका बीज ही संसारमें नहीं है, समझने वालेकी भूल है। हां! इतना तो अवश्य कहा जासकता है, कि इस कलियुगमें कर्मसन्न्यासकी न्यूनता होगई है, पर एकबारगी अभाव नहीं कहा जासकता। जो विद्वान् एवम् प्रकार केवल कर्मयोग ही पर बल देते हैं वे इस पांचवें अध्यायके इस दूसरे श्लोकको लेकर अपने पक्षका सिद्धान्त करने लगजाते हैं और कहते हैं, कि भगवान्ने स्वयं अपने मुंहसे कहा है, कि यद्यपि कर्मसन्न्यास और कर्मयोग दोनों कल्याण कारक हैं" पर [तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते] इन दोनोंमें कर्मसन्न्याससे कर्मयोग विशेष उपयोगी है अर्थात् प्रशस्यतर है। इन विद्वानोंको यह अवश्य बिचारना चाहिये, कि भगवानने ऐसा क्यों कहा? कहनेका प्रयोजन क्या था?

यह एक सीधीबात है, कि किसी प्रश्नका उत्तर देतेसमय उत्तरदाता को प्रश्नकर्ताकी अपेक्षा अवश्य करनी चाहिये नहीं तो अपेक्षारहित उत्तर निरर्थक समझाजाता है। तथा उस उत्तर देनेवालेकी भी हानि है। इसलिये जो उत्तरदेनेवाला आगे पीछे सब बातोंको देखकर उत्तरदेता है वही चतुर है। इसपर एक दृष्टान्त दियाजाता है।

किसी नगरके मार्ग पर दो भयंकर राक्षस रहते थे। जो प्राणी

उधरसे चलता था उससे दोनों यह प्रश्न करते थे, कि " यात्रियोंको घरसे अन्न जल करके मार्ग चलना चाहिये ? अथवा मार्ग चलकर अन्न जल करना चाहिये " ? जो यात्री यह कहता था, कि अन्न जल करके घरसे चलना चाहिये उसे एक राक्षस खा जाता था और जो यह कहता था, कि चलकर अन्न जल करना चाहिये उसे दूसरा खा जाता था। एवम् प्रकार इन दोनों राक्षसोंने अनेक यात्रियोंको खाकर पचा-दिया। संयोगवशात् एक वृद्ध ब्राह्मण जो परम चतुर था उस मार्गसे जा निकला किसी दयावान्ने उसे रोका, कि तुम इस मार्गसे मत जाओ वृद्ध ब्राह्मणने कारण पूछा तो उसे सारा वृत्तान्त उस दयावानने सुना दिया। वृद्ध ब्राह्मण कुछ विचार करनेके पश्चात् उसी मार्ग होकर चला जब उन राक्षसोंके समीप पहुँचा, उन्होंने उसी प्रकार उस ब्राह्मणको घेर कर प्रश्न किया। ब्राह्मण बोला, कि तुम राक्षसोंकी बात मुझसे पूछते हो वा मनुष्यों की ? यदि राक्षसोंकी पूछते हो तो मैं मनुष्य हूं कुछ नहीं कह सकता ! यदि मनुष्योंकी पूछो तो मैं कहूं ! राक्षसोंने कहा, कि हम मनुष्योंकी पूछते हैं ! ब्राह्मण बोला सुनो ! बरसातके चार-महीनेमें तो मनुष्योंको यात्रा करनी ही नहीं चाहिये। रही दो ऋतु जाडा और गरमी जाडेके दिनोंमें स्नान भोजन करके चलना चाहिये। क्योंकि सवेरे शीतकी अधिकता से मार्ग चलनेमें कष्ट होता है, इस लिये जबतक सूर्य्यकी प्रबल किरणोंसे शीतका निवारण हो तबतक स्नान भोजनादि कार्य्योंसे छुट्टी कर आनन्द-पूर्वक सुहावनी धूपमें मार्ग चलना उत्तम है। इसीके प्रतिकूल गरमीके दिनोंमें कुछ मार्ग चलकर स्नान भोजन करना चाहिये। क्योंकि ठराडे-ठराडे सवेरे आनन्द-पूर्वक

कुछ मार्ग कट जावेगा; जब धूपकी गरमी होगी तब किसी वृक्षकी छाया अथवा किसी उत्तरण-स्थानमें ठहर कर स्नान भोजनमें मध्य दिवसके तापको गवां कर फिर आगे चलना चाहिये। मैंने यह तुमको मनुष्योंकी बात कही। पर राक्षसगण जब चाहें चल सकते हैं। मैंने तुमको उचित उत्तर देदिया अब चाहे मुझे खालो वा छोडदो। इतना सुन वे दोनों राक्षस अत्यन्त प्रसन्न हुए और बृद्ध ब्राह्मणको बहुतसा द्रव्य देकर विदा किया।

विद्वानोंको विचारना चाहिये, कि इसी प्रकार प्रश्नके उत्तर देनेमें यदि प्रश्नकर्त्ताकी अपेक्षा न कीजावे तो प्रश्न कर्त्ताको भी सन्तोष नहीं होसकता। और उत्तर देनेवालेकी भी हानि होनी संभव है।

इसी प्रकार यहां अर्जुन जो संसारके कल्याण निमित्त अपनेको अज्ञानी बना शोकातुर हो आत्मज्ञानरहित पुरुषोंकी अपेक्षा लेकर प्रश्न करता है तब उसके उत्तरमें भगवान अर्जुनके प्रश्नकी अपेक्षा करके यह कहते हैं, कि हे अर्जुन! तेरे लिये "**कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते**" कर्म-सन्न्याससे कर्म-योग ही उत्तम है। इस कर्म-योगका अभ्यास करते-करते कर्म-सन्न्यासका अधिकार आपसे आप होजावेगा॥

इसी विषयको भगवानने पहले भी कहा है— "**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति**" (अ० ४ श्लो० ३८) अर्थात् सो जो ज्ञान वह कुछ काल कर्म-योगका अभ्यास करनेसे आपसे-आप प्राणी अपने अन्तःकरणमें लाभ करता है। फिर यह भी कहा है, कि "**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते॥**" (अ० ३

श्लो० ४) " अर्थात् बिना कर्म आरम्भ किये कोई नैष्कर्म्य अवस्थाको प्राप्त नहीं होसक्ता । इसलिये साधकको कर्म करनेकी आवश्यकता है, क्योंकि भगवान् आगे भी कहेंगे, कि चार प्रकारके अधिकारी हैं— " आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! " (देखो अ० ७ श्लो० १६) अर्थात् आर्त्त (जिसपर कुछ दुःख पड़ा है) जिज्ञासु (जो मोक्षकी अभिलाषा रखता है) अर्थार्थी (जिसे धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादि किसी प्रकारके अर्थका प्रयोजन है) ज्ञानी, (जो भगवत्स्वरूपको छोड कुछ नहीं चाहता, नित्य ब्रह्मानन्दमें मग्न है) ।

उक्त चारोंमें आर्त्त और अर्थार्थीसे तो कर्मका त्याग हो ही नहीं सकता । क्योंकि इन दोनोंके कर्म सकाम हैं । ये सकामकर्मके अधिकारी हैं । जिज्ञासु निष्कामकर्मका अधिकारी है । ज्ञानी सन्न्यासका अधिकारी है । इसी कारण यह बात पूर्ण प्रकार सिद्ध होती है, कि बिना आत्मज्ञान प्राप्त हुए कोई कर्मके त्यागका अधिकार नहीं रखता इसलिये सर्वसाधारण प्राणीकेलिये कर्मोंके अनुष्ठानकी आवश्यकता है । इसी कारण भगवान्ने आर्त्त, अर्थार्थी और जिज्ञासुओंकेलिये कर्मसन्न्याससे कर्मयोगको श्रेष्ठ किया क्योंकि बिना अन्तःकरण शुद्ध हुए मनमें विषयोंका मल अर्थात् स्मरण बने रहनेसे केवल हाथ पांवसे कर्मका त्याग विमूढात्माका काम है और मिथ्याचार है (देखो अ० ३ श्लो० ६) ।

कर्मसन्न्यासवालोंको चाहिये, कि पहले कर्म-योगद्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करलें और कर्म-योगवालों को भी चाहिये, कि भूलकर कर्मोंके फलका संग्रह न करें और कर्मयोगके फल कर्मसन्न्यासतक पहुंचजावें ।

नहीं तो विना सन्यास तक पहुंचे कर्म-योग भी निरर्थक है सो भगवान् आगे कहेंगे।

प्यारे विद्वज्जनो! बताओ तो सही, कि कर्म-योग और **कर्म सन्यासमें** क्या अन्तर रहा? कर्म-सन्यासवालेने स्वरूपतः लौकिक, वैदिक कर्मोंका त्याग करदिया इसलिये कर्मोंके बन्धनमें नहीं पडकर मुक्त होगया। और कर्म-योगवालेने कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करके फलका त्याग किया अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर सन्यासका अधिकारी हुआ। इसलिये कर्म-योग और कर्म-सन्यासमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं समझना चाहिये। इन दोनोंमें केवल उपाय और उपेयका सम्बन्ध है। सो भगवान् आगे चलकर चौथे पांचवें श्लोकोंमें निश्चय करेंगे। इसलिये जो विद्वान् इस समय सन्यासका खण्डन करते हैं वे प्रमादी हैं। हां! बिना कर्म-योग अभ्यास किये कर्म-सन्यास दुःखका कारण होता है इसलिये भगवान्ने इस श्लोकमें कर्म-योगकी विशेषता कही।

भगवान्ने जो इस श्लोकमें कर्मयोग और कर्मसन्न्यास दोनोंको कल्याण-कारक कहकर कर्म-योगको विशेष कहा सो केवल उन लोगों के लिये कहा जो आगे चलकर सम्पूर्ण संसारको मिथ्या जान पुत्र, पौत्र, कलत्र आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके निगडबन्धनोंको त्यागकर यतचित्तात्मा हो सर्व प्रकार के परिग्रहोंसे रहित हो एकाकी रहकर भगवच्चरणारविन्दोंके प्राप्त करनेकी पूर्ण अभिलाषा रखते हैं अर्थात् यथार्थ सन्न्यासको धारण कर भगवत्में मिलजाना चाहते हैं। पर वर्त्तमानकालमें वहुतेरोंने सन्यासको डेढ पैसेका सन्यास समझा है अर्थात्

एक पैसा नाईको देकर सिर मुड़ाकर एक धेलेकी गेरूसे कपडा रंगकर सन्यासी बनजाना ॥ २ ॥

अब भगवान् श्रेष्ठ कर्मयोगीको सन्यासीकी ही तुल्य पदवी देतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं—

मू०— ज्ञेयः स नित्य सन्न्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्दो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— महाबाहो ! (महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बोधने) **यः** (कर्मयोगी) **न** (नहि) **द्वेष्टि** (शत्रुबधार्थं श्येनादियज्ञं सम्पादयति) **न** (नैव) **कांक्षति** (सुखस्याभिलाषां करोति) **सः** (निष्काम कर्मयोगी) **नित्यसन्न्यासी** (कर्मानुष्ठानकालेऽपि सदा रागद्वेषराहित्यरूपसन्यासगुणविशिष्टः) **ज्ञेयः** (ज्ञातव्यः) **हि** (यस्मात्) × **निर्द्वन्द्वः** (रागद्वेषयोः सत्यानृतयोरात्मानात्मनोः परस्पराध्यासरतद्रहितः) **सुखं** (आयासं बिना) **बन्धात्** (संसारबन्धनात्) **प्रमुच्यते** (मुक्तो भवति) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (महाबाहो) हे विशाल पराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन ! **(यः)** जो कर्मयोगी **(न द्वेष्टि)** किसीसे द्वेष नहीं करता तथा **(न कांक्षति)** किसी प्रकारके सुखकी इच्छा नहीं करता **(सः)** सो कामना रहित कर्मयोगी **(नित्य सन्न्यासी)** सदा सन्यासी ही के समान **(ज्ञेयः)** जानने योग्य है **(हि)** क्योंकि **(निर्द्वन्द्वः)** जो

× निर्द्वन्द्वः— "द्वन्द्वं वै मिथुनं तस्माद् द्वन्द्वान्मिथुनं प्रजायते" इति श्रुतेः । द्वन्द्वं स्त्रीपुंसयोर्मिथुनं तद्रहितः स्त्री आदि त्यागः ।

प्राणी द्वन्द्व रहित है वही निश्चय करके (सुखम्) बिना किसी परि-श्रमके सुख पूर्वक (बन्धनात्) संसार-बन्धनसे (प्रमुच्यते) छूट-जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थः— अब योगेश्वर भगवान् कर्मयोगका तथा निष्काम कर्म-योगीको सन्न्यासी ही की पदवी देतेहुए कहते हैं, कि **[ज्ञेयः स नित्य संन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति]** जो प्राणी सर्व प्रकारके कर्मोंका सम्पादन करते हुए न किसीसे द्वेष करता है और न किसी सुखकी इच्छा करता है उसे नित्य सन्न्यासीकी पदवीसे विभूषित करना चाहिये।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि यद्यपि माहेश्वरी माया प्रवला है, छोटे बडे सबोंको अपनी आज्ञामें रखती हैं। इसके द्वारा जो काम क्रोधादि विकारोंका विस्तार इस संसारमें फैला है इतना प्रवल है, कि बडे-बडे ऋषि महर्षियोंको सात तह पृथ्वीके नीचे गाडदिया है। फिर भी जो अत्यन्त दृढ प्राणी है, जो रजोगुणसे उत्पन्न काम क्रोधके फन्दे न पडकर " न द्वेष्टि " किसीसे किसी प्रकारका द्वेष नहीं करता, यहां तक, कि जिस **कर्मयोग** के अनु-ष्ठानसे वेदमंत्रोंके द्वारा प्राणी सकल देव देवियोंको अपने वशीभूत करसकता है और जिसे चाहे हानि लाभ पहुंचा सकता है तिस कर्म-योगमें इतनी प्रवल शक्ति प्राप्त करलेनेपर भी जो कर्मोंके फलकी अभिलाषा नहीं करता अर्थात् अपने शत्रुओंके बध निमित्त श्येनादि यज्ञका सम्पादन नहीं करता, यहां तक, कि सर्प, व्याघ्र इत्यादि क्रूर जीवोंकी भी हानि नहीं चाहता, तथा " न कांक्षति " पुत्र,

पौत्रादिकें तात्पर्यसे जो पुत्रेष्टि तथा स्वर्गादिकी कांक्षासे ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंका सम्पादन नहीं करता, जो सर्व प्रकार अपने कियेहुए कर्मोंका फल केवल ईश्वरमें समर्पण करता रहता है और स्मरण भी नहीं रखता, कि मैंने कर्म किया वा न किया वही नित्यसन्न्यासी कहेजाने के योग्य है। ऐसे गृहस्थको तो उत्तम सन्यासी ही जानना चाहिये मिथ्याचारी सन्यासियोंको चाहिये, कि ऐसे गृहस्थोंके चरण धोकर पीया करें। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते**] हे विशाल पराक्रम युक्त भुजा वाला अर्जुन! ऐसा प्राणी जो सदा द्वन्द्व रहित रहता है राग और द्वेष, सच और झूट, आत्मा और अनात्मा तथा सुख और दुःख इन दोनोंके मेलसे जो अन्तःकरणपर एक प्रकारका आवरण पडनेसे अन्तःकरण मलीन होजाता है तिस द्वन्द्वज आवरणको जो हटाकर निर्द्वन्द्व होजाता है अर्थात् नित्य नैमित्तिक पंचमहायज्ञ तथा अनेक प्रकारके कर्मोंको करता हुआ भी मानो कुछ नहीं करता वही संसारबन्धनसे छूटजाता है। भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि सन्न्यासीमें और ऐसे कर्मयोगीमें देखनेमात्र स्वरूपतः अन्तर है पर यथार्थ में कुछ भेद नहीं। क्योंकि सन्न्यासी बिना कुछ किये निर्द्वन्द्व है और यह कर्मयोगी सब कुछ करता हुआ भी निर्द्वन्द्व ही है। इसी लिये कर्मयोगीकी तो अधिक स्तुति होनी चाहिये। क्योंकि जो सब छोड छाड कर संसारके रणसे भाग कर सन्न्यासी होगया है वह यदि शुद्ध अन्तःकरण वाला न हुआ तो उसे फिर संसारसागरमें गिरनेका भय है, पर कर्मयोगी को तो सदा ऊपर चढनेका अवकाश है।

इसलिये कर्मयोगी स्तुति करने योग्य है । भगवान् इसी वार्त्ताको पहले भी कहआये हैं " असक्तोह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुष " (अ० ३ श्लो० १९ में देखो) अर्थात् अनासक्त होकर कर्म करनेवाला मोक्षको प्राप्त होता है । क्योंकि वह भली भांति समझता है, कि यह सम्पूर्ण विश्व नश्वर है तथा यह शरीर नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त है । इसलिये ऐसा निर्द्वन्द्व प्राणी किसी कर्म-फलका कुछ भी संग्रह न करके केवल भगवत्स्वरूपको ही मुख्य मानता है । श्रु०— " कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ? " (मैत्रायण्युपनिषत प्र० १ मं ३ में देखो)

अर्थ— यह शरीर जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्षा, इष्टवियोग, अनिष्टसंप्रयोग, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, रोग, शोका-दिसे अभिहत है तिसे इस काम-भोगद्वारा सुखकी प्राप्ति कैसे होसकती है ? जैसे किसी लोहेकी शृंखलासे बांधेहुए राजद्रोहीको नाना प्रकारके मिष्टान्नादि भोजनसे प्रसन्नता नहीं प्राप्त होसकती इसी प्रकार संसार बन्धनोंसे जकडेहुएको काम भोगसे कैसे प्रसन्नता प्राप्त होसकती है ? कदापि नहीं । इसलिये चतुर कर्मयोगी सब कर्मोंको ईश्वरमें अर्पण करके यों कहता है, कि भगवन्! श्रु०— " अन्धोद-पानस्थो भेकइवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः " (मैत्रायण्युप० प्रपा० १ मं० ७ में देखो) मैं इस संसाररूप अँधेले कूपमें भेक (मेंढक) के समान पडाहूं, सो हमारी गति तुम ही हो ! हमारी गति तुम ही हो !

भगवान् कहते हैं, कि ऐसा प्राणी " सुखं वन्धात् प्रमुच्यते " विना परिश्रमके सुखपूर्वक संसार-वन्धनसे छूटजाता है ।

शंका— पहले तो यह कहा, कि आत्मज्ञानियोंकेलिये कर्मसन्न्यास है और अज्ञानियोंकेलिये कर्मयोग है । अब कर्मयोग ही की स्तुति करनेलगे और कहने लगे, कि संसारसे बिना परिश्रम छूटनेका कारण कर्मयोग ही है । इन दोनों बचनोंमें परस्पर विरोध होता है । ऐसा क्यों ?

समाधान— इन दोनों बचनोंमें विरोध कुछ भी नहीं है दोनों का तात्पर्य्य एक ही है । क्योंकि इधर कर्मके दो भेद हैं **सकाम-कर्मयोग** और **निष्कामकर्मयोग** और उधर कर्मकरने-वालोंके चार भेद हैं । **ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी** और **आर्त्त** इनमें जो ज्ञानी है वह जीवन्मुक्त कहाजाता है उसे कर्मयोगकी आवश्यक्ता ही नहीं है । बचरहे तीन **जिज्ञासु, अर्थार्थी,** और **आर्त्त** । इनमें जिज्ञासुओंकी गणना उत्तम श्रेणीमें है क्योंकि वे संसार-वन्धनसे छूटनेकी इच्छा करते हैं । इसलिये ऐसे मुमुक्षुकेलिये **निष्कामकर्मयोग** की आज्ञा है । शेष जो **अर्थार्थी और आर्त्त** हैं उनकेलिये सकामकर्म करनेकी आज्ञा है । इसी कारण वेदोंने भी केवल इन दोनोंकेलिये सकामकर्मोंकी आज्ञा दी है और यह दिखलाया है, कि नाना प्रकारके कर्मोंके सम्पादन करनेसे भिन्न-भिन्न कामनाएँ प्राप्त होती हैं । इसलिये सकामकर्म करनेवाले तो कर्मकी समाप्तिके पश्चात् अपनी कामनाओंको प्राप्त करते हैं । और **निष्कामकर्म** वाला **जिज्ञासु** अन्तः-

करणकी शुद्धि लाभ करताहुआ आत्मज्ञान प्राप्तकरता है। इस कारण निष्काम—कर्मयोग और कर्मसन्यासमें कुछ भी अन्तर नहीं है। शंका मत करो !

जिज्ञासु तो मायाकी निद्रासे जगपडा है इसलिये निष्कामकर्मयोगका अधिकारी है। पर आर्त्त और अथार्थी दोनों मोहकी निद्रामें शयन किये हुए हैं इसलिये निष्कामकर्मके अधिकारी नहीं हैं। जब कभी प्रारब्धकी प्रेरणासे इनपर भी किसी दयावानकी दृष्टि पडजावेगी तो ये भी निष्कामकर्मयोगके अधिकारी होजावेंगे ॥ ३ ॥

अब कर्मफलदाता श्री गोकुलबिहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! यदि तुझको शंका हो, कि जब कर्मयोगहीसे संसारबन्धन छूटजाता है फिर कर्मसन्न्यासकी क्या आवश्यकता है ? तो सुन !

मू०—सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
॥ ४ ॥

पदच्छेदः—बालाः (शास्त्रार्थज्ञानविवेकशून्याः) ×सांख्ययोगौ (सन्न्यासकर्मयोगाख्यौ) पृथक् (भिन्नफलौ) प्रवदन्ति (कथयन्ति) न (नहि) पण्डिताः (शास्त्रज्ञाः । विवेकिनः) एकम् (कर्मयोगं सन्न्यासं वा) अपि, सम्यक् (स्वाधिकाररूपेण यथाशास्त्रम्) आस्थितः (अनुष्ठितवान्) उभयोः (सन्न्यास-

× संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरंगसाधनतया सांख्यः सन्न्यासः ।

कर्मयोगयोः) फलम् (निर्विकल्पात्मनावस्थितिरूपम् मोक्षम्) विन्दते (लभते) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (बालाः) जो बालकोंके समान अविवेकी हैं वे (सांख्ययोगौ) सांख्य जो ज्ञान सहित कर्मत्याग अर्थात् सन्न्यास और योग जो समबुद्धि युक्त कर्मोंका सम्पादन अर्थात् कर्म-योग इन दोनोंको (पृथक्) भिन्न-भिन्न फल देनेवाले (प्रवदन्ति) कहते हैं पर (पण्डिताः) जो पण्डित, शास्त्रज्ञ और ज्ञानी हैं वे (न) ऐसा नहीं बोलते । क्योंकि (एकमपि) इन दोनोंमेंसे किसी एकको भी (सम्यक्) अपने अधिकारानुसार यथाशास्त्र (आस्थितः) अनुष्ठान करनेवाला (उभयोः) सन्न्यास और कर्मयोग दोनोंका (फलम्) एक समान फल (विन्दते) लाभकरता है ॥ ४ ॥

भावार्थः— अब श्यामसुन्दर अर्जुनकी शंका दूर करनेके तात्पर्य्यसे सन्न्यास और कर्मयोग की एकता दिखलाते हुए कहते हैं, कि [**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः**] जो बालबुद्धि हैं अर्थात् जिन्होंने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठोंकी सेवामें उपस्थित होकर वेदशास्त्रोंका मर्म नहीं जाना है न किसी प्रकारके सकाम वा निष्काम कर्मोंका अभ्यास किया है वे बालकोंके समान चंचल बुद्धिवाले हैं । वे ही सांख्य और योग को पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं, पर जो ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी शास्त्रोंके मर्म जानने वाले हैं वे ऐसा नहीं बोलते ।

शंका— अर्जुनने तो कर्मसन्न्यास और कर्मयोग के फलोंके विषय पूछा है और भगवान् सांख्य और योगके विषय उत्तर देते हैं । ऐसा प्रकरणान्तर क्यों ?

समाधान— सांख्य और योग कहनेसे कुछ भी प्रकरणान्तर नहीं होता है, क्योंकि कर्मसन्न्यास सांख्यके अन्तर्गत है, सांख्यका ही अंग है, सांख्य वाला ही कर्म-सन्यासका अधिकारी होता है, इसलिये प्रकरणान्तर नहीं है। सन्यास और कर्मयोगमें जब बुद्धिकी समता होती है तब उसीको सांख्य और योग शब्दसे पुकारते हैं। भगवानको तो केवल अर्जुन ही के प्रश्न मात्र हीका उत्तर देना अभिलषित नहीं है वरु अर्जुनका जिस प्रकार कल्याण हो सो कहना अभीष्ट है। इसलिये अर्जुनकी शंकाको तो एक साधारण शंका जानकर भगवान् ऐसे शब्दोंमें उत्तर देते हैं, कि शंकाका समाधान भी होजावे और उसीके साथ-साथ जो भगवान्का विशेष तात्पर्य है वह भी अर्जुनकी समझमें आजावे। इसलिये भगवान् यहां सन्यास शब्द के स्थान पर सांख्य शब्दका प्रयोग करते हैं।

सांख्य शब्द का अर्थ है ज्ञानसहित सन्यास। अथवा इस शब्द का यों अर्थ करलीजिये, कि "सांख्यम् समित्येकी भावे इति × यास्कः" यास्क मुनिने ऐसा कहा, कि एकीभाव जो भिन्न पदार्थोंकी समता है वही सांख्य है। प्रमाण श्रु०— "तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयꣳ रूपम् तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नाऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मा संपरिष्वक्तो न वाह्यं किंचन वेद नाऽन्तरं तद्वा अस्यै तदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम्॥

(वृह० अ० ४ ब्रा० ३ श्रु० २१)

अर्थ— आत्मज्ञानियोंका लक्षण कहते-कहते श्रुति कहती है, कि "तद्वा" सो जो ज्ञान-योगबुद्धि अर्थात् सांख्य-बुद्धिवाला प्राणी है उसका रूप कैसा है, कि अतिच्छन्द है अर्थात् सर्व प्रकार की कामनाओंसे रहित धर्माधर्म लक्षणको त्यागे हुए पापोंसे रहित है। अर्थात् दुःख सुखके बन्धनमें नहीं आनेवाला है। इसलिये वह अभय रूप है उसे महाकालका भी भय नहीं है। क्योंकि अन्तर बाहर सर्व प्रकारकी कामनाओंसे रहित है। तिसका उदाहरण श्रुति देती है, कि जैसे मनुष्य अपनी प्रिय स्त्री से (संपरिष्वक्त) मिलनेके समय बाहर भीतरकी कुछ भी सुधि नहीं रखता इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञानसे अर्थात् ब्रह्मानन्द-वृत्तिसे आत्माके साथ परिष्वक्त होकर बाहर भीतरके स्थूल-सूक्ष्म प्रपंचकी कुछ भी सुधि नहीं रखता है। इसलिये वह आप्त-काम है। आप्तकाम होनेके कारण (शोकान्तरम्) सर्व प्रकारके शोकोंसे जिसका रूप शून्य है अर्थात् शोकरहित आत्मानन्दमें मग्न है।

एवम् प्रकारे सर्वत्र सम बुद्धि होकर एकताकी प्राप्तिकी अवस्था को सांख्य कहते हैं। इसीकी प्राप्ति निमित्त जो कर्मोंका त्याग उसीको कर्म-सन्यास कहते हैं। जिसका फल संसार-बन्धनसे छूटजाना कहा है। इसी एकीभावको पुनः दूसरी श्रुति द्वारा दृढ करते हैं—

प्रमाण श्रुतिः— "एकीभावेनात्मानन्यत्वेन ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुरूप अन्येति संख्या। स्थूल सूक्ष्म कारण प्रपंचस्य निर्विकल्पे प्रत्यगात्मनि प्रविलापने नोदिता चेतोवृत्तिस्तत् साधनभूतो यः सांख्यः सः सन्यासः॥"

अर्थ— एक ही आत्माके सर्वत्र व्यापनेके कारण सब वस्तुओंकी एकता जिस बुद्धिसे प्रकट कीजावे उसे संख्या कहते हैं। और स्थूल, सूक्ष्म, तथा कारण इन तीनों प्रकारके प्रपंचकी रचनाको एक आत्मामें लय करनेके लिये जो चित्तकी वृत्ति, तिस वृत्ति द्वारा जो ज्ञानका साधन कियाजावे उसीको " सन्यास " कहते हैं। इतना कहनेसे चित्त-वृति की समताका प्रकाश किया। अर्थात् सन्याससे भी चित्त वृत्तिकी समताका ही बोध होता है।

मधुसूदन टीकाकारने भी सांख्य शब्दका यों अर्थ किया है, कि " **संख्या सम्यगात्मबुद्धिस्तां वहतीति ज्ञानान्तरंगसाधनतया सांख्यः सन्न्यासः** " अर्थात सम्यक् प्रकारसे जो आत्म-बुद्धि तिसको ज्ञानके × अन्तरंग साधनोंसे सम्पादन करनेका नाम सांख्य और सन्यास है। श्रीधर स्वामीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि " **सांख्य शब्देन ज्ञान-निष्ठावाचिना तदंगं सन्न्यासम्** " सांख्य जो ज्ञाननिष्ठावाचक शब्द है उसीका एक अंग सन्यास है।

इन महानुभावोंके भाष्योंसे भी यही सिद्ध होता है, कि सन्न्यास सांख्यका ही अंग है। फिर जैसे कोई किसीसे पूछे, कि गंगास्नानका फल क्या है ? और उत्तर देनेवाला स्नानके फलके साथ गंगाकी उत्पत्ति तथा गंगोत्तरी आदि निकलनेका स्थान, गंगाका विस्तारादिका भी कथन करदेवे तो इसमें हानि कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार भगवान्

× ज्ञानान्तरंगसाधनः।

ने सन्न्यासके स्थानपर सांख्य शब्द कहकर उत्तरको अधिक गंभीर करदिया जिससे सन्न्यासशब्दके पूर्ण अर्थका बोध होजावे। पहले पृष्ठ में जो कृथन होचुका है, कि इस गीताका दूसरा अध्याय सूत्रके तुल्य है, जिसमें भगवान सम्पूर्ण गीताके विषयोंको सूत्रवत् कहआये हैं। तहां इस सांख्ययोगको भी श्लोक ११ से श्लोक ३० तक संक्षिप्त रीतिसे वर्णन करदिया है।

अब विचार करने योग्य है, कि सांख्य अर्थात सन्न्यासमें भी बुद्धिकी समता तथा कर्म-योगमें भी बुद्धिकी समता ही दिखलायी गयी। इसलिये सन्न्यास और निष्कामकर्म-योगमें कहने मात्र अन्तर है यथार्थ अन्तर नहीं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि सन्न्यासमें भी वृत्तियोंका निरोध होजाता है जब चित्तवृत्तियां दोनों प्रकारसे निरुद्ध होगयीं तो सर्वत्र आत्मा ही-आत्मा दीखनेलगा, संसारका अभाव होगया, संसारके अभाव होतेही यह प्राणी बन्धनोंसे छूटगया। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू सांख्य और योगको पृथक् मत जान! क्योंकि जो शास्त्रज्ञ ज्ञानी हैं वे इन दोनोंको पृथक्-पृथक् नहीं कहते। इसलिये मैं अवश्य यही कहूंगा, कि [**एकमप्यास्थितं सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्**] इन दोनोंमें किसी एक मार्गपर दृढ होजाने वाला दोनोंका फल प्राप्त करलेता है। तात्पर्य्य यह है, कि जिसको जिस मार्गका अधिकार हो गुरु द्वारा पूछकर श्रुति स्मृतिकी आज्ञानुसार उसी मार्गका अनुष्ठानकरे। क्योंकि दोनोंका समान फल है। प्रारब्धा-

नुसार जो प्राणी जिस स्थानमें है अपने अधिकारानुसार इन दोनोंमें एकका सेवन करे तो सुखपूर्वक परम पदको प्राप्त होजावेगा ।

शंका— कर्मयोग और कर्म सन्न्यास दोनोंके साधन करने वालोंको किसी प्रकारके फलकी इच्छा तो है ही नहीं फिर फल ऐसा शब्दका प्रयोग माधवने क्यों किया ? तो उत्तर इसका पहले देदियागया है (देखो अ० २ श्लो० ४० पृ० ३६८) ॥ ४ ॥

अब आनन्द-कन्द श्री ब्रजचन्द सांख्य और योग
दोनोंका अभेद निश्चयरूपसे वर्णन करते हैं—

मू०—यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— सांख्यैः (ज्ञाननिष्ठैः सन्न्यासिभिः) यत् [स्थानम्] (च्युतिवर्जितं परमं धाम) प्राप्यते (लभ्यते) तत् [स्थानम्] +योगैः (ज्ञानप्राप्त्युपायत्त्वेनेश्वरे समर्प्य कर्म्माण्यात्मनः फलमनभिसंधायानुतिष्ठन्ति ये ते योगिनः तैर्योगिभिः) गम्यते (प्राप्यते) [तस्मात्] सांख्यं च योगं च यः एकम् (समानम् अभिन्नम्) पश्यति (ज्ञानचक्षुषाऽनुभवति) स, पश्यति (सम्यक् प्रकारेण अवलोकयति) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (सांख्यैः) ज्ञाननिष्ठायुक्त सन्न्यासियोंसे (यत्) जो (स्थानम्) स्थान (प्राप्यते) लाभहोता है (योगैः) कर्मयो-

+ अर्श आदित्वानमत्वर्थीयोऽच प्रत्ययः

गियोंसे (अपि) भी (तत्) उसी स्थानकी प्राप्ति कीजाती है अर्थात् जिस स्थानको सन्न्यासी पाते हैं उसीको कर्मयोगी भी पाते हैं। इसलिये (सांख्यम्) सांख्यको (च) और (योगम्) कर्मयोगको (यः) जो विवेकी (एकम्) एक समान (पश्यति) देखता है (सः) वही यथार्थ तत्त्वको सम्यक् प्रकारसे (पश्यति) अवलोकन करता है ॥ ५ ॥

भावार्थः— कर्मसन्न्यास और कर्मयोग अर्थात् कर्मका त्याग और कर्मका अनुष्ठान इन दोनोंके विषे जो झगडा चलरहा है, कि दोनोंमें कौन विशेष है? इन दोनोंमें किससे शीघ्र परमपदकी प्राप्ति होती है? इसीकी मीमांसा करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि **[यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् तद्योगैरपि गम्यते]** जो स्थान सांख्य द्वारा सन्न्यासियोंको प्राप्त होता है वही स्थान कर्मयोगियोंको भी मिलता है। अर्थात् सब कर्मोंको त्यागकर केवल उस परब्रह्म जगदीश्वर सच्चिदानन्द आनन्दकन्द ज्योतिःस्वरूपके ध्यानमें जो प्राणी सदा मग्न रहता है वही ऐसे आनन्दमय नित्य नवविहारके स्थानको प्राप्त होजाता है। जिसकी शोभाके सामने इन्द्रलोकादि दिव्यलोक भी लज्जित होते हैं और जहां जाकर फिर लौटना नहीं पडता। अर्थात् जो च्युति (पतन) से वर्जित है जिसे परमधाम कहते हैं। जिसके विषय भगवान् आगे भी कहेंगे, कि "**यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमम् मम**" (अ० १५ श्लो० ६ में देखो) अर्थात् जहां जाकर फिर प्राणी लौटते नहीं वही मेरा परमधाम है। श्रुति भी इस धामकी शोभा ऐसे कहती है, कि "**न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकम्**

नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः" (मु० २ खं० २ श्रु० १०)

अर्थ— उस परम-ज्योतिमय स्थानमें सूर्य्य अपना प्रकाश नहीं करसकता तथा चन्द्रमा और तारागण भी जहां प्रकाश नहीं करसकते और ये बिजलियां भी जहां अपनी चमकीली चमक नहीं दिखासकतीं । फिर जहां सूर्य्य, चन्द्रमा, तारागण और विद्युतका ही प्रकाश नहीं होता (कुतोऽयमग्निः) तहां इस विचारी छोटीसी आगकी क्या गिनती है ?

भगवान् कहते हैं, कि जिस ऐसे मनोहर श्रेष्ठ परमधामको कर्मसन्न्यासवाले प्राप्त करते हैं उसीको कर्मयोगी भी पाते हैं ।

हां ! कर्मयोगी और कर्मसन्न्यासवालोंमें इतना भेद तो अवश्य है, कि कर्मसन्न्यासवाले पूर्वजन्ममें अथवा इसी जन्ममें पहले कर्मयोगके साधन द्वारा अपने अन्तःकरणको शुद्धकर कर्मसन्न्यासके अधिकारी होचुके हैं । और कर्मयोगी वर्त्तमान समयमें अपने साधन द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिमें लगे हैं जिससे वे कुछ कालान्तरमें सन्न्यास प्राप्तकर उस परम-ज्योतिर्मय स्थान पानेके अधिकारी होंगे ।

जैसे मानसरोवरतीर्थके जानेवाले यात्रियोंमें किसीको चार योजन, किसीको तीन योजन, किसीको दो योजन और किसीको एक ही योजन चलना रहगया है । तो इन चारोंमें एक योजन शेष रहनेवाला यात्री सबसे पहले पहुंचेगा । फिर तथाक्रम पिछले तीनों भी एक दूसरेके आगे पीछे पहुंच ही जावेंगे । इसी प्रकार कर्मसन्न्यासवालेको केवल एक

योजन, निष्काम-कर्मयोगवालेको दो योजन, सकामकर्मयोगवालेको तीन योजन, आर्त्तको चार योजन और मूर्खोंको सहस्रों योजन चलकर उस परमधामतक पहुंचना है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि निष्काम-कर्मयोगवाले एक योजन कर्मसन्न्यासवालेसे पीछे हैं । क्योंकि एकने कर्मयोगद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है और दूसरा तिस अन्तःकरणकी शुद्धिकी प्राप्तिमें लगाहुआ है । बस ! इतनाही अन्तर है । इसी कारण श्रीकेशवने **स्थान** शब्दका यहां प्रयोगकिया । जिसमें आगे पीछे चलनेवालोंका बोध हो । अब आनन्दकन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**] सांख्य और योग दोनोंको जो समान देखता है वही यथार्थ देखनेवाला है । क्योंकि जिसका एक ही फल हो उसे एक समान ही कहना चाहिये । केवल कालके भेदसे थोडा अन्तर आगे पीछेका हुआ तो इससे क्या ? एवम् प्रकार (**यः पश्यति**) जो प्राणी इस परम-धामपर पहुंचकर इसकी ज्योतिमय शोभाको जैसा, कि पहले वर्णनकरआये हैं, देखता है (**स पश्यति**) वही यथार्थ तत्त्वको देखनेवाला तत्त्वदर्शी है । तहां श्रुति भी कहती है, कि श्रु०— " **ॐ यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं * ब्रह्मयोनिम् । तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥** (मु० ३ खं० १ श्रु० ३)

* ब्रह्मयोनिम्— जहांसे कोटान्-कोट ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति क्षणमात्रमें होती रहती है।

अर्थ—जब यथार्थ (* पश्यः) तत्त्वका देखनेवाला (रुक्मवर्णम) अत्यन्त सुहावने सुवर्णके समान चमकताहुआ परम ज्योतिःस्वरूप सृष्टिके कर्त्ता परम-पुरुष ब्रह्मयोनिको देखता है तब वही विद्वान् सर्वप्रकारके पुण्य पापोंको भस्मकर विगतक्लेश होकर (परमसाम्यम्) परम समता अर्थात् एकीभावको जिसे अद्वैतपद कहते हैं प्राप्त होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी निष्कामकर्मोंका सम्पादन करता हुआ निरभिमान और निरासक्त होकर कर्मोंका फल भगवत्में अर्पण करता हुआ भगवत्-स्वरूपको प्राप्त होजाता है वही यथार्थ स्वरूपका देखनेवाला है। क्योंकि जबतक भगवत्-स्वरूपका आनन्द लाभ न हुआ तबतक सब मिथ्या है ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जब कर्मसन्न्यास आगे है तो उसीका ग्रहण क्यों नहीं किया जावे ? पिछले कर्मयोगकी क्या आवश्यकता है ? आयु थोडी है, इसलिये जिस उपायसे शीघ्र परमपदकी प्राप्ति होवे उसीको करना योग्य है।

---

* पश्यः— शब्दका अर्थ देखनेवाला तो अवश्य है पर उन देखनेवालोंसे यहां तात्पर्य नहीं है जो वेद शास्त्रादि अध्ययन कर केवल इन चर्मचक्षुओंसे अक्षरोंको देखते हैं, वरु इनके प्रतिकूल विशेष कर उन देखनेवालोंसे यहां तात्पर्य है जो हृदयके दोनों नेत्र, ज्ञान और वैराग्यसे आत्मतत्त्वको देखरहे हैं। अर्थात् जिनके ये दोनों नेत्र खुलगये हैं वे फिर अन्धोंके समान इस संसारके गर्तमें नहीं गिरते, वरु शरीरयात्राकी समाप्ति होने तक उनके आगे-आगे इस मायामय अन्धकार रात्रिमें परम तेजस्वरूप ब्रह्म प्रकाशका लालटेन बलता चलता जाता है जो शरीर यात्रा ही तक प्रकाश नहीं करता वरु इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोकादि लोकों तक प्रकाश करता चला जाता है।

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन !

मू०—सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

पदच्छेदः—महाबाहो ! (हे विशाल पराक्रमयुक्त महाबाहुसाध्ये युद्धरूपकर्मण्येवाधिकारिन् अर्जुन !) अयोगतः (योगेनबिना) सन्न्यासः (ज्ञाननिष्ठासहितस्तु परमार्थः सन्न्यासः) तु (निश्चयेन) आप्तुम् (प्राप्तुम्) दुःखम् (दुर्घटम्) योगयुक्तः (वैदिकेन कर्मयोगेनेश्वरसमर्पितरूपेण निष्कामेन युक्तः) मुनिः (मननशीलः) न चिरेण (क्षिप्रमेव) × ब्रह्म (सत्यज्ञानादिलक्षणयुक्तं परमात्मानम्) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥ ६ ॥

पदार्थः— हे (महाबाहो) विशालपराक्रमयुक्त भुजावाला अर्जुन ! (अयोगतः) विना कर्मयोगके अनुष्ठान किये हुए (सन्न्यासस्तु) ज्ञाननिष्ठा सहित जो परमार्थ सन्न्यास है तिसे (आप्तुम्) प्राप्त करनेमें (दुःखम्) अत्यन्त दुःख है अर्थात् तिसका प्राप्त करना बहुत ही कठिन है इसलिये (योगयुक्तः) कर्म-योगसे युक्त अर्थात् कर्मयोगका अनुष्ठान करनेवाला (मुनिः) मननशील प्राणी (न चिरेण) बहुत ही शीघ्र (ब्रह्म) उस परमात्माको अथवा परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणसन्न्यासको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

× परमार्थसन्न्यासम् परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणम् (शंकरः)

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि कर्मयोगको छोडकर सन्न्यासका ही क्यों न ग्रहण किया जावे ? इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**सन्न्यासस्तु महावाहो दुःख-माप्तुमयोगतः**] हे विशाल भुजावाला अर्जुन ! तू महान् पराक्रमी है, क्षत्रिय है, पुरुषार्थी है, इसलिये तुझे सदा उच्चस्थान ग्रहण करनेकी इच्छा बनी रहती है पर हे वीर ! तुझे जानना चाहिये, कि कर्मयोगके सम्पादन किये बिना जो सन्न्यास है वह महादुःखका कारण है । उसकी प्राप्तिमें घोर क्लेश उपस्थित होजाता है । क्योंकि जब-तक कर्मयोग साधन करते करते अन्तःकरणकी शुद्धि न प्राप्त होवे अर्थात् कर्मफलोंको ईश्वरमें समर्पण करते-करते जबतक अन्तःकरण नाना प्रकारके विषय-भोगोंसे विरक्त न होजावे, संकल्प विकल्प न मिटजावें, राग-द्वेषसे रहित न होजावे और सर्व-प्रकारकी मलीन वासनाओंको त्यागकर ज्ञानकी चौथी भूमिका + सत्त्वापत्ति तक न पहुंच जावे तबतक कर्मसन्न्यासका ग्रहण करना दुस्तर है । बडे २ क्लेशों-का सामना करना पडता है क्योंकि जब बीज फूटकर पूरा वृक्ष तयार होजाता है तब किसीके हिलाये डुलाये पृथ्वीको नहीं छोडता । इसी प्रकार जब वृत्ति निरुद्ध होती हुई अपने लक्ष्यमें जमजाती है और संशय, विपर्यय इत्यादि उपद्रव दूर होजाते हैं तब उसे सन्न्यासका अधिकार होता है ।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणी जबतक

+ सत्त्वापत्ति—देखो अध्याय ३ श्लोक १८ ।

सकामकर्मोंके कीचमें फंसा हुआ है तबतक वह उच्चपथपर चढनेका अधिकारी नहीं होसकता ।

श्रुतियोंने भी इस वचनको सब विद्वानोंके बीच दुन्दुभीपर दण्ड देकर ऊँचे स्वरसे सुनादिया है, कि जबतक कामनारहित होकर कर्मके फलोंका त्याग न करोगे तबतक ऊपर चढ़ना सम्भव नहीं है। तहां श्रुति कहती हैं—

श्रु०—"ॐ इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥"

अर्थ— जो यज्ञादि श्रौतकर्म और पूर्त्त जो वापी, कूप तडागादि स्मार्त्तकर्म तिनको मुख्य मानकर फलोंके ग्रहण करनेवाले पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिकी अभिलाषा रखनेवाले (प्रमूढाः) परममूढ हैं। वे सदा ऐसे ही मानते हैं, कि जो हम कर्म करते हैं वही श्रेष्ठ है। इससे इतर ज्ञानादि श्रेयस्कर-साधन कुछ भी कहीं नहीं है। ऐसे-ऐसे माननेवाले **नाकस्य पृष्ठे** स्वर्गके पीठपर चढ अपने सुकृतके फलोंको प्राप्त कर अर्थात् स्वर्ग—सुखको भोगकर फिर इस हीनतर लोकमें प्रवेश करते हैं।

क्या ऐसे सकाम-कर्मके करनेवाले इस अमूल्य रत्न सन्न्यासको पासकते हैं ? कदापि नहीं ! ऐसे सकामसन्न्यासी भी उन्हीं मूर्खोंके समान नीचीवृत्तिको प्राप्त होते हैं। इसलिये बिना निष्कामकर्म साधन किये सन्न्यास दुस्तर है।

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इसीके प्रतिकूल [**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति**] कर्मयोगको साधन करनेवाला मननशील प्राणी थोडे ही कालमें ब्रह्मको अर्थात् आत्मज्ञान लक्षणयुक्त सन्न्यासको लाभ करता है।

श्री शंकराचार्य्यने अपने भाष्यमें यहां ब्रह्म शब्दका परमात्मज्ञान-निष्ठालक्षणयुक्त सन्न्यास अर्थ किया है और कहा है, कि कर्मयोग-वाला, शीघ्र ही ऐसे सन्न्यासको प्राप्त होता है। तहां श्रुतिका भी प्रमाण दिया है " न्यास इति ब्रह्म। ब्रह्म हि पर इति श्रुतिः " इन दोनों प्रकारके अर्थोंमें कोई विभेद नहीं है। ब्रह्मका अर्थ साक्षात् परब्रह्म जगदीश्वर करो। अथवा परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणयुक्त संन्यास करो। दोनोंसे एक ही तात्पर्य्य निकलता है। कोशोंमें ब्रह्म शब्दके अनेक अर्थ हैं जो प्रसंगानुसार दिखलायेजावेंगे। यहां इस श्लोकमें केवल दो ही अर्थोंका तात्पर्य्य है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि अर्जुन! तू सन्न्यास द्वारा मोक्ष पानेकी अभिलाषा करता है सो सन्न्यास तुझको कर्मयोग करते-करते शीघ्र ही प्राप्त होगा इसलिये कर्मयोगमें प्रवृत्त हो! अथवा तू जो सन्न्यास द्वारा परब्रह्म जगदीश्वर की प्राप्ति शीघ्र चाहता है सो तू ऐसा निश्चयकर जान! किकर्मयोगमें प्रवृत्त होनेसे तुझको ब्रह्मकी प्राप्तिमें भी विलम्ब नहीं होगा क्योंकि कर्मयोगसे शीघ्र ही अन्तःकरणकी शुद्धि, तिससे सन्न्यास और तिस संन्याससे शीघ्र ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।

शंका— भगवान् अर्जुनसे युद्ध करवाया चाहते हैं। इसलिये कर्मयोगकी प्रशंसाकर अर्जुनको कर्ममें प्रवृत्त किया चाहते हैं। इससे कपटव्यवहार सिद्ध होता है! ऐसा क्यों?

समाधान— ऐसी पोच शंका मतकरो। यह तो नास्तिकोंकी शंका है। अजी तुम नहीं जानते, कि कर्मयोग सन्न्यासका उपाय है। जैसे बिना बीज बोये कोई फल नहीं खाता, बिना कूप कोई जल नहींपाता, बिना पग किसीसे चला नहीं जाता और बिना गला कोई गीत नहीं गाता, इसी प्रकार बिना **कर्मयोग** कोई सन्न्यास नहींपाता। क्योंकि सन्न्यास कोई ऐसा साधारण धर्म्म नहीं है, कि जो चाहे धारणकरले। जैसे सतीको पतिके साथ जलना, सूर्य्यचन्द्रको मुट्ठीमें बांधना, सात समुद्र पीजाना, वन्ध्याका पुत्र जनना, आकाशमें फूल फूलना और शशको शृंग निकलना असंभव है ऐसे बिना कर्मयोग सन्न्यासकी प्राप्ति कठिन है। सुनो! मैं तुम्हें सन्न्यासका मुख्य स्वरूप दिखलाता हूं जिससे तुमको बोध होजावेगा, कि सन्न्यास कैसा कठिन है। फिर तो तुम स्वयं जानजावोगे, कि अर्जुन इस सन्न्यासका अधिकारी नहीं है और तब तुम ऐसी पोच शंका नहीं करोगे।

स्मृतियों और श्रुतियोंने इस सन्न्यस्तकी चार श्रेणियां कथन की हैं इनमें परमहंस उत्तमोत्तम है इसलिये परमहंसका स्वरूप दिखलाया जाता है—

टिप्पणी— १. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस इनमें पूर्वकी तीन अवस्थातक तो सन्यासके नियमोंका पालनकर कुछ न कुछ वैदिक कर्म तथा शरीर-यात्रानिर्वाहार्थ भोजन, शयनादि करना रहजाता है सो नियम-पूर्वक करना पड़ता है अर्थात् कुछ न कुछ कर्म्मबन्धन रह ही जाता है। जैसे अग्नि न छूना, स्वर्णका स्पर्श न करना, दण्ड, कौपीन, कमण्डलु तथा काषाय-वस्त्रका धारण करना तथा धूम निवृत्त होजानेके पश्चात् ग्राममें नियमपूर्वक पांच ब्राह्मणोंके घरतक भिक्षाटन करना इत्यादि

श्रुतिः— "ॐ अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच तं भगवानाह योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्य कूटस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयतेऽसौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सत्रं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि सन्न्यस्यायं ब्रह्मांड च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत तच्च न मुख्योऽस्ति कोऽयं मुख्य इति च यदयं मुख्यः ॥ १ ॥

न दण्डं न कमण्डलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमान इति षडूर्मिवर्जितो न शब्दं न स्पर्शं न रूपं न रसं न गन्धं न च मनोप्येवं निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोध लोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तसंशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तं नित्यबोधस्तत्स्वयमेवावस्थितस्तं शान्तमचलमद्वयानन्द विज्ञानघन एवास्मि। तदेव मम परमं धाम तदेव शिखा तदेवो-

रहजाते हैं। पर जब चौथी अवस्था अर्थात् परमहंसकी अवस्था आती है तब इन बन्धनोंको भी त्याग केवल भगवत्स्वरूपमें मग्नरहना और मग्न होते-होते यहां तक अपने आपेको भूलजाना कि अपने इस शरीरका बोध तो तनक भी न रहे, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा अर्थात् भगवत् स्वरूप ही भान होने लगजावे।

पवीतं च । परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा सन्ध्या ॥ २ ॥

सर्वान्कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः । ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते । काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः । तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादि गुणवर्जितः । भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा । स याति नरकान्घोरान्महारौरव संज्ञकान् । इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः ॥३॥

आकाशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न निन्दा न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेत्स भिक्षुः । नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासितं च न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथग् नापृथगहं न सत्वं स सर्वं चानिकेतः स्थिरमतिरेवं स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च बाधको न चाबाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स ब्रह्महा भवेद्यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेद्यस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत्तस्माद् भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते दुःखे च नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहस्त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न मोदते च सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते । यत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति ॥ ४ ॥ (परमहंसोपनिषद् श्रु० १, २, ३, ४)

ये चार यथार्थ सन्यासको बतानेवाली श्रुतियां हैं । यों तो सन्यासोपनिषद् में सन्यासके ग्रहणकी विधि वेदमन्त्रों द्वारा संक्षिप्त रीतिसे

लिखी है पर यहां सन्यास ग्रहणकी रीतिसे इन श्रुतियोंका कुछ सम्बन्ध नहीं है। ये केवल स्वरूप बताती हैं अब इनका अर्थ सुनो!

अर्थ— एकबार नारदने भगवान्से जाकर पूछा, कि योगयुक्त सन्न्यासियोंका अर्थात् परमहंसोंका क्या मार्ग है? और उनकी क्या स्थिति है? भगवान्ने कहा! यह जो परमहंसका मार्ग है वह अत्यन्त दुर्लभ है बहुत नहीं हैं अर्थात् कोई-कोई इस टेढी खीरके खानेमें समर्थ होता है। एक मनुष्य भी परमहंस होवे तो उसे **नित्यपूतस्थ** अर्थात् सदा पवित्र कहना चाहिये। वही प्राणी सदा पवित्र है। सो ही प्राणी + वेदपुरुष कहाजाता है अर्थात् ऋगादि वेदोंको उनके अंगोंसहित तथा दूसरे शास्त्रोंको भी उत्तम रीतिसे अध्ययनकर यथार्थ तत्त्वका ग्रहण करनेवाला है ऐसा विद्वान् मानते हैं। फिर वही ❀ **महापुरुष** है अर्थात् महाकालोंका काल जो कालात्मा

टि०— तहां जाबालोपनिषत्की श्रुति भी बहुतही थोडे पुरुषोंके नाम बताती है "तत्र परमहंसानां समवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासाऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः।" अर्थात् उपनिषदोंमें तथा पुराणादि ग्रन्थोंमें केवल इन नव परमहंसोंके नाम देखेजाते हैं। १. सम्वर्तक। २. आरुणी ३. उद्दालक श्वेतकेतु। ४. दुर्वासा। ५. ऋभु (ब्रह्मपुत्र)। ६. निदाघ (ऋभुका शिष्य) ७. जडभरत। ८. दत्तात्रेय। ९. रैवतक (श्वेतराजाका पुत्र) ये परम पवित्रात्मा हैं।

+ **वेदपुरुषः** ऋगादीन् वेदान् सांगानन्यविद्यास्थानैः सहितान्पाठतोऽर्थतश्च योऽवगच्छति स वेदपुरुषः।

❀ **महापुरुषः**— महान् कालत्रये शून्यत्वेन कालात्मा स चासौ पुरि शयानोऽपि परिपूर्णः पुरुषो महापुरुषो भगवतो भेदशून्य इत्यर्थः।

भगवत्स्वरूप सो जिसके हृदयरूप पुरीमें शयन कररहा है इसलिये वह महापुरुष कहाजाता है अर्थात् जो भगवत्स्वरूप ही है । फिर ऐसा प्राणी अपने चित्तको सर्वदा मुझमें लगाये रहता है । इसलिये भगवान् नारदसे कहते हैं, कि मैं भी सदा उसके साथ उसीमें निवास करता हूं । (असौ) ऐसा परमहंस अपने पुत्र, कलत्र, बन्धु इत्यादि तथा शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय (जो अपने वेद और शाखाको पठनकर तदनुसार सन्ध्यादिका प्रतिपालन) इत्यादि सर्वप्रकारके नित्य, नैमित्तिक इत्यादि कर्मोंको और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् इस लोकसे ब्रह्मलोकतकके सुखोंको त्यागकर केवल कौपीन, दण्ड इत्यादि और आच्छादन (वस्त्र) अपने शरीरकी रक्षामात्रकेलिये अथवा × लोकोपकारकेलिये रखे। किन्तु " तच्च न मुख्योस्ति " सो भी परमहंसोंकेलिये मुख्य नहीं है । फिर इनके स्थानपर क्या मुख्य है ? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि (अयम्मुख्यः) यह मुख्य है ॥ १ ॥

न दण्डमित्यादि " अर्थात् परमहंसको न दण्ड, न शिखा, न यज्ञोपवीत न किसी अन्य प्रकारके वस्त्रादिके ग्रहण करनेकी आवश्यकता है । यदि शंका हो, कि जब किसी प्रकारका आच्छादन नहीं धारण करेगा तो शीत और उष्ण तथा वर्षाके समय शरीरका निर्वाह कैसे होगा ? तो उत्तरमें श्रुति कहती है, कि परमहंसोंको शीत, उष्ण, दुःख, सुख, मान और अपमान किसीका भी बोध नहीं होता । कारण

× कौपीन इत्यादिसे बोध होगा, कि यह व्यक्ति महापुरुष है इससे ज्ञानकी प्राप्ति करनी चाहिये ।

इसका यह है, कि भगवत्-स्वरूपमें चित्त-वृत्तिके लय होजानेसे शरीरका चेत ही नहीं रहता। जैसे बालक खेलते समय नंगे होकर विचरते हैं उनको शीतादिका कुछभी दुःख नहीं होता इसी प्रकार परमहंसोंको भगवत्स्वरूपमें मग्न रहनेके कारण किसी प्रकारके क्लेशका अनुभव नहीं होता अतएव परमहंसोंकेलिये दण्ड, आच्छादनादिकी भी आवश्यकता नहीं है। इसकी मुख्यता नहीं है वरु दण्डादि धारण गौण है। केवल संकेतमात्र है। फिर परमहंसोंको * षडूर्मियां भी नहीं सतातीं। सो जिस परमहंसके चित्तकी वृत्तियां भगवत्स्वरूपमें लय होगई हैं और ब्रह्माण्डमात्रको त्यागदिया है उसे ये ऊर्मियां क्यों सतावेंगी? नहीं सता सकतीं! क्योंकि शब्द, रूप, रस, गन्ध, मन इत्यादि सब जाते रहते हैं। निन्दा, गर्व, मत्सर, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहंकार इत्यादि सर्वप्रकारके विकारोंको छोडकर अपने शरीरको "कुणपमिव दृश्यते" कुणप (मृतक) के समान देखता है। क्योंकि उसका शरीर अपध्वस्त होचुका है। जैसे अग्निमें भस्म होजानेपर मृतकके शरीरके परमाणु आकाशमें फैलकर वायुमें लय होजाते हैं, इन आंखोंसे देखे नहीं जाते। इसी प्रकार परमहंसने अपने शरीरको अपध्वस्त करके शरीरके परमाणुओंको ब्रह्मज्ञानके आकाशमें लय करदिया है। इसलिये उसके बीचमें कहीं शरीरका पता ही नहीं लगता। रोम-रोम, राम-राम बन-

* क्षुत्पिपासे शोकमोहौ जरामरणमेव च — भूख, प्यास, शोक, मोह और जरा ये छै ऊर्मियां हैं अर्थात् संसार-समुद्रकी लहरें हैं।

जाते हैं। यदि शंका हो, कि अन्धकार रात्रिमें यात्रियोंको जो दिग्भ्रम (देशांस) लगजाता है वह सूर्य्योदयहोनेपर भी कुछ न कुछ रहजाता है। इसी प्रकार अज्ञानरूप अन्धकारके कारण जो शरीरमें गाढी प्रीति लगगई हो उसे ज्ञानके सूर्य्य उदय होनेपर भी कुछ न कुछ रहजानेकी शंका है तो उसके उत्तरमें भगवान् नारदसे कहते हैं, कि ऐसा नहीं होसक्ता। क्योंकि संशय, विपरीत, और मिथ्याज्ञान का कारण जो अविद्या तिसकी नित्य निवृत्ति अर्थात् सदाकेलिये निवृत्ति होजाती है। सो ही नित्य बोध है। जिससे सदा ज्ञान एक रस बनारहता है। आत्मा जो नित्य तिसके बोधसे कभी डिगता ही नहीं। उस नित्य बोधमें तो परमहंसकी स्वयं आपसे-आप स्थिति होजाती है। जैसे किसी महा उन्मादग्रस्त रोगीको सुषुप्ति लगजानेसे उसका बकना, चिल्लाना आपसे-आप रुकजाता है इसी प्रकार भगवत्-स्वरूपमें सुखपूर्वक शयन करजानेसे परमहंसको ऐसा बोध होता है, कि सो जो शान्त, अचल, *अद्वयानन्द, और विज्ञानघन परब्रह्म सो मैं हूं, सो ही मेरा परम धाम है, सो ही मेरी शिखा है, सो ही मेरा यज्ञोपवीत है और परमात्मा और आत्माके एकत्वरूप ज्ञानसे जो जीव ब्रह्मके भेदको मग्नकरके एकसंग मिलादेना है सो ही मेरी सन्ध्या है ॥२॥

अब भगवान् नारदसे कहते हैं, कि "सर्वान्कामानिति" सब कामनाओंको परित्यागकर तिस अद्वैतानन्द विज्ञानघनमें जो परम-

---

* अद्वयानन्दः—आनन्दात्माव्यतिरिक्तं वस्तुसदसदादिरूपम् तद्रहितो अद्वयः स चासावानन्दः सुखस्वरूपः।

स्थिति है ऐसे ज्ञानदण्डको जिस महापुरुषने धारण किया है सो ही एकदण्डी सन्न्यासी कहाजाता है। और इसके प्रतिकूल जो सन्न्यासीका वेषमात्र धारणकर काष्ठदण्ड अर्थात बांसकी लट्ठीकोलिये महामूर्ख, ज्ञानसे बर्जित, सर्वाशी है अर्थात मद्य, मांस, लशुन, मत्स्य, तथा सब जातियोंका स्पर्श कियाहुआ अन्न भक्षण करता फिरता है सो मूर्ख महा रौरवादि नरकोंमें प्रवेशकरता है। भगवान नारदसे कहते हैं, कि " इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंस " इस प्रकार जो ज्ञानदण्ड तथा काष्ठदण्डमें अन्तर जानता है सो ही परमहंस है ॥ ३ ॥

अब भगवान नारदसे कहते हैं, कि जो परमहंस उक्त प्रकार शरीरको अपध्वस्त करे शीत-उष्णको सम करडालता है उसकेलिये किसी अन्य आच्छादनकी आवश्यकता नहीं है, चाहें वह काषाय हो वा श्वेत हो, नवीन हो वा फटापुराना हो, मोटा हो वा पतला हो किसी प्रकारके वस्त्रकी आवश्यकता नहीं है। उसके लिये तो " आशाम्बर " अर्थात् आशा जो पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा वायव्यादि चारों कोण ऊपर तथा नीचे ये ही दशों दिशायें जिसके अम्बर हैं इसीलिये उसे " दिगम्बर " कहते हैं। फिर वह परमहंस कैसा है, कि " न नमस्कार: " न तो किसीको नमस्कार करता है और न किसीका नमस्कार लेता है गयादि तीर्थोंमें जाकर स्वधा नहीं करता अर्थात श्राद्धादि भी नहीं करता। फिर कैसा है, कि निन्दा और स्तुतिसे रहित है। वह कैसा है, कि " ×यादृच्छिक " है अर्थात जो बहुतसे प्राणियोंको

×यादृच्छिक:— सदनृतसुवृत्तदुर्वृत्तत्वादि परित्यागेनानपकारिणीस्वात्मनो जनसंगवर्जनहेतुः शास्त्र विवक्तिभ्यां प्रापितेच्छा यदृच्छा सा यस्यास्ति स यादृच्छिकः।

अपने समीप इस कारण नहीं आने देता, कि वे नाना प्रकारकी झूठी और सच गपोड़ोंसे तथा नाना प्रकारकी अपनी कामनाओंसे उसके मस्तिष्कको व्यग्र करेंगे। वही याद्दच्छिक कहाजाता है। सो भिक्षुक जो परमहंस वह याद्दच्छिक है। अथवा सन्न्यासियोंके लिये जो कुटीचकादि तीन अवस्था तक भिक्षाटन इत्यादिका ×निर्बन्ध है उससे रहित होवे। जब एवम् प्रकार क्षुरार्चनम् इत्यादि बंधोंसे निर्बन्ध होगा तो उसे न आवाहनकी, न विसर्जनकी, न मंत्रकी, न ध्यानकी और न उपासनाकी किसी भी कर्मकी आवश्यकता नहीं है, न उसका कोई लक्षण है न लक्ष्य है न कोई अलक्ष्य है। यदि शंका हो, कि उसका लक्ष्य नहीं है तो ब्रह्मकी ओर भी कुछ लक्ष्य नहीं होगा? इसलिये कहा, कि न अलक्ष्यम परमहंसको अलक्ष्य भी मत कहो उसका लक्ष्य ब्रह्म है पर परमहंसको तुरीयावस्थाकी प्राप्ति होनेके कारण उसकी प्रज्ञा ब्रह्ममें लय होजाती है इसलिये प्रज्ञाके लय होते लक्ष्यका भी लय होजाता है इसी कारण न लक्ष्यम् कहा है। न किसीसे पृथक् है न अपृथक् है जहां न अहं है न त्वं है अर्थात् अविद्याके विकारसे जो मैं और तू का भ्रम होरहा है तिससे दूर है "न सर्वम्" अर्थात "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्" इत्यादि श्रुतिवाक्योंके अनुसार ब्रह्मसे इतर जो सर्व सो कुछ भी नहीं है। फिर वह परमहंस "अनिकेतस्थितिरेव" है अर्थात् जो अपने निवास करनेके लिये किसी प्रकारके मठादिको न बनाकर वृक्षोंके

×"शौचं स्नानं ध्यानं क्षुरार्चनम्। कर्त्तव्यानि षडेतानि सदा नृपदण्डवत्।" अर्थात् नृपके दण्डके समान इन उक्त कर्मोंको करना चाहिये। यह निर्बन्ध है।

तले टूटे फूटे स्थानोंमें, नदीके तटपर, श्मशानोंमें, किसी वाटिकामें वा सडकोंकी नालियोंमें कहीं भी पडारहे उसे **अनिकेतस्थिति** कहते हैं । सो भिक्षु जो परमहंस सो घर बनाकर न रहे । फिर स्वर्ण इत्यादि द्रव्यका दर्शन न करे अर्थात् सोना चांदी न ग्रहण करे । और " लोकम् " संसारियोंको अपने समीप न घुसने देवे यहां तक, कि शिष्य इत्यादिका भी सम्बन्ध न रक्खे। इतना ही नहीं वरु " न अवलोकंच " उसकी ओर आंख उठाकर देखे भी नहीं । यदि शंका हो, कि स्वर्णादिके ग्रहण करनेमें क्या हानि है ? भिक्षादिके लिये जो पर्यटन करना पडता है तथा अन्य लोगोंसे याचना पडता है इस में जो समय इत्यादिकी हानि होती है तिसकी रक्षा निमित्त तथा परोपकार निमित्त वा परतन्त्रताके नाश निमित्त यदि स्वर्णका ग्रहण करे तो इसमें बाधक कौन है ? तो सुनो ! ऐसे स्वर्ण ग्रहण करने में अवश्य बाधा है । क्योंकि परमहंस जितना परोपकार अपनी इच्छाशक्तिसे करसकता है उतना स्वर्णसे नहीं करसकता । यदि कोई प्राणी परमहंसको दो चार भार स्वर्ण देजावे तो उससे बहुत थोडे पुरुषोंका उपकार करेगा, पर यदि वह सच्चा परमहंस ब्रह्मस्वरूप होगया है तो जिसे चाहे वचनमात्रसे चक्रवर्ती बना सकता है तो उसको थोडासा स्वर्ण ग्रहण करनेका क्या प्रयोजन ? निरर्थक है । वरु जबसे वह स्वर्ण ग्रहण करेगा तबसे उस स्वर्णकी रखवालीकी चिन्ता बनी रहेगी बृत्ति चंचल होपडेगी । यदि कहो, कि वृत्ति चंचल क्यों होगी? उस स्वर्णको मिट्टी समान समझ जहां तहां पडारहने देगा । तबतो सहस्र भार स्वर्ण रखदो, उसके समीप पत्थरके

समान पडा रहेगा । अन्यथा स्वर्णग्रहणकरना बाधक है। इसलिये भगवान् नारदसे कहते हैं, कि "बाधकोऽस्त्येव" स्वर्णादि ग्रहण करना बाधक है। क्योंकि जो भिक्षुक (रसेन) प्रीतिपूर्व्वक उस स्वर्णको देखता है, कि यह स्वर्ण है, जिसकी आंखमें स्वर्णकी चमक सुहावनी बनी रहती है वह * ब्रह्महा है । क्योंकि उसके हृदयमें स्वर्णकी प्रीतिने ब्रह्मकी प्रीतिको हनन करडाला है । फिर भगवान् नारदसे कहते हैं, कि जो परमहंस (रसेन) अभिलाषा-पूर्वक स्वर्ण स्पर्श करता है वह × पौल्कस अर्थात् नीच मछुये धींवडके तुल्य है ! जो प्रीतिपूर्वक स्वर्णका ग्रहण करता है वह आत्महा होता है । इसलिये परमहंस न स्वर्णको देखे, न छूवे, न ग्रहणकरे ।

प्रिय पाठको ! इस छूनेका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि स्वर्णको न छूवे, पर जितने स्वर्ण वा अशरफियां उसके पास हों सबोंका करन्सी वा प्रौमिसरी नोट बदलाकर अपनी गीताकी पोथीके गातेमें रखलेवे । क्योंकि गीताके कागदको तो वह छूता ही है । फिर नोटके छूनेमें क्या हानि है ? तो इसका ऐसा तात्पर्य्य नहीं है वरु मुख्य अभिप्राय यह है, कि धनका

---

* "ब्रह्मैव सत्यमन्यन्मिथ्येत्यनंगीकाराद् ब्रह्महा तेन हतमिव भवति तेन ब्रह्महा भवेत्" केवल ब्रह्म ही सत्य है अन्य सब मिथ्या है ऐसा जो अंगीकार नहीं करता अर्थात् जिसकी वृत्ति इस स्वरूपसे हत होजाती है वह ब्रह्महा कहलाता है ।

+ पौल्कसः—"निषादाच्छूद्रायां जातः पुल्कसः । मांस विशंसितान्त्यजजातिविशेषः ॥ (कसाई)

किसी प्रकार संग्रह न करे । अर्थात् वृत्तिमें धन संग्रहका **रस** (प्रीति) नहीं रखे । यों छूने वा देखनेसे कोई हानि नहीं है ।

अब भगवान् नारदसे कहते हैं, कि " **सर्वे कामा मनोगता व्यावर्त्तत** " परमहंस अपनी सर्वप्रकारकी कामनाओंकी निवृत्ति करे । दुःखमें उद्विग्न न हो, सुखमें स्पृहा न करे, रागका परित्याग करे और सर्वत्र सर्व प्रकारके शुभाशुभसे स्नेह रहित हो, न किसीसे द्वेषकरे और न किसीसे हर्षित हो सर्वप्रकारकी इन्द्रियोंकी गतिको दूर करदेवे। एवम् प्रकार जो परमहंस सबकुछ त्याग, वरु त्याग-काभी त्याग करके सर्वत्र समबुद्धि हो केवल आत्मामें स्थिर होकर " **आत्माराम** " होजाता है और एक पूर्णानन्द बोधरूप जो ब्रह्म सो मैं हूं ऐसा समझता है सो कृत-कृत्य होजाता है । सो कृत-कृत्य होजाता है । यहां दोबार " **कृतकृत्यो भवति** " श्रुतिकी समाप्तिके निमित्त है ॥ ४ ॥

अब हे प्रतिवादी ! तू ही अपनी कुशाग्रबुद्धिसे विचारकर देख, कि यह सन्न्यास कितना कठिन है । क्या अर्जुन ऐसे राजवंशाव-तंसकेलिये ऐसे दुर्गम पथका उपदेश करना उचित है ? क्या अर्जुन इस यथार्थ सन्न्यासको ग्रहण करसकता है ? एक वर्षके बच्चेको कोई कहे, कि तुम सौ योजन दौडजाओ तो क्या वह दौडसकता है ? यदि कहो, कि तुम अर्जुनको अवतार कहचुके हो फिर ऐसा निर्बल क्यों कहते हो ? तो उत्तर यह है, कि इस समय अर्जुनने संसारके उपकार निमित्त अवतार-शक्तिको गुप्त रखकर नरोंके समान अज्ञानता

प्राप्त की है। इसलिये भगवान्को उसकी अपेक्षा लेकर संसारके कल्याण निमित्त उचित उपदेशकरना योग्य है। इसी कारण हे प्रतिवादी ! तू अर्जुनको केवल कर्मयोगका अधिकारी जान । केवल अर्जुनकेलिये सन्न्याससे कर्मयोगको विशेष कहरहे हैं । इससे ऐसा नहीं समझना चाहिये, कि यथार्थमें सन्न्याससे कर्मयोग विशेष है क्योंकि भगवान्का यह उत्तर सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं ।

इसी कारण भगवान् अर्जुनके प्रति इस कर्मयोगका ही वर्णन करते चले आरहे हैं और छठवें अध्यायकी समाप्ति तक इसी विषयका वर्णन करेंगे। जिसके साधनसे प्राणियोंको शीघ्र सन्न्यास लाभ होताहुआ ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होजावे । इसीलिये भगवान् इस श्लोकमें विना कर्मयोगके सन्न्यासको दुष्प्राप्य कहकर कहते हैं, कि " योगयुक्तः " जो कर्मयोगसे युक्त है वह " अचिरेण " बहुतही शीघ्र ब्रह्मको लाभ करता है। क्योंकि कर्मकी गति जानलेनेसे सर्वप्रकारसे मार्गोंका उसे अभ्यास होजाता है । इन्द्रियोंके वशीभूत रखनेका ढंग जानजाता है । बिना अन्न, जलके क्षुधा पिपासाकी शान्ति करने और शीत, उष्णके शम करनेका ढंग जानजाता है । दुःख, सुख, मान, अपमान, हानि और लाभको सम करनेका अभ्यासी होजाता है ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की भगवन् ! ऐसा देखाजाता है, कि जिस कर्मका इस मनुष्यको अभ्यास पडजाता है, वह कर्म इसका स्वाभाविक होजाता है । जिसका छूटना भी कठिन है। जैसे कोई अपनी तर्जनी अँगुली दिन रात दायें बायें हिलाया करे तो फिर वह

हिलाता ही रहता है। इसी प्रकार कर्मयोगीको जब कर्मयोग करते-करते स्वाभाविक होजावेगा फिर तो कर्मका त्याग उससे कठिन होजावेगा। तब तो सन्न्यासकी प्राप्ति उसे होही नहीं सकती। इसलिये कर्मयोग से कर्मसन्न्यास की प्राप्ति दुष्प्राप्य देखीजाती है।

इतना सुनकर श्री आनन्दकन्द मुसकराकर बोले अर्जुन सुन !

मू०—योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— योगयुक्तः (कर्मयोगेन युक्तः) विशुद्धात्मा (निर्मलान्तःकरणः) विजितात्मा (विजितस्वभावः। वृत्तिसारूप्य-दोषेण हीनः प्रत्यक् चेतनो यस्य सः) जितेन्द्रियः (विजितानि वागादीनीन्द्रियाणि यस्य सः) [तथा] सर्वभूतात्मभूतात्मा (सर्व-षष्ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तानाम्भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक् चेतनो यस्य सः। अखण्डात्मसाक्षात्कारवान् वा) कुर्वन् (विविधानि कर्माणि सम्पादयन्) अपि, न (नैव) लिप्यते (कर्मभिर्बध्यते) ॥ ७ ॥

पदार्थः— (योगयुक्तः) जो मनुष्य कर्मयोगमें युक्त है इसलिये जो (विशुद्धात्मा) निर्म्मल अन्तःकरणवाला होरहा है और इसी कारण (विजितात्मा) सर्वप्रकारके स्वभावोंको जिसने जीतलिया है तथा (सर्वभूतात्मभूतात्मा) ब्रह्मसे लेकर एक घासके अंकुर पर्य्यन्त जड चैतन्य भूतोंका जो आत्मा सो ही जिसका आत्मा है। सो (कुर्वन्) नाना प्रकारके कर्मोंको करताहुआ (अपि)

भी (**न लिप्यते**) कर्मोंमें बद्ध नहीं होता अर्थात् अभ्यास वा स्वभावके अधीन नहीं होता ॥ ७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह शंका कीहै, कि कर्म करनेवालेको कर्मका अभ्यास पडजानेसे जब कर्मकरना स्वाभाविक वृत्ति होजावेगी तो फिर उससे कर्मत्याग (**सन्न्यास**) का साधन होना कठिन होजावेगा । क्योंकि स्वभावका छूटना दुस्तर है । इस शंकाके समाधानमें भगवान् कहते हैं, कि [**योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः**] जो कर्मयोगी योगयुक्त है; अर्थात् कर्मयोगमें प्रवीण कर्मफलोंकी इच्छा तथा कर्तृत्त्वाभिमानसे शून्य होकर निर्द्वन्द्व रहता है और **विशुद्धात्मा** है अर्थात् जिसका अन्तःकरण शुद्ध होरहा है, जिसकी बुद्धि आकाशवत् निर्मल और स्वच्छ होरही है, सर्वत्र सर्वप्रकारके विषयोंसे अनभिस्नेह होरहा है, जिसके चित्तमें राग द्वेषका लेश भी नहीं है, जो **विजितात्मा** है अर्थात् आत्मा जो दैहिक-स्वभाव तिसे जिसने जीत लिया है, अपने शरीरको अपने वशमें करलेनेके कारण जिसकी प्रकृति अपने वशीभूत होगई है, चाहे किसी प्रकारके दैहिक आपत्ति वा दैहिक-सुख उसे प्राप्त क्यों न होजावें पर जो तनक भी अपने स्थानसे नहीं टलता, सदा आत्मवान् रहता है, आगे-पीछे नीचे-ऊँचे सर्वप्रकार सावधान रहता है, कभी किसी विषयके धोखेमें नहीं पडता, जैसे पर्वत बूंदोंकी आघातको चुपचाप शान्तिपूर्वक सहन करता है इस प्रकार जो स्तुति निन्दाको सहन करताहुआ हर्ष विषादसे रहित रहता है । और (जितेन्द्रियः) इन्द्रियजित और यतचित्तात्मा होजाता है; सहस्रों

अप्सराओंके मध्य जो आनन्दपूर्वक निवास करता हुआ ऊर्ध्वरेता बना रहता है और उसके चिक्कण-चित्तपर विषयकी छींटें नहीं पडतीं, वही प्राणी [सर्वभूतात्मभूतात्मा] ब्रह्मासे लेकर चींटी पर्यन्त जितने जड चैतन्य हैं सबोंका आत्मभूत है। अर्थात् वह सबोंको अपना आत्मा समझता है। और सबोंमें अपने आत्माको समझता है सर्वत्र एक ही आत्माको व्यापक जानता है। ऐसा समझता है, कि यह जो पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादिके भेद हैं वे केवल भ्रममात्र हैं, तत्वतः आत्मामें कोई भेद नहीं। केवल पंचभूतोंके आकारमात्र ही भेद देखपडता है। यथा श्रुतिः—

"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्न वहुधैकोऽनुगच्छन् उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा"

अर्थ— यह जो ज्योतिरात्मा सूर्य है वह जलकी भिन्नताके कारण नाना प्रकारके छोटे बडे रूपोंको धारण करता है। जलके स्थिर होनेसे स्थिर और चंचल होनेसे चंचल होजाता है। पर यथार्थमें विकारवान् नहीं होता। इसी प्रकार यह आत्मा नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न पांचभौतिक-पात्रोंके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारके आकारसे भासरहा है, पर यथार्थमें सर्वभूतान्तरात्मा एक ही है। इसी प्रकार जिसने अपने आत्माको समझा है वही सर्वभूतात्मभूतात्मा कहा जाता है।

शंका— यदि सर्वभूतात्मभूतात्मा है तो चौरासीलक्ष-योनियोंके स्वभाव भी उस एक ही पुरुषमें होने चाहियें ? अर्थात् वानरोंके समान किलकिलाना, व्याघ्रोंके समान गरजना, हस्तियोंके समान चिंघार मारना, पक्षियोंके समान उडना इत्यादि सब स्वभावोंसे उसे बद्ध होना चाहिये। ऐसा तो नहीं देखनेमें आता फिर उसे सर्वभूतात्मभूतात्मा क्यों कहा ?

समाधान— ये जो भिन्न-भिन्न चेष्टायें हैं वे आत्माकी नहीं हैं। आत्मा तो निर्लेप और निर्विकार है । इसी कारण भगवान यहां "सर्वभूतात्मभूतात्मा" कहरहे हैं पर "सर्वस्वभावात्मस्वभावात्मा" नहीं कहते । स्वभाव तो अभ्यास द्वारा देहमें पडता है आत्मामें नहीं। इतना तो अवश्य मानने योग्य है, कि जब आत्मा उस देहके सम्मुख होता है तब देहको स्वभावानुसार चेष्टा करनेकी शक्ति प्रदान करता है। सो भगवान अभी कहचुके हैं, कि कर्मयोगी विजितात्मा होता है अर्थात् देह और स्वभावको जीत कर देह और स्वभावसे विलग होजाता है। उसकी अपनी देह भी उसके सम्मुख नहीं रहती है। एवम् प्रकार जब देह ही नहीं तो देहमें स्थित रहनेवाले स्वभाव कहांसे आवें। ऐसे प्राणीके समीप किसी देहके स्वभाव नहीं जाते सब उस सर्वभूतात्मभूतात्मामें अवश्य होजाते हैं पर देहके स्वभाव नहीं होते।

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो कर्मयोगी एवम् प्रकार योगयुक्त विशुद्धात्मा, विजितेन्द्रिय और सर्वभूतात्मभूतात्मा है वह [**कुर्वन्नपि न लिप्यते**] सबकुछ करताहुआ भी किसी कर्मसे बद्ध नहीं होता। इसी कारण कर्मके करनेका स्वभाव भी उसे हानि नहीं पहुंचा सकता। उसे कर्म-सन्न्यासका पूर्ण अधिकारी समझो॥ ७॥

अब श्यामसुन्दर अगले श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि वह कौनसी बुद्धि है जिससे सब कर्म करताहुआ भी प्राणी कर्म-बद्ध नहीं होता॥

मू०— नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— युक्तः (कर्मयोगयुक्तेन समाहितचित्तः) तत्त्ववित् (कर्मणां याथात्म्यं तत्त्ववेत्ता । परमार्थदर्शी) पश्यन् (अवलोकयन् । प्रेक्षमाणः । ईक्षणं कुर्वन्) शृण्वन् (आकर्णयन्) स्पृशन् (हस्तेनालपयन्) जिघ्रन् (घ्राणं कुर्वन् । आघ्राणयन्) अश्नन् (स्वादयन् । भक्षयन् । चर्वयन्) गच्छन् (गमनक्रियां कुर्वन्) स्वपन् (शयनं कुर्वन्) श्वसन् (अनुप्राणयन्) प्रलपन् (संभाषमाणः । व्याहरन्) विसृजन् (परित्यजन्) गृह्णन् (आददानः) उन्मिषन् (चक्षुरुन्मीलयन्) निमिषन् (चक्षुर्निमीलयन्) अपि, इन्द्रियाणि (श्रोत्रचक्षुरादीनि वाह्यकरणानि) इन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु) वर्त्तन्ते (तिष्ठन्ति) इति (एवम्) धारयन् (बुद्ध्या निश्चयं कुर्वन्) किंचित् (ईषत् । अल्पम्) एव, न (नैव) करोमि (व्यवहारामि । विदधामि) इति (एवम्) मन्येत (चिन्तयेत्) ॥ ८, ९ ॥

पदार्थः— (युक्तः) जो प्राणी कर्मयोगसे युक्त होनेके कारण समाहित-चित्त होरहा है तथा (तत्त्ववित्) यथार्थ तत्वका जानने वाला परमार्थदर्शी है वह (पश्यन्) देखताहुआ (शृण्वन्)

सुनताहुआ (स्पृशन्) छूताहुआ (जिघ्रन्) सूंघताहुआ (गच्छन् चलताहुआ (स्वपन्) सोताहुआ (श्वसन्) श्वासोच्छ्वास लेताहुआ (प्रलपन्) वचन बोलताहुआ (विसृजन्) मल मूत्र परित्याग करताहुआ (उन्मिषन्) आंखोंको खोलकर देखताहुआ तथा (निमिषन्) पलकोंको बन्द करताहुआ अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा प्राणापानादि वायुओंका व्यापार करताहुआ (अपि) भी (इति धारयन) ऐसा निश्चय करताहुआ, कि (इन्द्रियाणि) ये सब इन्द्रियां (इन्द्रियार्थेषु) अपने-अपने विषयोंमें (वर्त्तन्ते) स्वतः वर्त्तमान रहती हैं (नैव किंचित् करोमि) मैं स्वयम् कुछ नहीं करता (इति मन्येत) ऐसा माने ॥ ८, ९ ॥

भावार्थः— किस प्रकारकी बुद्धिसे प्राणी सब कुछ करता हुआ भी कर्मोंमें नहीं फँसता। अर्थात् उसके कर्म स्वाभाविक नहीं होजाते हैं। इसी तात्पर्यको स्वच्छरूपसे श्यामसुन्दर योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रति दो श्लोकोंमें उपदेश करतेहुए कहते हैं, कि [**नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित्**] जो तत्त्ववित् कर्म-योगसे युक्त होकर समाहितचित्त होरहा है अर्थात् सर्व प्रकार सावधान होरहा है वही युक्त कहाजाता है। जैसे बाजीगर सूक्ष्म डोरेपर चलता-हुआ अपने शरीरपर समाहितचित्त रहता है। जैसे पनिहारी अपने मस्तकके घटपर समाहित-चित्त रहती है। एवम् प्रकार जो भगवत्-स्वरूपमें समाहित-चित्त है वही तत्त्ववित् योगयुक्त कहलाता है। वही यथार्थ तत्त्वका जान-नेवाला परमार्थदर्शी है और वही ऐसा मानता है, कि मैं सबकुछ करता हुआ भी कुछनहीं करता। जो प्यासा जलके धोखेसे एक बार भी मृगतृष्णाके

समीप पहुंचकर मृगतृष्णाका मर्म जानचुका है वह फिर कभी धोखा नहीं खाता। इसी प्रकार कर्मोंके-मर्मका जाननेवाला कर्मोंके फन्देमें नहीं फँसेगा। इसीलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि हे पार्थ! जिस बुद्धिसे कर्मोंके मर्म जानेजाते हैं सो सुन! जो ऐसा योगयुक्त और तत्त्ववित् है वह सदा अपने अन्तःकरणसे ऐसा समझे, कि मैं सबकुछ करताहुआ भी कुछ नहीं करताहूं। अब वह किन कर्मोंको करताहुआ कुछ नहीं करता है सो कहते हैं—[पश्यन्-शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्] देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, सोता तथा श्वासोच्छ्वास करताहुआ ऐसा समझता है, कि मैं कुछ नहीं करता। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसा प्राणी कुकर्मियोंको कुकर्ममें और सुकर्मियोंको सुकर्ममें प्रवृत्त देखताहुआ तथा ग्रीष्मऋतुके सूर्य्य और शरद्-ऋतुके पूर्णचन्द्रको पूर्णप्रकार अवलोकन करताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ भी नहीं देखा।

(शृण्वन्) अपने कानोंसे अपनी अथवा परायेकी स्तुति निन्दा, वंशी, बीणा, मृदंग इत्यादिकी सुरीली ध्वनि षोडशी स्त्रीके मधुर गानोंके साथ सुनताहुआ तथा अपने प्रिय-पुत्रकी मधुर तोतली बातोंको वा अपने विरोधियोंके कटु बचनोंको सुनताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ नहीं सुना।

(स्पृशन) अग्नि वा जलको तथा अपनी गौरांगी हंसगामिनी कामिनीके कोमल अंगोंको अथवा कंटकबनके तीक्ष्ण कंटकोंको, उष्ण-कालकी तपीहुई रेतियोंको, शीतकालके जमेहुए हिमखण्डोंको, बिना

वस्त्र भूमिपर शयन करतेहुए भूमिकी कठोरताको और पुष्पोंकी शय्या-पर लोट मारतेहुए शय्याकी कोमलता इत्यादिको स्पर्शकरताहुआ, ऐसा जाने, कि मैंने कुछ नहीं स्पर्शकिया, ।

(जिघ्रन्) वेला, चमेली, मोगरा, मदनबाण, रायवेल, मदन-मालती, चम्पक, करवीरादि पुष्पोंके मधुर गंधोंको अथवा श्मशान घाटके जलतेहुए मृतक शरीरोंके दुर्गन्धको घ्राण करताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछनहीं सूंघा ।

(अश्नन्) नाना प्रकारके षट्रस भोजनोंको अथवा बिना लवण रूखी-सूखी रोटियोंको भोजन करताहुआ ऐसा समझे, कि मैंने कुछ-नहीं भोजन किया ।

(गच्छन्) कोमल गलीचेके बिछावन होकर चलताहुआ अथवा कठोर पत्थरों और कंकरों पर चलताहुआ ऐसा समझे, कि मैं कहीं भी नहीं चला ।

(स्वपन्) पथरीली भूमिपर कंकडोंमें अथवा दूधके फेन समान कोमल बिछावनपर तकिये वा गलतकिये लगाकर शयन करताहुआ ऐसा जाने, कि मैं कहीं नहीं सोया ।

(श्वसन्) किसी प्राणीका सुख सुनकर हर्षसे वा दुःख सुनकर शोकसे श्वास लेताहुआ अथवा साधारण रीतिसे श्वासोच्छ्वास करताहुआ ऐसा समझे, कि मैं श्वास भी नहीं लेता ।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! ले और सुन ! [**प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि**]

(प्रलपन्) किसी अपने मित्र वा शत्रुके संग बातें करताहुआ अथवा किसी विषयके खण्डन, मण्डनमें वेद शास्त्रोंके प्रमाणोंका उच्चारण करताहुआ अकेला किसी मार्गपर गमन करताहुआ अथवा किसी अपने शिष्य, भृत्य वा अपने बालकपर शिक्षानिमित्त भर्त्सना करताहुआ अर्थात् डपटताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ भी संभाषण नहीं किया ।

(विसृजन्) मल-मूत्र परित्याग करताहुआ अथवा अपनी वस्तुको अपनेसे विलग हटाताहुआ स्वर्ण, हीरा, माणिक इत्यादि रत्नोंका त्याग करताहुआ वा दान देताहुआ ऐसा समझे, कि मैंने कुछ भी नहीं किया ।

(गृह्णन्) हस्त इन्द्रियका व्यापार करताहुआ अर्थात् कोई कुछ देवे तो उसे स्वीकार करताहुआ युद्धसमय खड्ग, यज्ञ समय आहुति प्रोक्षणीपात्र वा चमसा इत्यादि, गान समय वादित्र (नानाप्रकारके बाजे) दान समय तिल, कुश और स्नान समय धौत वस्त्र इत्यादिका ग्रहण करताहुआ तथा लोहे और पारसमणिको समभावसे ग्रहण करताहुआ ऐसा जाने, कि मैंने कुछ भी ग्रहण नहीं किया ।

(उन्मिषन्निमिषन्) पलकोंको खोलता वा मूंदताहुआ अर्थात् किसी ओर देखता वा किसी ओर नहीं देखताहुआ भी ऐसा समझे, कि मैं पलकोंको न खोलता हूं और न मूंदता हूं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्**] एवम् प्रकार विचारता हुआ, कि ये जितने

कार्य्य मेरे द्वारा होते हैं उन्हें मैं नहीं करता हूं ये तो इन्द्रियां स्वयं अपने-अपने विषयोंमें वर्त्तमान रहती हैं ऐसा जानकर यों समझता रहे, कि मैं कुछ नहीं करता। ऐसे समझनेवालेको कर्मोंके अभ्याससे कुछ भी बाधा नहीं होसकती। वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होसकता और न वे कर्म उसे स्वाभाविक होसकते हैं। क्योंकि वह प्राणी सर्वभूतात्मभूतात्मा होचुका है। इसलिये इन सब कर्मोंको आत्ममय जानता है और यही समझता है, कि इन सब क्रियाओंका मुख्य प्रकाश यही आत्मा है। यदि आत्मवान् हो तो ये क्रियाएं कदापि नहीं होसकतीं। क्योंकि पंचभूतोंमें क्रियात्मकशक्तिमात्र तो है पर ज्ञानात्मकशक्ति नहीं है। क्रियात्मकशक्ति बिना ज्ञानात्मकशक्तिके निरर्थक है। जैसे बसोले, रुखानी, खड्ग, छुरे, छुरी, इत्यादिमें काटनेकी शक्ति तो है, पर वे स्वयम् जड हैं। इसलिये जबतक चैतन्यशक्ति जो ज्ञानस्वरूप है इन शस्त्रोंको अपने हाथमें न ले तबतक इनसे कुछ क्रिया नहीं होसकतीं। इसी प्रकार देह और इन्द्रियां जो शस्त्रके समान हैं बिना आत्मरूप तक्षक (बढई) के कुछ नहीं करसकतीं। तहां श्रुतिका प्रमाण है, कि यह आत्मा ही इस देहमें इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें स्थित होनेकी शक्ति प्रदान करता है। "श्रु०— ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो वा यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः चक्षुषश्च चक्षुः (केनोपनिषत् श्रुति २ में देखो)।

अर्थ— आत्मा ही कानका भी कान है; मनका भी मन है, वचनका भी वचन है, प्राणका भी प्राण है और नेत्रका भी नेत्र है, अर्थात् ये जितनी कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, प्राणापानादि इस देहमें वर्त्तमान

हैं सब बिना आत्मा निरर्थक और निर्जीव हैं। केवल एक आत्मा है जो इन सबोंमें अपनी शक्ति द्वारा इनसे नाना प्रकारके कर्मोंका सम्पादन करवाता है। सो आत्मा यदि निस्पंदत्वको अंगीकार करे अर्थात् इसका करना किसी देहसे रुकजावे तो इन इन्द्रियोंसे कार्य्य सिद्ध नहीं होसकता। इसका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि आत्मा कानके ऐसा कोई इस कानसे बडा विशेष कान है। यदि यह अर्थ हो तो फिर उस कानका एक दूसरा कान होना चाहिये। एवम् प्रकार कानका कान होतेजानेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी। इसलिये यहां कानका कान वा मनका मन कहनेसे यह तात्पर्य्य है, कि यह आत्मा ही सब इन्द्रियादिकोंका प्रकाशक है। इस एकहीके प्रकाशसे भिन्न उपधियोंके द्वारा भिन्न-भिन्न कार्य्य देखने पडते हैं। इसी कारण योगयुक्त तत्वदर्शी सर्वत्र आत्मक्रीडा समझकर ऐसा समझता है, कि मैं कुछ नहीं करता। जब ऐसी समझ बनी रही तो प्राणी कर्मके अभ्यासमें बद्ध अर्थात् कर्म करते रहनेके स्वभावमें बद्ध नहीं होता। जब चाहे तब ही कर्मयोगसे सन्न्यास लाभ करसकता है। इन दो श्लोकोंके द्वारा भगवान्ने अर्जुनकी शंकाका समाधान करदिया है।

शंका— "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते" "कुर्वन्नपि न लिप्यते" इत्यादि वचनोंको पढकर बहुतेरे कुविचारी मूढ यों कहने लगजाते हैं, कि हम जो वेश्याके घरमें जाकर व्यभिचार करते हैं सो तो गीताके वचनोंके अनुसार ही करते हैं। क्योंकि भगवान् स्वयं अपने मुखसे कहरहे हैं, कि प्राणी ऐसा जाने, कि इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंमें वर्त्तमान रहती हैं ऐसी प्रकृति बनी हुई है और

कर्म करनेवाला ऐसा जाने, कि कुछ नहीं करता फिर विद्वान ज्ञानी हम लोगोंको दूषित और पापी क्यों समझते हैं ?

समाधान— जहां-जहां भगवान्‌ने ऐसे बचन कहे हैं तहां तहां यह भी कहा है, कि ज्ञानी कर्मका बद्ध नहीं होसकता । सो ज्ञानीका लक्षण जबतक मनुष्यमें नहीं पायाजावे तबतक वह इन बचनोंके समीप नहीं आसकता । देखो इस श्लोकमें जब भगवान्‌ने जहां कहा है, कि " **नैव किञ्चित करोमीति** " तथा " **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते** " तहां यह भी तो कहा है, कि "**युक्तो मन्येत तत्त्ववित्** " अर्थात जो योगयुक्त है और तत्त्ववित है वही ऐसा जानेगा, कि मैं सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता । इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंमें आपही वर्त्तमान रहती हैं । इसी प्रकार जहां " **कुर्वन्नपि न लिप्यते** " कहा है तहां यह भी कहदिया है, कि " **योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः** "(श्लो० ७) अर्थात् केवल वही प्राणी जो योगयुक्त, निर्मलात्मा है तथा जिसने अपनी इन्द्रियोंको अपने वशीभूत किया है उसीकेलिये यह वचन है, कि (**कुर्वन्नपि**····) कर्म करता हुआ भी कर्मसे बद्ध नहीं होता । क्यों कि सो योगयुक्त ज्ञानी किसी प्रकारका दुष्कर्म करेहीगा नहीं । इसलिये यह तुम्हारी शंका महा पोच है, क्योंकि ये बातें संयतात्माके लिये हैं न कि असंयतात्माके लिये ॥ ८, ९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! तुम्हारे कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि जो ज्ञानी इंद्रियजित तथा कर्माभिमानसे शून्य है औ

तत्वदर्शी है, उससे पाप नहीं होगा। पर मैंने तो इतिहास, पुराणोंमें बहुतेरे तत्वदर्शी महान् ज्ञानियोंको पाप करते सुना है ऐसा क्यों ?

यह सुन भगवान् बोले—

मू०— ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

पदच्छेदः— यः (तत्त्ववित्) ब्रह्मणि (सर्वान्तर्यामिणि) आधाय (समर्प्य) संगम् (कर्मफलासक्तिम्) त्यक्त्वा (विहाय) कर्माणि, करोति (सम्पादयति) स, अम्भसा (उदकेन) पद्मपत्रम (नलिनीदलम्। सरसिजदलम्) इव (सदृशम्) पापेन (किल्विषेण। अशुभाचरणेन) न (नैव) लिप्यते (वध्यते। अवकुंठितो भवति) ॥ १० ॥

पदार्थः— जो तत्त्वदर्शी (ब्रह्मणि) सर्वोन्तरयामी सर्वेश्वरमें (आधाय) समर्पण करके वा स्थापन करके (संगम्) कर्मके फलकी आसक्तिको (त्यक्त्वा) त्यागकर (कर्माणि) कर्मोंको (करोति) करता है (स) सो ज्ञानी (अम्भसा) जलसे नहीं लिप्त हुए (पद्मपत्रमिव) कमलदलके समान (पापेन) अशुभ कर्मसे (न) नहीं (लिप्यते) लिप्त होता है अर्थात् पापाचरणमें नहीं फंसता ॥ १० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंको भी पापाचरण करतेहुए इतिहास पुराणों द्वारा सुनाजाता

है ऐसा क्यों ? इसके उत्तरमें श्री गोलोक विहारी कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी एकबारगी " अहंकारविमूढात्मा " अहंकार-वश मूर्खताके कारण " कर्ताऽहमिति मन्यते " मैं करता हूं ऐसा मानता है और कर्मके फलोंको ईश्वरमें अर्पण नहीं करके कर्मोंके फल में आसक्त चित्त है वह " समाधौ न विधीयते " (अ० २ श्लो० ४४) समाधिको अर्थात् भगवत् स्वरूपको नहीं प्राप्त होता। पर जो पुरुष [**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः**] अन्तर्यामी सर्वेश्वरमें अपने कर्मके फलोंको अर्पण करदेता है अर्थात् ऐसा जानता है, कि जो कुछ मैं करता हूं वह अपने लिये नहीं। जैसे भृत्य अपने स्वामीके लिये सर्व कार्योंका सम्पादन करता रहता है ऐसे मैं उस जगत्हितकारीकी प्रसन्नता निमित्त उसकी आज्ञाका प्रतिपालन करता चला जाता हूं। अथवा " आधाय " का अर्थ यों करलो, कि जो सब कर्मोंको ब्रह्ममें स्थापन कियाहुआ जानकर करता है अर्थात् ब्रह्म रूप ही जानता है । जैसा, कि भगवानने पहले भी कहा है, कि " ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम् " (अ० ४ श्लो० २४) अर्थात् अर्पण, हवि, अग्नि तथा हवन करनेवाला, होम किये-हुए द्रव्य तथा होमके जितने कर्म हैं सब ब्रह्मरूप ही हैं । ऐसी बुद्धि से जो पुरुष " संगं त्यक्त्वा " कर्म फलोंको त्याग सर्व प्रकारके यज्ञादि कोंका सम्पादन करताहुआ निर्लेप रहता है वह किसी पापमें नहीं फँसता अर्थात् जब वह सुकर्मोंको भगवान्में अर्पण करदेगा अर्थात् सब कर्मोंको ब्रह्मरूप ही जानलेगा [**लिप्यते न स पापेभ्यो पद्मपत्रमिवाम्भसा**] सो किसी प्रकारके पापमें भी लिप्त नहीं

होता। जैसे कमलपत्र जलमें रहताहुआ भी जलसे लिप्त नहीं होता।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यदि विधिवशात् उससे कोई पाप होजावे तो वह उस पापसे बांधा नहीं जाता। क्योंकि भगवान् उस पर प्रसन्न हो उसके पापोंके फल अपने तेजसे भस्म करदेते हैं। सो भगवान् आगे कहेंगे, कि "अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि० ० ० (अ० १८ श्लो०६६) हे अर्जुन तू अपने धर्मोंको मुझमें अर्पण कर मेरी शरण आजा! मैं तेरे सब पापोंको नाश करदूंगा। तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी अपना सारा घर किसीको अर्पण करदेता है, तो क्या उसके घरके प्रनाले, मकरे, छिपकिलियां, चूहे, बिल्ले इत्यादि छांट कर अलग करदियेजाते हैं? कदापि नहीं! वरु सब कुत्सित पदार्थ शोभन पदार्थोंके साथ-साथ अर्पण होजाते हैं। इसी प्रकार जो प्राणी अपने कर्मरूप सारे घरको श्री हरिके प्रति अर्पण करदेगा तो उसके पाप जो भगवान्के सन्मुख जावेंगे, पतितपावन उन्हें अपने तेजसे आप ही नष्ट करदेवेंगे। इसी कारण श्यामसुन्दर अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन! जो प्राणी कर्मोंका संग छोड सब मुझमें अर्पण करदेता है उसको पाप बाधा नहीं करते। क्योंकि वे पाप ब्रह्मरूप तेजके समीप आते ही इस प्रकार बिलाजाते हैं जैसे सूर्यके प्रकाश होतें ही अन्धकारका नाश होजाता है।

दूसरा विशेष अभिप्राय भगवान्का यह है, कि तत्त्वदर्शी, ज्ञानी और इन्द्रियजित यदि विधिवशात् प्रारब्धकी प्रेरणासे कभी किसी पाप में पडजाता है, तो वह उसमें लिप्त नहीं होता है। वह कैसे उस पाप

से बचता है उसे उदाहरण देकर भगवान् कहते हैं, कि "पद्मपत्र मिवाम्भसा" कमलका पत्र जैसे पानीमें रहताहुआ भी जलसे स्पर्शको नहीं प्राप्त होता है । सो केवल उसके पत्रोंकी चिक्कणताका कारण है अर्थात् पत्ते इतने चिकने होते हैं, कि जो कभी संयोग वशात् जलकी एक छोटीसी बूंद भी उन पर पडजावे तो वह क्षणमात्र भी उस पर नहीं ठहर सकती । इसी प्रकार तत्त्व-दर्शी ज्ञानियोंका अन्तःकरण निष्कामकर्म-योगके साधनसे इतना निर्मल और चिक्कण होजाता है, कि संयोग वशात् यदि कोई पाप-कर्मकी छोटीसी बूंद उसपर पड-जावे तो वह उसके अन्तःकरणपरे ठहर नहीं सकती । अर्थात् विष-यियोंके समान वह उसमें फँसकर नाश नहीं होता । जैसे विश्वामित्र नारद, पराशरादि महर्षियोंके हृदयपर जो शकुन्तला, शीलनिधि-कन्या तथा मत्स्योदरीके नयन-शरके घाव अधिक नहीं ठहर सके । क्षण-मात्रमें कर्पूरकी डलीके समान बिलागये । अर्थात् उनके निर्मल अन्तः करणरूप नलनीदलपर इन पापोंकी छींटें अधिक न ठहर सकीं । इसी कारण भगवान्ने दया कर इनको शुद्ध करदिया और इनका महत्व ज्योंका त्यों बनारहा ।

एवम् प्रकार भगवान्ने इस श्लोक द्वारा अर्जुनकी शंकाका समा-धान करदिया ॥ १० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जब कर्मका बन्धन स्पर्श नहीं करता और प्राणी कर्मोंको भगवत्में अर्पण करके बन्धनरहित होजाता है तो कर्म करनेकी आवश्यकता ही नहीं

देखी जाती। फिर कर्म करनेवाले किस तात्पर्यसे कर्म करते हैं? मुझे समझाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू— कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११

पदच्छेदः— योगिनः (ईश्वरसमर्पितेन निष्कामकर्म-योगेनयुक्ताः कर्मिणः) संगम् (फलासक्तिम्) त्यक्त्वा (विहाय) आत्मशुद्धये (चित्तशुद्धये) कायेन (देहेन) मनसा, बुद्ध्या [तथा] + केवलैः (कर्माभिनिवेशरहितैः ममत्वबुद्धिशून्यैः) इन्द्रियैः (चक्षुरादिभिर्ग्राह्यकरणैः) अपि, कर्म (विहिताचारम्) कुर्वन्ति (सम्पादयन्ति) ॥ ११ ॥

पदार्थः— (योगिनः) ईश्वरमें अर्पणबुद्धिसे निष्काम-कर्मयोगके सम्पादन करनेवाले (संगम्) कर्म-फलकी आशाको (त्यक्त्वा) छोडकर (आत्मशुद्धये) केवल अपने चित्तकी शुद्धि निमित्त (कायेन) शरीरसे (मनसा) मनसे (बुद्ध्या) बुद्धि से अथवा (केवलैरिन्द्रियैः) केवल इन्द्रियोंसे (अपि) भी (कर्म कुर्वन्ति) कर्म किया करते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थः— प्रथम श्लोकमें कर्म-बन्धनसे छूटजाना दिखला-कर श्यामसुन्दर अर्जुनकी शंकाकी निवृत्ति करतेहुए योगियोंके कर्म

+ केवलशब्दः कायादिभिरपि प्रत्येकं सम्बध्यते. सर्वं व्यापारेषु।

करतेरहनेका कारण दिखलातेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि**] कायासे, मनसे, बुद्धिसे वा केवल इंद्रियोंसे नाना प्रकारके कर्म कियेजाते हैं । जैसे तप करना, तीर्थोंमें शरीरको थकाना, पंचाग्नि तापनी, शीतकालमें रात्रिभर जलके ऊपर नंगेशिर शयनकरना, एक पांवपर खडेहोकर भगवानसे प्रार्थना करनी, मौन रहना तथा परोपकारके निमित्त + शिवि और * दधीचि के समान अपने शरीरसे मांस और हड्डी निकालदेनी इत्यादि कायिककर्म हैं । "**विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन**" (भर्तृहरिः) अर्थात करुणासे भरेहुए प्राणियोंका शरीर परोपकारसे शोभायमान होता है, चन्दनसे चर्चित करनेसे नहीं । इसलिये कायासे उपार्ज्जन कियेहुए जो शुभकर्म्म हैं तिनको केवल कायिककर्म कहते हैं ।

(**मनसा**) केवल मनसे उपार्ज्जन कियेहुए कर्मोंको मानसिक कर्म कहते हैं। जैसे आस्तिक्य (ईश्वर है, मोक्ष है, परलोक है) इत्यादि विषयोंका निश्चय करके गुरु, वेद तथा महानुभावोंके सिद्धान्त-वाक्योंको एकाग्र हो श्रवणकर एकान्तस्थानमें मुहूर्त्त दो मुहूर्त्त बैठ मनन करना।

× शिविने कपोत पक्षीकी जान बचानेके लिये अपने शरीरसे मांस काटकर श्येन (बाज पक्षी) को दिया था।

* दधीचिने अपनी जंघाकी हड्डी निकालकर देवताओंके उपकारनिमित्त दी थी जिससे " ऐन्द्र " नाम धनुष बना और तिसके द्वारा देवासुर—संग्राममें विजयकी प्राप्ति हुई, वृत्तासुर इत्यादि असुर मारेगये ।

करुणा अर्थात दुःखियोंको देख दयासे भरजाना । यदि अपनेसे उपकार न होसके तो परायेके द्वारा उपकार करानेका यत्न विचारना । निन्दित कर्मोंमें स्पृहा न होनी । विद्वानों, महात्माओं तथा अपने माता, पिता, आचार्य्यके सत्कार करनेकी अभिलाषा रखनी। इष्टदेव तथा इष्ट मंत्रादिकोंमें विश्वास रखकर दृढ रहना । चाहें कितनी भी आपत्तियां क्यों न आजावें पर मनको डावांडोल न होनेदेना। धर्मपर स्थिररहना । अपने ऐश्वर्य्यादिका दम्भ न करना । अपमानसे व्यग्र न होना । राग द्वेषके पल्ले न पडना । ईर्षा नहीं करनी। परायेकी वृद्धि देख प्रसन्न होना और उसकी उन्नतिमें सहायता करनेकी चेष्टा रखनी। जो कोई अपना अनिष्ट करचुकाहो पर फिर शरण आवे तो उसका अपराध क्षमाकरना । ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके * विषयोंसे अलग रहना और विषयोंके छूटते रहनेका अभ्यास करते रहना । इत्यादि मानसिककर्म हैं ।

(बुद्ध्या) जब कोई समय ऐसा आनपडे, कि एक ही कर्मका करना और न करना दोनों श्रेय जानपडें उस समय पूर्ण विचारके साथ उपाय और अपाय दोनोंको सामने रखकर ऐसा विचारना जिसमें अपायोंके

टिप्प०— हरिश्चन्द्रने आपत्ति समय चाण्डालके भृत्य होनेपर अपने मरे पुत्र को अपनी स्त्रीकी गोदमें पडा देख उसे श्मशान घाटमें बिना कर लिये फूंकने न दिया ।

* मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥

मनके दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध तहां अशुद्ध तो वह है जिसमें विषयोंके भोगकी कामना बनी रहती है और शुद्ध वह है जो विषयोंकी कामनाओंसे वर्जित है ।

फंदे न पडना पडे। एवम् प्रकार विचार इन दोनोंमें न्याय करलेना, कि यह कार्य्य इस समय कर्त्तव्य है वा अकर्त्तव्य है। दोनोंमें एकका सिद्धान्तकर उसके पूर्ण करनेकेलिये भांति-भांतिके उद्योगोंको प्रमाणोंके सहित सम्मुख कर एकको दृढ करलेना जिससे आगे धर्म्मके मार्गमें भी कुछ हानि उत्पन्न न हो और कार्य्य भी सुलभताकेसाथ पूर्ण होता-जावे। इसीको कुशाग्रबुद्धि कहते हैं। इसी + बुद्धि द्वारा अनात्मा और आत्मामें भेद निकालकर अनात्माका परित्याग और आत्मतत्त्वका ग्रहण करनेकेलिये * कर्म, अकर्म और विकर्म का भलीभांति बिचारकरना केवल बुद्धि द्वारा ही होता है। जैसे काया और मनसे परोपकारादिका सम्पादन दिखला आये हैं ऐसे ही बुद्धि द्वारा भी सूक्ष्म-विचारसे परायेका उपकार होसकता है। ये सब भी बुद्धिके कर्म कहे जासकते हैं।

अब कहते हैं, कि "केवलैरिन्द्रियैऽरपि" केवल इन्द्रियों ही द्वारा अर्थात् जो कर्म केवल पांचों कर्मेन्द्रिय और पांचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सम्पादन कियेजावें उनको केवल इन्द्रियकर्म कहते हैं।

शंका— यहां यह शंका उत्पन्न होती है, कि इन्द्रियां बिना मन और कायाके संग हुए कुछ कर्म नहीं करसकतीं। फिर आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने " केवलैरिन्द्रियैः " कैसे कहा?

---

*कर्म, अकर्म और विकर्म इन तीनोंका भेद जाननेकेलिये (देखो अ० ४ श्लो० १७)

+ बुद्धि गुणोंके भेदसे तीन प्रकारकी होती है जैसा भगवान् आगे १८ वें अ० में ३० से ३२ श्लोकतक वर्णन करेंगे। सो इन तीनों प्रकारकी बुद्धियोंमें जो सात्विक-बुद्धि है उसके अनुसार नाना प्रकारके शुभ आचरण होते हैं।

समाधान— इसका समाधान यह है, कि "केवल"से यह प्रयोजन रखा है, कि इन्द्रियां जो अपने-अपने विषयकी ओर जाकर कर्म करें उनसे अभ्यास, अभिनिवेश और ममत्व न हो। जैसे कोई एक महानुभाव इन्द्रियजित पुरुष किसी स्थानमें बैठा है तहां एक सुन्दर स्त्री उसके नेत्रोंके सामने आपडती है वह महात्मा उसे देखता है पर अपने मनका योग उसके साथ नहीं करता जिस कारण वह कामके बाणसे बच जाता है। इसीको केवल इन्द्रियकर्म कहते हैं। यदि इसके साथ मनका योग भी होजावे तो वह मानसकर्म होजावेगा। और मनोज भी अपना वेग दिखलावेगा। यदि मनोजने भी अपना वेग दिखलाया तो झट वह अपनी कायाको उस स्त्रीकी कायाके साथ मिलादेगा तो यहां कायाने भी इन्द्रियोंका योग किया। तब यह कर्म केवल इन्द्रिय-कर्म नहीं हुआ वरु मन काया और इन्द्रिय तीनोंके द्वारा सम्पादन कियागया। इसलिये जबतक केवल आंखसे देखकर अभ्यास, अभिनिवेश और ममत्वको छोड रखा है तबही तक वह केवल इन्द्रियोंका कर्म कहा जावेगा। इसी प्रकार सम्पूर्ण विराट्को देखता हुआ प्राणी केवल इन्द्रियोंसे कर्म करसकता है। यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है। इसी प्रकारके कर्मको केवल इन्द्रियकर्म जानना।

अब भगवान कहते हैं, कि [**योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये**] इसी प्रकार योगी केवल कायासे, मनसे, बुद्धिसे वा इन्द्रियोंसे व्यवहारोंमें रहकर भी उदासीनताके साथ संगरहित होकर अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करनेके लिये निष्काम-कर्मोंका सम्पादन करते रहते हैं पर मन-बुद्धिसे विशेष सम्बन्ध नहीं रखते।

यदि अनायास केवल इन्द्रियोंसे कार्य्य करते हुए काया, मन और बुद्धिका संयोग हो भी जाता है तो उस कर्मके फलको त्याग ईश्वरमें समर्पण करदेते हैं ।

केवल काया, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे कहनेका यह मुख्य अभिप्राय है, कि काया जो '×अन्नमयकोष' मन जो 'मनोमयकोष' बुद्धि जो विज्ञानमय कोष और इन्द्रिय जो 'प्राणमयकोष' इनसे कर्मों का सम्बन्ध न रखकर अर्थात् इन अपने चारों कोषोंसे सिमटकर योगीजन 'आनन्दमयकोष में' प्रवेश करजाते हैं, जहांसे आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द, तथा भगवत्स्वरूपका आरंभ होता है । एवम् प्रकार योगीजन आनन्दमयकोष होते हुए ब्रह्ममें लय होजाते हैं । इसलिये कर्मयोगी अपने कर्मोंके फलोंकी आसक्ति छोड उन फलोंको भगवत्में अर्पण करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते रहते हैं ॥ ११ ॥

× एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमांल्लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् एतत्साम गायन्नास्ते । हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु तैत्तिरी० भृगुव० अ० ४८ ॥

अर्थ— आत्मज्ञानी क्रमशः अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्द मय कोषोंको उल्लंघन करताहुआ आनन्दपूर्वक हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु सामवेदका गान करताहुआ ब्रह्ममें लय होजाता है ।

अब श्री नन्दनन्दन युक्त और अयुक्त अर्थात् सकाम और निष्कामकर्म करनेवालोंका विलग-विलग परिणाम बताते हैं—

मू०—युक्तः कर्म फलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२

पदच्छेदः— युक्तः (परमेश्वरैकनिष्ठः ईश्वराय कर्माणि करोमि । न फलायेत्येवं समाहितः) कर्मफलम् (जीवकृतशुभाशुभस्य शास्त्रविहितस्य निषिद्धस्य वा सुखदुःखादि रूपं परिणामम्) त्यक्त्वा (परित्यज्य) नैष्ठिकीम् (सत्वशुद्ध्यादि कर्मप्राप्तब्रह्मनिष्ठाफलभूतामात्यंतिकीम्) शान्तिम् (चित्तोपशमम् । विषयेभ्य इंद्रियोपशमम् । तृष्णाक्षयम् । कैवल्यम्) आप्नोति (प्राप्नोति) [किन्तु] अयुक्तः (असमाहितः । ईश्वराद्बहिर्मुखो वा) कामकारेण (कामतः प्रेरिततया प्रवृत्त्या वा) फले सक्तः निबध्यते (नितरां बन्धनं प्राप्नोति) ॥ १२ ॥

पदार्थः— (युक्तः) जो प्राणी परमेश्वरकी निष्ठामें सदा लीन है वह (कर्मफलम्) कर्म-फलको (त्यक्त्वा) त्याग करके (नैष्ठिकीम्) अन्तःकरण शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करताहुआ भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति करानेवाली निष्ठासे भरीहुई (शान्तिम्) शान्ति (आप्नोति) प्राप्त करता है पर जो प्राणी इसके प्रतिकूल (अयुक्तः) असमाहित अर्थात् चंचल-चित्त होकर सकामकर्म करताहुआ भगवतसे बहिर्मुख है वह (कामकारेण) कामकी प्रेरणासे (फले-

सक्तः) कर्मके फलमें आसक्त होकर (निबध्यते) सकामके लिये कर्मफलसे बांधाजाता है । अर्थात् अधमगतिको प्राप्त होता है ॥ १२॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर पूर्व श्लोककी वार्त्ता दृढ करनेके लिये युक्त और अयुक्त दोनों प्रकारके कर्म करनेवालोंका परिणाम दिखलातेहुए कहते हैं, कि [**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांति माप्नोति नैष्ठिकीम्**] जो प्राणी युक्त है अर्थात् ईश्वरमें समाहित-चित्त रहकर अपनी निष्ठासे कदापि नहीं टलता । चाहे उसकी गर्दनपर खड्गकी धार क्योंन पडनेवाली हो, उसका सारा सर्वस्व क्यों न लुट रहा हो, सारा संसार ही उसका शत्रु क्योंन होगया हो, प्रह्लादके सदृश जलतीहुई आगमें क्यों न फेंकदिया जावे अथाह समुद्रमें उसका शरीर बांधकर क्यो न फेंकदिया जावे पर किसी भी अवस्थामें अपनी ब्रह्मनिष्ठाका परित्याग नहीं करता वही पुरुष युक्त अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ कहाजाता है । एवम् प्रकार जिस प्राणीने ब्रह्मनिष्ठ हो कर्म-फल त्यागदिया है अर्थात् कर्म-फल केवल ईश्वरमें समर्पण कर ऐसा नहीं समझता, कि इन कर्मोंको मैं अपने लिये करता हूं वह ऐसा समझता है, कि जो कुछ मेरे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा कर्म बनआते हैं उनको मैं केवल भगवत् प्राप्ति-निमित्त करता हूं । वही प्राणी नैष्ठिकी शांतिको जिसे मोक्षपद कहते हैं प्राप्त करता है अर्थात् सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर भगवत्-स्वरूपमें प्रवेश कर जाता है ।

यहां जो भगवान्ने "नैष्ठिकी-शान्ति" कही है तहां नैष्ठिकी कहनेका गुप्त मर्म यह है, कि साकार वा निराकार, वैष्णव वा शैव,

बैरागी वा सन्न्यासी जिसकी जैसी निष्ठा होगी तदाकार ही शांति प्राप्त करेगा । इसलिये दृढ़ निष्ठाकी आवश्यकता है । पर जो प्राणी असमाहित चित्त होनेके कारण आत्मामें निष्ठा रखनेका पराक्रम नहीं रखता वह बलहीन है ऐसे बलहीनके लिये आत्मज्ञानकी प्राप्ति दुस्तर है ॥

साकार और निराकारके भेदसे इस नैष्ठिकी शांतिके दो स्वरूप हैं, अर्थात् जो निराकार उपासना वाले हैं वे तो निराकार ब्रह्मको प्राप्त होते हैं और जो साकार वाले हैं वे साकार * ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥

आनन्दमें, सुखमें, शांतिमें, अवस्थामें, नित्यतामें विनाशरहित अमृतपद पानेमें, दोनोंको परमधाम मिलनेमें, दोनोंके सर्वेश्वर होनेमें, सर्वव्यापक होनेमें तथा निर्विकार, निर्मल, सच्चिदानन्द, ब्रह्म होनेमें तनक भी भेद नहीं है । इसलिये किसी निष्ठाका भी प्राणी क्यों न हो आनन्दमें समान ही है ॥ इसलिये जैसी जिसकी निष्ठा होगी उसी प्रकारकी उसकी नैष्ठिकी शांति होगी । इस कारण शांतिपदके साथ नैष्ठिकी योजना करदी है

शंका—नैष्ठिकी शांतिके जो दो भेद साकार और निराकार कथन किये गये तहां जिज्ञासुओंको अवश्य यह भ्रम होगा, कि इन दोनोंमें किसी एककी

---

* "द्वावेव ब्रह्मणो रूपम्मूर्तं चामूर्तं चेति" अर्थात् उस ब्रह्मके दो स्वरूप हैं एक मूर्तिमान् और दूसरा अमूर्तिमान् ।

तो श्रेष्ठता होनी चाहिये ? क्योंकि दो वस्तु होनेसे चित्तकी चंचलताके कारण किसी भी एक निष्ठाकी दृढता नहीं होगी । क्योंकि साकार-वाले कहते हैं, कि मैं श्री गोलोकबिहारीके साथ नित्य बिहार करने-वाला तथा नित्य आनन्दका भोगनेवाला हूं । मेरा गोलोक-बिहारी बडेसे बडा बिराट्-स्वरूप होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें और छोटेसे-छोटा अणुमात्र होकर पिपीलिकाके हृदयमें भी निवास करता है । अर्थात् (अणोरणीयान्) और (महतो महीयान) है । पर निराकार तो शून्य है, शून्यसे क्या लाभ हो सता है ? इसके विरुद्ध निराकार-वाले कहते हैं, कि जहांतक नाम रूप हैं सबोंका नाश है, केवल निराकारा नाश नहीं होसकता । इसलिये निराकार ब्रह्म ही नित्य है और सब अनित्य हैं । साकारका विनाश है । इसलिये इस परस्प-रके विरोध श्रवण करनेसे नैष्ठिकी शान्ती प्राप्ति दुर्लभ दीख-पडती है ।

समाधान— परस्परके झगडनेवाले यथार्थ तत्त्वसे बहुत ही विलग हैं । जो यों कहते हैं, कि निराकार शून्य है और जो यों कहते हैं, कि साकारका नाश है वे दोनों भ्रममें पडेहुए हैं । यदि भ्रमका आवरण ये दोनों अपने हृदयसे मिटादेवें तो ये अवश्य जानजा-वेंगे, कि दोनों एकही स्थानमें स्थित हैं केवल कहने मात्रका अन्तर है । क्योंकि जो ही साकार है वही निराकार है । इसका पूर्ण सिद्धान्त आगे श्यामसुन्दर स्वयम् उपासना कहते समय अर्जुनसे कथन करेंगे ।

अब जगद्-गुरु, जगत हितकारी गोलोकबिहारी युक्त पुरुषोंका वृत्तान्त कहकर आधे श्लोकमें अयुक्त अर्थात् निष्ठाहीन चंचल

चित्तवालेकी दशा वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते**] जो प्राणी अयुक्त है अर्थात् असमाहित-चित्त होनेके कारण साकार निराकार किसीमें भी निष्ठा नहीं रखता, कर्मयोग वा सन्यासयोग किसीमें विश्वास नहीं रखता, वेद-शास्त्र वा महानुभावोंके वाक्यों तथा गुरुवचनोंमें भी विश्वास नहीं रखता, आज इस धर्ममें कल उस धर्ममें मारा फिरता है, तिस पर यों अहंकार करता है, कि मैं विद्वान् हूं ऐसा दम्भ-युक्त प्राणी " कामकारेण " कामकी प्रेरणासे अहर्निश विषय-भोगमें डूबाहुआ है तथा थोडा भी कहीं सुकर्म बनआया तो झट उसके बदले सैकडों मनोकामनाओंकी पूर्ति करलेनेकी अभिलाषा रखता है वह फलमें आसक्त होकर सदाकेलिये कर्मोंसे बांधा जाता है। न उसकी कामना छूटती है और न वह कर्मबन्धनसे छूटता है। यहां सदाकेलिये कहनेका तात्पर्य यह है, कि जब तक कामनाओंकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होरहा है तब तक छुटकारा नहीं है। क्योंकि शुभा-शुभ कर्मोंके भोगसे कभी कुलालचक्रके समान इसी संसारकी भिन्न योनियोंमें फिरता रहता है अथवा जो किसी शुभ कर्म-वश स्वर्ग चला भी जाता है तो फिर लौटकर इसी संसारके गर्तमें गिरता है। एवम् प्रकार कूपघटिकायंत्रके समान नीचे ऊपर करता रहता है। श्रुतियां भी इसी अर्थका प्रतिपादन करती हैं—

श्रु०— "ॐ अविद्यामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्य-

टिप्पणी०— साकार निराकारका वर्णन अ० श्लो० में देखो।

मानाः । जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथा-न्धाः ॥ ८ ॥ अविद्यायां बहुधा वर्त्तमानाः वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः । यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते" ॥ ९ ॥ (मु० १ खं० २ श्रु० ८, ९,)

अर्थ— जो अविद्याके भीतर वर्त्तमान रहकर अपनेको बड़ा विवेकी पण्डित मानने वाले हैं वे मूढ़ "जंघन्यमानाः" जरा और रोगसे बार-बार पीडित होकर इधर-उधर ऐसे भ्रमते रहते हैं जैसे अंधेके पीछे चलनेवाला अन्धा गड्ढे इत्यादिमें गिरपडता है। ऐसे नाना प्रकारसे अविद्यामें वर्त्तमान रहनेवाले जो बालकोंके समान असमाहितचित्त हैं और अपनेको ऐसा मानते हैं, कि हमलोग कृतकृत्य हैं वे यथार्थ तत्व को नहीं जानते हैं। इसलिये वे कर्म फलसे दबेहुए दुःखसे आतुरे होकर कर्म-फल क्षय होजानेके पश्चात स्वर्गसे नीचे गिरजाते हैं। इनही श्रुतियोंके अभिप्रायोंको भगवान् इस श्लोकमें अर्जुनके प्रति कर्मयोगका फल दिखलाते हुए यह उपदेश करचुके हैं, कि जो प्राणी तेरे समान कषाय (परिपक्व) न होनेके कारण सन्न्यासका अधिकारी नहीं है उसके लिये इस कर्मयोगहीकी श्रेष्ठता है।

उक्त प्रकार भगवान्ने युक्त और अयुक्त अर्थात् सकाम और निष्कामकर्म करने वालोंके परिणाम विलग-विलग दिखलादिये।

अब भगवान् उनलोगोंकेलिये जो कर्मयोगकी सिद्धि प्राप्त कर शुद्ध अन्तःकरणवाले होगये हैं कर्मसन्न्यासकी श्रेष्ठता अगले ८ श्लोकोंमें कहते हुए इस अध्यायकी समाप्ति करते हैं ॥ १२ ॥

मू०— सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥

पदच्छेदः— वशी (जितेन्द्रियः) देही (देहाद्व्यतिरिक्तात्मदर्शी) सर्वकर्माणि (नित्यं, नैमित्तिकं, काम्यं प्रतिषिद्धं चेति तानि) मनसा (कर्मादावकर्मदर्शनेन विवेकबुद्ध्या) सन्न्यस्य (परित्यज्य) न (नहि) कुर्वन् (क्रियासु प्रवर्त्तयन्) न (नैव) कारयन् (कर्माण्यभिप्रेरयन्) [एवं] नवद्वारे (द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति शिरसि सप्त, द्वे पायूपस्थाख्ये अधः, इति नवद्वारविशिष्टे) पुरे (मनुष्यशरीराख्ये नगरे) सुखम् (दुःखहेतुसर्वव्यापारोपरमादायासरहितम्) आस्ते (तिष्ठति) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (वशी) काया, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको अपने वशमें रखा है जिसने, ऐसा जो जितेन्द्रिय (देही) इस देहका अधिपति यतचित्तात्मा पुरुष, वह (सर्वाणि कर्माणि) नित्यनैमित्तिकादि सबकर्मों को (मनसा) मनसे (परित्यज्य) त्यागकर (न कुर्वन्) न कुछ करता हुआ (न कारयन्) न किसीसे कुछ कराता हुआ (एव) निश्चयकरके (नवद्वारे) नवद्वारके बनेहुए (पुरे) इस मनुष्य-शरीर रूप नगरमें (सुखम्) आयासरहित हो आनन्दपूर्वक (आस्ते) निवास करता है ॥ १३ ॥

भावार्थः— अब श्री जनार्दन भगवान उन लोगोंके लिये जो अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर सन्न्यासके अधिकारी होगये हैं,

सन्न्यासका स्वरूप दिखातेहुए कहते हैं, कि [**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी**] देही जिसने कर्मयोग साधन द्वारा कर्मोंके फल त्याग करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर अपनी देह, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको बशीभूत करलिया है उसे + वशी कहते हैं।

जिसके विषय भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि "**वशे हि यस्येंद्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता**" (अ० २ श्लो० ६१) "**आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति**" (अध्या० २ श्लो० ६४) अर्थात् जिसकी इन्द्रियां अपने वशमें हैं उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठिता कही जाती है। तथा जिसने अपने मनको अपना वशवर्त्ती बना स्वाधीनता प्राप्त कर प्रसाद प्राप्त किया है अर्थात् नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त कर कृतकृत्य होगया है उसे कहिये "वशी" । ऐसा निर्मलात्मा जिसने अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कर सर्व प्रकारके *कर्मोंको त्याग रखा है अर्थात् नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिषिद्ध इन चारों प्रकारोंके कर्मोंसे अलग होगया है वही परम सुखमें निवास करता है।

शंका— जो आलसी हैं अहर्निश संसृत-झगडोंमें पडेहुए पुत्र कलत्र तथा नाना प्रकारके विषय भोगमें व्यग्र रहते हैं वे भी तो

+ यह वशी शब्द अगले अर्द्धश्लोक देही पदका विशेषण है।

* नित्यकर्म— सन्ध्यादि।

नैमित्तिक— पितरोंका श्राद्ध इत्यादि।

काम्य— पुत्र पौत्रकी कामनासे पुत्रेष्टि यज्ञादि।

प्रतिषिद्ध— जीवोंकी हिंसा तथा मिथ्याभाषण, व्यभिचार, चौरकर्म इत्यादि।

सन्ध्या, हवन, तर्पण, श्राद्धादि सब कर्मोंको छोडे रहते हैं तो क्या वशी भी इन्ही मूर्खोंके समान कर्मोंको छोडदेता है । यदि ऐसा हो तो वशी (परमहंस) और अवशी (विषयी) इन दोनोंमें क्या अन्तर रहेगा ?

समाधान— यहां त्यागका अर्थ यह है, कि वशीने कर्मोंको नहीं छोडा है पर कर्म ही आपसे आप उससे छूटगये हैं । कारण यह है, कि कर्मोंका सम्पादन करते-करते जो कर्मोंका अन्तिम फल **नैष्ठिकीशांति** है अर्थात् जीवन्मुक्ति है उसे वह प्राप्त करचुका है । इसी कारण लौट कर उसे पीछे देखनेकी आवश्यकता ही नहीं रही। श्रुतिका भी वचन है, कि– "**तावद्रथेन गन्तव्यम् यावद्रथपथि स्थितः। स्थाता रथपतिस्थानम् रथमुत्सृज्य गच्छति** ॥ (अमृतनादोपनिषद् मं० ३) अर्थात् जबतक रथ अपने स्थानपर पहुंचता है तबही तक रथकी आवश्यकता है और जब अपने स्थानपर चलनेवाला पहुंचगया तब फिर उस रथको छोड़कर अपने घरमें चलाजाता है। इसीलिये प्राणीको कर्मरूप रथकी आवश्यकता तभी तक है जब तक वह ब्रह्मानन्दके भवनमें नहीं पहुंचता । ज्ञानी कर्मोंको नहीं छोडता वरु कर्म ही उसे छोड देते हैं। इसलिये भगवान्ने ऐसा कहा, कि सर्व कर्मोंको (**सन्न्यस्य**) छोडकर सुखी होजाता है। यदि कहो, कि वाह्य इन्द्रियोंसे तो उसे त्याग प्राप्त हुआ पर मनसे न हुआ हो तो "**इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते**" (देखो अ० ३ श्लो० ६) भगवान्के इस वचनके अनुसार वह प्राणी विमूढात्मा और मिथ्याचारी है। इसी कारण यहां इस श्लोकमें भग-

त्याग कहते हैं, कि (मनसा) मनसे अर्थात् अन्तःकरणसे जिसने कर्मोका परित्याग किया है वही यथार्थ त्यागी है । इसलिये यहां शंकाका कोई स्थान नहीं है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो एवम् प्रकार मनसे सब कुछ त्यागकर इन्द्रियोंको वशमें किये हुआ है, हे अर्जुन ! वह कहां किस प्रकार सुख पूर्वक निवास करता है सो सुन! [**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्**] न कुछ करता हुआ न कुछ कराता हुआ अर्थात् कायिक, मानसिक सर्वप्रकारके कर्मोका परित्याग करता हुआ निर्द्वन्द्व और नित्य सत्त्वस्थ होकर " नवद्वारे पुरे " इस नव द्वार वाले नगरमें अर्थात् इस *नव छिद्रवाली देहमें सुखपूर्वक निवास करता है । जैसे कोई यात्री किसी दूसरेके घरमें रात्रिभर आनन्द पूर्वक निवास करता हुआ यह जानता है, कि उसका यह घर नहीं है, चाहे इस घरमें दस द्वार हों चाहे बीस, चाहे इसका कोई कोना टूटा-फूटा हो चाहे सम्पूर्ण घर अत्यन्त दृढ पत्थरका क्यों न हो, इसकी हानि वा लाभसे कुछ हानि वा लाभ नहीं होता। इसी प्रकार सन्न्यासी भी इस देहका ममत्त्व छोड इसमें सुखपूर्वक निवास करता है और यों जानता है, कि मैं देह नहीं, इस देह से मुझे कोई सम्बन्ध नहीं, चाहे स्थूल रहे चाहे खिन्न रहे, चाहे गौर वर्ण हो वा श्याम हो, चाहे वक्ता हो, चाहे गूंगा हो, चाहे सुरूप

*नव छिद्र = नेत्रोंके २, कानके २, नासिकाके २, मुखका १, लिंगका, १ गुदाका १ ।

हो, वा कुरूप हो । इस प्रकार की इस नवद्वारवाली देहमें स्थिर होकर बैठा रहता है ।

"सुखमास्ते" कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि श्रु०— "न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।" (अमृतविन्दूपनिषत् खं० ६ मं० १०.)

अर्थ— ऐसी दशामें प्राणी को न निरोध है, न उत्पत्ति है, न वह वद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है, न मुक्त है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि उसे किसीभी दशाका बन्धन नहीं है। इसी अवस्थाको परमार्थता कहते हैं और इसी दशा वाला इस नवद्वारवाले शरीर रूप घरमें सुखसे निवास करता है ।

शंका— इस शरीर रूप घरमें तो छोटे-छोटे बच्चे भी अपनी माकी गोदमें अचिन्त्य होकर सुख-पूर्वक सो जाते हैं । तो उक्त प्रकारके वशी देही (परमहंस) में और छोटे बच्चोंमें क्या अन्तर है ?

समाधान— बाहरसे देखनेमें तो दोनोंकी एक ही दशा है पर अन्तरसे भेद है । परमहंसको तो सारा ब्रह्माण्ड करतलगत है और सर्वज्ञ होनेके कारण सबकुछ पहचानता है । पर बच्चा अपनी माताको भी नहीं पहचानता । एक ज्ञानसहित है और एक ज्ञानरहित है । यह यथार्थमें मुक्त है वह यथार्थमें बद्ध है । बच्चा तो ऋषिऋण, देव-ऋण और पितृऋण तीनों ऋणोंका ऋणी है, पर परमहंस तो इन तीनों ऋणोंको देकर ऋणरहित होगया है । बच्चेको हृदयकी कामनाओंका

प्रादुर्भाव होनेवाला है जहां × लोकैषणा, बित्तैषणा और पुत्रैषणाकी उत्पत्ति होनेवाली है, पर परमहंसकी कामनायें इन तीनों एषणाओंके साथ बिध्वंस होगयी हैं। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि बच्चा संसारमें प्रवेश कररहा है और परमहंस बिलग होरहा है। इसलिये भगवान् अर्जुनको सन्न्यासीका संक्षिप्त लक्षण कहकर दिखलाते हैं, कि हे अर्जुन ! तू भी कर्मयोगका साधन करताहुआ इन ऋणोंको देकर एषणाओंसे रहित हो इस असार संसारसे निकल भागनेका यत्न कर ! ऐसा मत कर, कि एका-एक इस श्लोकहीको श्रवणकर सन्न्यासी बन बैठ। सन्न्यासी बननेकी जो रीतियां हैं उनका साधनकर पीछे उत्तम सन्न्यासी होजा। क्योंकि तेरे ही पूर्वज सर्वप्रकारकी राजनीतियोंका पालन कर कर्मयोगका साधन करतेहुए अन्तमें सब त्याग सन्न्यासी हो कैवल्य परमपद प्राप्त करगये हैं। तू भी ऐसा ही कर ! ॥ १३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! "नैव कुर्वन् न कारयन्" जो तुमने कहा सो मैंने तो ऐसा सुना है, कि ईश्वर ही सबकुछ करवाता है यह जीव उसके अधीन है। कर्मकरने और न करनेमें स्वतंत्र नहीं है। फिर स्वयं यह प्राणी कर्मोंका त्याग कैसे करसकता है ? यह तो ईश्वरकी प्रेरणासे स्वयं भी कर्म करता है और दूसरोंसे भी कर्म करवाता है।

× लोकैषणा = स्वर्गादि लोकोंकी इच्छा। वित्तैषणा = धनसम्पत्तिकी इच्छा। पुत्रैषणा = पुत्रपौत्रादिकी इच्छा।

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन—

मू०— न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— प्रभुः (परमात्मा । महेश्वरः) लोकस्य (जीव-लोकस्य प्राणिसमूहस्य वा) कर्तृत्वम् (कर्तृधर्म्मम्) न (नैव) सृजति (उत्पादयति) कर्माणि (इन्द्रियाणां बचनादानश्रवणदर्शनादिनिष्ठकर्माणि) न (नैव) कर्मफलसंयोगम् (शुभा-शुभकर्मफल सम्बन्धम्) [अपि] न [सृजति] तु (किन्तु) स्वभावः (अविद्यालक्षणा प्रकृतिः । अनाद्यविद्याकामवशात् प्राचीनसंस्कारः) प्रवर्त्तते (वर्त मानोऽस्ति) ॥ १४ ॥

पदार्थः— (प्रभुः) वह परमात्मा (लोकस्य) इस जीव-लोकके अथवा इस देहके (कर्तृत्वम्) कर्म करनेका अधिकार (न) नहीं (सृजति) बनाता है (न कर्माणि) न कर्मोंको सिरजता है और (न कर्मफलसंयोगम्) कर्मफलके संयोगको अर्थात् शुभाशुभ-कर्मोंके फलोंके सम्बन्धको भी नहीं सिरजता है। किन्तु केवल (स्वभावः) अविद्याकरके जीवोंकी जो प्रकृति अनादिकालसे बनती चली आती है वही (प्रवर्तते) सम्पूर्ण जीव लोकमें वर्तमान है अन्य कुछ नहीं है॥१४॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से पूछा है, कि यह जीव तो ईश्वरकी प्रेरणासे कर्म करता है कर्म करनेमें स्वतंत्र नहीं है तो यह स्वयं कैसे कर्मको त्यागकर इस देहमें चुपचाप बैठसकता है । इसका

उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः**] वह जो ईश्वर महाप्रभु है सो न किसी जीवलोकके कर्तृत्वको सिरजता है, न कर्म्मोंको सिरजता है वह तो सबसे न्यारा है अर्थात् ऐसा नहीं करता, कि बलात्कार इस जीवसे कुछ कराते रहनेका उपाय करतारहे । यदि ऐसा करता तो उस महा प्रभुको अपना स्वामी कौन बनाता ? क्योंकि देखाजाता है, कि एक बच्चा जिसे पाप पुण्यका कुछ भी बोध नहीं है, न संसारका बोध है वह भी नाना प्रकारके दुःखोंको झेलताहुआ अत्यन्त दुःख पाता है, चीखता है और चिल्लाता है। अपनी देहकी एक फोडिया चीरेजानेके समय बडे ऊंचे स्वरसे रुदनकरना आरंभ करता है। जिसे देख जब हम पामरोंको दया आती है तब क्या उस ईश्वरको दया नहीं आती होगी? क्या वह दयावान् नहीं है ? यदि दयावान् है तो उसने एक इतने छोटे बच्चेपर ऐसी कठोरता क्यों की ? ऐसे उसके कर्म और तिसके ऐसे कठिन भोग क्यों बनाये ? यह दोष तो ईश्वरको लगना चाहिये सो उसे नहीं लगता इससे सिद्ध होता है, कि यदि ईश्वर इनके कर्तृत्वका तथा तिन कर्मोंका भोगानेवाला होता तो सबको सदा आनन्दहीमें रखता। इससे सिद्ध होता है, कि यथार्थमें वह कर्त्ता, कर्म और क्रियासे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। लोकोंके शुभा-शुभ कर्मोंको भी नहीं रचता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि रथ, पर्य्यंक, मंदिर, अटारी इत्यादि जो कर्ताके कर्म हैं उनको भी नहीं रचता है वह तो सबसे न्यारा है । इसी प्रकार [**न कर्म-फलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते**] शुभा-शुभ कर्मोंके फलके संयोगको भी वह महा प्रभु नहीं रचता। अर्थात् बलात्कार गर्दन मरोडकर

किसी प्राणीको स्वर्ग वा नरकमें नहीं फेंकदेता है । यदि कहो, कि कर्मोंके फन्देमें पडकर संसारीजीव इतना दुःख सुख क्यों भोगते हैं ? तो उत्तर इसका यह है, कि " स्वभावस्तु प्रवर्त्तते " स्वभाव ही बर्त-मान है । अर्थात् अनादि कालसे प्रकृति जो माया तिसके वशहोकर यह जीव कर्मोंको आप ही करता और भोगता चलाआता है । ईश्वर तो केवल साक्षीरूप होकर देखतारहता है । जीवसे कुछ बोलता चालता नहीं । तहां श्रुतिका प्रमाण है, कि " **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न-न्यो अभिचाकशीति ॥** " (श्वेताश्वर उ० अ० ४ श्रुति ६)

अर्थ— जीव और ईश्वर ये दोनों सुन्दर पंखवाले पक्षी परस्पर सखाके समान मिलेहुए इस शरीररूप वृक्षपर बैठेहुए हैं (**तयोरन्यः**) इन दोनोंमेंसे एक जो जीव है वह तो इस वृक्षके फल, दुःख और सुखका स्वादलेता है और वह दूसरा जो शुद्ध बुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा है सो केवल साक्षीमात्र देखता रहता है। इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि परमात्मा कुछ भी नहीं करता। यह जीव ही मायासे बद्ध होकर स्वभावसे ही सबकुछ करता-कराता भोगता-भोगाता रहता है ।

शंका— उसने कर्तृत्व, कर्म, फल और भोग नहीं रचे तो कर्मफलोंके भोगनेके लिये स्वर्ग और नरक किसने रचदिये ? यदि उस महापुरुषने ऐसा किया तो स्वर्ग नरककी रचना व्यर्थ और बच्चोंके खेलके समान जानपडती है ऐसा क्यों ?

समाधान— उस प्रभुकी आज्ञासे मायाने कर्म करनेके जो ये (शस्त्र) इंद्रियां और अन्तःकरण तथा उनके फल भोगनेके स्थान स्वर्ग और नरककी रचना तो अवश्य की है पर वह महेश्वर बलात्कार किसीसे कुछ नहीं कराता केवल प्रकृति द्वारा अनादि-कालसे जो जीवोंमें स्वभाव और गुणका प्रवेश हुआ वही स्वभाव और गुण देव, दनुज, पशु, पत्ती आदि सबोंमें कर्मोंका कारण समझा जाता है। वही स्वभाव है जो उस महा प्रभुके तेजसे प्रकाश पाता है। जैसे सूर्यके उदय होते ही कमल खिलजाता है और कुमुदनी मुंदजाती है। दोनों बनस्पति हैं, दोनों जल ही में उत्पन्न होते हैं, आकारसे भी दोनों लगभग एक ही समान हैं। पर सूर्य उदय होते एकमें स्वभाव खिलजानेका है और एकमें मुंदजानेका है। इस खिलने और मूंदनेसे सूर्यके प्रकाशको किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं। क्योंकि सूर्यको इसका कुछ हर्ष विषाद नहीं। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिमें उस महाप्रभुने अपनी माया द्वारा स्वभाव डालदिया है वही स्वभाव वर्त्तमान रहता है। इसी स्वभावके अन्तर्गत करना, भोगना अर्थात् कर्ता, क्रिया, कर्म इत्यादिके बखेडे लगेहुए हैं। स्वभाव शब्दका अर्थ है (स्वस्य भावः स्वभावोऽविद्यालक्षणा प्रकृतिर्माया) अर्थात स्व शब्द यहां आत्मीयवाची है इसलिये आत्मीय जो भाव स्वभाव प्रकृति वा माया सो ही वर्त्तमान है। इसलिये यह तो अवश्य सिद्धान्त कियाहुआ है, कि वह प्रभु स्वभाव और गुण सबोंमें डालकर स्वयं सूर्यके समान प्रकाश करता हुआ स्वभावको ही नियममें रखता है। तहां श्रुति भी इसी बार्ताको सिद्ध करती है—

श्रु०— " सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वदनड्वान् । एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ "

(श्वेताश्वतर उप० अध्या० ५ श्रुति ४)

अर्थ— जैसे अनड्वान (सूर्य्य) अपनी ज्योतिसे सब दिशाओंको तथा ऊपर, नीचे और अपने दायें, बायें सब वस्तुओंपर प्रकाश करता हुआ शोभायमान होता है इसी प्रकार सबोंसे स्तुति कियेजाने योग्य वह ब्रह्मदेव अपनी ज्योतिसे स्वभावोंको नियमपूर्वक प्रकाश करता है । अर्थात् सर्व प्रकारके स्वभावोंमें अपनी ज्ञानशक्तिसे प्रकाश करता हुआ अधिष्ठित है पर किसीसे आप लिप्त नहीं होता । न आप किसीसे कुछ कराता है ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि व्याघ्र, गौ, मनुष्य पिशाच सबोंमें भिन्न-भिन्न स्वभाव डालकर चुप बैठरहा है । जैसे कुम्भकार भिन्न-भिन्न पात्रोंको बनाकर चुप बैठ रहता है, घर-घरमें यह नहीं कहनेजाता, कि अमुक पात्रमें अमुक कार्य्य साधन करो । क्योंकि पात्रोंका स्वरूप देखकर ही मनुष्य दीवटमें बत्ती बालते हैं और खपडेसे घर छाते हैं। बत्ती बालनी और घर छाना कुम्भकारसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता तीसरा ही प्राणी उन पात्रोंकी आकृति अनुसार कार्य्य करलेता है । इसी प्रकार संसारकी भिन्न-भिन्न वस्तु आग और पानीसे यह जीव काम लेता है । यद्यपि आगमें उष्णता और जलमें शीतलताके स्वभावके नियमोंका प्रतिपादन उस ब्रह्म ही से हुआ है । पर इनके कर्तृत्वसे उस महाप्रभुको कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि आगमें भस्म करदेनेका

स्वभाव और बुद्धिमें अग्निसे बचनेका स्वभाव देदिया है। जो प्राणी ठीक-ठीक स्वभावानुसार सर्व प्रकारकी वस्तुओंसे कार्य्य लेता है, नियमको भंग नहीं करता उसे किसी प्रकारका कर्म बाधा नहीं करता। पर जो प्राणी बलात्कार स्वभावके विरुद्ध कर्म करता है वह उस कर्मके दुःखसे बांधाजाता है। क्योंकि स्वयं प्रकृति-जन्य कर्म न पुण्य है न पाप हैं। पर बुद्धिमें जो उचित अनुचितके स्वभाव दियेहुए हैं उन्हींसे **विधि का कर्त्तव्य और निषेध** का त्याग होता है। फिर जो प्राणी जान-बूझ कर आगमें कूदपडेगा वह क्यों न भस्म होजावेगा? क्योंकि उसने स्वभावसे विरुद्ध कर्त्तव्यका साधन किया।

प्रभु शब्दका अर्थ टीकाकारोंने आत्मा भी किया है। तहां ऐसा अर्थ होता है, कि आत्मा अपने तेजसे सूर्य्यके सदृश प्रकाश तो सबोंमें कियेहुआ है पर उनके स्वभावके अनुसार किसी कर्तृत्वकर्म तथा कर्म-फलके संयोगमें लिप्त नहीं होता सबसे निर्लेप रहता है। इसीके विषय भगवान् अर्जुनसे पहले भी कहआये हैं, कि **" न मां कर्म्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा "** (अ० ४ श्लो० १४)

शंका— जैसा जिसका स्वभाव नियत कियाहुआ है उसके विरुद्ध वह कैसे करेगा?

समाधान— प्रारब्धकी प्रेरणासे अथवा अन्य किसी विशेष कारणसे बुद्धिमें कामनाकी उत्पत्ति होती है। जब वह कामना पूर्ण नहीं होती तो क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधके उत्पन्न होनेसे मोह। मोहसे स्मृतियोंमें भ्रम अथवा अपनी स्मृतिकी भूल। स्मृतिमें भ्रम होनेसे

बुद्धिका नाश होता है। तिस बुद्धिके नष्ट होनेसे वस्तुओंका स्वभाव तथा अपना स्वभाव भी भूलजाता है। तब ऐसे प्राणीसे जितने आचरण होते हैं सब स्वभावसे बिरुद्ध होते हैं। स्वभाव-बिरुद्ध होनेसे दुःखपाता है और नष्ट होजाता है। इस बचनको भगवान् अध्याय ३ श्लोक ३२ और ३३ में कहआये हैं।

क्रोधमें ही आकर स्वभावोंकी स्मृति भ्रष्ट होनेसे मनुष्य बिषके स्वभावको भूलकर खालेता है तथा खड्गके स्वभावको भूलकर अपने हाथसे अपना प्राण देता है। इसलिये यह सिद्धान्त है, कि सारे ब्रह्माण्डमें स्वभाव ही बर्त्तमान है। स्वभावानुकूल कर्तृत्व पालन करना धर्म है। प्रतिकूल अधर्म है। इसी कारण श्रुतिने कहा है, कि इस शरीररूप वृक्षपर दो पक्षी हैं एक कर्मोंका करनेवाला और उनके फलोंका भोगनेवाला है तथा दूसरा सबसे न्यारा केवल साक्षीमात्र है ॥ १४ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की भगवन्! इस जीवमें स्वभाव तो अवश्य है, पर करनेके शस्त्र जो इन्द्रियां वे तो उसी महाप्रभुकी दी हुई हैं अथवा उसी आत्माकी शक्ति इनमें प्रदान की हुई है। तो उस महाप्रभुमें कर्तृत्व तो नहीं है पर कारयितृत्व तो सिद्ध होता है। जैसे कोई किसीके हाथमें खड्ग देवे तो अवश्य कुछ काटनेके तात्पर्य्यसे देगा, मुखसे कहे वा नहीं कहे। इसी कारण कर्तृत्वका दोष उसमें नहीं लगेगा पर कारयितृत्व (प्रेरणाकरके करने) का पाप तो अवश्य ही लगेगा। फिर वह निर्दोष और निर्लेप क्यों कहाजावे?

इतना सुन भगवान उत्तर देते हैं—

मू०— नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

पदच्छेदः— विभुः (परमेश्वरः । व्यापकः । आप्तकामः । परिपूर्णः) कस्यचित् (कस्याऽपि पुरुषस्य) पापम् (अघम्) न (नहि) आदत्ते (गृह्णाति । आत्मसम्बद्धं करोति) च (तथा) सुकृतम् (पुण्यम्) एव (निश्चयेन) न (नैव) [गृह्णाति] अज्ञानेन (आवरणविक्षेपशक्तिमता मायाख्येन) ज्ञानम् (विवेकः । विज्ञानम् । सर्वत्र समम् परमेश्वर इत्येवं भूतं ज्ञानम) आवृतम् (आच्छादितम्) तेन [हेतुना] जन्तवः (अविवेकिनः । संसारिणो जीवाः) मुह्यन्ति (विक्षेपं गच्छन्ति । मोहं प्राप्नुवन्ति । भगवति वैषम्यं मन्यन्ते वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (विभुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (कस्यचित्) किसीके भी (पापम्) पापको (नादत्ते) नहीं ग्रहण करता है (च) तथा किसीके (सुकृतम्) पुण्यको (एव) निश्चय कर कभी भी (न) नहीं ग्रहण करता । केवल (अज्ञानेन) आवरण विक्षेपादि उत्पन्न करनेवाली मायामयअज्ञानतासे (ज्ञानम) आत्मज्ञान (आवृतम्) आच्छादित होरहा है (तेन) इसी कारणसे (जन्तवः) संसारी अज्ञानी जीव (मुह्यन्ति) विक्षेपको प्राप्तहोकर ईश्वरमें विषमदृष्टि कियेहुए मोहमें पडे रहते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंकाकी है, कि परमेश्वरमें कर्तृत्व तो

नहीं है पर कारयितृत्व अर्थात् कर्म करानेकेलिये प्रेरणा करनेका स्वभाव तो अवश्य है इसलिये करानेका फल उसे क्यों नहीं प्राप्त होगा ? तिसका समाधान करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः**] वह जो व्यापक प्रभु है,जो सबके साथ है पर इन चर्मचक्षुओंसे देखानहीं जाता है सो किसीके भी पाप पुण्यका ग्रहण नहीं करता । अर्थात् किसी प्राणीके पाप पुण्यसे कुछ आत्मीय सम्बन्ध नहीं रखता ।

उसे यहां " बिभुः " इसलिये कहा है, कि वह सब छोटे बडेमें व्यापक होनेपर भी देखा नहीं जाता । " **न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः** " (सुश्रुत अध्याय ५) अर्थात् वह जो " **विभुः** " सबमें व्यापक परमात्मा है सो (**अणोरणीयान्**) अत्यन्त छोटेसे छोटा होनेके कारण सूक्ष्मतम कहाजाता है सो इन आंखोंसे नहीं देखाजाता । श्रुति भी कहती है, कि " **न तत्र चक्षुर्गच्छति** " तिस व्यापक बिभु परमात्मामें आंख नहीं जाती सो ऐसा विभु केवल शरीरमें व्यापकर कर्मोंके करनेकी सामर्थ्य तो अवश्य देता है पर " **कारयितृत्व** " का दोष उसे नहीं लगसकता इसी कारण किसीके पुण्य पापको नहीं ग्रहणकरता । यदि कहो, कि पापोंके ग्रहण करनेसे वह डरताहोगा तो कहते हैं, कि (**न चैव सुकृतम्**) किसीके पुण्यको भी ग्रहण नहीं करता । क्योंकि पुण्यकी इच्छा तो उसको होती है जिसे किसी प्रकारकी कामना हो पर सो (**बिभुः**) व्यापक परमात्मा सर्वकामपूर्ण है इसलिये किसीके पुण्य ग्रहण करनेसे उसे क्या लाभ ? इसलिये जब वह किसीका पुण्य ही ग्रहण नहीं करता तो पाप कैसे ग्रहण करसकता है ?

शंका— यह तो एक प्रकारका कपट-व्यवहार हुआ । जैसे कोई किसीको पन्थमें धोखा देकर गडहेमें गिरादेवे और आप वहांसे बिलग होजावे तो क्या वह पुरुष न्यायानुसार दण्डनीय नहीं है ? जैसे मछुया मछलियोंको बोरकी लालच दे फँसालेता है पीछे उसे भून कर खाजाता है । इसी प्रकार वह सर्वेश्वर अपनी माया फैला जीवोंको विषयका बोर देकर पीछे जडमूलसे नाश करदेता है । और आप अलग रहता है । जैसे कुडरी किसीके घरमें आग लगा आप चुपचाप बैठ कौतुक देखती है । अथवा जैसे छोटे बच्चे चिडियोंको पटकदेते हैं चिडियें परमारने और चीखने लगती हैं और वे ताली मारकर हँसने लगते हैं । ऐसे ही यदि वह परमात्मा सबोंका दुःख देखता रहता है और आप चुपचाप अलग बैठा हुआ किसीकी कुछ भी परवाह नहीं करता है तो उससे अधिक निर्दयी और बालबुद्धि कौन होगा ? इससे उचित है, कि परमात्माको कारयितृत्व अर्थात् कर्मोंके करानेका अवश्य दण्ड लगना चाहिये, तथा पाप पुण्य दोनोंका ग्रहण करनेवाला उसे कहना चाहिये । फिर भगवान्‌ने ऐसा क्यों कहा, कि वह (विभुः) जीवोंके पुण्य पापसे न्यारा है ?

समाधान— वह व्यापक सर्वत्र सब कुछ देखरहा है । गडहों में गिरानेवालेको दोष तब लगेगा जब वह किसीका हाथ पकड उसकी आंखोंमें पट्टी बांध अंधेली रातमें गडहेमें गिरादेवे, पर जिसने करोडों सूर्य्यके समान प्रकाश करके सहस्राक्ष बनाकर अर्थात् हजारों आखें देकर किसी मार्ग पर भेजा है तब जो वह गडहेमें गिरपडे तो यह उसका स्वयं अपना दोष है । मार्गपर चलनेकी प्रेरणा करने-

घालेने तो सर्व प्रकारके यत्न करदिये हैं। कहावत है, कि "चलेन जाने आंगन टेढा" जो चलना नहीं जानता है वह आंगनको टेढा बताता है, यह जीव अहंकारका मद्यपान कर अपने आप मत्त हो गडहेमें गिरपडा है, तहां बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये, कि जब उस विभुने मायाकी अंधकाररात्रि बनायी तब वह इस जीवके साथ आप करोडों सूर्योंका प्रकाश लेकर आबैठा। जीवके साथ होनेसे तात्पर्य उसका यही है, कि वह दयासागर कहा जाता है। जीवोंका दुःख तनक भी नहीं देख सकता। हां उसकी मायाने जब प्रपंचकी रचना की है तो इसमें जीवोंके देखनेमात्र दो विरुद्ध धर्म डाल दिये हैं। यद्यपि इन दोनोंकी स्थिति है नहीं पर माया करके ये दोनों भासते हैं। जैसे आंखोंमें अँगुली डालकर देखो तो उस अँगुलीकी उपाधिके कारण दो चन्द्रमा भासते हैं। इसलिये उचित है, कि बुद्धिके नेत्रोंमें जो अज्ञानताकी अँगुली घुसेड रखी है उसे निकाल दो तो इन दोनोंका भ्रम मिटजावेगा। इसी कारण भगवान अर्जुनसे कहते हैं, कि यथार्थमें द्वैत कहीं भी नहीं है पर,

[अज्ञानेनावृतं ज्ञानम् तेन मुह्यन्ति जन्तवः] अज्ञानसे ज्ञान ढकगया है इस कारण जीव मोहको प्राप्त होते हैं अर्थात् मैं दुखी हूं, मैं सुखी हूं, मैं राजा हूँ, मैं सब कुछ करसकता हूं इसी अहंकारको अज्ञान कहते हैं। तिस अज्ञानताने ज्ञानको ढकलिया है जिससे संसारी जीव मतवालोंके समान मोहित हो अपनी दशा भूल अपनी स्मृतिसे भ्रष्ट हो विषय और कर्तृत्वाभिमानके गडहेमें गिर रहे हैं।

शंका— जहां परम प्रकाश साथ है तहां अँधियाली कैसे होसकती है ?

समाधान— चाहे कितना भी प्रकाश घरमें क्योंन हो पर प्राणी अपनी आंखें बन्द करलेवे तो कुछ भी नहीं सूझेगा । इसी प्रकार जिसने उस परम प्रकाश भगवत्—स्वरूपकी ओरसे आंखें बन्द करली हैं वही मायाके गडहेमें गिरता है । क्योंकि उसने मारे अहंकारके सर्व प्रकारके कर्तृत्व अपनेमें निरूपण कररखे हैं । पर जो कर्तृत्वाभिमान छोडकर भगवतके भरोसे अपने नवद्वारके शरीरमें सुख-पूर्वक चुप बैठ परमानन्द भोगरहा है उसे न कहीं कर्तृत्व है और न कर्मफल संयोग है । फिर जब कर्तृत्वहीका अभाव होगया तो कारयितृत्व कहांसे आवेगा ?

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि वह महाप्रभु किसीके पाप पुण्योंका सम्बन्ध नहीं करता न कर्म्मोंको किसीके कन्धे फेंकता है । सच तो यह है, कि अज्ञानतासे ज्ञान ढकरहा है इसलिये यह जीव मोहमें पडकर अनिष्ट-कर्म्मोंका साधन करता हुआ कर्म्मोंका दोष भगवत्में निरूपण करता है । यथार्थ तत्त्वसे बंचित रहता है । इसी कारण यह जीव प्रमाता, प्रमाण, और प्रमेय। कर्ता, कर्म क्रिया, भोक्ता, भोग्य, और भोग इन नव प्रकारके भ्रमरूप विक्षेपोंसे मोहित होरहा है ॥ १५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! एवम प्रकार ज्ञानपर जिस अज्ञानरूप आवरणके पडनेसे प्राणी मोहित होरहा है सो आवरण हटकर जब ज्ञानका उदय होगा तो प्राणीको कौनसा अमूल्य पदार्थ लाभ होगा ? समझाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन सुन—

मू०— ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानम्प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

पदच्छेदः—येषाम् (जन्तूनाम्) तत् (पूर्वोक्तम्) अज्ञानम् (आवरणविक्षेपसामर्थ्यम वैषम्योपलम्भकमज्ञानम्) आत्मनः ज्ञानेन (गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येन । विवेकेन । निर्मलान्तःकरणवृत्तिरूपेण । ब्रह्मास्मीति प्रमाणजेन) नाशितम् (बाधितम्) तेषां (मुमुक्षूणां) तत् (कर्तृत्वकारयितृत्वादि-रहितं) ज्ञानम् आदित्यवत् (सूर्यवत्) परम् (परमार्थतत्त्वम् । प्रकाशस्वरूपं सच्चिदानन्दं भगवन्तम्) प्रकाशयति (प्रतिच्छायाग्रहणमात्रेणैव कर्मान्तरेणाभिव्यनक्ति) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (येषां) जिन जीवोंका (तत्) वह जो पूर्व श्लोकमें कथन कियाहुआ (अज्ञानम्) आवरण विक्षेप रूप अज्ञान (आत्मनः) अपने आत्माके (ज्ञानेन) ज्ञानसे निश्चय करके (नाशितम्) नाश होगया है (तेषां) तिन मुमुक्षु पुरुषोंका (ज्ञानम्) सो ज्ञान (आदित्यवत्) सूर्यके प्रकाशके समान (तत्परम्) तिस परम प्रकाश स्वरूप सच्चिदानन्दको (प्रकाशयति) प्रकट कर देता है ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब श्री सच्चिदानन्द आनन्द-कन्द सर्वेश्वर भगवान् अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर इस श्लोकद्वारा देतेहुए कहते

हैं, कि [ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः] जिस प्राणीका पूर्व श्लोक कथित अज्ञान उसके आत्मज्ञानसे नाश होजाता है अर्थात् जिस अज्ञानीने ऐसा मानलिया है, कि मैं राजा हूं, मैं रंक हूं, मैं सुखी हूं, मेरा यह परिवार है, मैं संसारी व्यवहारोंको बडी चतुराईसे सम्पादन करता हूं, मैं संसारी हूं, व्यवहारी हूं; भण्डारी हूं, पटवारी हूं, और दरबारी हूं,। ऐसे नाना प्रकारके आवरण और विक्षेपोंसे जिसका अन्तःकरण मलीन होरहा है, जो इन नाना प्रकारके उपद्रवोंके वश क्षणमात्र भी स्थिर नहीं होता, और शान्तिलाभ नहीं करता, तिस ऐसे जीवके अज्ञानका जब आत्मज्ञानसे नाश होजाता है अर्थात् जब प्राणीको ऐसा बोध होजाता है, कि मैं जीव नहीं, मैं दुखी नहीं, मैं सुखी नहीं, मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र नहीं, मैं ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ वा सन्न्यासी नहीं, पंजाबी नहीं और बंगाली नहीं मैं तो सदा शुद्ध बुद्ध निर्मल निर्विकार प्रकाश-स्वरूप निर्द्वन्द्व सर्वप्रकारके बन्धनोंसे रहित आनन्द-स्वरूप आत्मा हूं । तब वह प्राणी आनन्दमय होजाता है ।

शंका— जीवोंका दुःखी सुखी होना, ब्राह्मण क्षत्रिय होना, संसारी होना, मूर्ख और पण्डित होना, राजा और रंक होना, प्रत्यक्ष प्रतीत होता है । तिस प्रतीतिका अभाव कैसे हो ? क्योंकि जिस वस्तुकी प्रत्यक्ष प्रतीति होरही है और तदनुसार व्यवहार होरहा है, तिसका अभाव होना दुस्तर है । फिर इस अज्ञानताका अभाव कैसे सम्भव है ?

समाधान— उपलम्भात् समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते।

उपलम्भात् समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ (गौडपादीयकारिका प्रकरण ४ श्लो० ४४)

अर्थ— उपलम्भ जो अनुभव और आचार इन दोनोंसे जैसे मायाका हस्ती प्रतीत होता है इसीप्रकार उपलम्भ और आचारसे सृष्टि मात्रकी वस्तुओंकी प्रतीति होती है और सभी कहते हैं, कि अमुक वस्तु है ।

तात्पर्य्य यह है, कि जैसे किसी इन्द्रजाल वालेने एक हाथी बना कर देखनेवालोंके सामने चलादिया तो देखनेवालोंकी दृष्टिमें ठीक-ठीक सब व्यवहार हस्तीके ही प्रतीत होते हैं । पर, जो सच पूछो तो यथार्थ हस्ती कहीं भी नहीं है । इसी प्रकार सृष्टिमात्रकी वस्तुओंमें जो सत्यताकी प्रतीति होती है वह यथार्थ नहीं केवल प्रतीति और आचारसे वस्तु-तस्तुकी सत्यता सिद्ध नहीं होसकती ।

प्रतीतिका कारण केवल आभास है। तिस आभासके तीन भेद हैं ॥ वे सत्य नहीं वे तीन आभास कौन-कौन हैं ? सो सुनो !

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्त मद्वयम् ॥ (गौ० पा० का० अ० ४ श्लो० ५) जैसे देवदत्त जब जन्मलेता है तो देखनेवाले कहते हैं, कि आज देवदत्तने जन्मलिया है । सो यथार्थमें केवल आभासमात्र है । इसीको **जात्याभास** कहते हैं । जब कहते हैं, कि देखो वह देवदत्त चलाजाता है तो इसको **चलाभास** कहते हैं । फिर कहते हैं, कि देवदत्त गौर है । यथार्थमें शरीरी जो जीव तिसका कोई रंग रूप नहीं

पर कहनेमात्र गौर पीत कहाजाता है। अथवा इन्द्रधनुष (पनसोखा) को प्रकटहुए देखते हैं तिसमें नाना प्रकारके नील पीत रंगोंकी प्रतीति होती है, सो यथार्थमें न तो कहीं नील है, न पीत है वहां तो शून्य आकाश है केवल छोटे-छोटे जलके बिन्दुओंपर सूर्य्यकी किरणें पडती हैं इसलिये भिन्न-भिन्न रंगोंकी प्रतीति होती है । अथवा मृगतृष्णाको दूरसे देखनेसे जलकी प्रतीति होती है इसीको वस्त्वाभास कहते हैं । ये तीनों प्रकारके आभास असत् वस्तुओंमें सत्की प्रतीति कराते हैं । इसी प्रकार यह जीव इन आभासोंके कारण जनमता मरता देखपडता है। यथार्थमें अजन्मा है, अचल है; अद्रव्य है और उपाधियोंसे रहित देखेजानेपर शुद्ध निर्मलात्मा कहाजाता है। जबतक आभासोंकी उपाधि है तबहीतक यह जीव अपनेको दुखी, सुखी, राजा, रंक इत्यादि समझरहा है इसीको अज्ञानता कहते हैं। सो अज्ञानता जब शुद्ध निर्मल अन्तःकरण होनेसे दूर होजाती है तब आत्म-ज्ञानरूप परम प्रकाशका उदय होता है । जब आत्मज्ञान-रूप परम प्रकाशका उदय हुआ तो यथार्थ बोधसे सम्बन्ध हुआ जानना चाहिये । इस विषयको अन्य उदाहरणोंमे भी सिद्ध करते हैं सुनो! " स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा । तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ (गौ० पा० प्रक० २ श्लो० ३१)

अर्थ— जैसे प्राणी गन्धर्व-नगरको स्वप्नमें देखता है, तिसकी शोभा देखकर मोहित होजाता है और तहां सब बातें सच्ची ही प्रतीत होती हैं पर निद्रा टूटनेके पश्चात् उनमें एक तृणमात्र भी किसी वस्तुका पता नहीं लगता, कि वे कहांसे आयी थीं और कहां चलीगयीं ? इसी

स्वप्नके समान जागरित अवस्थामें भी अज्ञानियोंको विश्वमात्रकी प्रतीति होती है पर जो वेदान्तमें विचक्षण हैं उनकी दृष्टिमें यह जगत् स्वप्नके गन्धर्व-नगरके समान भासता है। जैसे स्वप्नमें मरेहुए पिता, पितामह, प्रपितामह, पुत्र, कलत्र इत्यादिको देख उनसे बार्तालापकर प्रसन्न होते हैं इसी प्रकार आत्मज्ञानी जानते हैं, कि हम इस जागृतअवस्थामें भी उन अपने पिता, पितामहादिको देख बार्तालापकर प्रसन्न हुए थे।

हां! जागरित और स्वप्नमें केवल कालकी अपेक्षा इतना ही अन्तर रहा, कि एक चिरकालका स्वप्न है और एक अचिर (स्वल्प) कालका स्वप्न है,पर हैं दोनों समान। इन दोनोंके रूपमें केवल इतना ही अन्तर है, कि स्वप्नवाली वस्तु स्मृतिके घन होनेके कारण मनोमयी प्रतिमाके तुल्य हैं और जागृतवाली वस्तु परमाणुओंके घन होनेके कारण मृन्मयी प्रतिमाके तुल्य हैं, एक स्थूल है एक सूक्ष्म है, पर नश्वर दोनों हैं, तहां जागरितसे स्वप्नको ही श्रेष्ठ कहना चाहिये। क्योंकि स्वप्नवाली वस्तुको तो फिर सैकडोंबार स्वप्नमें देखसकता है पर जागृतमें तो बहुतसी वस्तुओंको एक ही बार देखता है फिर लौटकर कदापि नहीं देखसकता।

मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि ज्ञानी इस विश्वमात्रको स्वप्नके समान जानता है जैसे जागरित होनेसे साधारण पुरुष स्वप्नकी प्रतीतिको मिथ्या समझता है। इसी प्रकार ज्ञानके उदय होनेसे ज्ञानी भी इस जागरितको मिथ्या समझता है। जैसे स्वप्नमें ब्राह्मण और गाय मारनेकी हत्या तथा अपने घर जलजानेकी विपत्ति बिना जागे नहीं छूटसकती। इसी प्रकार इस संसारका दुःख बिना ज्ञान हुए नहीं

छूटसकता । गोस्वामी तुलसीदासने कहा है, कि " **जो स्वप्ने सिर-काटे कोई । बिन जागे दुख दूर न होई** " ॥ पर ज्ञान प्राप्तहोना खेल नहीं है । जिसे चारों वेद कंठ हों जो षट्शास्त्र-वेत्ता हो पर आत्म-ज्ञानका लेशमात्र भी न हो, इन्द्रियां वशीभूत न हों, विषयका अन्तः-करणसे त्याग न हो तो वह ज्ञानी नहीं कहाजासकता। यदि वेद शास्त्रा-दिमें निष्णात होना ही आत्म-ज्ञान होता तो नारद जो चौदहों विद्या निधान थे सनत्कुमारके पास आत्मज्ञानकी प्राप्ति निमित्त जाकर यों नहीं कहते, कि " **मंत्रविदेवास्मि नात्मवित्** " मैं केवल मंत्रका ही जाननेवाला हूं आत्मविद्या नहीं जानता ।

इसलिये केवल ज्ञानकी बातें करनेसे कोई भी ज्ञानी नहीं कहा-जासकता । " **निशि गृह मध्य दीपकी बातनि, तम निवृत्ति नहि होई** " (तुलसी) अर्थात रात भर कोई अपने अंधेले घरमें बैठकर दीपकी बातें करता रहे तो केवल दीप-दीप बकनेसे घरमें प्रकाश नहीं होसकता । फिर कहते हैं, कि " **षट्रस भोजन बहु प्रकार कोउ दिन अरु रैन बखाने । बिन बोले सन्तोषजनित सुख खाय सोई पै जाने** " (तुलसी) अर्थात् षट्रस भोजनका वर्णन कोई दिन रात करता रहे पर भोजनसे जो सन्तोषजनित आनन्द होता है वह उसे प्राप्त नहीं होसकता, वह तो वही जानता है जो उसे खाता है । इसी प्रकार गुरुचरण-सेवा द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ कर परम तत्त्वको लाभ किया जाता है । इसी कारण आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [तेषामादित्यवज्ज्ञानं

प्रकाशयति तत्परम्] इन ज्ञानवान् पुरुषोंका जो ज्ञान है वह आदित्यके समान परम प्रकाशसे उस परब्रह्मको प्रकट कर दिखलादेता है । अर्थात् जैसे सूर्यके उदय होनेसे अन्धकारका नाश होकर सब वस्तु तस्तु दीखने लगजाती हैं और मनुष्य तथा पशु पक्षी सब अपने-अपने शारीरिक व्यवहारोंमें लगपडते हैं, तथा मार्ग चलनेवालोंको मार्गकी उंचाई निचाई तथा कंटक इत्यादि दृष्टिमें आने लगते हैं। इसी प्रकार यह जीव जो अज्ञानता-रूप अन्धकार-रात्रिमें भटकता हुआ इधर उधर टक्करे खाताहुआ नाना प्रकारके विषय-रूप कंटकोंसे छिदाहुआ व्याकुल फिरता है इस ज्ञान-रूप आदित्यके उदय होते ही आनन्दपूर्वक चलताहुआ भगवत्-स्वरूपमें जामिलता है । इसी कारण भगवान्‌ने कहा, कि प्राणीका यह ज्ञान सूर्यके समान उस परब्रह्म स्वरूपको उस ज्ञानवान् प्राणीके हृदयमें प्रकट करदेता है । श्रुति भी इसी वार्त्ताका प्रतिपादन करती है, कि श्रुतिः— "**तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति**" (प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १ श्रुतिः १६)

अर्थ— जिन लोगोंमें (जिह्म) कुटिलता, कपट तथा झूठ और माया " जिसका रूप पहले वर्णन करआये हैं " नहीं है जिनने साधारण जीवोंके समान कामान्ध न होकर ज्ञानवैराग्यके नेत्रोंको खोल रखा है उन्हीं लोगोंके लिये यह निर्मल ब्रह्मलोक है ॥ १६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! ज्ञानके प्रकाश द्वारा परम तत्त्वके प्राप्त होनेसे क्या फल होता है ? सो कृपा कर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूत-कल्मषाः ॥१७॥

पदच्छेदः— **ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः** (यथोक्तेन ज्ञानेन समूलमुन्मूलितं संसारकारणं येषां ते) **तद्बुद्धयः** (तस्मिन् ज्ञानप्रकाशिते परमार्थतत्वे परब्रह्मणि साधनपरिपाकात्पर्यवसिता बुद्धिर्येषां ते) **तदात्मानः** (तदेव परब्रह्मात्मा येषां ते) **तन्निष्ठाः** (तस्मिन्नेव ब्रह्मणि सर्वकर्मानुष्ठानविक्षेपनिवृत्त्या स्थितिर्येषां ते) **तत्परायणाः** (तदेव परमायनमाश्रयो येषां ते) **अपुनरावृत्तिम्** (पुनर्देहसम्बन्धाभावरूपां मुक्तिम्) **गच्छन्ति** (प्राप्नुवन्ति) ॥ १७ ॥

पदार्थः—(**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**) पूर्व कथन कियेहुये ज्ञान के द्वारा संसारके बन्धन जड मूलसे नाश होगये हैं जिन पुरुषोंके तथा (**तद्बुद्धयः**) तिस ज्ञानसे प्रकट कियाहुआ परम तत्त्व जो परब्रह्म तिसमें दिवा-रात्रि लगीहुई है बुद्धि जिनकी (**तदात्मानः**) सो ही परब्रह्म आत्मा है अर्थात् अपना स्वरूप है जिनका (**तन्निष्ठाः**) तिसी भगवत्स्वरूपमें अहर्निश निष्ठा है जिनकी (**तत्परायणाः**) तिसी सच्चिदानन्द घनको अपना परम अयन अर्थात् आश्रय समझा है जिनने ऐसे प्राणी (**अपुनरावृत्तिम्**) फिर नहीं शरीर धारण करने वाली मुक्तिको (**गच्छन्ति**) प्राप्तहोते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब श्री आनन्दकन्द अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देतेहुए कहते हैं कि [**ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः**] ज्ञानसे जिन

पुरुषोंके कल्मषोंका नाश होगया है वे ही ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः कहेजाते हैं। अब उन कल्मषोंके स्वरूप दिखायेजाते हैं— अज्ञानताके कारण प्राणियोंका मोहमें पडकर अपनेको जीव समझते हुए अत्यन्त दुःखी होकर संसारी बनारहना। विषयोंके फन्देमें पडकर भगवत्स्वरूपकी ओरसे विमुख रहना। महा घोर मोहकी अन्धकार-रात्रिमें सोये रहना। जैसे चन्द्रमाकी निर्म्मलता के ऊपर श्यामताईका कलंक लगाहुआ है इसी प्रकार नाना प्रकारके निन्दित कर्म रूप कलंकोंसे दूषित रहना। कूपघटिकायन्त्रन्यायानुसार बार-बार जन्म मरणमें फँसेहुए नीचे ऊपर होते रहना। अलावू (सूखे तूंबे) के समान संसारके प्रवाहमें उलट-पुलट करते हुए गोते खाते हुए इस धारसे उस धारमें बहते रहना। चौरासी लक्ष योनियोंमें भूलभूलैयाका खेल खेलते हुए व्याकुल रहना। ये सब उक्त उपद्रव संसारी प्राणियोंके लिये कल्मष कहेजाते हैं। जो प्राणी जब गुरुशुश्रूषा द्वारा ज्ञानको प्राप्तकर पूर्वोक्त सारे उपद्रवोंकी शान्ति करलेते हैं, तब वे ही बुद्धिमानोंके द्वारा ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः कहेजाते हैं। और तबही वे उस ज्योतिर्मय परब्रह्मको अपने भीतर देखते हैं। प्र० श्रु०— अन्तः शरीरे ज्योतिर्म्मयो हि शुभ्रोऽयं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः (मुंड० ३ अ० १ श्रु० ५)

अर्थ— जो लोग दोषोंसे अर्थात कल्मषोंसे रहित होगये हैं वे उस ज्योतिर्म्मय शुभ्रवर्ण परब्रह्मको अपने हृदयके भीतर देखते हैं। इसी तात्पर्य्यसे भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! मेरे पूर्व्व कथनानुसार ज्ञानद्वारा नाश करलिया है संसार-बन्धनका कारण जिन्होंने अर्थात् जो निर्द्धूतकल्मष होगये हैं तथा [तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठा-

स्तत्परायणाः] तद्बुद्धयः होरहे हैं अर्थात् नाना प्रकारके निष्काम-कर्म्मयज्ञोंका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्तकर उस परम तत्त्व भगवत्स्वरूपमें लगारखी है अपनी सम्यक् बुद्धि जिन पुरुषोंने, जिनकी बुद्धि सर्व वेद शास्त्रोंके यथार्थ मर्म्मोंको समझकर सबको उल्कावत् परित्याग करती हुई उस परम ब्रह्म तक पहुंच गई है अर्थात् अणुसे लेकर विराट्तक जहां-जहां उनकी बुद्धिकी दौड पहुंचती है तहां-तहां सर्वत्र भगवत्स्वरूप ही अर्थात् बुद्धिके + पांचों अंगोंको लय करदिया है भगवत्स्वरूपमें जिनने तथा

+ " इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवहारः समाधिता । संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पंच गुणान् विदुः (महाभारते मोक्षधर्म्मे) १ इष्टानिष्टविपत्तिः, २ व्यवहार, ३ समाधिता, ४ संशय और ५ प्रतिपत्तिः ये बुद्धिके पांच विशेष गुण हैं ।

१. इष्टानिष्टविपत्तिः— जब इष्ट अनिष्ट दोनोंका कहीं पता नहीं लगनेसे अत्यन्त विचार करते-करते बुद्धि किसी स्थानपर थककर रहजाती है उसे इष्टानिष्टविपत्ति कहते हैं ।

२. व्यवहारः— विचारते-विचारते जब विचारनेकी इच्छा और भी बढती जाती है तब उसे व्यवहार कहते हैं ।

३. समाधिता— जब विचारको समाप्तकर बुद्धि स्थिर होजाती है तब उस दशाको समाधिता कहते हैं ।

४. संशयः— जब बुद्धि एक तत्वको निश्चय नहीं करसकती अर्थात् हां-ना दोनों कोटियोंमें लगी रहती है तब उसे संशय कहते हैं । यह दशा मनके समीप है । अर्थात् मन जब बुद्धिमें लय होने लगता है तब यह दशा उत्पन्न होती है ।

निष्काम-कर्मयोग साधन करते-करते बारहों प्रकारके + मलोंसे बुद्धि निर्मलकर भगवतहीमें बसाली है जिन्होंने उन्हींको तद्बुद्धयः कहते हैं। फिर जो प्राणी तद्बुद्धि होकर "तदात्मानः" तदात्मा भी होरहे हैं अर्थात् जो पहले अज्ञानताके कारण अपने देहादि अनात्म पदार्थोंमें आत्माका भाव कहरहे थे, वे अब ज्ञान प्राप्त होतेही देहादिका अभिमान त्याग अपने आत्माको उस ब्रह्मस्वरूपमें लयकर ब्रह्मस्वरूप होगये हैं वे तदात्मा कहलाते हैं। किस प्रकार ये उस ब्रह्मस्वरूपमें आत्माको लय करते हैं सो श्रुति कहती है श्रु०— ॐ ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्तो ज्ञानचक्षुषः। तमेकमेव पश्यन्ति परिशुद्धं विभुं द्विजाः ॥ यस्मिन् सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम्। तस्मिन्नेव लयं यान्ति बुद्बुदाः सागरे यथा ॥ (चूलिकोपनिषत् खं० ४ श्रु० १६, १७)

अर्थ— जो द्विज ज्ञानचक्षुष हैं, जिनने ज्ञानका लाभ किया है

---

५. प्रतिपत्तिः— प्रत्यक्ष प्रमाणको ग्रहण करनेवाली दशाको प्रतिपत्ति कहते हैं।

+ बारह प्रकारके मलोंका वर्णन— "शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता। ईर्ष्या मानो विचिकित्सा कृपासूया जुगुप्सता ॥ द्वादशैते बुद्धिनाशहेतवो मानसा मलाः" (कालिकापुराण अ० १८) अर्थ— १. शोक, २. क्रोध, ३. लोभ, ४. काम, ५. मोह, ६. परासुता (मृतत्व) ७. ईर्ष्या, ८. मान, ९. विचिकित्सा (सन्देह) १०. अकृपा, ११. असूया और १२. जुगुप्सा (दूसरोंसे घृणा) ये बारह प्रकारके मल (बुद्धिविकार) अन्तःकरणको नष्ट करनेवाले हैं।

वे उस, एक निर्मल विभुको जिसमें सब स्थावर जंगम ओत-प्रोत हैं निर्मलज्ञानके नेत्रसे देखतेहुए उसीमें ऐसे लय होजाते हैं जैसे सागरमें बुद्बुद् (बुलबुले) । सूक्ष्म तात्पर्य्य इस श्रुतिका भी यही है, कि ज्ञानद्वारा परब्रह्मको प्राप्तकर उसीमें अपनेको बुद्बुद् समान जो लय करदेते हैं वे ही तदात्मा कहेजाते हैं । बुद्बुद्से दृष्टान्तदेकर श्रुतिने यह भी जनादिया, कि जैसे बुद्बुद जलहीसे निकलता है फिर जलहीमें लय होजाता है इसी प्रकार जो ज्ञानी उसी ब्रह्मसे निकलते हैं फिर उसीमें लय होजाते हैं इसीको यथार्थ तदात्माहोना कहते हैं ।

शंका— श्रुति स्वयं कहती है, कि सब स्थावर जंगम उसीमें ओत-प्रोत हैं तो इससे सिद्ध होताहै, कि ज्ञानी अज्ञानी सब उसीमें लय होते हैं, तो भगवान्‌ने केवल ज्ञानियोंको उसमें लय होनेसे तदात्मानः क्यों कहा ? सबको तदात्मानः क्यों नहीं कहा ?

समाधान— ज्ञानी और अज्ञानी तदात्मा हैं पर एक मायाकी निद्रामें सोयाहुआ है और एक जगाहुआ है । जिसके विषय श्यामसुन्दर पहले कहआये हैं, कि **"या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी"** अर्थात् सब भूतोंकेलिये जो आत्मज्ञान रात्रिका स्वरूप है उसमें संयमी जागता है ।

कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि अज्ञानी अनात्मामें आत्मभाव कररहा है इसलिये अपना स्वरूप भूलाहुआ है और ज्ञानी सबको आत्मस्वरूप जानता है इसलिये अपने आपमें जगाहुआ है । जैसे दो राजा एक स्थानमें हों उनमें एक तो जगाहुआ हो और दूसरा निद्राके वशीभूत होकर स्वप्न देखरहा है तिस स्वप्नमें अपनेको महादरिद्र भिक्षा

भांगताहुआ देखे तो जबतक वह जागेगा नहीं तबतक उसे अपने राजा होनेका सुख नहीं है। और जो जगाहुआ है वह सुखी है। इसी प्रकार ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको तदात्मा कहसकते हैं पर दोनोंमें उक्त अन्तरके कारण ज्ञानीको ही यथार्थ तदात्मा कहना उचित है। इसी कारण भगवान्ने जिनको तद्बुद्धयः कहा है, उन्हींको (तदात्मानः) ऐसे विशेषणसे भी पुकारा है। यदि कहो, कि एकको सोयाहुआ एकको जगाहुआ क्यों कहते हो ? क्योंकि नाना प्रकारके कर्म्मोंके अनुष्ठानमें तो सब समान देखेजाते हैं, ज्ञानी भी वैसे ही कर्म करता है जैसे अज्ञानी। इसी सन्देहके दूर करनेके अभिप्रायसे भगवान् उस तद्बुद्धि और तदात्मा को (तन्निष्ठ) भी कहरहे हैं। अर्थात् ज्ञानी अज्ञानी यद्यपि दोनों समानरूपसे शरीरका व्यवहार करतेहुए देखपडते हैं पर दोनोंमें यही अन्तर है, कि अज्ञानी अज्ञाननिष्ठ होकर कर्म्म करता है और ज्ञानी ब्रह्मनिष्ठ होकर कर्म करता है। अर्थात् अज्ञानी संसारसुख चाहता है और ज्ञानी तन्निष्ठ होनेके कारण केवल परब्रह्म जगदीश्वरको ही चाहता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी तदात्मा है वह तन्निष्ठ भी अवश्य होगा। अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ भगवत्स्वरूपका प्यासा जो कुछ कार्य्य करताहुआ देखपडेगा सब उसी एक निष्ठासे करेगा। क्योंकि उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका नहीं होती, निश्चयात्मिका होती है। इसीसे भगवान् पहले इसी अध्यायके श्लो० १२ में कह आये हैं, कि "युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकिम्" ब्रह्ममें युक्त पुरुष कर्म्मफलके त्यागदेनेसे कर्म्म करताहुआ भी ब्रह्मनिष्ठासे उत्पन्न शान्तिको प्राप्त होता है। इसलिये भगवान्

कहते हैं, कि जो प्राणी अपने कल्मषोंको ज्ञानद्वारा नाश करके उसी ब्रह्ममें अपनी बुद्धि, आत्मा और निष्ठाको लगायेहुए हैं वे ही परमानन्दके अधिकारी हैं। यदि कहो, कि निष्ठाका क्या ठिकाना है? किसी समय महाघोर माया आपत्ति पडनेसे बिशालबुद्धिवालोंकी निष्ठा भ्रष्ट होजाती है। जैसे विश्वामित्र ऐसे तपस्वीकी तपोनिष्ठा मेनका अप्सराकी सुन्दरताई देख टूटगई। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि (तत्परायणाः) यदि दृढ-निष्ठावालोंकी निष्ठा मायाके बलवती होनेसे प्रारब्धके बेग-द्वारा किसी समय टूट भी जावे तो जो प्राणी तत्परायण है अर्थात् जिसने उसी परब्रह्मको अपना आश्रय बनारखा है वह उस ब्रह्मको छोड इधर-उधर बहक नहीं जाता, जैसे दिग्-निर्णययंत्र (कम्पास) की सुई चाहे कितना भी बलकरके किसी दूसरी ओर खैंचकर रखदीजावे पर वह जब हाथसे छूटेगी झट उत्तराभिमुख ही होकर रहेगी। क्योंकि उसका अयन तथा चुम्बक-पर्वत उत्तरहीकी ओर है। इसी प्रकार ब्रह्मनिष्ठ किसी विषयकी आपत्ति पडनेपर भी ब्रह्माभिमुख ही रहता है, ब्रह्मबिमुख होकर बिषयकी ओर मुख नहीं करता, शंका मत करो।

भगवान् कहतेहैं, कि हे अर्जुन! जिन पुरुषोंने एवम् प्रकार ज्ञानद्वारा सर्ब कल्मषोंको नाशकर " तदबुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः " होरहे हैं अर्थात् जिनकी बुद्धि, आत्मा, निष्ठा और आश्रय उस महाप्रभुको छोड किसी अन्य पदार्थके बिचारमें नहीं जाते। वे ही प्राणी अवश्य [**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिम्**] अपुनरावृत्ति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। अर्थात् फिर लौटकर मातृगर्भमें नहीं आते। इसी सिद्धान्तको भगवान् आगे भी कहेंगे। " यद्गत्वा न

निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम " (अ० १५ श्लो० ६) मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणी मोक्ष परमपद प्राप्तकर भगवत्-स्वरूपमें लय होजाते हैं फिर लौटकर नहीं आते।

प्रिय पाठको ! आज कलके बडे-बडे विद्वान ऐसा मानते हैं, कि मुक्त प्राणियोंकी पुनरावृत्ति होती है अर्थात् मुक्त होनेके पश्चात् फिर लौटकर वे संसारबन्धनमें आते हैं। पर ऐसा समझना उनकी भूल है। मुक्त प्राणियोंकी पुनराबृत्ति नहीं होती । ऐसा कदापि नहीं होसकता । यदि ऐसा हो तो साधारण जीवमें और मुक्त प्राणियोंमें क्या अन्तर रहेगा ? क्योंकि साधारण प्राणी भी स्वर्गादिमें अपने कर्म-फलोंको भोग तिन कर्मोंके क्षय होनेसे क्षीणकर्मा होकर नीचे भिन्न-भिन्न योनियोंमें लौट आते हैं। ऐसे ही यदि मुक्त प्राणी भी बारम्बार लौट आया करे तो अनेक प्रकारके परिश्रमोंसे मुक्तिलाभ करनेका फल ही क्या हुआ ? यदि कहो, कि मुक्त-प्राणीका ज्ञान बना रहता है तो बनारहे परे मातृ-गर्भ रूप महा घोर नरकका दुःख तो उनको सहना ही पडेगा। यदि कहो, कि वे कल्पकल्पान्तर पर्यन्त सुख भोगकर गिरते हैं और साधारण शीघ्र ही गिरपडते हैं तो ऐसा कहना बनता नहीं। ऐसा कहनेसे मुक्त प्राणियोंमें भी देश काल और वस्तुका परिच्छेद पाया जावेगा फिर जिसमें देशकाल वस्तुका परिच्छेद हुआ वह मुक्त ही नहीं कहा जासकता। कोई कहे, कि देवदत्त बैठा भी है और चल भी रहा है तो ऐसा नहीं होसकता।

यदि ऐसे भूले हुए प्रमाद-ग्रस्त विद्वानोंसे पूछाजावे, कि मुक्त को लौटनेकी क्या आवश्यकता है ? तो वे इसका दो प्रकारसे उत्तर

देते हैं। प्रथम तो यह, कि यदि सब जीव मुक्त होते चले जावेंगे तो सृष्टि रुकजावेगी। क्योंकि फिर जीव कहांसे आवेंगे? दूसरा यह, कि वे साधारण जीवोंके समान दुःख सुख भोगने नहीं आते केवल संसारी जीवोंको उपदेश करने आते हैं जैसे याज्ञवल्क्य, गौतम वा शंकराचार्य इत्यादि। पर इनका ऐसा कहना बालकोंके समान मीमांसा रहित होता है। ऐसा कहनेसे उस जगदीश्वर महा प्रभुको एक साधारण कोषाध्यक्षके समान मानना पडेगा जिसे चिन्ता बनी रहती है, कि जब मेरा टका निबटजावेगा तो फिर मैं कहांसे लाऊंगा। ऐसे कहनेवालोंने जीवोंको एक विशेष प्रमाणसे परिमित मानलिया है और ऐसा समझते हैं, कि जैसे-जैसे जीव मुक्त होतेजाते हैं तैसे-तैसे इधर इनकी संख्या कम होतीजाती है। सो ऐसा नहीं समझना चाहिये ऐसा समझना भूल है। किसी वेद, वेदान्त, श्रुति, स्मृति तथा पूर्वके महानुभावोंने गिनतीके जीव नहीं माने हैं। वरु ऐसा माना है श्रुतिः— "**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यस्मिन् पर्य्यन्त्यभिसंविशन्ति।**

अर्थ— जिससे वे सब भूत उत्पन्न होते हैं और जिससे उत्पन्न हुए पालेजाते हैं फिर जिसमें प्रवेश करजाते हैं वही ब्रह्म है। जैसे सागरमें बुदबुदे उत्पन्न होते हैं फिर उसीमें लय होजाते हैं इसी प्रकार उस ब्रह्मसे जीव निकलते रहते हैं। फिर उसीमें लय होते रहते हैं। ब्रह्मसूत्रमें भी व्यासदेवने ऐसा ही कहा है, कि "**जन्माद्यस्य यतः**" इन भूतोंकी उत्पत्ति पालन और संहार जहांसे होते रहते हैं वही ब्रह्म है। फिर श्रुति कहती है—

" तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते स रूपा । तथा अक्षराद्विविधाः सोम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति " (मुण्ड २ खं० १ श्रु० १)

अर्थ— यह सत्य है, कि जैसे दीप्त अग्निसे सहस्रों चिनगारियां उत्पन्न हो फिर उसीमें लय होजाती हैं इसी प्रकार हे सौम्य ! उस अक्षर ब्रह्मसे सब जीव निकलते हैं और फिर उसीमें लय होजाते हैं। अतएव जीवोंकी गिनती नहीं होसकती। क्योंकि जहांसे वे आते हैं सो भण्डार पूर्ण है और उसमें जीवोंके निकलनेकी शक्ति भी पूर्ण है इसलिये चाहे करोडों जीव क्यों न मुक्त होजावें, जीवोंमें किसी प्रकार की अल्पता नहीं होसकती। जैसे किसी सागरमें करोडों बुदबुद क्यों न टूटजावें पर सागरमें जो बुदबुद बननेकी अपूर्व शक्ति है वह कभी कम नहीं होगी। अनगिनत बुदबुद बनते ही रहेंगे। इसी कारण जीवोंकी पुनरावृत्तिकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे सदा अनगिनत बनते ही रहेंगे। इसी प्रकार जो जीव ब्रह्मानन्दको पाकर सुखी होगया है वह फिर जीवत्वको पाकर दुःखी नहीं होसकता। इसीलिये मुक्तजीवोंकी पुनरावृत्ति माननी एकबारगी भूल है।

दूसरी बात यह है, कि उन्नति करता हुआ जो रूपान्तरको प्राप्त होता है वह फिर लौटकर पिछले रूपमें नहीं आता। जैसे इक्षुदण्डसे रस, रससे गुड, गुडसे शक्कर, शक्करसे चीनी, चीनीसे मिसरी, मिसरीसे कन्द, और कन्दसे ओला बनजाता है। फिर कोई चाहे, कि लौटाकर ओलेसे कन्द, कन्दसे मिसरी बनाते हुए इक्षुदण्डतक पहुंच जावे तो ऐसा न

कभी हुआ न होसकता है, अर्थात् ओला फिर इक्षुखण्ड नहीं होसकता ।

यदि ऐसा कहो, कि जितना सुख उसे मिलेगा उतना ही बहुत है बीचसे लौट आवेगा । तो ऐसा मूर्ख कौन है जो आनन्दसे मुख मोड दुःखकी ओर लौटे । जो ब्रह्ममें लय होगया फिर लौटे कौन और क्या लौटे ? इस लौटने और नहीं लौटनेके विषय भगवानने आगे अ० ८ श्लो० २१ में स्वयं कहा, है कि " यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम " । जिसको प्राप्तकर मनुष्य फिर नहीं लौटता वही मेरा परम धाम है । इस कारण प्रिय पाठक ! इसे निश्चय कररखें, कि ज्ञान प्राप्त होनेसे प्राणी अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होकर फिर नहीं लौटता ।

तीसरी बात यह है, कि वह ब्रह्मानन्द असीम आनन्द है इसका अन्त तो कदापि हो ही नहीं सकता फिर इस असीम आनन्द भोगनेवालेको लौटनेकी इच्छा हो ही नहीं सकती वरु जैसे-जैसे आगे बढता जावेगा और भी अधिक बढनेकी अभिलाषा होती जावेगी नीचे आनेकी इच्छा कभी नहीं होसकती । वह महाप्रभु दयासागर ऐसा निर्दयी भी नहीं है, निर्बल नहीं है और उसके पास गिनतीके जीव भी नहीं हैं, कि जीवोंकी कमी होजानेके भयसे अपनी रचना वर्त्तमान रखनेकेलिये आनन्दके अनुभववालोंको नीचे धक्कादेकर गिरादियाकरे ।

शंका— भगवान्ने जो यहां मुक्त जीवोंकी अपुनरावृत्ति कही

है इससे अनुभव होता है, कि इनसे इतर जीवोंकी पुनरावृत्ति भी होती है ?

समाधान— मुक्त प्राणियोंकी अर्थात् ब्रह्मानन्दमें प्राप्त होने वालोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती पर **आर्त्त, अर्थार्थी** और **मुमुक्षुओंकी** पुनरावृत्ति अपने-अपने नियमानुसार होती है। जैसे नमककी दो डलियां लेकर एकमें घृत लपेट कर और दूसरी डलीको बिना घृत लपेटे पानीमें डालदो तो घृत लपेटी हुई डली ज्योंकी त्यों फिर पानीसे बाहर निकल आवेगी और बिना घृत वाली डली पानीमें लय होजावेगी। इसी प्रकार जिस प्राणीके अन्तःकरणमें वासनाका घृत लिपटाहुआ है वह फिर पुनरावृत्तिको प्राप्त होता है अर्थात् स्वर्गादि लोकोंसे नीचे गिरता है पर मुक्त-जीव जो वासनारूप घृतसे रहित होगया है वह फिर लौटकर संसारमें नहीं आता ब्रह्मरूप जलमें लय होजाता है।

प्रश्न— तुमने जो लिखा, कि आजकलके बहुतेरे विद्वान् मुक्त-जीवोंकी पुनरावृत्ति अर्थात् मुक्तिसे लौटकर संसारदुःखमें फिर आना बताते हैं उनमेंसे किसीका नाम भी बतासक्ते हो ?

उत्तर— सुनो मैं आजकलके विद्वानोंमें बडे प्रसिद्ध विद्वान्का नाम बताता हूं— श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य्य स्वामी दयानन्द जो वर्तमान आर्यमतके उत्पादक हैं अपने सम्वत् १९४८ के चौथेवार छपे हुए सत्यार्थप्रकाशकी १७-१८ वीं पंक्तिमें लिखते हैं, कि वे मुक्तजीव मुक्तिमें प्राप्तहोके ब्रह्ममें आनन्दको तबतक भोगके पुनः महाकल्पके पश्चात् मुक्तिसुखको छोडके संसारमें आते हैं। इस अपने लेखके प्रमाणमें

मुण्डकोपनिषत् (मुं० ३ खं० २ मं० ६) की श्रुतिका एक टुकडा " ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे " दिया है।

अब वेद, वेदान्त तथा शास्त्र पुराणोंके ज्ञाता समझसकते हैं, कि उनके इस अर्थको श्रुतिके यथार्थ अर्थसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। अपने मनगढन्त अर्थ सिद्ध करनेकेलिये श्रुतिका एक टुकडा ही लेलिया है। अब विद्वानोंके विचारनेकेलिये सारी श्रुति लिखकर अर्थ किया-जाता है। श्रु०— " ॐ वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यास-योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ " जिसका भाष्य श्री शंकराचार्यने यों किया है— " किञ्च वेदान्तजनितविज्ञानं वेदान्तविज्ञानं तस्यार्थः परमात्मा विज्ञेयः सोऽर्थः सुनिश्चितो येषां ते वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः। ते च सन्न्यासयोगात् सर्वकर्मपरित्यागलक्षणयोगात् केवल ब्रह्म-निष्ठास्वरूपात् यतयो यत्नशीलाः शुद्धसत्वाः शुद्धं सत्वं येषां सन्न्यासयोगात् ते शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु संसारिणां ये मरणकालास्ते परान्तास्तानपेक्ष्य मुमुक्षूणां संसारावसाने देह-परित्यागकालः परान्तकालस्तस्मिन् परान्तकाले साधकानां बहुत्वाद्ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक एकोऽप्यनेकवद्दृश्यते प्राप्यते वा। अतो बहुवचनं ब्रह्मलोकेष्विति ब्रह्मणीत्यर्थः। परामृताः परममृत मरण धर्मकं ब्रह्मात्मभूतं येषां ते परामृताः जीवन्त एव ब्रह्मभूताः परा-मताः सन्तः परिमुच्यन्ति परि समन्तात् प्रदीपनिर्वाणवत् घटा-काशवच्च निवृत्तिमुपयान्ति। परिमुच्यन्ति परि समन्तात् मुच्य-न्ते सर्वे न देशान्तरं गन्तव्यमपेक्षन्ते।

अर्थ— वेदान्तज्ञानका अर्थ जो परमात्मा उसको निश्चयकरके जाननेवाले, सन्न्यासयोगमें यत्नकरनेवाले और शुद्ध अन्तःकरणवाले जीते ही ब्रह्मस्वरूप हो अर्थात् जीवन्मुक्त हो देह त्यागके समय जिस प्रकार दीप बुझकर आकाशमें लय होजाता है, एवम् घट टूटनेसे घटाकाश महाकाशमें लय होजाता है ऐसे वे परब्रह्ममें लय होजाते हैं ।

अब विद्वान विचारकरेंगे, कि इस स्वामीदयानन्दके अर्थसे यथार्थ अर्थ कितनी दूर है । मुक्तिसे लौट आनेका अर्थ स्वामी दयानन्दजीने न जाने कहांसे किया ।

मुक्तिसे लौटआनेके विषय तो कहीं किसी श्रुतिने कहा ही नहीं। श्रु०—" न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते " मुक्तिसे फिर लौटकर नहीं आता मुक्तिसे फिर लौटकर नहीं आता। (छा० प्र० ८ खं १५)

" अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् " अर्थ– जो देवयानमार्गद्वारा मुक्त होजाता है वह मुक्तिसे लौटकर नहीं आता । यहां दो बार कहकर सूत्रने इस अर्थको पूर्ण दृढ करदिया, कि मुक्त कभी भी लौटता ही नहीं । (वेदान्तद० अ० ४ पा० ४ सू० २२)

जब इन श्रुतियों और सूत्रोंपर हडताल फेरदियाजावे तब स्वामी दयानन्दजीकी पुनरावृत्ति (मुक्तिसे लौटकर आना) मानी जासक्ती है ।

स्वामीजीने तो अपने सत्यार्थप्रकाशमें इसी प्रकार बहुतेरे वेदवेदान्तोंके बचनोंको देकर उनके उलटे पुलटे अर्थ करके पुनरावृत्ति

मानली है । परे वे अर्थ कहांतक मानने योग्य हैं बुद्धिमान् लोग विचार सकते हैं । बिस्तारके भयसे अधिक नहीं लिखागया ॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो प्राणी तद्बुद्धि, तदात्मा, तन्निष्ठ तथा तत्परायण हैं जिनके सब कल्मष दूर होगये हैं इसलिये जीवन्मुक्त हैं उनकी पहचान क्या है ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाकेच पण्डिताः समदर्शिनः ॥
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— **पण्डिताः** (ज्ञानिनः । येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते । विषमेष्वपि समं ब्रह्मैव द्रष्टुं शीलं येषां ते) **विद्याविनयसम्पन्ने** (दैन्यवारणाय विद्यापदमौद्धत्यादिवारणाय विनयपदं ताभ्यां युक्ते । उत्तमसंस्कारवति सात्त्विके । वेदार्थविज्ञानेन प्रणत्या च परिपूर्णे) **ब्राह्मणे, श्वपाके** (शूनो यः पचति तस्मिन् श्वपाके चाण्डाले) **गवि, हस्तिनि, च** (तथा) **शुनि** (कुक्कुरे) **समदर्शिनः** (सर्वभूतेषु तुल्यदर्शनशीलाः । सममेकमविक्रियं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते) **एव** ॥ १८ ॥

पदार्थः— (**पण्डिताः**) जो ज्ञानी हैं वे (**विद्याविनयसम्पन्ने**) वेदादि अध्ययन कियेहुए और नम्रतासे परिपूर्ण ब्राह्मणमें (**च**) तथा (**श्वपाके**) चाण्डालमें (**गवि**) गायमें (**हस्तिनि**) हाथीमें (**च**) तथा (**शुनि**) कुत्तेमें (**समदर्शिनः**) एक समान दृष्टि रखने-

वाले होते हैं अर्थात् सब छोटे बडे पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादिमें ब्रह्मको एकसमान व्यापक देखते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा है, कि साधारण प्राणियोंसे अपुनरावृत्तिवाले जीवन्मुक्त प्राणियोंमें क्या विशेषता है? जिससे वे पहचाने जासकते हैं। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**पण्डिताः समदर्शिनः**] जो अपुनरावृत्तिवाले जीवन्मुक्त पण्डित हैं जिनकी अज्ञानताका अन्धकार ज्ञानके प्रकाशसे नाश होगया है वे समदर्शी होते हैं। अर्थात् सबमें उस ब्रह्मको एक समान व्यापक जानकर परमार्थदृष्टिसे सबको एक समान देखते हैं। अर्थात् जो प्राणी सब वेद शास्त्रोंका अध्ययनकर तत्त्वज्ञानसे सम्पन्न दूरदर्शी और ज्ञानी हैं, जिनने निष्कामकर्म सम्पादनद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर आत्मज्ञानका लाभ किया है और इसी आत्मज्ञानद्वारा सर्वप्रकारके बन्धनोंसे छूट जीवन्मुक्ति प्राप्तकर अपुनरावृत्तिके अधिकारी होरहे हैं, जो राजा जनकके समान सम्पूर्ण व्यवहारोंको करतेहुए भी विदेह होरहे हैं, चाहे सन्न्यासी हों चाहे गृहस्थ हों पर जीवन्मुक्ति लाभ करचुके हैं उनकी पहचान यही है, कि वे सम्पूर्ण जगत्के जीवोंको एक समान देखते हैं। किन-किनको एक समान देखते हैं? सो भगवान् कहते हैं, कि [**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च**] अर्थात् वेदार्थज्ञान तथा नम्रतासे परिपूर्ण ब्राह्मणमें, नरकावह कर्मकरनेवाले चाण्डालमें, गाय, हाथी और कुत्तेमें समान दृष्टिवाले होते हैं। अर्थात् जो ब्राह्मण यज्ञादि कर्मोंका सम्पादन करनेवाला है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य्य, क्षमा, धृति, दया इत्या-

दिको स्वभावतः प्रतिपाल करनेवाला है और त्रिकाल-सन्ध्या, पितृ-श्राद्धादि नित्य नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला है तथा विनयसे ऐसा सम्पन्न है, कि जो कोई उसके सन्मुख आजाता है उससे विनय पूर्वक बातें करता है ऐसे ब्राह्मणमें और इसीके प्रतिकूल जो दिवा रात्रि जीवोंके मारडालनेमें तत्पर रेहनेवाला है मिथ्या, चोरी, जारी इत्यादि अशुभ कर्मोंका करनेवाला है ऐसे चांडालमें, जो समान दृष्टि रखनेवाला है वही "पंडित" समदर्शी है। तात्पर्य यह है, कि ज्ञानी जन परम पवित्र ब्राह्मणको और परम अपवित्र चांडालको एक समान देखते हैं। फिर गाय जो सत्वगुण प्रधान है अर्थात सात्विकी जीव है, जिसके दूध, दधि, घृत इत्यादिसे यज्ञ सम्पादन होते हैं ऐसी सात्विक गायमें, युद्धादिमें काम आनेवाले तमोगुणी हस्तीमें तथा रजोगुणी कुत्तेमें जो समान दृष्टि रखते हैं वे ही पंडित और ज्ञानी हैं, जीवन्मुक्त हैं और अपुनरावृत्तिके अधिकारी हैं। क्योंकि वे आत्मतत्त्वको भली भांति जानते हैं।

शंका— जब ऐसे समदर्शी सब प्राणियोंको एक भावसे देखते हैं तो क्या वे चांडालादिके साथ बैठकर भोजनादिका भी व्यवहार करसकते हैं? क्या गैया, हस्तिनी, और कुत्तीका दूध एक संग मिलाकर अपने काममें लासकते हैं? यदि ऐसा कर सकते हैं तो श्रुति स्मृतियोंने जो चार वर्ण और चार आश्रमोंका विलग-विलग धर्म वर्णन करने तथा स्पर्शास्पर्श का भिन्न-भिन्न विधान रखनेमें परिश्रम किया है वह निरर्थक ही समझा जावेगा। जब ऐसे श्रेष्ठ पुरुष ऐसा निन्दित आचरण करने लग जावेंगे तो साधारण पुरुष भी उनकी देखादेखी वैसे ही करने लगजावेंगे

फिर तो धर्मका कुछ विचार ही नहीं रहेगा । भगवानने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है, कि "**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**" (अध्याय ३ श्लोक २१) श्रेष्ठ-पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है उसीकी देखा देखी अन्य पुरुष भी वैसे ही करता है । इसलिये इस श्लोकका मुख्य अभिप्राय यदि यही है तो धर्ममें महा घोर आपत्तिके प्रवेश करनेका भय होता है ऐसा क्यों ?

समाधान— नारदका वचन है, कि—

"**धर्म्मशास्त्रविरोधे तु युक्ति-युक्तो विधिः स्मृतः ।**

व्यवहारोऽपि बलवान् धर्मस्तेना⊛**ऽवहीयते ॥**"

अर्थ— जहां धर्मशास्त्रोंमें विरोध हो तहां युक्ति ही विधि है क्योंकि व्यवहार बलवान् होता है इसलिये व्यवहारसे धर्मका निर्णय करते हैं । क्योंकि लौकिक विषय भी धर्मानुसार ही चलता है फिर बृहस्पति भी कहते हैं, कि "**केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः । × युक्तिहीनविचारे तु धर्महानिः प्रजायते**" ॥

अर्थ— केवल धर्मशास्त्रों ही का आश्रय लेकर किसी विषयका निर्णय नहीं करना चाहिये । ऐसा युक्तिहीन विचार करनेसे धर्मकी हानि होती है तथा लौकिक-कार्य भ्रष्ट होते हैं । जैसे नीचे वाले तीनों वर्णोंकी कन्यासे ब्राह्मण विवाह करसकता है यह शास्त्र-विहित है पर व्यवहारसे विरुद्ध है इसलिये इसका लोकमें प्रचार नहीं चला, रुकगया है। इसी प्रकार बहुतेरे व्यवहार ऐसे हैं जो अपने-अपने धर्म

⊛ अवहीयते— अवगम्यते हि गतौ ।

× युक्तिर्व्यवहारः ।

कुल, देश, वय, वृत्त और वित्तके अनुसार कियेजाते हैं। कात्यायनका भी सूत्र है— " कुलशीलवयोवृत्तवित्तविद्भिरधिष्ठितम् " अर्थात् कुल, शील, वय, वृत्त इत्यादिका वित्तके अनुसार ही व्यवहार करनेसे धर्मकी स्थिती कहीगई है । श्रुतिका भी प्रमाण है, कि— " ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मशिर्न युक्ता अयुक्ता अलूक्ष्वाः धर्मकामा स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। "

अर्थ— जब किसी संसृतव्यवहारकेलिये कुछ सीखना हो अर्थात् कर्म, धर्म, वृत्ति (जीविका) यज्ञादिका सम्पादन वा अन्य किसी प्रकारके व्यवहारोंका जानना अभीष्ट हो तो जैसे बडे-बडे विचारशील ब्राह्मण जो नाना प्रकारके कार्य्योंमें युक्त वा अयुक्त हैं अथवा सम्यक् प्रकारसे लगेहुए हैं और धर्म्मोंके सम्पादनमें अक्रूर बुद्धिवाले हैं वे जिस प्रकारसे आचरण करते हों वैसे तू भी आचरण कर !

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि संसारमें दो प्रकारकी दृष्टियोंसे कर्मोंका सम्पादन होता चलाआया है व्यवहारदृष्टि और परमार्थदृष्टि । जब तक मनुष्य प्रवृत्ति-मार्गमें वर्त्तमान होरहा है अर्थात् जबतक अपने समाजके साथ निवासकर पुत्र, कलत्र, बन्धु, बांधव, बिवाह, श्राद्धादिके व्यवहारोंमें लगाहुआ है तबतक उसे व्यवहारदृष्टिसे भी काम लेना चाहिये । क्योंकि समाजके नियम और व्यवहारदृष्टिका उल्लंघनकर केवल परमार्थदृष्टिसे देखना व्यवहारसाधनमें नाना प्रकारके क्लेश उत्पन्न करता है । इसलिये परमार्थदृष्टिसे सबको समान देखता हुआ व्यवहारदृष्टिसे धर्म्मोंका सम्पादन करतारहे। क्योंकि भगवान् (समदर्शिनः)

पद कहकर उपदेश करते हैं पर "**समभोजिनः**" वा "**समवर्तिनः**" ऐसा नहीं कहते। यदि समभोजिनः वा समवर्तिनः कहते तब तो सब कुजातियोंके साथ भोजन करना तथा गैया और कुत्तीके दूधमें समान बर्त्ताव करना उचित था। हां! यदि सब व्यवहारोंको छोड परमहंस-वृत्ति धारण करे तो चाण्डालके हाथका भी भोजन करलेने में हानि नहीं है। क्योंकि परमहंस तो शरीरकी सुधि ही नहीं रखता। "**स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते**" परमहंस अपने शरीरको मृतक के समान देखता है। ऐसे परमहंसको "**न शीतं न चोष्णम्**" सर्दी गर्मीका भी भाव नहीं होता। तो ऐसेको परमार्थ दृष्टिसे वर्त्ताव करने में तनक भी हानि नहीं है। पर जो धूपसे वचनेके लिये तो सुन्दर छाता, शीतोष्णमें भिन्न-भिन्न वस्त्रादिकोंका व्यवहार, सलोने और फीकेका विचार कररहा है, शत्रु, मित्र तथा राग, द्वेषसे जिसका अन्तःकरण मलीन होरहा है, वह यदि समाजके नियमोंका भंग करे तो कहीं भी उसका ठिकाना नहीं लगेगा। एक समाजके नियमको भंग कर दूसरे समाजमें जाजुटेगा तो उस दूसरे समाजके नियमका पालन करना पडेगा। क्योंकि पृथ्वी-मंडलमें जितने धर्म हैं तथा जितने समाज हैं सबोंमें उनके विशेष नियम बंधेहुये हैं। फिर व्यवहारस्थ प्राणी किसी भी समाजमें जापडेगा तो उसे किसी न किसी नियमसे बद्ध होना ही पडेगा।

पर बहुतेरे धूर्त्त केवल खानेकेलिये परमहंस बनजाते हैं। ऐसा नहीं चाहिये। सच्चा परमहंस जडभरत इत्यादि महानुभावोंके समान बनजाओ फिर विश्वके भूतमात्रसे समान बर्ताव रखो कुछ भी हानि नहीं है।

प्रिय पाठको ! इन दिनों सैकडों कपोल-कल्पित मत निकल-पडे हैं जो जाति-पांतिका कुछ भी विचार न करके भंगी चमारके साथ भोजनादिका व्यवहार रखते हैं जाति--कुजातिसे विवाह करलिया करते हैं इनके लिये तो सम्पूर्ण गीताशास्त्रमें यही श्लोक बडे ही सिद्धान्त का है। सुननेमें आता है, कि गीता-शास्त्र पृथ्वी-मण्डलके मनुष्य-मात्रका उपकारक है सो इस श्लोकके देखनेसे नवीन मन गढाहुआ कपोली मतवाले भी इस श्लोकको अपना सिद्धान्त मानते हैं पर उन के पास न इतनी बडी बुद्धि है न संस्कार है जिसके द्वारा इस श्लोक का मुख्य अभिप्राय समझसकें । मैं ईश्वरसे यही प्रार्थना करता हूं, कि वह इनकी बुद्धि इस श्लोकके मर्म समझने योग्य बनादेवे ।

समदर्शी होनेका तात्पर्य यह नहीं है, कि ब्राह्मण चांडालके साथ गैया और कुत्तेका दूध मिलाकर पीया करे, किन्तु समदर्शीका यह अर्थ है, कि सबको एक समान समझ कर सबपर समान दया रखे अर्थात् ब्राह्मण और चांडालका एक समान उपकार करे । यदि दोनों पर किसी प्रकारकी आपत्ति आनपहुंचे तो दोनोंको उस आपत्तिसे छुडानेके लिये समान पुरुषार्थ करे । गैया, हाथी, कुत्ता इत्यादि सम्पूर्ण ब्रह्मांडके जीवोंके दुःख सुखको समान जान सबोंकी एक समान रक्षा करे । यदि उससे बनपडे तो जिस प्रकार गैयाके खान पानका उद्योग कर गैयाको भूखी प्यासी नहीं छोडता इसी प्रकार गधयियों और कुत्तियोंको भी यथाशक्ति भूखी प्यासी न रहने देवे ।

महात्मा बामदेवजी महाराजकी बनी बनायी रोटियोंको एक दिन एक कुतिया लेभागी तो आप पीछेसे घृत लेकर दौडे और पुकारने लगे, कि

अरी रूखी सूखी रोटी कैसे खावेगी ? ले ये घृत भी लियेजा ! इसीका नाम समदर्शन है । भगवान्‌के समदर्शी कहनेका मुख्य अभिप्राय यही है । इससे सिद्ध होता है, कि जीवन्मुक्त और परमहंसोंके लिये इस श्लोकका व्यवहार परमार्थ दृष्टिसे करना है । व्यवहारमें रहनेवाले संसारी जीवोंके लिये यह नहीं है, क्योंकि उनको अपने सामाजिक विषयोंका पालन करना ही होगा ॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जो लोग इस प्रकार समदर्शी हैं वे फिर व्यवहारोंमें रहसकते हैं वा नहीं ? यदि रहसकते हैं तो उनका निर्वाह कैसे होसकता है ? अन्तमें उनकी कैसी दशा होती है ?

इतना सुन भगवान्‌बोले—

मू०—इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥
॥ १९ ॥

पदच्छेदः— येषाम् (समदर्शिनाम्) मनः (अन्तःकरणम्) साम्ये (सर्वभूतेषु समभावे) स्थितम् (स्थिरीभूतम् । निश्चलीभूतम्) तैः (समदर्शिभिः) इह (जीवद्भिः) एव (निश्चयेन) सर्गः (द्वैतप्रपंच । जन्म मरणादिलक्षणः संसारः) जितः (अतिक्रान्तः । वशीकृतः) हि (यस्मात) ब्रह्म, निर्दोषम (दोषरहितम्) समम् (सर्वत्रैकरूपम । सर्वत्राविषमम) तस्मात ते (समदर्शिनः) ब्रह्मणि (सर्व-

गुणदोषसम्बन्धवर्जिते सच्चिदानन्दस्वरूपे महेश्वरे अखण्डैकरसे) स्थिताः (एकीभावेन स्थिरीभूताः) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (**येषां**) जिन समदर्शियोंका (**मनः**) अन्तःकरण (**साम्ये**) सब भूतोंकी समतामें (**स्थितम्**) स्थिर होरहा है (**तैः**) तिनही समदर्शियोंसे (**इह एव**) निश्चय करके इसी जन्ममें (**सर्गः**) यह संसार (**जितः**) जीताजाता है तथा (**हि**) जिस कारणसे (**ब्रह्म निर्दोषम्**) वह ब्रह्म जगदीश्वर निर्दोष है (**समम्**) और सब जाति कुजातिमें समान रूपसे वर्त्तमान है (**तस्मात्**) इसलिये (**ते**) वे समदर्शी पंडित भी ऐसे (**ब्रह्मणि**) ब्रह्ममें (**स्थिताः**) निश्चल-रूपसे निर्दोष होकर निवास करते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि व्यवहारमें समदर्शियोंका रहना हानिकारक है वा लाभ-कारक है ? तथा वे स्वयम् अपनी इच्छासे व्यवहारमें कैसे निर्वाह करसकते हैं ? और अन्तमें उनकी क्या दशा होती है ? इन प्रश्नोंका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः**] जिन परमार्थदर्शियोंका मन समतामें स्थित है उन करके यहां ही इसी जन्ममें मानो संसार जीतागया है अर्थात् समदर्शियोंने इसी जन्ममें जीते जीते प्रपंचका उपशम करलिया है तथा संसारकल्मषको जीतलिया है । तात्पर्य यह है, कि ब्राह्मण और चांडाल, गऊ और व्याघ्र, मनुष्य और राक्षस, अमृत और विष, स्वर्ग और नरक अपने और पराये, लोहे और काञ्चन, साधु और असाधु इत्यादिमें जिसने समभाव

निश्चय कररखा है अर्थात् किसी दोषी पुरुषको देख घृणा नहीं करते, किसी निर्दोषीको देख स्पृहा नहीं करते, सबको सम भावसे देखते हैं और अपनी आयु वर्त्तमान रहते हुए इस द्वैत प्रपंचकी विषमताको सम करलिया है, इस लिये यह निश्चय है, कि जिसने इस प्रकार इस लोकमें संसारको और अपने जन्मको जीतलिया है उनके लिये परलोकमें तो सब कुछ बना ही बनाया है क्योंकि इन्द्रलोकादिमें अप्सरायें उनका क्या करसकती हैं ? तथा वैतरणी, कुम्भीपाक, रौरव इत्यादि नरक उनका क्या विगाड सकते हैं ? कुछभी नहीं ।

तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि जो साधारण प्राणी गृहस्थाश्रममें निवासकरता है उसकेलिये भगवानका यह उपदेश नहीं है क्योंकि उससे संसारकी विषमता जीती नहीं जासकती। वह तो अवश्य क्षण-क्षण राग द्वेपके पल्ले पड मित्र शत्रुका भेद रखता ही है। इसलिये उसको तो गुण, दोष, शुद्ध, अशुद्धका पालन करनाही मङ्गलदायक है। यही साधारण व्यक्ति अपने विचारानुसार व्यवहारोंका सम्पादन करते करते जब निष्काम-कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर आत्मज्ञान लाभ करे और व्यवहारोंसे बिलग हो केवल तद्बुद्धि, तदात्मा और तन्निष्ठ होरहे तब उसे ब्राह्मण और चाण्डालमें समता प्राप्तहोगी और विषमताका नाश होगा, तब ही वह जीवन्मुक्त कहलावेगा । इसलिये अत्यन्त उच्च श्रेणीपर पहुंचेहुए अधिकारीकेलिये भगवान् इस समद-र्शनका उपदेश कररहे हैं । संसारके जीतनेका तात्पर्य्य यह नहीं है, कि अपनी बीरतासे देश-देशान्तरोंको जीत चक्रवर्त्ती बनजावे वरु यहां संसार जीतनेका तात्पर्य्य यही है, कि प्रकृतिने जो रज, सत्व और

तम इन तीन गुणोंसे संसारी जीवोंको बांधरखा है, इन तीनों गुणोंकी विषमताको सम करडाले अर्थात् गुणोंका प्रभाव जीते-जीते अपने ऊपर न पडनेदेवे ।

अब भगवान् ऐसे प्राणियोंका परिणाम कहते हैं, कि [**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**] ऐसे समदर्शी संसार-सागरके तरनेवाले सर्वदा ब्रह्महीमें स्थिर रहते हैं अर्थात् संसारमें रहतेहुए भी ब्रह्मभावको प्राप्तरहते हैं । क्योंकि ब्रह्म भी सर्वत्र सबठौर ब्राह्मण और चाण्डालमें एकरस व्यापरहा है फिरभी निर्दोष है ।

श्रुतिका बचन है, कि " **आकाशवत् सर्व्वगतः स नित्यः** " सो ब्रह्म आकाशवत् सबमें है और नित्य है । जैसे आकाश मद्यके घटमें भी है और गंगाजलके घटमें भी है तथा चाण्डालके गृहमें भी है और ब्राह्मणके गृहमें भी है क्योंकि सो आकाश नित्य है । इसी प्रकार ब्रह्म भी दोनोंमें व्यापक है । श्रु०— " **असंगो न हि सज्जते असंगो ह्ययं पुरुषः** "

अर्थ— वह ब्रह्म असंग है किसीके संग नहीं लिपटता ।

श्रु०— सूर्य्योयथा सर्वलोकस्य चक्षुर्नलिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः " (कठो० अ० २ बल्ली० २ श्रु० १०)

अर्थ— जैसे सूर्य्य जो सबलोकोंका नेत्र है अपनी किरणोंद्वारा आकाशसे सबोंको देखताहुआ सबके रसोंको खींचता है पर किसी

दोषसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वत्र अपनी सत्तासे सबको प्रकाश कररहा है, सर्वत्र व्यापक है पर इनके गुण दोषोंसे सम्बन्ध नहीं रखता।

अब इसी विषयको स्थूल दृष्टान्तोंसे दिखलाते हैं— जैसे जल चाण्डाल और ब्राह्मणकी पिपासा समानरूपसे शान्त करता है, हवा दोनोंको एक प्रकार आनन्द देती है और आग दोनोंके शीतको समान-रूपसे निवारण करती है, इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र एक समान व्यापक है। इस लिये समदर्शी पुरुष भी सदा ब्रह्महीमें एकरस स्थिर रहता है। देखो! परमा-त्माने चाण्डाल और ब्राह्मण दोनोंकेलिये ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अन्तः-करण, पाचों प्राण, तथा रोम, चर्म, रुधिर, मांस, अस्थि, मज्जा और वीर्य्य सप्त धातुओंको समान रूपसे प्रदान किया है तथा विराट्की सम्पूर्ण वस्तु-तस्तु सबोंके लिये समानरूपसे दुःख सुखकी देनेवाली हैं। जैसे कामसुख इन्द्रसे लेकर शूकर पर्यन्त समान-रूपसे सुखदायी है पर जीवों को अपने इष्ट और अनिष्टके कारण विषमता देखपडती है। सो विषमता केवल अज्ञानियोंकी ही दृष्टिमें है। क्योंकि वह अनात्मामें आत्मा देखता है पर ज्ञानीकी दृष्टिमें कहीं भी विषमता नहीं है। ज्ञानी सदा निर्दोष और समदृष्टिवाला है इसी कारणसे उस ब्रह्ममें समदर्शी पंडित स्थित है।

समदर्शियोंके ब्रह्मसुखमें स्थितहोनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि फिर उनको अपनी जीवन्मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त किसी प्रकारके पार-लौकिक साधनकी आवश्यकता नहीं रहती न किसी प्रकारके प्रतिब-

न्वके दूर करनेकी ही चिन्ता रहती है । क्योंकि वह सदा आनन्दस्वरूप ब्रह्ममें मग्न रहनेके कारण किसी देवदेवीके उपद्रवोंका भयही नहीं रखता ॥ १९ ॥

इसी समताको दृढ करनेके लिये भगवान आगे फिर समबुद्धिवालेका लक्षण कहते हैं—

मू०— न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २०

पदच्छेदः— प्रियम् (अनुकूलम् । इष्टम्पुत्रकलत्रादिकम) प्राप्य (अवाप्य) न (नहि) प्रहृष्येत (हर्षितो भवति । प्रसन्नतां गच्छति) च (तथा) अप्रियम (स्वप्रतिकूलम् । चौरचांडालाद्यनिष्टम्) प्राप्य (उपलभ्य) न (नैव) उद्विजेत (उद्वेगं गच्छति) स्थिरबुद्धिः (श्रुतियुक्तिभ्यां सर्वभूतसमत्वे स्थिरा बुद्धिर्यस्य सः । स्थितप्रज्ञो वा) असंमूढः (संशयमूलभूतेन संमोहेन रहितः । निवृत्तमोहः) ब्रह्मवित् (ब्रह्मसाक्षात्कारवान) ब्रह्मणि स्थितः (ब्रह्मैक्यंगतः । सर्वविक्षेपकारणं परित्यज्य निर्दोषे समे ब्रह्मण्येव स्थितः) ॥ २० ॥

पदार्थः— (प्रियम) जो प्राणी अपनी इच्छानुकूल पुत्र कलत्रादिको (प्राप्य) प्राप्त करके (न प्रहृष्येत) हर्षको नहीं प्राप्त होता है तथा (अप्रियम्) अपने अनिष्ट जो शत्रु इत्यादि हैं तिनको (प्राप्य) पाकरके (न उद्विजेत) उद्वेगको नहीं प्राप्त होता वही (ब्रह्मणि स्थितः) सर्व प्रकारके विक्षेपोंका कारण त्याग करके

उस ब्रह्ममें सदा स्थित है तथा वही (ब्रह्मविद्) ब्रह्मको साक्षात्कार करचुका है इसी कारण (स्थिरबुद्धिः) वह सदा स्थिर-बुद्धि है वही (असम्मूढः) संशय, विपरीत इत्यादि मोहके कारणोंसे भी रहित होरहा है ॥ २० ॥

भावार्थः— अब श्री जगत्-हितकारी कुञ्जविहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि **[न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्]** जो प्राणी प्रिय वस्तुको प्राप्त कर हर्षित नहीं होता और अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे उद्विग्न नहीं होता वही ब्रह्ममें स्थित हैं। जैसे कांजीके सीकरोंसे क्षीर-सागर नहीं फटता, सहस्रों नदियोंके मिलनेसे भी समुद्र अपनी स्थिरताको नहीं छोडता। ऐसे चक्रवर्त्तीका विभव पाकर भी जो हर्षित नहीं होता चार दिनकी चांदनी समझता है। इसी प्रकार जो अप्रिय वस्तुके समीप आनेसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् कितने भी शत्रु उसे चारों ओरसे घेर क्यों न लेवें, कितनी भी आपत्तियां उसके ऊपर क्यों न आजावें पर महाराज हरिश्चन्द्रके समान तथा भक्त प्रह्लादके समान जो खड्गके नीचे गर्दन आनेसे भी ब्रह्मभावका परित्याग नहीं करता, यथार्थ समदर्शी होकर सुख और दुःख दोनोंको ब्रह्ममय जानकर समान दृष्टिसे देखता है और सदा एकरस ब्रह्मानन्दमें चिपटा हुआ ब्रह्मस्वरूप ही होरहा है वही ब्रह्ममें स्थित है। यथा श्रु०— " **इन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनम् कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्या मनोरमम्** " (मैत्रायण्युपनिषद् प्र० ४ श्रु० २)

अर्थ— इन्द्रजालके समान मायामय, स्वप्नके गन्धर्व नगरके समान मिथ्या, कदलीके स्तम्भके समान साररहित और नटके समान क्षण-मात्रके लिये विचित्र होने पर भी मनोरम है अर्थात् है तो कुछ नहीं पर देखने मात्र अत्यन्त सुन्दर मनोहर स्वरूप भासता है ऐसे संसारे सुखको पाकर ज्ञानी हर्षित नहीं होता। क्योंकि वह जानता है, कि जिस स्त्री, पुत्रकी सुन्दरताईपर अज्ञानी मोहित होता है वे केवल अपवित्र मांसके पिण्ड हैं। यथा मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिपूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥

(मनु० अ० ६ श्लो० ७६, ७७)

अर्थ— सुन्दर स्त्री-पुत्रके शरीर यथार्थमें सुन्दर नहीं हैं महा कुरूप घोर नरक हैं। जैसे मिट्टीकी मूर्ति बेचनेवाले एक काष्ठके दण्डमें घास-फूस बांधकर मिट्टी लपेटकर ऊपरसे चिकनाई देकर चिकनी चुल-बुली मनोहरमूर्त्ति बना हाटमें बेचते हैं और बच्चे उसे देखकर मोहित हो रुपये व्ययकर खेलनेकेलिये लेआते हैं। इसी प्रकार जिस शरीरको अज्ञानी सुन्दर समझरहे हैं सो केवल एक मोटी हड्डीके खम्भमें शिरा और नाडियोंसे बांधकर मांस और रुधिरकी चिकनाईसे लपेट, चमडेसे ढककर, मूत्र और मलकी दुर्गन्धसे पूर्ण, वृद्धता और शोकसे घिराहुआ ३६ सहस्र रोगोंका घर, क्षुधा-तृष्णासे सदा आतुर, रजोगुणसे संयुक्त

और अनित्य पृथ्वी इत्यादि पांचों भूतोंका जो घर बनाहुआ है तिसे ज्ञानी त्यागदेवे । इसे अपना परमप्रिय समझ हर्षित न होवे । जो ऐसा ज्ञानी है वही प्राणी [**स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि-स्थितः**] स्थिरबुद्धि है, असंमूढ है, ब्रह्मविद् है और ब्रह्ममें स्थित है, ब्रह्मको छोड किसी अन्य पदार्थमें स्नेह नहीं रखता, सर्ब विषय-सुखोंको त्याग ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होजाता है क्योंकि ब्रह्मसुख प्राणीका अपना सुख है, विषयसुख अपना नहीं है क्योंकि अन्तमें संग छोडदेता है । जब प्राणी बृद्धहोता है इन्द्रियां निर्ब्बल पडती जाती हैं तब विषयसुख स्वयं परित्याग करता जाता है । अज्ञानी पुरुष तो अपने अन्तःकरणसे परित्याग नहीं करता पर क्या करे इन्द्रियोंकी निर्ब्बलतासे विषयसुख भोगनेको समर्थ नहीं होता हाथ मल-मल पछताता है । ऐसे अज्ञानीकी दुर्दशा होती है क्योंकि इधर विषयसुख हाथसे चलाजाता है और उधर ब्रह्म सुखसे भी वञ्चित रहता है। दोनों हाथोंसे रीता चलाजाता है । इसलिये जिसने ब्रह्मसुखमें स्थिति प्राप्त की है वही " **ब्रह्मणि स्थितः** " कहलाता है ।

तहां यह शंका होती है, कि जबतक प्राणी ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं करेगा तबतक उसकी स्थिति ब्रह्ममें कैसे होसकती है ? इसलिये भगवान् कहते हैं, कि " **ब्रह्मविद्** " वही प्राणी ब्रह्ममें स्थित होगा जो ब्रह्मवेत्ता है, जिसने श्रवण, मनन, निदिध्यासनद्वारा ज्ञानकी + सातों भूमिकाओंको प्राप्तकर ब्रह्मका साक्षात्कार किया है । इसलिये

+ सप्तभूमिका देखो अ० ३ श्लो० १८

जो ब्रह्मविद् है अर्थात् ब्रह्मको पहचानता है वही " ब्रह्मणि स्थितः " कहाजावेगा। जैसे घासकी झोंपडीमें रहनेवाला अपना घर पहचानता है नगरमें बडे-बडे महलोंको परित्याग करताहुआ अपने घरके सम्मुख आ झट घुसकर स्थित होता है। ऐसे ही ब्रह्मविद् विषयके बडे-बडे स्वर्गादि सुखोंको त्यागकर अपने शान्तस्वरूप ब्रह्मसुखमें प्रवेश करजाता है। पर जो चञ्चल स्वभाववाला हो तो किसी न किसी कारणसे उसकी स्थिरता अवश्य नष्ट होही जावेगी। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि "स्थिरबुद्धिः" जिसकी बुद्धि स्थिर हो, चंचल न हो अर्थात् जिसे "*नैष्ठिकी शान्ति" प्राप्त हो उसीकी स्थिति अवश्य ब्रह्ममें नित्य रहेगी क्योंकि जिस प्राणीको यह नैष्ठिकी शान्ति प्राप्त है वही ब्रह्मसुखके रसमें डूबा रहता है।

बुद्धिमान् विचारसकते हैं, कि जिसके बिम्ब विषयरसमें इतना सुख है, कि प्राणी अचेत हो विदेह होजाता है उसके मुख्य रसमें अर्थात् ब्रह्मरसमें कितना सुख होगा। इसलिये यह सिद्ध हुआ, कि जो स्थिरबुद्धि होगा वही ब्रह्मविद् होगा और जो ब्रह्मविद् होगा वही ब्रह्ममें नित्य स्थित होगा ॥ २० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! मायाकृत विषय-सुख तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है पर ब्रह्म-सुखका अनुभव तो प्राणियोंको होता ही नहीं। फिर प्रत्यक्ष सुखको छोड अप्रत्यक्ष सुखकी ओर जाना तो बाधित न्याय है। क्योंकि सो ब्रह्मसुख कहीं है वा नहीं इसका कैसे विश्वास हो ?

* नैष्ठिकीशान्तिका वर्णन इस अध्यायके श्लो॰ १२ में देखो।

इतना सुन श्यामसुन्दर मुसकराकर गंभीर बचनोंसे बोले—

**मू०— वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥**

पदच्छेदः— वाह्यस्पर्शेषु (वहिर्भवा वाह्याः स्पर्शा विषयेन्द्रिय सम्बन्धास्तेषु) **असक्तात्मा** (अनासक्तचित्तः । निस्पृहं चित्तं यस्य सः) **आत्मनि** (अन्तःकरणे) **यत्, सुखम्** (नित्यानंदम्) **विन्दति** (लभते) [यतः] **सः** (तृष्णाशून्यः पुरुषः) **ब्रह्मयोगयुक्तात्मा** (ब्रह्मणि योगः समाधिस्तेन युक्तः समाहितः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः) **अक्षय्यम्** (अनन्तम् । विनाशरहितम्) **सुखम्** (परमानन्दम्) **अश्नुते** (प्राप्नोति) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (**वाह्यस्पर्शेषु**) रूप, रस, गन्धादि जो इन्द्रियोंके विषय हैं तिनमें (**असक्तात्मा**) जिसका चित्त आसक्त नहीं है सो प्राणी (**आत्मनि**) अपने अन्तःकरणमें (**यत्सुखम्**) जिस सुखको (**विन्दति**) लाभ करता है तिस सुखके पश्चात् (**सः**) सो ही (**ब्रह्मयोगयुक्तात्मा**) ब्रह्मयोगमें स्थित आत्मावाला (**अक्षय्यम्**) अनन्त अविनाशी (**सुखम्**) सुखको (**अश्नुते**) प्राप्त करता है अर्थात् जैसे विषयी विषय-सुखका अनुभव करता है इसी प्रकार ब्रह्मवित् अविनाशी ब्रह्म-सुखका अनुभव करता है । विषयी ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं कर सकता ॥ २१ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंका की है, कि जिस विषय-सुखको

प्रत्यक्ष देख रहे हैं, जिसमें जन्म-जन्मान्तरसे गाढी प्रीति लगरही है तिसे छोड ब्रह्म-सुखमें, जो प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं देखाजाता, मनका लगना कैसे सम्भव होसकता है ? प्राणियोंका स्वभाव है, कि जबतक किसी उत्तम सुखको नहीं देखता तब तक अपने प्राप्तसुखको जो उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त है नहीं छोडता। फिर यह प्राणी इतने दिनोंके अभ्यस्त सात्म्य-विषय सुखको केवल सुने-सुनाये ब्रह्मसुखके लिये कैसे त्यागसकता है ? इसका उत्तर देतेहुये आनन्दकन्द श्री कृष्ण-चन्द्र कहते हैं, कि [**वाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्**] जो प्राणी रूप, रस, गन्धादि वाह्य इन्द्रियोंके विषयों में आसक्त चित्त नहीं है अर्थात् जिसने विषयोंका सुख परित्याग किया है सो प्राणी तिस अपूर्व्व सुखको आत्मामें लाभ करता है उसका कहनाही क्या है ? वह धन्य है। हे अर्जुन ! तूने जो यह कहा, कि विषय-सुख प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जन्म-जन्मान्तरसे जीवको इस विषय-सुखके भोगनेका अभ्यास पडा हुआ है, सो तेरा कहना यथार्थ है, पर उसीके साथ तू यह भी कहसकता है, कि इन विषय-सुखोंको आगमापायी, क्षणिक और परिणाममें दुःखदायी जानने-का भी तो अभ्यास इस जीवको पडाहुआ है। सो पशुपक्षी पतंगादि तिर्य्यक्-योनियोंकी समझमें न आवे तो न आवे, "क्योंकि परमात्माने उनकी रचनामें सम्यक्बुद्धि नहीं दी है" पर मनुष्यकी समझमें तो अवश्य आना चाहिये। क्योंकि उस दयासागर महा प्रभुने इनको तो सम्यक्बुद्धि अवश्य प्रदानकी है जिसके द्वारा ये बुरा-भला समझ सकते हैं। यदि तू किसी विद्वान अर्थात् सम्यग्-बुद्धि वालेसे पूछेगा

तो वह अपने मुखसे अवश्य कहदेगा, कि ये विषय-सुख आगमापायी और अन्तमें दुःखदायी हैं । इसलिये जो इनमें अनासक्तचित्त है वह धन्य है ।

यदि कोई ऐसा कहे, कि जब मनुष्य इनको क्षणिक और दुःखदायी जानता है तो इसमें लिपटा क्यों रहता है ? तो उत्तर यह है, कि ये इन्द्रियां बलवान् हैं जो मनको अपना अग्रगामी बनाकर विषयकी ओर दौडती हैं । मनके साथ-साथ बुद्धि है सो इस मनको रोकती तो अवश्य है पर बेचारी क्या करे ? क्योंकि यह तो अकेली पडजाती है और मन अपनी सेना (दसों इन्द्रियां और पांचों प्राण) लेकर विषयकी ओर जाता है इसलिये बुद्धि लज्जित होजाती है । इनहीं बातोंको भगवान्ने पहले भी कहा है, कि "**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः**" (अ० २ श्लो० ६०) इन्द्रियां बलवती हैं इसलिये बुद्धिको धक्का देकर मनको बलात्कार अपनी ओर खींच अपने आगे-आगे लेचलती हैं ।

बुद्धिमान तो सदा आरम्भ और परिणामको विचारकर कार्य्य कियाकरते हैं । जिस कर्मका आरम्भ सुहावना और मनोहर हो पर परिणाम दुःखदायी हो तो बुद्धिमान उसके समीप नहीं जाते । पर जो आरम्भमें दुःखदायी और अन्तमें सुखदायी हो तो बुद्धिमान उस ओर जानेसे आलस्य नहीं करते इसलिये इस बुद्धिको मनपर प्रबल होनेके लिये कैसे अपनी सेना बनानी चाहिये सो यत्न बतायाजाता है—

श्यामसुन्दर पहलेही कहआये हैं, कि "**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**" (अ० ४ श्लो० ३४) अर्थात् महानुभावोंकी

शरण जा दण्डके समान गिरकर सेवा करके प्रश्नद्वारा तत्त्वका अन्वेषण करे । श्रु०— " तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम् " (मुं० १ खं २ श्रु० १२)

अर्थ— तिस ब्रह्मसुखकी प्राप्ति निमित्त हाथमें समिधालेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण जावे । उसकी सेवाद्वारा प्रसन्न होकर शिष्यकी बुद्धिकी सहायता करनेवाली सेना, तिसमें बडे-बडे बलवान सेनापति हैं साथ करदेवेंगे जिसके द्वारा बुद्धि मनको जीतलेवेगी । तिस बुद्धिकी सेनामें कितने वीर हैं सो दिखलायेजाते हैं १ नित्यानित्य वस्तुविवेक। २ वैराग्य। ३ षट्सम्पति। ४ मुमुक्षुता। ५ श्रवण। ६ मनन। ७ निदिध्यासन । फिर पांचों यमके और पांचों नियमके प्रबल अङ्ग तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि । जब यह प्रबल सेना मनके सम्मुख पहुंचेगी तब मनका इन्द्रियोंके सहित कहीं भी पता नहीं लगेगा । तात्पर्य्य यह है, कि बुद्धि प्रबल होनेसे विषयोंसे घृणा उत्पन्न होती चलीजावेगी । इनकी आसक्ति जातीरहेगी । जब एवम् प्रकार प्राणीकी बुद्धि विषयोंसे निरासक्त होजावेगी तब विचारने लगजावेगी, कि यह सुख कहांसे आरहा है ? फिर तो ऐसा विचारते—बिचारते उसकी दृष्टि ब्रह्मानन्द पर अवश्य ही किसीन-किसी दिन पडेही गी । जैसे सूर्य्यका बिम्ब किसी जलभरे घटमें पडता है फिर उस घटसे थोडा प्रकाश निकलकर किसी भीतपर पडजाता है । जब मनुष्यकी दृष्टि भीतकी मन्द—मन्द ज्योतिपर पडती है तब वह इधर-उधर दृष्टिपात करनेसे घटकी ओर जलमें सूर्य्यका बिम्ब देखता है । फिर सूर्य्यकी ओर देखकर जानता है, कि

मीतवाला प्रकाश सूर्य्यके बिम्बका भी बिम्ब है । इसी प्रकार गुरुद्वारा जब अधिकारीकी दृष्टि विषयानन्दको देखते-देखते ब्रह्मानन्दपर पडेगी तब उसकी समझमें आवेगा, कि यह विषयसुख उसी ब्रह्मसुखका बिम्बमात्र है। फिर वह बिम्बको नश्वर जान मुख्य-सुख जो ब्रह्मसुख तिसे ग्रहण करनेकी इच्छाकरेगा । इसी बातको श्यामसुन्दर इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि बिषयोंसे निरासक्त प्राणी जिस सुखको अपने अन्तःकरणमें अनुभव करता है वही ब्रह्मसुख है । इसलिये भगवान् यहां कहते हैं, कि [स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते] सो जो ब्रह्मयोगयुक्तात्मा है वहीं अक्षय ब्रह्मसुखको प्राप्तकरता है । फिर तो भ्रमर जैसे कमलके मकरन्द पानकरते समय कमलसे चिपटजाता है तैसे प्राणी ब्रह्माकारवृत्तिमें चिपटजाता है क्योंकि वह अक्षय-सुखको लाभकरता है । यथा

इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी विषयानन्दसे आसक्तिरहित है वही परमानन्द तक पहुंचता है । अर्थात् जो ब्रह्ममें युक्त होता है किसी प्रकारकी कामना नहीं रखता उसीको इस परमानन्द अक्षय-सुखकी प्राप्ति होती है । यथा श्रुतिः—
" श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य " (छा० अनु० ८ श्रु० ३२) जिस श्रोत्रियने कामनाओंको परित्याग करदिया है उसी परमधन्यका यह परमानन्द है। इस विषयपर देखो हंसनाद प्रथम भाग वक्तृता चौथी जहां नाना प्रकारके आनन्दोंकी मीमांसा करतेहुए एक आनन्दसे दूसरे आनन्दको शतगुण अधिक दिखलातेहुए ब्रह्म-सुखका स्वरूप कथन कियागया है । तहां मानुषी-आनन्दसे सहस्रोंगुण अधिक ब्रह्माका

आनन्द दिखलायागया है । सो ब्रह्माका आनन्द उस परमानन्द ब्रह्म-सुखकी अपेक्षा एक बिन्दुमें कहीं पडाहुआ है। जैसे समुद्रके सामने एक बूंद जल अत्यन्त लघु समझा जाता है इसी प्रकार परमानन्दरूप आनन्दसागरके सामने ब्रह्माका आनन्द भी एक बिन्दुमात्र छोटा समझा-जाता है । इसी कारण जो प्राणी मानुषीआनन्दको लेकर ब्रह्माके आनन्दतक नश्वर समझ परित्याग करता है उसे परमानन्द अवश्य प्राप्त होता है । सो ही अक्षयसुख है जिसे भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं। तथा श्रुति भी ऐसे पुरुषकी स्तुति करती हुई कहती है, कि " ॐ कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् " (का० ब०२ श्रु० ११)

अर्थ— जिस अधिकारीमें कामनाकी समाप्ति होगई है, जो जगत्की प्रतिष्ठा है अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिककी प्रतिष्ठा है । क्योंकि भगवान्ने भी उसे " सर्वभूतात्मभूतात्मा " कहा है (देखो श्लो० ७) वही प्राणी " क्रतोरानन्त्यम् " जिसके हिरण्यगर्भका आनन्द एक कणिकामात्र है तिसका अनुभव करनेवाला अभयसे पूर्ण है अर्थात् निर्भय है तिसी प्राणीकी सर्वत्र स्तुति है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब प्राणी एक आनन्दसे दूसरे आनन्दको महान् देखता है तब धीरे-धीरे त्यागता हुआ परमानन्दको पहुंचता है । जैसे कोई प्राणी काचको फैंक हीरा ग्रहण करता है, ऐसे ही ज्ञानी विषय-सुखको त्याग ब्रह्म-सुखको ग्रहण करता है ।

सो ब्रह्मसुख यद्यपि विषयियोंकी दृष्टिमें नहीं है पर है अवश्य! जैसे पांच सात वर्षके सहस्रों छोटे-छोटे बालकोंका एक नगर बसालो तो प्रत्यक्ष देखनेमें आवेगा, कि वे बालक बालक्रीडाके आनन्दको छोड स्त्रीसुखके आनन्दको कुछभी नहीं जानते। यदि कोई स्त्रीसुखका वर्णन उनके सम्मुख करे भी तो वे अवश्य यही कहेंगे, कि हमलोगोंकी बालक्रीडाका सुख प्रत्यक्ष है इससे इतर स्त्रीसुख कुछ है ही नहीं। पर जब वे ही बालक युवा अवस्थाको प्राप्त होंगे तब बिवाह होनेके पश्चात् स्त्रियोंके साथ सम्परिष्वक्त होनेका आनन्द अनुभव करने लगजावेंगे। इसी प्रकार जबतक अज्ञानी जन बालकोंके सदृश विषय-क्रीडाके आनन्दमें मग्न हैं तबतक उन्हें ब्रह्मसुखका अनुभव नहीं होसकता। पर जब ब्रह्मविद्याकी युवा अवस्था उनपर आवेगी तब वे ब्रह्मानन्दके साथ सम्परिष्वक्त होकर अक्षयसुख लाभ करेंगे। यह निश्चय है और अटल सिद्धान्त है।

इसलिये ऐसा कहना, कि "ब्रह्मसुख कहीं है ही नहीं अर्थात् अप्रत्यक्ष है अथवा ब्रह्मसुखका अनुभव किसीको लाभ हो ही नहीं सकता" ठीक नहीं वरु धीरे-धीरे गुरूपदेशद्वारा अभ्यास करते-करते अज्ञानतारूप बचपनको अपने हृदयसे हटादो अर्थात् सर्वप्रकारके प्रपंचोंसे अपने अन्तःकरणको स्वच्छ करलो, संसार-सुखका लेशमात्र भी उसमें न रहने दो तो जैसे कीचके धोदेनेसे हीरा प्रकट होजाता है ऐसे संसृत-सुख धोदेनेसे ब्रह्मसुख अपने आप प्रकट होजावेगा ॥ २१ ॥

अब भगवान् अर्जुनको अगले श्लोकमें यह निश्चय करारहे हैं, कि विषय-सुख परम दुःखदायी है इसलिये त्यागने ही योग्य है।

इसलिये भगवान बोले अर्जुन! सुन—

मू०— ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

पदच्छेदः—कौन्तेय! (भो कुन्तीपुत्र अर्जुन!) हि (यस्मात्) ये, संस्पर्शजाः (विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाताः) भोगाः (सुखानि) ते, दुःखयोनयः (दुःखहेतवः) एव (तथा) आद्यन्तवन्तः (आदि-विषयेन्द्रियसंयोगो भोगानामन्तश्च तौ विद्येते येषां ते) [तस्मात्] बुधः (तत्त्वविद्विवेकी) तेषु (विषयभोगेषु) न (नैव) रमते (प्रीतिमानुभवति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (कौन्तेय!) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन! (हि) जिस कारणसे (ये) जो (संस्पर्शजाः) विषयके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श होनेसे (भोगाः) भोगोंके सुख उत्पन्न होते हैं (ते) वे सब सुख (दुःखयोनयः) दुःखके कारण हैं तथा (आद्यन्तवन्तः) आदि और अन्तवाले हैं अर्थात् जिनका आरम्भ होकर अन्त होजाता है इसलिये (बुधः) तत्त्वोंके प्रत्यक्ष देखनेवाले ज्ञानी पुरुष (तेषु) इन विषयभोगोंमें (न) नहीं (रमते) प्रीति करते हैं ॥ २२ ॥

भावार्थः—अब श्री गोलोक-बिहारी भोगोंसे उपराम करानेके तात्पर्य्यसे विषय भोगोंको विकारवान् बतलाते हुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि यह सिद्धान्त है और सभी जानते हैं कि [ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते] विषयोंका स्पर्श इन्द्रियोंके साथ होनेसे

जितने सुख उत्पन्न होते हैं वे सब दुःखोंहीके कारण हैं। जितने बुद्धिमान विद्वान, शास्त्रज्ञ, तत्त्वज्ञानी और विचारशील हैं उन सबोंने अभ्याससे ऐसा सिद्ध करलिया है, कि जितने संसृत-सुख हैं सब दुःखहीको उत्पन्न करनेवाले हैं। इसी कारण श्रुतिने भी इस विषयभोगकी निन्दा ही की है। यथा श्रु०— " महोरगदष्ट इव विषयदष्टं महान्धकारमिव रागान्धम् "

(मैत्र्युपनिषत् प्रपा० ४ श्रु० २)

अर्थ— महा विषधर सर्पके डसे हुएके समान इस विषय-रूप सर्पका डसा हुआ नाशको प्राप्त होता है। और जैसे महा घोर अँधियाली रात्रिमें चलने वाला मार्गके खड्डोंमें गिरकर दुःख पाता है ऐसे इस विषयसे राग करने वाला अन्धेके समान नाना प्रकारके संसृत-दुःख-रूप खड्डोंमें गिरकर क्लेश पाता है। इसलिये यह विषय भोग अवश्य दुखदायी हैं। लो और सुनो! श्रु० " श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्स र्वेन्द्रियाणांजरयन्ति तेजः " (कठो० अ० १ बल्ली १ श्रुति २६) ॥

अर्थ— नाचिकेता अपने पिता यमसे कहता है, कि हे प्राणियोंके नाश करनेवाले ! ये जो विषय भोग हैं कल तक भी मेरे समीप रहेंगे वा नहीं इसकी भी आशा नहीं है। यह निश्चय है, कि ये सब विषयभोग इन्द्रियोंके तेजको नाश करदेते हैं। इन भोगोंके ही अधिक भोगनेसे जरा और मृत्यु दोनों खानेके लिये मुख फाडकर दौडती हैं। इसलिये " न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः " इस श्रुतिके वचनानुसार वित्तादि भोगोंके पदार्थसे मनुष्य तृप्त नहीं होसकता। इसी प्रकार इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्तके भोग भी दुख दायी हैं।

शंका— इस लोकमें तो जरा, मृत्यु इत्यादिका भय है इसलिये ये विषय दुःखदायी कहेजाते हैं पर स्वर्गमें तो जरा, मृत्यु इत्यादिका भय नहीं है इसलिये अप्सरा इत्यादिके संग भोग-विलास करनेमें क्या हानि है ? यथा— **न रोगो न जरामृत्यू न शोको न हिमादयः। न तत्र क्षुत्पिपासा च कस्य ग्लानिर्न दृश्यते** (पद्मपुराण भूखंड अध्याय ८ में देखो) अर्थ— स्वर्गमें न रोग है, न वृद्धता आती है, न मृत्यु होती है, न वहां हिमसे गलनेका भय है तथा न वहां क्षुधा है, न पिपासा है। किसी प्रकारकी भी ग्लानि नहीं है फिर स्वर्गके सुख भोगमें क्या भय है ? और जब स्वर्गमें ही इन दुःखोंका अभाव है तो वृहस्पति-लोक प्रजापतिलोक इत्यादि लोकोंके सुख तो और भी अधिक चिरस्थायी हैं। फिर तुम्हारी श्रुतियां बार-बार ऐसा क्यों कहती हैं, कि ब्रह्म-लोक पर्यन्तके सुख दुःखदायी हैं ?

समाधान— इन लोकोंके भोग भी आदि और अन्त वाले हैं इसी प्रकार स्वर्गादि लोकोंमेंभी जब तक पुण्य कर्मोंके फलोंका उदय रहता है तब तक अप्सरादिके भोगका अवकाश मिलता है। पुण्योंके क्षीण होते ही प्राणी इस मृत्युलोकमें ऐसे गिरते हैं जैसे ताल-वृक्षसे ताल-फल टूटकर गिरता है। श्रु०— " **नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति** " (मुं० १ खं० २ मं० १०)॥

अर्थ— पुण्य-कर्मके करने वाले स्वर्गकी पीठपर चढकर पुण्यफल भोगकर फिर इस लोकमें मनुष्य अथवा मनुष्यसे भी हीन गर्दभ, शूकर, कूकर इत्यादि योनियोंमें आगिरते हैं। इसलिये सब लोकों

के सुख आगमापायी होनेके कारण दुखःदायी हैं। क्योंकि ब्रह्म-लोक तकके सुखका भी अन्त आज अथवा कल हो ही जाता है।

दूसरा दुःख स्वर्गमें भी विशेष कर यह है, कि " **असन्तोषश्च भवति दृष्ट्वा दीप्तां परश्रियम्** " (पद्मपुराण अ० ९) एकको दूसरेकी बढी-चढी सम्पत्ति देखकर असन्तोष वा ईर्षाका दुःख उत्पन्न होता है। इसलिये इन लोकोंके भोग भी आद्यन्तवान ही नहीं हुए वरु दुःखदायी भी हुए। बुद्धिमान् इस बातको नहीं देखेगा, कि मानुषी भोगसे स्वर्गादिके भोग कुछ काल तक स्थिर रहनेवाले हैं। कालकी अपेक्षासे स्वर्गलोकादिके रहने वाले अधिक सुखी हों तो हों पर परमार्थदृष्टि द्वारा देखनेसे कभी न कभी तो उनकी भी समाप्ति हो ही जाती है। इसलिये विवेकियोंकी दृष्टिमें सब लोक-लोकान्तरोंके भोग आगमापायी हैं, इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः**] हे अर्जुन! ये सुख आदि और अन्त वाले हैं इसलिये इनको दुःखदायी जानकर विवेकी तत्त्वदर्शी इन में नहीं रमता है। जो बालबुद्धि है जिसको ज्ञान नहीं है वह इस की अभिलाषा करता है। जैसे बच्चे अज्ञानताके कारण सर्पको पकडनेके लिये दौडते हैं इसी प्रकार जो मूढ हैं वे विषय-सुखके ग्रहण करनेके लिये दौडते हैं। यथा श्रु०— " **अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ॥** " (मु० १ खं० २ मं० ९) अर्थ— बहुत प्रकारसे अविद्यामें रत रहनेवाले अज्ञानी बालकोंके समान भोगोंको पाकर ऐसा मानते हैं, कि हम लोग कृत-कृत्य हैं हमसे अधिक कौन सुखी होगा ?

पातंजलि अपने योगसूत्रमें कहते हैं, कि " **परिणामताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च सर्वं दुःखमेव विवेकिनः** । (पा० अ० २ सू० १५) अर्थ— **परिणामदुःख, तापदुःख, और संस्कारदुःख** ये तीन प्रकारके दुःख हैं जिनका लेशमात्र भी ज्ञानियों और योगियोंको दुःखदायी जानपडता है । तहां व्यासदेव इन दुःखोंका व्याख्यान कर-लेहुए कहते हैं, कि " **यथा अक्षिपात्रमूर्णातन्तुस्पर्शमात्रेणैव महतीं पीडामनुभवति नेतरांगम् तथा विवेकी स्वल्पदुःखानुषङ्गे-नापि विरज्यते** " जैसे नेत्रमें एक पतले सूतके पडजानेसे भी नेत्रको बहुत पीडाहोती है दूसरे अङ्गोंको नहीं होती इसी प्रकार विवेकियोंकी दृष्टिमें जहां कहीं किसी कार्य्यके परिणाममें थोडा भी दुःख देखपडता है तो अधिक क्लेशकर जानपडता है ।

अब पाठकोंके कल्याणनिमित्त ऊपर कथनकियेहुए **परिणामदुःख, ताप दुःख और संस्कारदुःख** तीनोंका वर्णन कियाजाता है । श्री व्यासदेव कहते हैं—

१. " विषयाणामुपभुज्यमानानां यथायथं गर्द्धाभिवृद्धेस्तदप्राप्तिकृतस्य दुःखान्तरसाधनत्त्वाच्चास्त्येव दुःखरूपतेति परिणामदुःखत्वम् ।"

अर्थ— **परिणामदुःख**= विषयभोगने वालोंको भोगके पदा-र्थोंमें जैसे-जैसे स्पृहा बढतीजाती है तैसे-तैसे तिन भोगोंके पदार्थोंकी अप्राप्तिका कारण हटानेके निमित्त जो यत्नकरनेमें दुःख उठाना पडता है वह दुःखस्वरूप अवश्य है इसीको **परिणामदुःख** कहते हैं ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब प्राणीके इस जन्मके उद्य-मसे, चाहे अनायास बिना किसी उद्यमके वा प्रारब्धकी प्रबलतासे जब

विषयभोगके पदार्थ हाथआजाते हैं तब उन पदार्थोंसे संगहोजानेके कारण उनसे प्रीति होजाती है । इसलिये प्राणी इन भोगोंको अपना श्रेय और प्रेय अर्थात सबसे श्रेष्ठ और प्रिय समझने लगजाता है । एवम् प्रकार उस पदार्थसे प्रीति लगते-लगते उसकी (गर्द्धा) अर्थात् उसकी स्पृहा वृद्धिको प्राप्तहोने लगजाती है । अतएव जब उनके बढानेकी अभिलाषा करता है तब उनको बढाते समय जितनी रुकावटें होती हैं उनको दूर करनेमें दुःखका लेश अवश्य होता है । क्योंकि वे पदार्थ प्राप्त न होनेके कारण दुःखरूप हो भासते हैं । इसी प्रकारके दुःखको परिणामदुःख कहते हैं ।

२. उपभुज्यमानेषु तत्प्रतिपन्थिनं प्रतिद्वेषस्य सर्वदैवावस्थितत्त्वात् सुखानुभवकालेऽपि तापः दुःखं दुष्परिहारमिति तापदुःखता ॥

अर्थ— तापदुःख= विषयभोगके पदार्थोंमें जितने प्रतिकूल पदार्थ हैं उनमें सदा द्वेषके अवस्थित रहनेकेकारण सुख अनुभव करतेसमय भी उन द्वेषोंका दूरकरना अत्यन्त ही दुःखका विषय है अर्थात् दुष्परिहार है इसलिये ऐसे दुःखको तापदुःख कहते हैं ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि विषय भोगोंमें उनके प्रतिकूल जो पदार्थ आपडते हैं उनसे द्वेष उत्पन्न होता है । तब भोगनेवाला चाहता है, कि जैसे होसके वैसे इन बिरोधी पदार्थोंका हनन करडालूं । तब उनके हनन करनेके यत्नमें प्रवृत्त होता है पर विषयी विषय भोगते समय अंधा होजाता है इसलिये द्वेषी पदार्थोंके हनन करनेमें समर्थ नहीं होसकता । तब उसे व्याकुलता उत्पन्न होती है । जिस

कारण वह नाना प्रकारके अधर्म कर बैठता है । तब भी जब विषय भोगके द्वेषी उससे नहीं हट सकते तब उसके हृदयमें उनका ताप बना रहता है । ऐसे दुःखको तापदुःख कहते हैं ।

३. स्वाभिमतानभिमतविषयसन्निधाने सुखसंविद्दुःखसम्विच्चोपजायमाना तथाविधमेव स्वक्षेत्रे संस्कारमारभते पुनस्तथाविधसंविदनुभव इत्यपरिमितसंस्कारोत्पत्तिद्वारेण संसारानुच्छेदात्सर्वस्मै एव दुःखत्वमिति संस्कारदुःखत्वम् ।

अर्थ— संस्कारदुःख= अपने अभीष्ट (इच्छा) के अनुकूल, चाहे अभिमतके विरुद्ध, जब विषय भोगकी समीपता होपडती है तब सुख अथवा दुःखके संयोग होनेसे उसी प्रकारके संस्कार मनुष्यके क्षेत्र अर्थात् शरीर, मन और वाणीमें आरम्भ होते हैं सो भूलते नहीं । उसी प्रकारकी स्फूर्तिभी होती है उसी स्मृति और स्फूर्ति द्वारा प्राणी अपने शरीर, मन और वचनसे पापके करनेमें प्रवृत्त होता है । एवम् प्रकार इन अपरिमित संस्कारोंके द्वारा जो संसारकी उत्पत्ति है तिसका उच्छेदन करना कठिन होजाता है । इसलिये प्राणी बारम्बार जन्म-मरणके कारण दुःख ही दुःखको अनुभव करता रहता है ऐसे दुःखको संस्कारदुःख कहते हैं ।

सूत्रमें जो पहले ऐसा कह आये है, कि गुणवृत्तिके विरोधसे ये तीनों दुःख ज्ञानियोंको अधिक दुःखदायी होते हैं उसे अब स्पष्टकरे दिखलाते हैं, कि सत्व, रज, तम ये तीनों गुण चित्तवृत्तिमें अपनी प्रवलता दिखलाते हैं क्योंकि ये तीनों अपने-अपने स्थानमें एक समान प्रवल हैं ।

इसलिये एक दूसरेकी प्रवलता सह नहीं सकते। जैसे संसारमें भी समान शक्तिवाले परस्पर विरोध करते हैं। एवम प्रकार विषय भोगते समय जो तीनों की विरुद्धतामें चित्त पडजाता है और इनके झगडेके छुडानेमें क्लेशका अनुभव करता है तब उसी दुःखको **गुणवृत्तिविरोधदुःख** कहते हैं। जैसे एक पुरुषकी तीन धर्म्मपत्नियां हों तीनों रूप रसमें समानहों और तीनों पररपरमें लडपडें तो पतिको इनकी शान्ति करनेमें परम क्लेश होता है। जब तक इनकी शान्ति होती नहीं तबतक पति किसीभी स्त्रीकेसाथ सुखपूर्व्वक विहार नहीं करसता। यह वार्त्ता स्पष्ट है, कि इन तीन स्त्रीवालोंको जितनी ही सुखकी अधिकता है उतनाही उस सुखके वर्त्तमान रखनेमें क्लेशभी है। इसी कारण सूत्रकार कहते हैं, कि **गुणवृत्तिविरोधसे** जितने विषयभोगोंमें क्लेश हैं वे अवश्य ही परम दुःखस्वरूप ही हैं।

इसलिये *गुणवृत्तिविरोधकरके उपर्य्युक्त तीनों प्रकारके दुःखोंका लेशमात्र भी (दुःखमेव विवेकिनः) विवेकियोंको दुःखदायी है।

---

* प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पांच प्रकारकी वृत्तियां हैं जो मनुष्योंको दुःख और सुखकी देनेवाली होती हैं। दुःख देनेवाली वृत्तियां क्लिष्ट कही जाती हैं अर्थात् जो राग द्वेष द्वारा कर्म कराके सुख दुःखमें बांधती है। और जो वृत्तियां प्राणियोंको मोक्ष पदवी तक पहुंचाती हैं वे अक्लिष्ट कहलाती हैं। जितनी वृत्तियां हैं वे वैराग्य द्वारा शान्त होजाती हैं। जब तक ये शान्त नहीं होती तब तक ये पांचों वृत्तियां रज, सत और तम तीनों गुणोंसे मिलकर पन्द्रह प्रकारकी क्लिष्ट वृत्तियां वनजाती हैं। इसीको **गुणवृत्तिविरोधदुःख** कहते हैं।

इसलिये प्राणियोंको उचित है, कि वैराग्य द्वारा इनकी शान्ति करे।

इसी अभिप्रायको श्यामसुन्दर इस श्लोकमें कहते हैं, कि हे कौन्तेय ! इस लोकसे लेकर ब्रह्मलोक पर्य्यन्तके जितने सुख हैं सब दुखःहीके कारण हैं और आद्यन्तवान् अर्थात् आगमापायी हैं। इसलिये (बुधः) जो विवेकी जन हैं वे इनमें नहीं रमते ॥ २२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! ऐसा भी कोई है जो इन दुःखोंसे रहित होकर सुखी होवे ?

इसके उत्तरमें भगवान कहते हैं—

मू०— शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ २३

पदच्छेदः— यः (विवेकी) शरीरविमोक्षणात् (मरणात्) प्राक् (पूर्व्वम्) कामक्रोधोद्भवम् (कामक्रोधोभयाज्जातम्) वेगम् (चित्तप्रक्षोभणम्) इह (अस्मिन् जन्मनि) एव (निश्चयेन) सोढुम् (प्रसहितुम्) शक्नोति (समर्थो भवति) सः, युक्तः (योगी) सः, सुखी (परमानन्दानुभवी) [तथा सः] ❀नरः ॥ २३ ॥

पदार्थः— (यः) जो विवेकी पुरुष (शरीरविमोक्षणात्) शरीर छोडनेसे (पूर्वम्) पहले (इह) इसी जन्ममें अथवा इसी लोकमें (एव) निश्चयकरके (कामक्रोधोद्भवम्) काम और क्रोधसे उत्पन्न

❀ स एव नरः पुमान् पुरुषार्थसम्पादनात्, तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्ररतत्वेन मनुष्याकारः पशुरेवेति भावः ।

(वेगम्) चोभको (सोढुम्) सहनकरनेमें (शक्नोति) समर्थ होताहै (सः) वही (युक्तः) योगयुक्त योगी है (सः) वही (सुखी) परम सुखका भोगनेवाला है तथा वही (नरः) पुरुष है ॥ २३ ॥

भावार्थः— श्री गोलोकबिहारी मदनमुरारी पूर्वश्लोकमें यह दिखाचुके हैं, कि इस लोकसे ब्रह्मलोक पर्य्यन्तके विषय-भोगोंकी कामना करनेवाले दुखी रहते हैं । इतना सुनकर जो अर्जुनने पूछा है, कि यथार्थ सुखी कौन है ? तिसके उत्तरमें श्री ब्रजकिशोर भक्तचित्तचोर कहते हैं, कि [शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् * कामक्रोधोद्भवम् वेगम्] काम और क्रोधसे उत्पन्न जो वेग है वह अत्यन्त ही प्रवल होता है। सो जो प्राणी शरीर छोडनेसे पहले ही इसी जन्ममें इनके चोभको सहसकता है वही प्रशंसनीय है । जैसे वायुके वेगसे बडे-बडे वृक्ष जडसे उखडकर गिरपडते हैं किसीके काम नहीं आते तब मनुष्य उन्हें चूल्हेमें जलाडालते हैं । इसी प्रकार जिस प्राणीके चित्तमें काम-क्रोधका प्रचण्ड वेग चलता है तब उसे जडसे उखाडकर फेंकदेता है । फिर तो माया अपने चूल्हेमें इसे खोर-खोरकर जलाडालती है । ये दोनों काम और क्रोध प्राणियोंके परमशत्रु हैं । ये ज्ञानियोंके चित्तको भी अवकाश पाकर बिगाडदेते हैं । सो भगवान् पहलेही कहआये

* यहां काम शब्दसे स्त्रीप्रसंगकी अभिलाषा तथा नाना प्रकारके विषयोंकी तृष्णा दोनोंसे तात्पर्य्य है और अपनी अभिलाषा नहीं पूर्ति होनेमें नाना प्रकारके प्रतिकूल पदार्थोंसे द्वेष करनेको क्रोध कहते हैं ।

हैं, कि "काम एषः क्रोध एष रजोगुण...." (देखो अ० ३ श्लो० ३७) ये दोनों महा-घोर अनर्थके करनेवाले हैं। जैसे पतंग दीपकमें पडकर भस्म होजाता है ऐसे वे मनुष्यगणभी इनकी ज्वालामें पड भस्म होजाते हैं। इनके वेगका सहना दुस्तर है।

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! इनके वेगको "प्राक् शरीर-विमोक्षणात्" शरीर छोडनेसे पहले "यः सोढुं शक्नोति" जो सहन करसकता है [स युक्तः स सुखी नरः] वही योगयुक्त यथार्थ योगी है, वही सुखी है और वही नर है नहीं तो नर-नहीं स्त्री है। पर जो इन दोनों परम प्रवल शत्रुओंको रोके वही यथार्थ वीर है।

यहां "शोढुं शक्नोति" कहनेसे भगवानका यह तात्पर्य्य है, कि जैसे युद्ध करते समय जो शस्त्रोंके आघातसे वीरोंके शरीरमें व्रण, घाव इत्यादि होजाते हैं उनसे निरोग-करनेकेलिये वैद्य वा डाक्टरोंके शस्त्रोंकी चीर-फाड बडी धीरताके साथ सहनी पडती है। इसी प्रकार काम क्रोधके वेगसे जो अन्तःकरणपर विपर्यय, विकल्पादि व्रण पडते हैं उनको ज्ञानकी औषधिसे निरोग करने पर्य्यन्त जो चित्तकी एक विशेष प्रकारकी दशा होती है उसे सहन करनेमें जो समर्थ है और एवम् प्रकार "मरणसे पहले" जो सहनका अभ्यास करलेता है वही यथार्थ वीरपुरुष है।

यहां "मरणसे पहले" कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि मरणके पश्चात् चिताकी अग्निकी ज्वाला तो यह शरीर सहता ही है तथा उसके शवमें सहस्रों अप्सरायें क्यों न लिपटजावें उसको शत्रु

सहस्रों गालियां क्यों न देवें तनिक भी क्षुभित नहीं होता। क्योंकि प्राणी प्राणरहित होजाता है। ऐसे ही जो प्राणी जीतेहुए अर्थात् प्राण-रहतेहुए काम क्रोधका सहनेवाला है वही यथार्थ योगी है। क्योंकि योगी ही काम क्रोधके वेगको सहन करसकता है। श्री वशिष्ठजीने भी श्री राम-चन्द्रजीके प्रति कहा है, कि " प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥" अर्थात् मरजानेपर जैसे यह देह सुख दुःख कुछभी अनुभव नहीं करती ऐसे यदि प्राण रहते इन दोनोंको सहन करले तो अवश्य कैवल्यपरमपदमें जा बसे। इन शत्रुओंका सम्बन्ध प्राणसे है जबतक इस शरीरमें प्राणका अयुक्त प्रवाह रहता है तबतक इन दोनोंका वेग बनारहता है। जब योगी प्राणायामादि क्रियाओंके द्वारा प्राणका निरोध करलेता है तब इन दोनोंका भी निरोध होजाता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जो इनको सहता है "स युक्तः सः सुखी नरः" वही सुखी और वही + नर है।

+ इसी नरको मनुष्यके नामसे पुकारते हैं जिसकी प्राप्ति दुर्लभ है। प्रमाण—

व्युत्क्रमेणापि मानुष्यं प्राप्यते पुण्यगौरवात्।
विचित्रा गतयः प्रोक्ताः कर्मणां गुरुलाघवात्॥
देवासुराणां सर्वेषां मानुष्यमतिदुर्लभम्।
तत् संप्राप्य तथा कुर्यात् न गच्छेन्नरकं यथा॥
सर्वस्य मूलं मानुष्यं तद्यत्नादनुपालय॥
धर्ममूलेन मानुष्यं लब्ध्वा सर्वार्थसाधकम्।

अथवा "सुखीनरः" का यों अर्थ करलो, कि वही नरोंमें सुखी है अर्थात् और मनुष्योंकी अपेक्षा वही यथार्थ सुखी है।

इतना सुन अर्जुनने पूछा, कि योगीजन तो इस लोकसे ब्रह्म-लोकतकके सुखोंका तिरस्कार करदेते हैं फिर उनको कहां कौनसा सुख मिलता है? तथा जिस सुखका वे अनुभव करते हैं उसका कहां अधि-ष्ठान है? और उस सुखसे वे किस दशाको प्राप्त होते हैं?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥ २४

पदच्छेदः— यः (पुरुषः) अन्तःसुखः (विषयसुखशून्य-त्वादन्तरात्मनि सुखं यस्य सः) अन्तरारामः (आत्मन्येव नतु स्त्र्यादि-विषये आरमणं क्रीडा यस्य सः) तथा यः, अन्तर्ज्योतिः (अन्तरा-त्मैव विज्ञानरूपप्रकाशो यस्य । समाधिकाले शब्दप्रतिभासाभावात् व्युत्थानकाले तत्प्रतिभासेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न बाह्यविषयैः सुखोत्पत्ति यस्य सः) एव, [अस्ति] स योगी (योगयुक्तात्मा) ब्रह्मभूतः (जीवन्नेव ब्रह्मसाक्षात्कारत्वात् ब्रह्मभावं गतः) निर्वाणम (अविद्या-वरणनिवृत्तम् । गत्यप्राप्यपरमानन्दम्) ब्रह्म (व्यापकम्महेश्वरम्) अधि-गच्छति (नित्यप्राप्तमिव प्राप्नोति) ॥ २४ ॥

मानुषत्वे च विप्रत्वं यदि प्राप्नोति दुर्लभम् ॥
न करोत्यात्मनः श्रेयः कोऽन्योऽस्मादस्त्यचेतनः ॥

पदार्थः— (यः) जो पुरुष (अन्तःसुखः) बाह्य-विषयों से शून्य होकर अपने भीतर ही भीतर अपने आत्मा ही में सुखी है तथा (अन्तरारामः) जो स्त्र्यादि विषयोंकी वाह्य-क्रीडाको त्याग आत्मा ही के साथ क्रीडा करनेवाला है तथा (यः) जो (अन्तर्ज्योतिः) भीतर ही भीतर अन्तरात्मामें विज्ञान-रूप प्रकाशसे प्रकाशित है (एव) निश्चय करके (सः) सो ही (योगी) योगी (ब्रह्मभूतः) जीते-जीते ब्रह्मका साक्षात्कार करलेनेसे ब्रह्मस्वरूप ही होकर (निर्वाणम्ब्रह्म) उस मायाकी उपाधियोंसे शून्य आनन्दमय ब्रह्मको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके पूर्व प्रश्नोंका उत्तर देते-हुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तूने जो पहले यह प्रश्न किया, कि विषय-सुख के परित्याग करनेवाले किस सुखको प्राप्त होते हैं ? सो सुख मैं तुझसे कहता हूं सुन ! [**योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः**] जो प्राणी अपनेमें अर्थात भीतर ही भीतर आत्मा ही में सुखका अनुभव करनेवाला है। जैसे प्राणी अपनी स्त्र्यादि से रमण करताहुआ नाना प्रकारकी क्रीडा कर आनन्द गुप्त रखता है किसी दूसरेको नहीं जनाता इसी प्रकार जो विवेकी पुरुष अपने अन्तरात्मामें आत्माके साथ रमण करताहुआ किसी बाहरवाले विषय-सुखको घुसने नहीं देता वही यथार्थ सुखी है।

प्रश्न— सो सुख क्या है ? कैसा है ? समझमें नहीं आता समझाकर कहो !

उत्तर— विचारने योग्य है, कि सुख जिसका नाम है सो क्या वस्तु है ? सुनो !

"सुखं चतुर्विंशतिगुणान्तर्गतगुणविशेषः तत्तु नित्यं जन्यञ्चः । नित्यं परमात्मनो विशेषगुणान्तर्वर्त्ती । जन्यसुखं जीवात्मनो विशेषगुणान्तर्वर्त्ती ॥"

अर्थ— २४ गुणोंमें सुखको भी एक गुण तार्किकलोग मानते हैं। सो दो प्रकारका है नित्य और जन्य । जो परमात्माके विशेष गुणोंका अन्तर्वर्त्ती है वह नित्य है । और जो जीवात्माके विशेष गुणोंका अन्तर्वर्त्ती है सो जन्य कहलाता है। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...." इस श्रुति के वचनानुसार परमात्मा और जीवात्मा दोनों परस्परके सखा हैं । इन दोनोंमें नित्य अटल प्रेम है । पर जितनी देरतक यह जीव मायाके आवरणसे ढककर अपने सखासे विमुख हो तिन परम चिकनी चुलबुली माया रचित विषयोंसे स्नेह रखता है तबतक वह दुखी है । क्योंकि जीतेही-जीते इनसे स्नेह रखता है मरणके समय तो इनसे वियोग ही होजाता है । सो एकदिन न एकदिन मरना अवश्य ही है इसलिये विषयोंका प्रेम नित्य स्थिरे नहीं रहनेसे परिणाममें दुःखदायी है ।

मायारचित चिकनी चुलबुली वस्तु क्या हैं ? सो सुनलो ! वसन्तऋतुमें शीतल-मन्द-सुगन्ध-पवन, चातकोंकी मधुर पी पी ध्वनि, कोकिलकी कुहक, बुलबुलकी चहक, पुष्पोंकी महक, कामिनीके गलेमें वेली, चमेली, जुही इत्यादि पुष्पोंकी तथा मणि, माणिक, मुक्ता इत्यादि रत्नोंसे गुथीहुई मालाओंकी लटक एवम्प्रकार शृङ्गारयुक्त मधुरबयनी, मृग-

शावकनयनी, विषयसुखश्रयनी स्त्रियोंका सेवन, परमप्रिय सुन्दर पुत्रका सुखचुम्बन, मिष्ठान्न पान, रागरागिनियोंकी मधुर तान, मणि माणिककी खान, रथ, अश्व, गज, सेना इत्यादिके मध्य सुन्दर चामर और मर्दलसे परम सन्मान, राजविभवके भोग ये ही मायारचित चिकनी चुलबुली मोहिनी वस्तु हैं, ये सुख जीवात्माके गुणोंके अन्तर्वर्त्ती सुख हैं। वे क्षणभंगुर हैं, अनित्य हैं और विनाशी हैं इसलिये इनको दुःख ही कहना चाहिये अतएव शास्त्रोंने इनको जन्यसुख कहकर तिरस्कार करदिया है।

शंका— ये भी प्रकृति और जीवके अनादि होनेके कारण अनादि हैं, इसलिये नित्य हैं, इनको अनित्य क्यों कहाजावे ? और इनके विना कैसे रहाजावे ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि पुनः-पुनः इस सृष्टिकी रचना और संहार होतेरहनेके कारण ये सुख भी बारम्बार आते-जाते रहते हैं। इसलिये इनको भी अनादि कहते हैं तो स्मरणरहे, कि इनहीके साथ-साथ इनके परिणाम दुःखको भी अनादि कहना चाहिये। क्योंकि जहां इन विषयोंकी प्राप्तिके सुख हैं तहां इनके वियोगके दुःख भी तो हैं ? फिर संसृत-सुखके साथ दुःख मिश्रित हैं।

प्रमाण—"शरीरमेवायतनं दुःखस्य च सुखस्य च। जीवितं च शरीरं च जात्यैव सह जायते॥ सुखस्यानान्तरं दुःखं दुःखस्यानान्तरम् सुखम्। सुखं दुःखं मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्त्तते॥ (गरुडपुराण अ० ११३ में देखो)

अर्थ— यह शरीर ही दुःख सुखका घर है। सो इस जीवके जन्म लेनेके साथ ही उत्पन्न होता है। सुखके पश्चात् दुःख और दुःखके पश्चात् सुख चक्रके समान जीवके साथ भ्रमण करते रहते हैं। इसी कारण यदि तुम सुखको अनादि समझते हो तो उसके परिणाम दुःखको भी अनादि समझो। क्योंकि दुःखके समय कैसी भी चिकनी चुलबुली वस्तु क्योंन हो भयंकर ही भासती है। जैसे मृत्युके समय मृगनयनी फीकी पडजाती है, पुत्र-पौत्र प्रेतके समान प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार अन्य सुखभी अन्तमें दुःखके कारण होजाते हैं। अतएव इनको नित्य सुख नहीं कहसकते।

इन वार्त्ताओंके देखनेसे बुद्धिमान् अनुभव करसकते हैं, कि जितने जन्य-सुख हैं अर्थात् विषय–सुख हैं सब दुःखसे मिले हुए हैं। यदि इनको अनादि कहनेकी श्रद्धा है तो ये अनादि दुःखरूप हैं सुखरूप नहीं। हे वादी! तू यदि इन सुखोंको चाहता है तो दुःखोंकी भी इच्छा कर! और अनादि कहाकर! शंका मत कर!

यहां तक जन्यसुखका वर्णन हुआ अब नित्य–सुखका वर्णन सुनो! जीव और ईश्वर जो दो पक्षी परस्परके सखा पहले कहेजाचुके हैं और यह भी दिखलाया जाचुका है, कि जीव अपने सच्चे सखाके मिलनेके सुखसे विमुख होकर उपर्युक्त जन्य-सुखको जो दुःखरूप है सुख समझरहा है। वह यदि इस जन्य-सुखसे मुखमोड अपने सखा ईश्वरकी ओर देखे तब उसे अपने सखासे मिलनेका सुख जो नित्य–सुख है, प्राप्त हो। क्योंकि परमात्मा सदा सर्वदा नित्य-मुक्त, निर्म्मल और स्वच्छ है इसलिये परमात्म-सुख भी स्वच्छ, शुद्ध

और नित्य है। जैसे मासदिवसके भूखेको कहीं पक्कान्न मिलजावे पर भोजन करते समय यदि उसे यह ज्ञात होजावे, कि इसमें विष मिलाहुआ है तो वह क्षुधाके तापको सहन करना स्वीकार करलेगा पर विषमिश्रितअन्नको कदापि ग्रहण नहीं करेगा। इसी प्रकार जो परमार्थदर्शी है वह विषय—सुखको विषमिश्रित—अन्नके समान परित्याग करदेता है और इस परमात्मप्राप्ति रूप सुखमें मग्न होजाता है जो सदा निर्म्मल और विकार-रहित है। सो परमात्मा इस जीवका सखा इसके साथ है। इसलिये वह परम सुख भी इस जीवके साथहीसाथ है।

विचारो तो सही, कि यदि किसी धनहीनको परमउदार राजकुमारसे मित्रता लगजावे तो उसे कितना सुख होगा? तिसपर भी यदि उसे यह सुधि मिलजावे, कि मेरा मित्र अजर अमर सदा एकरस है, सर्वशक्तिमान् है और सर्वोपरि सच्चिदानन्द है, तो बताओ तो सही! उसके सुखकी भी कहां सीमा मिलेगी? कहीं भी नहीं

मद्यपी मद्यपीकर सुखका अनुभव करता है, उछलता है और कूदता है सो उछल कूद यदि मद्यमें होती तो जिस पात्र (बोतल) में वह मद्य रखाहुआथा वह बोतल भी उछल कूद करनेलगता पर ऐसा नहीं देखाजाता। जब वह मद्य पीनेवालेके पेटमें जाता है तब ही उछल कूद करता है। इसलिये सिद्धान्त है, कि उछल कूदका आनन्द उस पीनेवालेमें है मद्य तो केवल एक उसके प्रकट करदेनेका कारण होता है। जैसे दीपशलाका (दियासलाई) में आग पहलेसे है पर जब वह किसी वस्तुसे घिसीजाती है तब वह आग उससे प्रकट होजाती है। इसी प्रकार सुख अपने आत्मामें है जब वह

परेमात्मस्वरूपसे जामिलता है वा टक्कर खाता है तब वह नित्य सुख आपसे आप प्रकट होजाता है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि परमात्मा ही सुख-स्वरूप है। स्त्री, पुत्र इत्यादि जो प्रिय जानपडते हैं वे केवल आत्माके ही प्रिय होनेसे प्रिय जानपडते हैं पर यथार्थमें न तो ये प्रिय ही हैं और न सुख-स्वरूप ही हैं। यथा—

दो०——सब आये इस एकमें डाल पात फल फूल ।
कविरा पाछे क्या रहा गहि राखा जिन मूल ॥
एकै साधें सब सधे सब साधे सब जाय ।
जो गहि राखे मूलको फूले फले अघाय ॥

भीतिकी ज्योतिका उदाहरण जो पहले देआये हैं तहां कहागया है, कि भीतिके मन्द-मन्द प्रकाशको देखकर दृष्टि घटके जलकी ओर जहां सूर्य्यका बिम्ब पडरहा है जाती है फिर तहांसे सूर्य्यकी ओर जाती है तब बोध होता है, कि ज्योति न भीतिमें है, न घटमें है परे सूर्य्यमें है। जो सूर्य्यको अपने घरके भीतर रेखलेगा उसे क्या किसी अन्य प्रकारकी ज्योति की आवश्यकता होगी ? कदापि नहीं ! इसी प्रकार सब आनन्दका मूल जो परमात्मा, उसीमें जो अपना सुख अनुभव करेगा उसके लिये किसी विषय-सुखकी क्या आवश्यकता है ? कुछभी नहीं ! इसी सूक्ष्म विषयको भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि हे अर्जुन ! जो प्राणी अन्तः-सुखी है और अन्तराराम है अर्थात् आत्मा ही के साथ सुखका अनुभव करनेवाला है और आत्मा ही में क्रीडा करेने वाला है वही यथार्थ

सुखी है। आत्मामें सुखी होना और आत्मा ही के संग क्रीडा करना यथार्थमें क्या है ? सो उपासनाकांडके ६ अध्यायोंमें अर्थात् सातवेंसे बारहवें तक भगवान् अर्जुनको पूर्णरूपसे दिखलावेंगे।

अब शंका यह है, कि अन्तःसुखी भी हो और अन्तराराम भी हो पर उसे इस अवस्थाका बोध न हो तो इससे क्या लाभ ? जैसे सुषुप्तिमें सर्व प्रकारकी चिन्तासे वर्जित सर्व प्रकारके दुःखोंसे भिन्न होकर आनन्दमें सोजाता है पर उस समय उसको उस आनन्दका अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार प्राणी आत्मानन्द लाभ होनेपर भी उस आत्मानन्दके मदमें मत्त हो उस आनन्दकी सुधि न रखे तो उस आनन्दसे लाभ ही क्या होगा ?

इसी शंकाके दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं, कि " **तथान्तर्ज्योतिरेव यः** " उस आत्मानन्द और आत्मरतिके अनुभव करनेके लिये विज्ञान-रूप ज्योति भी जिसके भीतर ही भीतर प्रकाश कररही है अर्थात् आत्मसुखका ज्ञाता होरहा है वही यथार्थ सुखी है सो आत्मसुखका ज्ञान केवल तुरीयावस्थामें है जिसका वर्णन अध्याय २ श्लो० १८ में कर आये हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि प्राणी ज्ञानकी सप्तभूमिकाओंको पार होता हुआ जब अन्तिम भूमिकामें पहुंचकर पूर्ण आत्मानन्दका अनुभव करने लगजाता है तब ही वह ' अन्तर्ज्योति ' कहलाता है।

तब भगवान् कहते हैं, कि [**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति**] सो ही योगी ब्रह्मस्वरूप होकर निर्वाण-ब्रह्म

को प्राप्त करता है। अर्थात् उस ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है जहां द्वैतका उपराम होजाता है। प्रपंचका लेशमात्र भी नहीं रहता । जैसे अग्नि जलबलकर एकदम बुतजाती है फिर वहां कुछ नहीं रहता थोडेकाल में उसकी भस्म भी इधर-उधर आकाशमें उडकर लय होजाती है दृष्टिगोचर नहीं होती। अथवा जैसे दीपक जलते-जलते तेल-बत्तीके कम होनेसे बुतकर आकाशमें लय होजाता है अर्थात् निर्बाण होजाता है। इसी प्रकार प्राणी जब ब्रह्ममें लय होजाता है तब उसका प्रपंच एकदम नष्ट होजाता है। इसी अवस्थाको भगवान्ने ब्रह्मभूत होना कहा है ॥ २४ ॥

निर्बाण-ब्रह्मकी प्राप्तिवाले कौन-कौन हैं ? तिनको भगवान्
इस श्लोकमें दिखलाते हैं—

मू०— लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥

पदच्छेदः— क्षीणकल्मषाः (क्षीणपापादिदोषाः) छिन्नद्वैधाः (छिन्नद्वैधीभावाः) यतात्मानः (संयतेन्द्रियाः) सर्वभूतहिते रताः (सर्वेषाम्भूतानां हितानुकूल्ये रताः । अहिंसकाः । परोपकारिणो वा) ऋषयः (सूक्ष्मवस्तुविवेचनसमर्थाः सम्यग्दर्शिनः) ब्रह्म, निर्वाणम् (गत्यप्राप्यपरमानन्दं मोक्षम्) लभन्ते (प्राप्नुवन्ति) ॥ २५ ॥

पदार्थः— (क्षीणकल्मषाः) निष्काम-कर्मोंके सम्पादन द्वारा पापोंको नाशकरके अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त कियेहुए तथा (छिन्न

द्वैधाः) संशयरहित होकर शत्रु मित्रके भेदको नाश कियेहुए (यतात्मानः) अपनी इन्द्रियोंको अपने वशीभूत रखतेहुए (सर्वभूतहिते रताः) सब जीवोंके हितकरनेमें रत अर्थात् अहिंसक और परोपकारी (ऋषयः) ऋषिगण (ब्रह्म निर्वाणम्) निर्वाणब्रह्मको अर्थात् अगम अथाह ब्रह्मानन्दको (लभन्ते) लाभकरते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् उन पुरुषोंका वर्णन करते हैं जो निर्वाणब्रह्मकी प्राप्तिके अधिकारी हैं और जो कभी न कभी उस अगम अथाह आनन्दको प्राप्त होते हैं, तिनकी प्रशंसा करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**लभन्ते ब्रह्म निर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः**] जो ऋषिगण क्षीणकल्मष हैं अर्थात् सर्व प्रकारके पापोंसे रहित होचुके हैं, नाना प्रकारके श्रौत, स्मार्त्त कर्मोंका सम्पादनकर उनके फलोंको भगवत्में अर्पण करतेहुए अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा पापोंसे रहित होचुके हैं वे निर्वाणब्रह्मको प्राप्त होते हैं।

शंका— केवल पापोंसे छूट जानेसे तो निर्वाण पदवी नहीं होसकती ? शास्त्रोंसे तो ऐसा पायाजाता है, कि पापोंके क्षीण होनेके पश्चात् फिर प्राणीको इसी पांचभौतिक शरीरमें आना पडता है । प्रमाण— "**यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकल्मषः । तान्येव पंचभूतानि पुनरप्येति भागशः**" (मनु० अ० १२ श्लो० २२) अर्थात् प्राणी नरकमें अपने पापोंको भोग पापरहित हो फिर संचितकर्मकी प्रेरणासे इसी पाञ्चभौतिक शरीरमें कर्मानुसार आगिरता है । तो भगवान्ने क्षीणकल्मषोंकेलिये निर्वाणपदकी प्राप्ति कैसे कही ?

समाधान— यहां क्षीणकल्मष होनेका यह तात्पर्य्य नहीं है, कि पूर्व पापोंको नरकमें भोगकर फिर-फिर जन्म लियाकरे। यह तो मनुने साधारण अज्ञानी जीवोंकी दशा वर्णन की है, जो बारंबार शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा इस संसार-चक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।

श्यामसुन्दरके कहनेका ऐसा तात्पर्य्य नहीं है। उनके कहनेका मुख्य अभिप्राय तो यह है, कि जिन ऋषियोंने अपने तप द्वारा पूर्व पापोंको नाशकर इतनी शक्ति प्राप्त करली है, कि वे किसी प्रकारकी लालचमें पड फिर किसी अनुचित कर्मके कर्त्ता नहीं होते। इसी कारण भगवान्‌ने केवल क्षीणकल्मषा न कहकर " ऋषयः क्षीणकल्मषाः " कहा "मनुष्याः क्षीणकल्मषाः" नहीं कहा। फिर विद्वान् विचारलेंगे, कि ऋषि और मनुष्यमें कितना अन्तर है। शंका मतकरो!

किसी-किसी टीकाकारने 'कल्मष' शब्दके अर्थ शुभ और अशुभ दोनों किये हैं। तहां यों दिखलाया है, कि ये दोनों कर्मबन्धनके कारण हैं। इसलिये जो सम्यग्दर्शी महात्मा शुभ और अशुभ दोनोंसे रहित होगये हैं वे ही निर्वाणके अधिकारी हैं। इन क्षीणकल्मष-ऋषियोंको निर्वाण प्राप्त होनेकेलिये अनेक अन्य गुणोंसे भी सम्पन्न होना चाहिये वे कौनसे गुण हैं तिन्हें भगवान् आधे श्लोकमें कहते हैं, कि [**छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः**] क्षीणकल्मष ऋषियोंको छिन्नद्वैध, यतात्मा और सर्वभूतहित-रत होनाचाहिये। तहां 'छिन्नद्वैध' किसे कहते हैं? सो सुनो! द्वैध शब्दके दो अर्थ हैं सामान्यतः तो किसी प्रकारकी शङ्का वा सन्देह और विशेषतः छल, कपट और धोखा।

तहां बहुतेरे साधारण सीधे-सादे प्राणियोंके हृदयमें कभी-कभी पाप पुण्यकी उलटी पुलटी दशा देखकर शंका वा सन्देहकी उत्पत्ति वेदशास्त्र वा महानुभावोंके वाक्योंसे होजायाकरती है। क्योंकि जब ये पापियोंको सुखी और धर्म्मात्माओंको दुखी देखते हैं तब इनको कर्मोंमें अविश्वास होजाता है। ऐसी दशामें बहुतेरे बुद्धिमान्‌भी चक्करमें आजाया करते हैं। पर जो द्वैधरहित अर्थात् छिन्नद्वैध हैं वे पूर्वजन्मार्जित कर्मोंका भेद समझकर वेद शास्त्र इत्यादिमें शङ्का नहीं करते, पाप पुण्यकी उलटी-पुलटी दशा देखकर अपना विश्वास नहीं छोडते और संशयमें नहीं पडते। इसलिये वे छिन्नद्वैध कहेजाते हैं।

अब छिन्नद्वैधका विशेष अर्थ सुनो ! जो प्राणी इन दिनों इस कलिमें अपनेको बडा चतुर समझ परायेको धोखेमें डाल अपना स्वार्थ सिद्ध करलिया करते हैं वे पूरे * द्वैधभाव वाले कहेजाते हैं ऐसे की संगतिसे सज्जनोंको अत्यन्त कष्ट होता है इसलिये उचित है, कि इनकी संगति छोड प्राणी छिन्नद्वैध होनेका उपाय करता रहे। जो प्राणी इस घोर पापसे रहित होवे उसे भगवान् छिन्नद्वैध कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो प्राणी छिन्नद्वैध हैं अर्थात् संशयरहित हैं और छल, कपट, प्रपंचसे दूर हैं वे ही निर्वा-

---

* द्वैध— जिसे छल, कपट और धोखा कहते हैं। यह वर्त्तमान समयमें दूसरे देशकी बडी सुहावनी मीठी चिकनी एवं चुलबुली सौगात है। जिसे हमारे देशी भी इन दिनों पूर्ण प्रकार सीखगये हैं। इसको अंग्रेजी भाषामें डुपलिसिटी (Duplicity) अथवा पौलिसी (Policy) कहते हैं।

ण-पदके अधिकारी होते हैं। फिर भगवान कहते हैं, कि " **यतात्मानः** " जिन लोगोंने अपनी इन्द्रियोंको अपने वश किया है वे निर्बाण-पदवीके अधिकारी अवश्य होते हैं। क्योंकि इन्द्रियोंके वशीभूत करनेसे उनमें एक विशेष तेजकी वृद्धि होती है। तिस तेजके समीप किसी प्रकारकी उपाधिका पतंग नहीं आता। क्योंकि वे यतचित्तात्मा होजाते हैं और इस प्रकार अपने अन्तःकरणकी वृत्तियोंको समेट एकाग्र करलेते हैं, कि चाहे सहस्रों अप्सराएँ उनके अंगमें क्यों न लिपटजावें वे अपने स्थानसे नहीं टलते। इसलिये ये ही निर्बाण-पदवीके अधिकारी होते हैं। तथा भगवान् कहते हैं, कि " **सर्वभूतहिते रताः** " जो ऋषिगण सबोंके हित करनेमें रत हैं अर्थात् अपने शरीरको भी देकर दूसरेका प्राण बचाते हैं वे ही निर्बाण-पदवीके अधिकारी हैं।

इसलिये जो साधु हैं वे सब प्राणियोंपर समान दया करते हैं। तहां विष्णुशर्म्मा ऋषिका बचन है, कि " **आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः** " सब जीवोंको जो अपने समान देखता है वही पण्डित है। और " **स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः** " वही बन्धु है अर्थात सबोंके हितमें रत है जो आपत्तिमें पडेहुए मनुष्योंको आपत्तिसे निकाललेनेमें कुशल हो। फिर कहा है, कि " **धनानि जीवितंचैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत्। सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति॥** (हि० मि० श्लो० ४४) अर्थात् प्राज्ञ जो विद्वान् सम्यग्दर्शी हैंउनको चाहिये, कि धन और प्राणको परायेके अर्थ परित्याग करदेवें क्योंकि एकदिन तो इन सबोंका विनाश होहीजाता है। इसलिये उत्तम निमित्तसे

प्राण त्यागदेना उत्तम और श्रेष्ठ है ऐसा प्राणी अवश्य निर्वाण-पदवीका अधिकारी है इसीसे भगवानकी प्रसन्नता होती है। अतएव भगवान् कहते हैं, कि जो ऋषिगण एवम्प्रकार द्वैधसे रहित, जितेन्द्रिय, परोपकारी और सबोंके हितमें रत हैं वे ही निर्वाणब्रह्मको प्राप्त होते हैं। अर्थात् उस परमानन्दको लाभ करलेते हैं जहां वेदका भी गम नहीं है। जहां श्रुति स्वयं कहती है, कि " **न विद्मो न बिजानीमोऽनुशिष्यात्** " अर्थात् न मैं जानती हूं और न शिष्यको जनासकती हूं ॥ २५ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि निर्वाण-पदवीके अधिकारी ' मरनेहीपर इस आनन्दको नहीं प्राप्त करते वरु जीतेही जीते ' इस आनन्दको लाभ करते हैं —

मू०— कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्म निर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६

पदच्छेदः— कामक्रोधवियुक्तानाम् (कामक्रोधयोरुत्पत्तिप्रतिबन्धयुक्तानाम कामक्रोधनिवृत्तचित्तानाम) यतचेतसाम् (संयतान्तःकरणानाम्) विदितात्मनाम् (विदितो ज्ञात आत्मा यैस्ते विदितात्मानस्तेषाम् । ज्ञातात्मतत्वानाम्) यतीनाम् (यत्नशीलानाम्) अभितः (उभयतो जीवितां मृतानां च) ब्रह्म निर्वाणम् (ब्रह्मणि लयः) वर्त्तते ॥ २६ ॥

पदार्थः— (**कामक्रोधवियुक्तानाम्**) काम क्रोधसे रहित (यतचेतसाम्) अपने अन्तःकरणको संयमपूर्वक निर्म्मल रखनेवाले

तथा (विदितात्मनाम्) आत्मज्ञान द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले (यतीनाम्) यतियोंका (अभितः) जीतेहुए तथा मरणके पश्चात् दोनों अवस्थाओंमें (ब्रह्मनिर्वाणम्) कैवल्य परमपद (वर्त्तते) वर्त्तमान रहता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— अब श्री गोलोकविहारी अर्जुनसे कहते हैं, कि **[कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्]** काम क्रोधसे जो रहित हैं अर्थात् काम क्रोधके वेगको सहतेहुए तिनकी उत्पत्तिके रोकनेके यत्नमें जो लगेहुए हैं वे यती वा यतचेतस कहलाते हैं अर्थात् वे इन दोनोंके समीप जाना ऐसा समझते हैं मानों सिंहके मुखमें जारहे हैं। चित्रकी-स्त्रीतकको भी देखना नहीं चाहते। स्त्रीपुरुषकी कहानियोंकी पुस्तकोंका स्पर्श भी नहीं कियाचाहते। शीतल मन्द सुगन्ध कामोदीपन करनेवाले पवनके समीप भी नहीं जाते। काम बढानेवाले पौष्टिक-पदार्थोंको भी कभी मुखमें नहीं डालना चाहते। कामको अपना सदा वैरी समझते हैं। जिसके विषय भगवानने पहलेही अर्जुनसे कहा है, कि " जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् " (अ० ३ श्लो० ४३) अर्थात् हे अर्जुन! तू कामरूप दुर्जेय शत्रुको परित्याग कर। इसलिये जो कामके उत्पन्न करनेवाले सर्वप्रकारके परिग्रहोंका भी त्याग कियाकरते हैं, क्रोधके कारणोंको भी अपने समीप नहीं आनेदेते, संयोगवशात् यदि कोई शत्रु वा अपने इष्टके प्रतिकूल किसी विषयका आगमन देखभीलें तो शान्त रहकर क्रोधको उत्पन्न नहीं होनेदेते, ऐसे जो सर्वोपद्रवरहित हैं तथा जो यतधर्म्म पालन करते हुए अन्तःकरणको तनक भी इधर उधर हिलने

नहीं देते वरु सर्वप्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे वर्जित रखते हैं, शुभाशुभ वासनाओंसे सहस्रों योजन दूर भागते हैं और भगवान्के मुखारविंदसे निकलेहुए दूसरे अध्यायके ६० वें श्लोकको आठों याम स्मरण रखते हैं। इसलिये जो सदा इन्द्रियोंके उपद्रवोंसे चौकस रहते हैं उन ही आत्मज्ञानियोंको [**अभितो ब्रह्म निर्वाणम् वर्त्तते विदितात्मनाम्**] जीवित दशामें अथवा शरीर छूटनेके पश्चात् निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति सदा बनीरहती है अर्थात् अद्वितीय परमानन्दस्वरूप मोक्ष वर्त्तमान रहता है। कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि ऐसे प्राणी जीते-जीते भी मुक्त हैं और मरनेपर तो अमृत-पदको प्राप्त करते ही हैं।

अब इन २४, २५, २६ श्लोकोंमें जो भगवान् " ब्रह्मनिर्वाणम् " पदका प्रयोग करते चलेआये हैं उसका यथार्थ अर्थ क्या है? सो ब्रह्मोपनिषद्की श्रुति द्वारा स्पष्ट करदिया जाता है-

श्रु०- " ॐ स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम्। यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्। "

अर्थ- जिस अवस्थामें आप अपने रूपसे प्राणी अमनस्क अर्थात् मनके संकल्प-विकल्पोंसे रहित होजाता है, मनोनाश होकर वृत्तिरहित होजाता है इसी प्रकार श्रोत्र, पाणि, पाद अर्थात् सुनना, ग्रहण करना, गमन करना इत्यादि इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित होजाता

है। सब कुछ करताहुआ भी ऐसे समझता है, कि मैं कुछ नहींकरता। फिर " ज्योतिर्विदितम " अर्थात् स्वयंप्रकाशमान स्वरूप होजाता है जिस प्रकाशमें ऊपरके सातों लोक और नीचेके सातों लोक अलोकवत् हो जाते हैं। अर्थात् जिस परमानन्दमें इन लोकोंका भेद भी शेष नहीं रहता तथा (देवा न देवा) इन्द्रादि तैंतीस-कोटि देव भी अदेव होजाते हैं ऋग्, यजु, साम और अथर्व चारों वेद भी अवेद होजाते हैं। अर्थात् अपराविद्यामें यह पराविद्या लोप होजाती है। जैसे समुद्रमें तरंगें लोप होजाती हैं। जहां जाकर नाना प्रकारके यज्ञ अयज्ञ होजाते हैं। अर्थात् फिर किसी श्रौत वा स्मार्त्त कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। जहां माता अमाता होजाती है। पिता अपिता होजाता है। स्नुषा जो पुत्रकी स्त्री वह अस्नुषा होजाती है। स्त्री पुरुषका कुछ शेष ही नहीं रहता, सब एक रूप देखपडते हैं। जहां चाण्डाल अचाण्डाल होजाता है और पौल्कस (परम नीच जाति) अपौल्कस होजाता है। जैसा, कि भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे इस अध्यायके १८ वें श्लोकमें कहचुके हैं, कि " विद्याविनयसम्पन्ने "। जहां जाकर " श्रमण " जो संन्यासी वह असन्न्यासी होजाता है। " तापस " जो वानप्रस्थ वह अवानप्रस्थ होजाता है। अर्थात् वर्ण और आश्रमका भेद शेष नहीं रहता। इसलिये श्रुति कहती है, कि " एकमेव " ये सब मिल-मिलाकर एक होजाते हैं। जैसे गंगाकी महान् धारामें पुष्प, चन्दन, अगर इत्यादि निर्मल वस्तु और हाड, मांस, चाम इत्यादि मलिनवस्तु सब एक रूप होजाती हैं, शुद्धाशुद्धका भेद शेष नहीं

रहता । इसी प्रकार "तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्" सो निर्वाण परब्रह्म सर्वत्र सुशोभित होरहा है । ऐसी अवस्थाको प्राप्त होजाना निर्वाणब्रह्मकी प्राप्ति होना है सो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठोंको जीते मरते दोनों दशामें एकरस वर्त्तमान रहता है ॥ २६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ऐसी अवस्था प्राप्त करनेके लिये कोई विशेष साधन भी है ? जिसके अभ्यास करनेका प्राणी पूर्ण यत्न करे ।

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ॥
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
॥ २७, २८ ॥

पदच्छेदः— बाह्यान् (बहिर्भवान्) स्पर्शान् (रूपरसादीन् विषयान्) बहिःकृत्वा (अन्तःकरणाद्दूरं क्षिप्त्वा) च (तथा) चक्षुः (नेत्रम् । दृष्टिम्) भ्रुवोः (भ्रूलतयोः । भ्रूकुट्योः) अन्तरे (मध्यभागे) एव, [निधाय] नासाभ्यन्तरचारिणौ (नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ) प्राणापानौ (बहिरन्तर्गमनशीलौ श्वासोच्छ्वासौ) समौ (ऊर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन तुल्यौ) कृत्वा, यः, मुनिः (महावाक्यार्थ मननशीलः) यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (गुरूपदिष्टमार्गेण संयता इन्द्रि-

यमनोबुद्धयः यस्य सः) विगतेच्छाभयक्रोधः (इच्छाभयक्रोधेभ्यो रहितः । इच्छा विषयाभिलाषः भयं जन्ममरणभीतिः, च क्रोधः कोपः इच्छाभयक्रोधाः विशेषेणाभिगताः एतास्त्रयोविकारा यस्य सः) मोक्ष-परायणः (मोक्षः परमानन्दस्वरूपः परं श्रेष्ठमयनमवलम्बनं यस्य सः । मोक्ष एव परागतिर्यस्य सः) सः (मुनिः) सदा (सततम् । सर्वस्मिन् काले । जीवन्नपि) मुक्तः (संसृतविषयविरक्तो भूत्वा ब्रह्मणि लीनः । मोक्षानन्दभोगी) एव (निश्चयेन अस्ति) ॥ २७, २८ ॥

पदार्थः— (वाह्यान् स्पर्शान्) रूप रसादि बाहर रह-नेवाले विषयोंको (बहिःकृत्वा) जो,संगद्वारा अन्तःकरणमें प्रवेश कर-जाते हैं उनको अन्तःकरणसे बाहर निकालकर (च) और (चक्षुः) नेत्रोंको (भ्रुवोः) दोनों भउहोंके (अन्तरे) मध्यस्थानमें (कृत्वा) धारण करके (नासाभ्यन्तरचारिणौ) नासिकाके भीतरही-भीतर प्रवाह करनेवाले (प्राणापानौ) प्राण और अपान दोनों वायुओंको (समौ कृत्वा) समकरके अर्थात् एक संग निरोध करके (यः मुनिः) जो मननशील पुरुष (यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) गुरुकी बतायीहुई रीतिसे अपनी इन्द्रिय, मन और बुद्धिको यत्नपूर्वक अपने हाथ रखता है (विगतेच्छाभयक्रोधः) जो नाना प्रकारके विषयोंकी अभि-लाषासे, जन्म मरणके भयसे और क्रोधसे रहित है तथा (मोक्षपरायणः) मोक्षपरायण होरहा है (सः) वही मुनि (सदा) भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालोंमें तथा जीते मरते (मुक्त एव) निश्चय-करके मुक्तही है ॥ २७, २८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से निर्वाणब्रह्मकी प्राप्तिका सुलभ साधन पूछा है तिसके उत्तरमें भगवान् ध्यान-योग जो अन्तरङ्ग साधन है उसका वर्णन आरम्भ करते हैं— अबतक भगवान् कर्मयोगका वर्णन करतेहुए बारम्बार निष्कामकर्मका उपदेश करते चलेआए हैं और यह दिखलाते आये हैं, कि कर्मोंका फल भगवत्में अर्पण करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है पर अबतक जितने प्रकारके कर्मोंका वर्णन किया है सब मोक्षके वहिरङ्ग साधनोंका वर्णन किया है। अब अर्जुनके पूछनेपरं अन्तरङ्ग साधनका वर्णन करते हैं जिससे शीघ्र परमपदकी प्राप्ति होती है। जो गृहस्थोंका विशेषकर परम कल्याणकारक है और सन्यासियोंका परम धन है। क्योंकि जो सर्वप्रकारकी कामनाओंसे रहित होकर कर्मयोग द्वारा अन्तःकरणको शुद्धकरनेके पश्चात् कर्मोंको त्याग संसारसे अलग होगया है उसको भी अपनी शेष आयु ब्रह्मकर्ममें बितानी चाहिये। इसलिये इसध्यानयोगका आरम्भ इन २७, २८ और अगले २९ तीन श्लोकोंमें सूत्रके समान करते हैं। अर्थात् इन तीनों श्लोकोंको ध्यानयोगका सूत्रही समझना चाहिये, छठवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक जिसका वर्णन करेंगे।

शंका— अर्जुनने तो मोक्षतत्त्वके अभिलाषियोंकेलिये साधन पूछा है फिर भगवान् कर्मके अन्त करनेवाले सन्यासियोंका परम धन जो ध्यानयोग इसे अर्जुनके प्रति क्यों कहना चाहते हैं ?

समाधान— गृहस्थाश्रमियोंको भी इसी ध्यान-योगका आरम्भ करना पड़ता है। विशेषकर द्विजोंकेलिये तो ब्रह्मचर्य्याश्रमहीसे इस

क्रियाको आरम्भ करनेकी आज्ञा दीगयी है। अर्थात् जिस दिनसे यज्ञोपवीत संस्कार द्वारा द्विजके गलेमें जनेऊ डालागया उसी दिनसे आचार्य्य प्राणायामकी विधि तथा गायत्री मंत्र सिखलाना आरम्भ करदेता है। अर्थात् आगे सन्यस्त अवस्थामें तो इसी क्रियामें समय बिताना पडता है। इसलिये ब्रह्मचर्य्याश्रमसे ही इसका आरम्भ करदेते हैं। ब्रह्मचारी उन्नति करते-करते गृहस्थाश्रम प्राप्त होनेतक **प्रत्याहार** की क्रिया पूर्ण करलेता है तहांसे **धारणाका** अभ्यास करतेहुए **प्राणी** जब बानप्रस्थ अवस्थामें पहुंचता है तब ध्यानकी सिद्धि प्राप्त होती है। तदुपरान्त सन्यस्त अवस्थातक पहुंचतेहुए समाधिकी क्रिया आरम्भ होजाती है। सन्यासग्रहणका तात्पर्य्य केवल कषायवस्त्र धारणकर सिरमुँडा द्वार-द्वार भिक्षा मांगकर पेट भरना ही नहीं है वरु जीते—जीते ब्रह्मानन्दका लाभकरना है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि यह क्रिया बचपनमें ब्रह्मचर्य्याश्रमसे आरम्भ होकर चतुर्थ अवस्था अर्थात् सन्यस्त आश्रमतक पहुंचती है। इसलिये भगवान् स्वयं अपने मुखारविंदसे इस क्रियाको १२ प्रकारके यज्ञोंके अन्तर्गत पहले भी कहआये हैं (देखो अ० ४ श्लो० २९) और अब भी इसीका कहना उचित समझते हैं क्योंकि यही क्रिया मोक्ष-तत्वका परमसाधन है। यहां शंका मत करो!

प्रिय पाठको! यह **योगयज्ञ** सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ है जिसका फल अमोघ कहागया है। जिसके द्वारा मनुष्योंको इस लोक और परलोकमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है। नाना प्रकारकी सिद्धियां भी सम्मुख आखडी होती हैं। चाहे साधक उनकी इच्छा करें वा न करे।

दूसरी बात यह है, कि यदि सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डलके मनुष्योंको एकत्र करके पूछा जावे, कि तुमलोग क्या चाहते हो ? तो सब एक-बारगी झट कहपड़ेंगे, कि सुख, आरोग्य, आयुकी वृद्धि और ईश्वरकी प्राप्ति इन ही चारों पदार्थोंको हमलोग चाहते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि प्रत्येक व्यक्तिको लोक परलोकमें आनन्दपूर्वक समय वितानेके लिये इनही चार पदार्थोंकी आवश्यकता है। इसलिये भगवान् इन चारोंकी प्राप्तिकेलिये योगयज्ञरूप क्रियाको मुख्य जानकर यों बतलाते हैं, कि [स्पर्शान्कृत्वा वहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः] अर्थात् बाहरवाले रूप, रस, गन्धादिको अन्तःकरणसे बाहर निकाल-कर दोनों भौंहोंके मध्य भीतरकी ओर नेत्रोंको लेजाकर इस क्रियाका आरम्भ करे।

शंका— भगवान्ने जो यहां बाहरवाले विषयोंको बाहरकरके कहा ऐसा कहनेसे "वदतोव्याघात" दोषकी प्राप्ति होती है। क्योंकि जो वस्तु स्वयम् बाहरकी है उसे फिर बाहर क्या करना ?

समाधान— ये जो रूप, रस इत्यादि बाहरके विषय हैं वे इन्द्रियोंके द्वारा भोगते-भोगते अन्तःकरणमें प्रवेश करजाते हैं। जैसे अरुण वा पीतरंग निर्म्मल जलमें प्रवेशकर जलको तदाकार अरुण वा पीत बनादेता है, इसी प्रकार बाहरवाले विषय भीतर घुसकर अन्तःकरणको विषयाकार बनादेते हैं इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जैसे शरीरमें घुसेहुए कंटकको फिर बाहर निकाल कर सुखी होजातेहैं। ऐसेही योगी पहले बाहरके उन विषयोंको जो भीतर प्रवेश करगये हैं फिर बाहर निकालदेवे।

प्रिय पाठको ! साधक जब एवम् प्रकार सब विषयोंको अन्तःकरणसे बाहर निकाल देगा तब अन्तःकरण स्वच्छ और निर्मल होजावेगा इसी कारण भगवान्‌ने ऐसी आज्ञा दी है ।

उक्त प्रकार सब विषयोंको बाहर निकालनेके पश्चात् " चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः " नेत्रोंको दोनों भौंहोंके भीतर खैंच लेजावे। अर्थात् भौंहोंके बीचों बीच नेत्रोंको एकाग्र कर दोनों पुतलियोंसे एक ठौर भ्रूमध्यमें देखे ।

पर दोनों पुतलियोंकी दृष्टिको भ्रूमध्यमें एकाग्र कर एक ठौर देखना कठिन है । इसलिये पाठकोंके कल्याण-निमित्त इस क्रियाकी रीति यहां बतायी जाती है—

अपने घरकी दीवाल पर एक +काली बिन्दु बनाकर अथवा किसी देवालयमें जाकर राम कृष्णकी मूर्तिके भौंहोंके मध्यस्थानमें कस्तूरीकी बिन्दु लगाकर उस बिन्दुको दोनों पुतलियोंसे देखनेका अभ्यास करे । एवम् प्रकार अभ्यास करनेके पश्चात् नेत्रोंको अपनी नाभिपर लाजमावे जब नाभि दोनों नेत्रोंसे एक संग स्वच्छ दीखने लगजावे तब नेत्रोंको वहांसे भी हटा कर ऊपरकी ओर -हृदयके मध्यभागमें

+ योग-यज्ञ साधन करनेवाले इसी क्रियाको त्राटक कहते हैं। इसका वर्णन अ० ४ श्लो० २८ में देखो इसी क्रियाके साधनके लिये आचार्योंने नाभि, हृदय तथा नासाग्रमें चन्दन लगाकर लक्ष्य बनानेकी आज्ञा दी है ।

लाजमावे फिर तहांसे श्री गुरुके बतायेहुए मार्ग द्वारा ❀ नासाग्राव-लोकनका अभ्यास करे। फिर नेत्रोंको ऊपर चढाताहुआ दोनों भौंहोंके मध्य भीतरकी ओर पुतलियोंको उलट एकाग्र-चित्त हो × "सुषिर-मण्डलका" अवलोकन करे। इस सुषिर-मण्डलमें अपने इष्टके स्वरूपका ध्यान करे। तहां फिर क्या करे? सो भगवान् कहते हैं, कि **[प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ]** नासाके भीतर-भीतर चलने वाले प्राण और अपानको सम करके जो आगे कथन कियेहुए गुणोंसे युक्त होता है वही सदा जीवन्मुक्त है।

अब यहां नासाभ्यन्तरचारी प्राण और अपानको सम करने अर्थात् प्राणायाम करनेकी संक्षिप्त रीति पाठकोंके कल्याण-निमित्त दिखलादी जाती है। इसका विस्तार-पूर्वक वर्णन अगले अध्यायमें किया जावेगा।

जानना चाहिये, कि इस शरीरमें साढेतीनलक्ष नाडियां हैं तिनमें केवल ७२००० बहत्तर सहस्र नाडियां मुख्य हैं। इनमें भी श्रेष्ठ केवल १० नाडियां हैं। तिन दसोंमें ईडा, पिंगला, सुषुम्णा, वज्रा, चित्रणी और ब्रह्मनाडी ये ६ नाडियां मुख्य हैं। योगियों तथा अभ्यासियोंके जानने योग्य हैं।

❀ नासाके अग्रभाग अर्थात् नोंकको दोनों नेत्रोंसे एक ही बार देखना नासाग्रावलोकन कहाजाता है। बिना गुरु इसका साधन समझमें नहीं आता।

× सुषिरमण्डलका वर्णन अ० ४ श्लोक २८ में देखो।

प्रमाण—मेरोर्वाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे ।
मध्ये नाडी सुषुम्णा त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा ॥
धुस्तूरस्मेरपुष्पग्रथिततमवपुरकन्धमध्याच्छिरस्था ।
वज्राख्या मेढ्रदेशाच्छिरसि परिगता मध्यमेऽस्या ज्वलन्ती
तन्मध्ये चित्रणी सा प्रणवविलसिता योगिनां योगगम्या ।
लूतातन्तूपमेया सकल सरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् ।
भित्वा देदीप्यते तद्ग्रथनरचनया शुद्धबुद्धिप्रबोधा ।
तस्यान्तर्ब्रह्मनाडी हरमुखकुहरादादिदेवान्तरस्था ॥
(षट्चक्रनिरूपण श्लो० १, २)

अर्थ—मेरुदण्ड (पीठकी बीचोंबीचकी हड्डी) के बाहरकी ओर बायें ओर दाहिने भागमें चन्द्र और सूर्य्यसे अधिष्ठिता ईडा और पिंगला नाम की दो नाडियां वर्त्तमान हैं। फिर उक्त मेरुदण्डके बीचोंबीच तीनों गुणोंसे युक्त तिलडिये बटेहुए सुतके समान लिपटी हुई चन्द्र, सूर्य्य और अग्नि तीनों करके अधिष्ठिता सुषुम्णा नामकी नाडी प्रकाशमान होरही है। यह सुषुम्णा खिलेहुए धतूरके फूलके बीचवाले सुतके समान पतले मूलद्वारसे निकल कर दोनों कन्धोंके बीचोंबीच होतीहुई शिर तक चलीगयी है। इसी सुषुम्णा नाडीके मध्यमें वज्रा नामकी चौथी नाडी लिंगप्रदेशसे निकल मस्तक तक चमकती हुई लग रही है ॥ १ ॥

फिर इस वज्रा नाडीके बीचोंबीच ॐकार प्रणवसे युक्त योगाभ्यास द्वारा केवल योगियोंको विदित होनेवाली मकरेके सुतसी पतली चित्रणी नामकी पांचवीं नाडी मेरुदण्डसे लगेहुए चतुर्दलादि षट्-

चक्रोंको मालाके समान बेधती हुई साधकोंको शुद्ध ज्ञान देतीहुई ऊपरको चलीगयी है तिसके भीतर ब्रह्मनाडी "स्वयम्भू लिंग"से निकल सहस्रदलपद्मकी कर्णिकामें परम शिवके समीप तक पहुंचगयी है ॥ २ ॥

इस शरीरमें यही छः नाडियां मुख्य हैं जिनको योगाभ्यासी गुरुके उपदेश द्वारा भली भांति जानकर इन्हीं नाडियोंकी सहायतासे धीरे-धीरे श्वासको सूक्ष्म करतेहुए प्राण और अपान को सम करते हैं।

समका अर्थ है तुल्य करदेना जैसे जब किसी वस्तुके तोलनेकी आवश्यकता होती है तब तुला (तराजू) के दोनों पल्ले सम करलियेजाते हैं। यदि वे सम न कियेजावें तो वस्तुकी तोलमें अशुद्धता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इन नाडियोंकी तुला पर प्राण और अपान सम कियेजाते हैं। तुलासे इन नाडियोंकी उपमा इसलिये दीगयी है, कि तुलामें एक दण्डी, छः डोरियां और दो पल्ले होते हैं, जो तोलनेके समय सम करलियेजाते हैं। इसी प्रकार इस शरीरमें जो मेरुदण्ड पीठकी हड्डी है वही तो दण्डी है और ईडा पिंगलादि जो छः नाडियां ऊपर कथन कीगई हैं वे ही छः डोरियां लगी हैं तिनमें प्राण अपानके पलडे लटकाये गये हैं। तहां "हृदि प्राणम्" हृदय में तो प्राणका निवास और "गुदेऽपानम्" गुदामें अपानका निवास होनेसे समता नहीं है। तिसी विषमताको इस तुला द्वारा खैंच कर

टिप्पणी— इस विषयको पूर्ण प्रकार समझानेके लिये श्री. स्वामी हंसस्वरूप कृत षट्चक्रनिरूपणचित्र वा मूर्तिको देखो।

सम करदेना चाहिये । इनके सम होजानेसे मन इन्द्रियोंके सहित समताको प्राप्त होजाता है । तीनों गुणोंमें सम-रूप प्रवाह करनेसे प्रकृतिकी प्रबलता रुकजाती है । मन एकाग्र हो निर्वाण पदवी को प्राप्त होजाता है । क्योंकि इस शरीरमें जितनी इन्द्रियां हैं मनके सहित इस प्राणसे ही बांधीहुई हैं। जहां-जहां प्राण जाता है ये सब उसकेपीछे जाती हैं। जिसका वर्णन अ० ४ श्लोक २६ में संक्षिप्त रीतिसे होचुका है । यदि प्राण न हो तो मन सहित सब इंद्रियां निश्चेष्ट होजावें । इसी कारण छान्दोग्यकी श्रुतिने "प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च" (देखो प्र० ५ श्रु० १) कही है अर्थात् इस शरीरमें प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ कहाजाता है ।

प्रमाण— श्रु० "प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ यो ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वेद दूतवान्भवति यश्चक्षुर्गोप्तृ गोप्तृमान्भवति यः श्रोत्रं संश्रावयितृ संश्रावयितृमान्भवति यो वाचं परिवेष्ट्रीं परिवेष्ट्रीमान्भवति तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमाना बलिं हरन्ति ।" (कौषितक्योपनिषत् अ० २ श्रु० १)

अर्थ– कौषीतकीने कहा है, कि यह प्राणरूप ब्रह्म जो महाराजके सदृश है, तिसका दूत मन है, वचन दरबारी हैं, नेत्र रक्षाकरने वाले मंत्री हैं और कान द्वारपाल हैं जो लोगोंके आनेजानेका वृत्तान्त सुनाते हैं । तिसे प्राणरूप नरेशकेलिये सब इन्द्रियाधिष्ठित देवगण

बिना मांगे आपसे आप " बलिं हरन्ति " प्रजागणके समान इस नरेशका कर चुकादिया करते हैं।

मुख्य अभिप्राय इस श्रुतिका यही है, कि प्राणके पीछें मन सहित सब इन्द्रियां चलती हैं। इस प्राणको गुरूपदिष्ट-मार्ग द्वारा अपानके साथ सम करनेसे सुषुम्णा नाडी अवश्य खुलेगी तहां धीमी-धीमी ज्योति दीख पडेगी। फिर कुछ अभ्यास बढनेसे वज्रा नाडी खुलेगी तहां अधिक सुहावनी ज्योती दीख पडेगी। पश्चात् चित्रणी खुलेगी तहां अत्यन्त श्रेष्ठ ज्योति दीख पडेगी। फिर अन्तमें ब्रह्मनाडी खुलेगी तिसकी ज्योति देखतेके साथ समाधि होजावेगी और ध्यान स्थिर होजावेगा। इसमें चाहे मूर्त्तिरहित मन लगादो, चाहे अपने इष्टदेव राम, कृष्ण, शिवादिका रूप स्थिरकरके उस रूपका आनन्द भोगो। किसी प्रकारसे भोगो और आनन्द भोगतेहुए उसमें लय होजाओ चाहे उसके संग बिहार करते रहो।

एवम् प्रकार नासाभ्यन्तरचारी प्राणोंको सम करके जो प्राणी [**यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः**] पूर्ण यत्नके साथ इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने वश रखता है, तथा जो अहर्निश मोक्ष ही की प्राप्तिमें रत रहता है वही **यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः**, मुनि और **मोक्षपरायण** है। अतएव [**विगतेच्छाभय-**

पाठकोंके बोधार्थ इन चारों विशेषणोंका विलग-विलग वर्णन कियाजाता है:—

१. यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः— जो प्राणी पूर्ण प्रकार संयतेन्द्रिय है तथा

क्रोधः यः सदा मुक्तएवसः] जो प्राणी तृष्णा-शून्य होकर भय और क्रोधसे रहित है वही सदा मुक्त है। अर्थात् जीते-मरते सर्वदा एक रस सबोंमें निवास करताहुआ वर्त्तमान है।

इन दोनो श्लोकोंके द्वारा श्रीगोलोकबिहारी जगतहितकारीने गूढार्थशब्दोंका उच्चारण करके ध्यानयोगके बहुतेरे अङ्गोंका वर्णन करदिया है जैसे "**स्पर्शान् कृत्वा वहिः**" कहकर **प्रत्याहार**का कथन किया "**चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः**" कहकर **धारणा** का संकेत किया। "**विगतेच्छाभयक्रोधः**" तथा "**यतेन्द्रियमनोबुद्धिः**" कहकर **यमनियम**के अङ्गोंका संकेत किया। "**मोक्षपरायणः**" कहकर **समाधि**का संकेत किया ॥ २७, २८ ॥

मन बुद्धिके वशीभूत नहीं है उसीको यतेन्द्रियमनोबुद्धि कहते हैं।

२. मुनिः— जिन ब्रह्म विषयक वार्त्ताओंको शास्त्रोंके द्वारा अथवा गुरुके मुखारविंदसे श्रवण किया हो उसे चुपचाप मनन करने वालेको मुनि कहते हैं।

३. मोक्षपरायणः— मोक्ष ही है परम अयन जिसका अर्थात् रात्रिंदिवा जो मोक्ष ही के घरमें निवास करनेकी इच्छा रखता है और मोक्ष ही है गति जिसकी उसे मोक्षपरायण कहते हैं।

४. विगतेच्छाभयक्रोधः— जो प्राणी सर्व प्रकारकी कामनाओंसे जन्म, मरण तथा त्रयतापोंके भयसे और क्रोधसे रहित है उसे 'विगतेच्छाभयक्रोधः' कहते हैं जिसे भगवान् 'वीतरागभयक्रोध' भी कहआये हैं।

इन २७, २८ श्लोकोंमें भगवानने ध्यानका वर्णन किया अब २९ वें में " ध्येयका " अर्थात् ध्यान कियेजानेवाले उपास्यका वर्णन करते हैं—

मू०— भोक्तारं यज्ञतपसां सर्व्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— यज्ञतपसाम् (मद्भक्तैः समर्पितानां यज्ञानां तपसाञ्च यत्फलानि तेषाम्) भोक्तारम् (देवतारूपेण भोगकर्त्तारम् पालकम् वा) सर्वलोकमहेश्वरम् (सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरम् हिरण्यगर्भादीनामपि नियन्तारम्) सर्वभूतानाम् (सर्वेषां प्राणिनाम) सुहृदम् (निरपेक्षतयोपकारिणम) माम् (वासुदेवम) ज्ञात्वा (बुद्ध्वा) शान्तिम् (कैवल्यम । निर्वाणम् । मोक्षाख्यां सर्वसंसारोपरतिम) ऋच्छति (प्राप्नोति)॥ २९ ॥

पदार्थः— (यज्ञतपसाम्) नाना प्रकारके यज्ञोंके तथा कृच्छ्रचान्द्रायण, मौनादि तपोंके फलोंको (भोक्तारम्) भोगनेवाले तथा स्वीकार करनेवाले वा पालन करनेवाले (सर्व्वलोकमहेश्वरम्) भूलोक, भुवर्लोकादि सबलोकोंके महेश्वर तथा (सर्वभूतानां सुहृदम) सब प्राणियोंके उपकार करनेवाले (मां) मुझ वासुदेवको (ज्ञात्वा) जानकर प्राणी (शान्तिम) कैवल्यपरमपदको (ऋच्छति) प्राप्त होता है, क्योंकि मैं ही सबोंका ध्येय और उपास्य हूं ॥ २९ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इस श्लोकमें ध्यान करनेवालोंके ध्येयका स्वरूप वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्**] इस संसारमें निष्काम कर्म सम्पादन करनेवाले जिज्ञासु नाना प्रकार यज्ञोंका सम्पदान करके उनके फलोंको तथा कृच्छ्रचान्द्रायण, मासोपवास, तीर्थाटन, पंचाग्नितपन और जलशयन इत्यादिके जिन फलोंको ईश्वरमें समर्पण करते हैं तिन सब फलोंके 'भोक्तारम्' अंगीकारकरनेवाले मुझ " **सर्व लोकमहेश्वरम्** " सर्वलोकोंके महेश्वरको तथा [**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्ति मृच्छति**] सब प्राणियोंके सुहृद् मुझ वासुदेवको जानकर अर्थात् मेरे स्वरूपको प्राप्तकर कैवल्य परमपदको प्राप्त हेजाते हैं ।

यहां जो भगवानने " **१. यज्ञतपसां भोक्तारम्, २. सर्वलोकमहेश्वरम् और ३. सर्वभूतानां सुहृदम्** " तीन विशेषणोंसे अपनेको युक्त किया तिनका वर्णन कियाजाता है सो सुनो !

बहुतेरे प्राणियोंके चित्तमें यह शंका बनीरहती है, कि नाना प्रकार शरीरके परिश्रमकर वा पुष्कल द्रव्यादि व्ययकर जो हमलोग नाना प्रकारके यज्ञोंका वा इष्ट, पूर्त्तादिकर्मोंका सम्पादनक रते हैं उनके फल यदि न मांगें, भगवत्में अर्पण करते जावें पर यदि भगवत्ने उनको किसी कारणसे उन्हें स्वीकार न किया तो हमलोग दोनों ओरसे गये हमारे परिश्रम तथा द्रव्यादि निरर्थक गये। इन ही पुरुषोंके सन्तोष निमित्त भगवान् कहते हैं, कि " **भोक्तारं यज्ञतपसाम्** " मैं यज्ञ और तपका भोगनेवाला अर्थात् स्वीकार करनेवाला हूं । अभिप्राय यह है, कि जब कर्त्ता अपने कर्मोंको

मुझमें समर्पण करता है तब मैं सदा इसी विचारमें रहता हूं, कि इसे क्या दू ? क्योंकि वह अपने कर्मोंका कुछ अन्य फल तो चाहता नहीं। इसलिये जब मैं जानलेता हूं, कि मेरा भक्त कुछ नहीं चाहता तो उसके उन कर्मोंके फलोंके बदले उसे अपने चरणोंकी प्रीति प्रदान करता हूं।

भगवानने अपनेको " भोक्तारम् " कहकर प्राणियोंको सन्तोष दिया है, कि तुम व्याकुल मत हो! मैं तुम्हारे कर्मोंके फलोंको अङ्गीकार करूंगा! और उनके फलोंके बदले अपने चरणोंकी भक्ति प्रदान करूंगा इसमें किसी प्रकार सन्देह मतकरो!

इतना कह फिर भगवानने जो अपनेको ' सर्वलोकमहेश्वर ' कहा तिसका भी अभिप्राय यही है, कि जो कोई उनके नामसे कर्मोंका समर्पण न कर किसी अन्य देवता देवीके नाम समर्पण करे तो वह भी मानो उन्हींको समर्पण करता है। क्योंकि वेद स्वयं कहता है, कि " तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमा । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः " (श्वेताश्वत० अ० ४ श्रु० २)

अर्थ— वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वही शुक्र है वही ब्रह्म है, वही जल है और वही प्रजापति है।

इस मंत्रसे सिद्ध होता है, कि जो प्राणी जिस किसी भी लोक-लोकान्तरके देवता देवीके निमित्त अपने कर्मोंके फलोंको समर्पण करता है, वे सब उसी महेश्वरको पहुंचते हैं। जैसे किसी चक्रवर्ती नरेशके

अमात्य, मंत्री इत्यादि प्रजागणसे कर ग्रहणकर महाराजके समीप देते हैं। इसी प्रकार सर्वदेव मनुष्योंके कर्मोंका फल ग्रहण कर उसी महेश्वरके समीप पहुंचाते हैं।

फिर भगवान्ने तीसरा विशेषण "सुहृदं सर्वभूतानाम्" जो प्रयोग किया इसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान् सब प्राणीमात्र तथा जड चेतनके सुहृद् नाम सखा हैं। जैसे सखा विना किसी प्रत्युपकारकी इच्छाके अपने सखाके हितका ही सम्पादन करता रहता है इसी प्रकारे भगवान सदा प्राणियोंके हितका ही विचार करता रहता है। उसे स्वयं तो किसी प्रकारकी इच्छा ही नहीं है। क्योंकि वह सर्वकामपूर्ण है।

शंका—जब भगवान प्राणीमात्रका हित ही साधन करता रहता है तो क्या कारण है, कि बहुतेरे प्राणी नरकमें पडे दुःख झेलते हैं? तथा इस संसारमें आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंमें पडे घोर कष्ट सहते हैं, वह महेश्वर जो सबका सुहृद् कहलाता है इनके दुःखोंकी ओर क्यों नहीं देखता?

समाधान— उस महेश्वरकी इस सृष्टिमें सुख और दुःख, भला और बुरा, साधु और चोर, सुजाति और कुजाति, लक्ष और अलक्ष धनवान और दरिद्र, शीत और उष्ण, स्वर्ग और नरक दयावान और कसाई, दिन और रात, बुद्धिमान और मूर्ख, देवता और दानव, उच्च और नीच, पालन और संहार, लाभ और हानि इत्यादि सब परस्पर विरुद्ध धर्मवाले पदार्थ अनादिकालसे रचदिये गये हैं।

यदि ऐसी रचना न होती तो उस रचयिताका महत्व कुछ भी प्रकट न होता।

देखो! जब मनुष्य ग्रीष्म-ऋतुके तापसे व्याकुल पसीने-पसीने होजाता है तब हीं वृक्षोंकी शीतल छाया तथा शीतल वायु उसे आनन्द दायक बोध होती हैं। इसलिये यदि ग्रीष्म न होकर सदा शीतल बना रहता, तो शीतलताका आनन्द कदापि अनुभव नहीं होता। इसी प्रकार शीतकालमें आग अति प्रिय और सुखदायी जानपडती है। यदि सदा ग्रीष्मका ताप हीं ताप बना रहता तो आग कभी किसीको सुख नहीं देती। इसी प्रकार यदि क्षुधा पिपासाका कष्ट न होता तो नाना प्रकारके अन्न और शीतलगंगाजलमें कदापि आनन्दका अनुभव नहीं होता वरु इनको कोई पूछता भी नहीं। यदि अँधियाली रात्रि न होती तो प्रकाशमान दिनका कुछ भी आनन्द अनुभव नहीं होता। दरिद्रता न होती, तो धनमें कुछ भी आनन्दका अनुभव नहीं होता। मूर्ख न होते तो विद्वानोंकी कौन प्रशंसा करता।

मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि दुःख सुख इस जीवके साथ प्रपंचके नियमानुसार अनादि कालसे चलेआते हैं। जब दुःख किसी प्राणीपर आता है और वह प्राणी किसी विपत्तिमें पडता है तब उसके उपकार करनेकी आवश्यकता होती है। यदि विपत्ति हीं नहीं होती तो उपकार भी नहीं होता। उपकार करनेवाला किसलिये बनता और उपकारी क्यों कहलाता? फिर तो सुहृद् और शत्रुओंकी क्या आवश्यकता थी। क्योंकि शत्रु मित्रकी पहचान हीं नहीं होती। इसी कारण

सर्वसाधारण प्राणी अपने-अपने भले बुरे कर्मोंके अनुसार सुख और दुःख तथा स्वर्ग और नरक भोगरहे हैं। यह भगवानका साधारण नियम है पर इनमें जो प्राणी भगवत्के सम्मुख हो अपने अन्य सर्व प्रकार के पुरुषार्थोंको तिलांजलि दे उसकी शरण आगिरते हैं तब वह महेश्वर उनका बिना किसी स्वार्थ-साधनके सदा हित करनेवाला होजाता है। यह भगवानका विशेष नियम है इसलिये भगवान्के भक्तोंके सुहृद् (और मित्र) होनेमें भी सन्देह मत करो! जब इस संसारके साधारण मित्र विपत्तिमें काम आयाकरते हैं तो भगवत जो अपना सच्चा मित्र है क्यों नहीं विपत्तिमें काम आवेगा ?

वरु सच्ची बात तो यों है, कि इस संसारमें जितने +मित्र हैं सब स्वार्थी हैं केवल वही वासुदेव अपना सच्चा सखा और सुहृद् है जो

+ मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः,
पात्रं यत्सुखदुःखयोः सहभवेन्मित्रेण तद्दुर्लभम् ।
ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाकुला,
स्ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिकषग्रावा तु तेषां विपत् ॥

(हितोपदेश २१४)

अर्थ— अंजनके सदृश जो नेत्रोंको सुख देनेवाला, चित्तको आनन्द देनेवाला, सुख दुःखका पात्र अर्थात् दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होनेवाला है ऐसा सच्चा मित्र दुर्लभ है। सम्पत्तिके समय धन हरनेवाले अर्थात् स्वार्थ साधन करनेवाले मित्र तो सब ठौर मिलते हैं पर मित्ररूप स्वर्णकी परीक्षा करनेके लिये विपत्तिकाल ही कसौटी है।

यथार्थ विपत्तिके समय काम आनेवाला और निर्पेक्ष उपकार करनेवाला है। क्योंकि वही एक सर्व लोकमहेश्वर प्रीतिकी सच्ची रीतिका जाननेवाला है।

यदि वह जीवोंका सुहृद् न होता तो प्रह्लादको अग्निसे, जलसे, पर्वतसे और विषधरोंके विषसे कौन बचाता ? हिरण्यकश्यपुके खड्गसे बचानेकेलिये खम्भ फाडकर नृसिंह कौन बनजाता ? मार्जारको कुम्भकारके आवासे कौनरक्षा करता ? महाभारतकी रणभूमिमें भर्दूलके अण्डोंपर गजघण्टको गिरा, अत्यन्त साधारण जीव जन्तुओंके रक्षक होनेका कौन परिचय देता ? मातृगर्भमें जीवोंकी कौन सुधि लेता ? वृन्दाबन-निवासियोंके उपकारके लिये यमुना जलको विषसे रहितकर कालीनागके कठिन फूत्कारको कौन सहता ? दावानलको पानकर गोकुल निवासियोंको कौन बचाता ? केवल देवताओंको बन्धनसे छुडानेकेलिये राज्यसुख छोड अपने ऊपर बनवासके कठिन दुःखको कौन लेता ? कहां तक कहूं ! वह देखो ! इस समय भी अपने सखा अर्जुनके कल्याण निमित्त अपनी सब बडाई और महत्त्वको छोड सारथी बनकर आगे-आगे वीरोंके बाणोंके क्लेश सहनेको रथपर आबैठा है । क्या अब भी उसको सुहृद् कहनेमें कुछ सन्देह है ? कदापि नहीं !

इसी कारण भगवान् अपनेको अपने मुखसे सर्वभूतानां सुहृद् कहकर अर्जुनको समझारहे हैं, कि जो मेरेको इस प्रकार जानता है वह परम शान्तिस्थान जो कैवल्यपरमपद उसे लाभ करता है।

शंका— ऊपरके कथनमें जितने उपकार दिखलाये सब उसके मूर्त्तिमान स्वरूप अर्थात् साकार-स्वरूपके हैं अमूर्त्तिमान् अर्थात् निराकार ब्रह्मका तो उपकार कुछ दिखलाया ही नहीं ?

समाधान— व्यवहारके समय स्थूल-रूपसे उपकार दिखानेके लिये तो उस महाप्रभुको अपना साकार ही विभव अंगीकार करना पडता है जिसके द्वारा सर्वसाधारण भगवानकी महिमाका अवलोकन करते हैं। पर सूक्ष्म उपकारोंके निमित्त भी वह सदा अपने निराकार विभव से जीवोंकी रक्षा करता ही रहता है। जैसे प्रह्लाद भक्तकी पीठपर खड्गोंका टूटजाना, धधकती लहलहाती हुई अग्निकी प्रदीप्त ज्वालाका शीतल होजाना तथा मीराबाईके विषके कटोरेका अमृत होजाना उस महाप्रभुके निराकार सूक्ष्म-स्वरूपकी महिमा नहीं है तो क्या है ?

इस पांचवें अध्यायतक जिज्ञासुओंके उपकारनिमित्त जितनी क्रियाएँ बतायीगयी हैं वे अवश्य प्राणियोंको कैवल्य-परमपदतक अर्थात् भगवच्चरणोंतक पहुंचादेनेकेलिये समर्थ हैं। पर बडे शोककी वार्त्ता तो यह है, कि आजकल इस क्रियाके बतानेवालोंका इस देशमें अभाव होजानेसे प्राणियोंको सब्ठौर बतानेवाले नहीं मिलसकते। इसलिये अधिकांश भारतनिवासी परमानन्दतक न पहुंचकर विषयानन्दको ही परमश्रेष्ठ जान, अपनी बुद्धिको सर्वोपर उत्तम मान, यथेच्छ मनगढन्त-धर्म बनालियाकरते हैं जिससे लौकिक सुखोंकी अधिकता तो अवश्य होती है पर पारलौकिक सुखोंको तिलांजलि देनीपडती है। इसलिये जिज्ञासु जो सचमुच अपने परलोकके सुधारनेवाले हैं थोडा परिश्रम और यत्न करके

अपने निवासस्थानसे दायें बायें, तीर्थस्थानोंमें, गम्भीर बनोंमें, पशुपतीनाथ अमरनाथ, बदरीनाथ और केदारनाथ इत्यादि स्थानोंमें तीर्थाटनके बहाने पहुंचकर महात्माओंके अन्वेषणमें यदि दो एक मास फिरें, तो अवश्य वह महाप्रभु उनपर दया कर किसी सच्चे मार्गबतानेवालेके पास उनको पहुंचा देवेगा । जहां उनको सर्वप्रकारकी क्रियाओंकी प्राप्तिमें पूर्ण सुविधा होगी ।

बहुतेरे मूर्खोंके चित्तमें जो यह शंका बनीहुई है, कि संसारमें इस समय कोई महात्मा ही नहीं है, यह निरर्थक है । ईश्वरकी सृष्टिमें ऐसी कोई बात नहीं है जो निर्वीज होगई है । अतएव इस समय मुनि ऋषि, योगी, महात्माओंके वीज नष्ट नहीं होगये हैं, कहीं न कहीं वे हैं अवश्य ! जो समय—समयपर प्रकट भी होजावें तो आश्चर्य्य नहीं है । खोजो ! पाओगे (Seek & ye shall get knock & it shall be open to you.) द्वारको खटखटाओ ! वह खुलपडेगा ।

प्रिय पाठको स्मरण रहे, कि इस पांचवें अध्यायके अन्तवाले २७, २८ और २९ तीन श्लोकोंको भगवान्‌ने ध्यानयोग अर्थात् अष्टांगयोग वर्णन करनेके लिये सूत्रवत् कहा है जिसकी वृत्ति अगले अध्यायमें है

इन तीनों बिशेषणोंसे भगवान्‌ने यह भी सूचना करदी, कि कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंका विषय मैं ही हूं। कर्मियोंका ईप्सित मनोरथ, उपासनाका उपास्य और ज्ञानका ज्ञेय मैं ही हूं ॥ २९ ॥

को वेत्ति भूमन्! भगवन्! परात्मन्!
योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।

क्व वा कथं वा कति वा कदेति,
विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥
एवम्विधं त्वां सकलात्मनामपि,
स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।
गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा,
ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण
विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां
कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति पंचमोऽध्यायः

शुद्धाशुद्धि-पत्रम्



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
सन्यासम	सन्न्यासम्	१०८७	१०
सन्यास	सन्न्यास	११०१	४
वन्धनात्	वन्धात्	११०२	२
संत्याशी	सन्न्यासी	११०३	६
निर्विल्पा	निर्विकल्पा	११०८	१
अर्शअदित्वा-नम	अर्शादित्वान्म	१११२	१६
सत्त्व	सत्वा	१११६	१२
विशेप	विशेषः	११३२	२०
चैतन्य	चेतन	११३७	४
हारामि	हरामि	११३६	१७
मणिक	माणिक	११४३	८
पापेभ्यो	पापेन	११४८	२१
मानन्द	एतमानन्द	११५६	१५
शान्ती	शान्तिकी	११६०	१२
अध्या० श्लो०	हंसनादभाग२	११६१	२१
परामताः	परामृताः	१२१०	२०
मपंच	मपंचः	१२०६	१८
सम्पति	सम्पत्ति	१२२२	६
प्रीतिमान्तु	प्रीतिमन्तु	१२२६	६
प्रसहितुम	प्रसोढुम्	१२३४	१२
शोढुम्	सोढुम्	१२३१	१०
वर्त्ती	वर्त्ति	१२४०	४
जीवितां	जीवतां	१२५१	१७
एतास्त्र	एतेत्र	१२५६	३
आए	आये	१२५७	४
पूणा	पूर्णा	१२६५	१५
खीकार	स्वीकार	१२६७	१६
निर्पेक्त	निरपेक्ष	१२७१	१
पशुपती	पशुपति	१२७५	१
कीडसि	क्रीडसि	१२७१	२





श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता



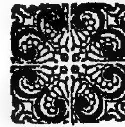
कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

षष्ठोऽध्यायः

अलवरराजधान्याम्

श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये

मुद्रितः



❀ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ❀

श्री कौन्तेयभयापहारिणे नमः

श्री अनन्तमूर्त्तये नमः

अथ



श्रीमद्भगवद्गीता

कर्म्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

* षष्ठोऽध्यायः *

ॐ पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मां ॥ ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः !!!

(शु० य० अ० ११ मं० ३१)



यो लोकं सकलं पुनाति निगमा यं प्राहुरेकान्ततो ।
व्याप्तं येन जगज्जगन्ति सततं यस्मै नमस्कुर्वते ॥
यस्मादाविर्भूदशेषममरा यस्य प्रसादार्थिनो ।
यस्मिन्पर्यवसस्यति स्फुरदिदं तस्मै नमो विष्णवे ॥

अजी ! वह देखो तो सही दाहिनी ओरसे एक अद्भुत घटा कैसी शोभाके साथ उमडी चली आरही है। जिसके घनघोर शब्दोंको सुन दोनों कान बहरे हुए चले जारहे हैं। जिसके मध्य चंचल चपलाकी चमकसे आखोंमें चकाचौंध लगरही है। जिसके भीतर दो, विमल सूर्य्य और चन्द्र छिपेहुए देख पडते हैं। कुछ दूर और आगे बढकर:— अहा! यह तो घटा नहीं है यह तो अर्जुनका रथ है। जो वीरोंसे घिरे जानेके कारण घटाकी शोभा देरहा है। इसके श्वेत घोडोंकी चालोंकी चपलताई विद्युतको लज्जित कररही है। वीरोंके मध्य श्यामसुन्दर और उनके परमप्रिय सखा अर्जुनके दिव्य मुखारविन्द सूर्य्य और चन्द्रके समान चमकरहे हैं! क्योंन हो जहां स्वयम् सकलजनाभिराम घनश्याम पूर्णकाम रथवान् बनकर पांचजन्य शंखको बादलकी गम्भीर गर्जनाके समान फूंकतेहुए वीरोंके अङ्गमें युद्धका उमङ्ग बढारहे हैं और अपने भक्त अर्जुनपर भक्तवत्सलतारूप वर्षा करतेहुए अपने विरदके संभालनेमें कटिबद्ध हैं। ऐसे कृपासागरकी कृपाकी थाह किसको मिलसकती है। अब अञ्जलिबद्ध होकर हम पामरोंकी यही प्रार्थना है, कि जगतसुन्दर भक्तहितकारी गोलोकविहारी मदनमुरारी गिरिवरधारी इसी वाणिकसे सदा हमलोगोंके मनमें निवासकरें और हमलोगोंका भी रथ-

वान् बन हमारे शरीररूप रथोंको हांकतेहुए संसाररूप महाभारत नाम युद्धकी विजय करावें ।

मू०— अनाश्रितः कर्म्मफलं कार्य्यं कर्म्म करोति यः ।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
॥ १ ॥

पदच्छेदः— यः (योगी) कर्मफलम् (विहितकर्मपरिणामम्) अनाश्रितः (अनपेक्षमाणः । फलाभिसंधानरहितः) कार्य्यम् (अवश्यकर्त्तव्यम । कर्तव्यतया शास्त्रेण विहितं नित्यमग्निहोत्रादिकम्) कर्म (अग्निहोत्राद्यनुष्ठानम्) करोति (आचरति) सः (सर्वकर्मफल-तृष्णात्यागी) सन्यासी (यथार्थत्यागी) स, च, योगी (यथार्थ योगानुष्ठायी) न (नतु) निरग्निः (अग्निसाध्यश्रौतकर्मत्यागी) न, च, अक्रियः (त्यक्तवाङ्मनःकायक्रियः । अनग्निसाध्यपूर्ताख्य कर्मत्यागी) ॥ १ ॥

पदार्थः— (यः) जो कर्मानुष्ठान करनेवाला प्राणी (कर्मफलम्) कर्मके फलोंसे (अनाश्रितः) अपेक्षारहित होकर (कार्य्यं, कर्म) अवश्य करनेयोग्य विहित कर्मको (करोति) करता है (सः) वही (सन्यासी) यथार्थ त्यागी है (च) और (सः) वही (योगी) यथार्थ योगी (च) भी है (न, निरग्निः) पर वह यथार्थ सन्यासी वा योगी नहीं है जिसने केवल अग्निको त्यागदिया है अर्थात आग स्पर्श नहीं करता (न, च) और वह भी ठीक-ठीक

सन्न्यासी वा योगी नहीं है जो (अक्रियः) विहित-कर्मोंको त्यागकर क्रियारहित होगया है ॥ १ ॥

भावार्थः— पांचवे अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने ध्यानयोग अर्थात् अष्टांगयोगके विषय जो ३ श्लोक वर्णनकिये वे * सूत्रवत् हैं। अब इस छठवें अध्यायमें मानो उन ही श्लोकोंकी वृत्ति करतेहुए अर्थात् विस्तार कर स्पष्टरूपसे व्याख्यान करतेहुए भगवान् यह दिखलाते हैं, कि सच्चा सन्न्यासी वा योगी कौन है ? वर्त्तमान-कालमें ऐसा प्रसिद्ध है, कि जो आग नहीं छूता और कुछ कर्म नहीं करता वही सच्चा सन्यासी है, दूसरा नहीं ! पर यह सर्व साधारणकी भूल है । इसलिये भगवान् इस श्लोकसे सच्चे सन्न्यासी वा सच्चे योगीके स्वरूपका वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः**] कर्मफलके आश्रयको परित्यागकर अवश्य करने योग्य कर्मको जो करता है अर्थात् जो अपने वर्ण वा आश्रमके अनुसार जिस विहितकर्म करनेकी अत्यन्त आवश्यकता देखता है, उसे ठीक समयपर सम्पादन करलेता है, पर फल नहीं चाहता [**स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः**] वही यथार्थ सन्न्यासी और योगी भी है । पर जो केवल निरग्नि वा अक्रियहोजाता है वह सन्न्यासी वा योगी नहीं है । क्योंकि फलका सङ्ग छोडकर कर्म करनेवाला ही सच्चा सन्न्यासी वा योगी है । उसीके हृदयमें त्यागका अंकुर जम-

* योगसूत्रं त्रिभिः श्लोकैः पंचमान्ते यदीरितम् । षष्ठ आरभ्यतेऽध्यायस्तद्व्याख्यानाय विस्तरात् ॥

चुका है, अर्थात् जिज्ञासु होचुका है। श्रुति—स्मृतिकी आज्ञानुसार ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋणको चुकाताहुआ लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणाको त्याग करताहुआ अन्तमें सच्चे सन्न्यासीकी पदवी-तक पहुंचनेकी अभिलाषा रखता है।

यहां "योगी" कहनेसे भगवान्‌का दोनों प्रकारके योगियोंसे तात्पर्य्य है अर्थात् निष्काम-कर्मयोग जो वहिरंग साधन है और ध्यान-योग जो अन्तरंगसाधन, इन दोनोंके साधन करनेवाले योगियोंसे प्रयोजन है। इस अध्यायमें जहां योगी शब्द आवे उससे वहिरंग और अन्तरंग दोनों साधनवालोंका ग्रहण होना चाहिये।

इसी कारण भगवान् यहां अर्जुनके प्रति यों कहते हैं, कि जो साधक फलोंसे निराश्रय होकर बहिरंग और अन्तरंग दोनों साधनोंसे सम्पन्न है वही सच्चा सन्न्यासी और योगी है। पर वह सच्चा सन्न्यासी वा योगी नहीं है जो अग्नि नहीं छूता। यदि निरग्नि होनेका यही तात्पर्य्य हो, कि अग्नि नहीं छूना तो सम्भव है, कि ऐसा सन्न्यासी किसी समय घोर पातकका भागी होजावेगा। जैसे कोई सन्न्यासी किसी स्थानपर बैठा है, उसके समीप एक प्राणी शीतकालमें अपने अलावको लगाकर तापताहुआ वहां ही औंधकर सोजावे, इतनेमें उसके वस्त्रमें आग लगजावे जिससे उसका जलजाना सम्भव हो तो क्या वह सन्न्यासी उस वस्त्रकी अग्निको हाथोंसे मलकर नहीं बुझावेगा? यदि नहीं बुझाता है तो वह सन्न्यासी घोर पापका भागी होगा! वह आत्म-घातके दोषसे दूषित होगा, सबलोग उसे चाण्डाल, निर्दयी और मूर्ख

कहेंगे। इसलिये निरग्निहोनेका यह तात्पर्य्य कदापि भी नहीं है, कि अग्निमात्र न छूवे।

श्रुति–स्मृतियोंने जो सन्न्यासियोंकेलिये निरग्नि होना कहा है उसका मुख्य अभिप्राय यह है, कि मनुष्योंको ब्रह्मचर्य्याश्रमसे वानप्रस्थाश्रम तक, नाना प्रकारके श्रौतस्मार्त्त कर्मोंके साधन निमित्त, विविध प्रकारकी अग्नियोंका सेवन करना पडता है। विशेषकर गृहस्थोंके जितने कर्म हैं सब अग्निद्वारा ही सम्पादन कियेजाते हैं। गृहपति जो घरका प्रधान पुरुष नाना प्रकारके कर्मोंके सम्पादन निमित्त, अपने घरमें जिस अग्निको स्थापनकर रखता है, उसे 'गार्हपत्याग्नि' कहते हैं। वही गृहस्थ जब किसी विशेष यज्ञके सम्पादन निमित्त अग्निस्थापन करता है तो उसे * आहवनीय-अग्नि कहते हैं।

---

* पाठकोंके बोधार्थ विशेष अग्नियोंके नाम लिखेजाते हैं —

लौकिके पावको ह्यग्निः प्रथमः परिकीर्तितः।
अग्नेस्तु मारुतो नाम गर्भाधाने विधीयते॥
पुंसवने चन्द्रनामा शुंगाकर्मणि शोभनः।
सीमन्ते मंगलो नाम प्रगल्भो जातकर्मणि॥
नाम्नि स्यात् पार्थिवो ह्यग्निः प्राशने च शुचिस्तथा।
सत्यनामा च चूडायां व्रतादेशे समुद्भवः।
गोदाने सूर्यनमा च केशान्ते ह्यग्निरुच्यते।
वैश्वानरो * विसर्गे तु विवाहे योजकः स्मृतः॥

---

* विसर्गे साग्निकर्त्तव्ये कर्मविशेषे।

इन अग्नियोंको ब्रह्मचर्यावस्थासे वानप्रस्थ पर्यन्त साथ रखनेकी आज्ञा है । इसी कारण वेदमें इस अग्निकी स्तुति यों कीगई है—

ॐ त्वामग्ने हविष्मन्तो देवं मर्त्ता स ईडते मन्ये त्वा जातवेदसं स पव्या वक्ष्यानुषक् । (ऋग्वेद अ० १ सूक्त ९ मंत्र १)

चतुर्थ्यान्तु शिखी नाम धृतिरग्निस्तथापरे ।
प्रायश्चित्ते विधुश्चैव पाकयज्ञे तु साहसः ॥

अर्थ— लौकिक कार्य, गृहप्रवेश इत्यादिमें अग्निका नाम पावक है । गर्भाधानके समय मारुत । पुंसवनमें चन्द्र । शुंगा कर्ममें शोभन । सीमन्त संस्कारमें मंगल । जातकर्ममें प्रगल्भ । नामकर्णमें पार्थिव । अन्नप्राशनमें शुचि । चूड़ाकर्ममें सत्य । उपनयनमें समुद्भव । गोदानमें सूर्य । केशान्त अर्थात् समावर्तनमें अग्नि । विशेष अग्निकर्ममें वैश्वानर । विवाहमें योजक । विवाहान्तके समय चतुर्थी संस्कारमें अथवा चतुर्थाश्रम जो सन्न्यास धारणका समय उसमें शिखी । अन्य प्रकारके होमादिमें धृति । प्रायश्चितके समय विधुः । पाकयज्ञमें अर्थात् पाकांगहोम, वृषोत्सर्ग और गृहप्रतिष्ठा जो पाकयज्ञ कहेजाते हैं तिनमें अग्निका नाम साहस है । अग्निका नाम सप्तजिह्वा भी है अर्थात् अग्निकी सात जिह्वायें होती हैं इन सातोंसे यह अग्निदेव नाना प्रकारके हवनीय द्रव्योंको ग्रहण करता है ।

" ॐकाली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ " (मुं० १ खं० २ श्रु० ४)

अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगनी और विश्वरुची ये ही अग्निकी सात जिह्वायें हैं जिनसे अग्निदेव हवनीय द्रव्योंको ग्रहण करता है ।

अर्थ— हे अग्निदेव ! (देवम्) 'प्रकाशमान देवता' तुमको हवनीय द्रव्योंके साथ मनुष्यगण स्तुति करते हैं और मैं भी तुमको जातवेदस मानता हूं इसलिये मैं भी तुम्हारी स्तुति करता हूं। सो तुम नाना प्रकारके हवनीय द्रव्योंसे मिलकर (वह्नि) प्रज्वलित होते हो। इस प्रकार वेदने इस अग्निकी स्तुति करते कराते कर्मोंमें उपस्थित रखनेकी आज्ञा दी है। जब सन्न्यास आश्रमका ग्रहण होता है तब इन सब अग्नियोंका परित्याग करना पडता है। उस दिनसे मनुष्य निरग्नि होजाता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि वह सन्न्यासी नहीं है जो प्रत्यक्षमें तो अग्निको त्यागकर हवनादि कर्मोंका परित्याग करदे और अन्तःकरणमें उन कर्मोंके फलोंकी आशा बनाये रहे। क्योंकि केवल अग्नि त्यागकर कर्मोंको स्वरूपतः त्यागदेना और उनके फलों की कामनासे लिप्त रहना सन्न्यासीका धर्म नहीं है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि सच्चा सन्न्यासी वही है जिसने कर्मोंके फलोंका त्याग किया है। चाहे वह अग्निका स्पर्श करे वा न करे। क्योंकि जिसने फलका त्याग किया उसका कर्म करना और न करना समान ही है। वही प्राणी यथार्थ योगी भी है। क्योंकि योगियोंको भी वहिरंग-साधनमें निष्काम-कर्मयोगका फल भगवत्में ही अर्पण करना पडता है, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ होकर भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। इसी प्रकार अन्तरंग साधनमें भी अन्तःकरणसे सब प्रकार की वासनाओंको परित्याग कर भगवत्-स्वरूप ही में समाधिस्थ होना पडता है, कर्मोंका बन्धन एक बारगी छूट ही जाता है। प्राणी बासना

रहित हो शुद्ध निर्मल चैतन्य आनन्द-स्वरूप होजाता है । अर्थात् बहिरंग और अन्तरंग दोनों प्रकारके साधनोंसे भगवत्-स्वरूप ही का लाभ होता है । इसलिये भगवान कहते हैं, कि " न निरग्निर्न चाक्रियः " केवल अग्निका परित्याग करदेनेसे वा अक्रिय होनेसे अर्थात् कर्मोंको स्वरूपतः त्याग देनेसे कोई भी सन्न्यासी वा योगी नहीं होसकता।

शंका— निरग्नि पद कहने ही से अक्रिय होना । सिद्ध होता है क्योंकि जब तक कुछ कर्म करता रहता है तब तक अग्नि-सेवन करनी पडती है, फिर भगवान्ने निरग्निके साथ अक्रिय कहकर पुनरुक्ति क्यों की ?

समाधान— भगवान्के वचनमें पुनरुक्ति दोष नहीं है। निरग्नि कहनेसे केवल उन्हीं कर्मोंका परित्याग समझा जाता है जिन्हें द्विजोंको अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार करनेकी आज्ञा है ।

पर अक्रिय कहनेसे उन कर्मोंका भी परित्याग समझा जाता है, जिन्हें अग्निसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे वेद पढना, भिक्षा-मांगनी, दान लेना, वाणिज्य करना, युद्ध करना, कृषि करना, शिल्प विद्या द्वारा द्रव्य उपार्जन करना इत्यादि । इसलिये निरग्नि और अक्रिय दो शब्दोंका भिन्न-भिन्न प्रयोग करके भगवान्ने सर्व प्रकार के कर्मोंके त्याग दिखाये । अथवा निरग्नि कहनेसे इष्टादि कर्मोंका त्याग और अक्रिय कहनेसे पूर्त्तादि कर्मोंका त्याग भी समझना चाहिये ।

" एकाग्निकर्म हवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।
अन्तर्वेद्यां च यद्दानमिष्टं तदभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमार्याः प्रचक्षते ॥ "

अर्थ— तीनों प्रकारकी अग्नियोंमें जो हवनादि कर्म कियेजाते हैं तथा अन्तर्वेदीमें जो दान दियाजाता है वे इष्टकर्म कहलाते हैं । बावली, कूप, तालाव, देवताओंका मन्दिर, अन्नदान, बाटिकाका लगाना इत्यादि पूर्त्तकर्म कहलाते हैं ।

इन दोनों प्रकारके कर्मोंके त्याग दिखलानेके तात्पर्य्यसे भगवान्‌ने **निरग्नि** और **अक्रिय** दोनों शब्दोंका विलग-विलग प्रयोग किया है । यहां शंका मत करो !

दूसरी शंका— इस छठवें अध्यायमें तो भगवान् ध्यानयोगका वर्णन करनेचले हैं जो मोक्षका अन्तरंग साधन है । फिर क्या कारण है, कि कर्मयोगकी स्तुति करतेहुए इस अध्यायका आरंभ किया ? इस अध्यायमें कर्मयोग कहनेकी क्या आवश्यकता थी ?

समाधान— यह छठवां अध्याय भी कर्मयोगहीका है । पिछले अध्यायोंमें भगवान्‌ने बहिरङ्गकर्मोंका वर्णनकिया अब इस अध्यायमें अन्तरङ्गकर्मों का वर्णन करेंगे इसलिये इस श्लोकके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि कर्म और सन्न्यासके विषय जो विवाद पहले होचुका है और उससे यह सिद्ध होचुका है, कि एक ही प्राणी जो

साधन अवस्थामें कर्मयोगका अधिकारी रहता है, जब उसकी सिद्धावस्था आती है, तो वह कर्मोंको त्याग यथार्थ सन्न्यासी होजाता है, तब भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति करता है। तात्पर्य्य यह है, कि सांख्य और योग दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं है केवल अवस्थाका भेद है। बार-बार इसी आशयको भगवान् कहते चलेआरहे हैं, कि "सांख्ययोगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति····" "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते····" (अ० ५ श्लो० ४, ५) इसी विषयको इस ध्यानयोगके कहते समय बडी स्वच्छतासे दृढ करते हैं, कि वही प्राणी सन्न्यासी है और योगी भी है जो निष्काम-कर्मोंका सम्पादन करता है। अर्थात् गृहस्थ भी यदि फलोंको त्याग कर्मोंका अनुष्ठान करता है तो वह सबकुछ करताहुआ भी सन्न्यासी है। क्योंकि निरग्नि और अक्रिय होनेमात्रहीसे कोई यथार्थ सन्न्यासी नहीं होसकता। वरु सर्वप्रकारकी क्रियाओंमें लगाहुआ भीहै, पर कर्मोंके फलसे कुछ प्रयोजन नहीं रखता, वही सन्न्यासी और योगी है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इस अन्तरंगसाधन में नाना प्रकारकी × सिद्धियां प्राप्त होती हैं, वे बुद्धिको प्रलोभन देकर अपनी ओर खींचती हैं।

× १. अणिमा छोटा एक परमाणुके समान होजाना, २. लघिमा अत्यन्त हौला होजाना, ३. प्राप्ति जो इच्छाहो उसे प्राप्त करलेना, ४. प्राकाम्य जैसी इच्छा हो वही करना, ५. महिमा भारी होजाना, ६. ईशित्व सृष्टिमात्रपर श्रेष्ठ होजाना। ७. वशित्व सबको वश करलेना। ८. कामावसायिता कामनाकी अवश्य पूर्त्ति करनी। ये आठ सिद्धियां है।

बहिरंग—कर्मयोगके फलोंको तो त्याग भी सकता है क्योंकि यज्ञोंके सम्पादनसे जो स्वर्गफल है उसे कर्मकरनेवाला नहीं देखता और न कोई स्वर्गका गयाहुआ प्राणी लौटकर कुछ वहांका समाचार कहता है। पर अन्तरंगसाधनके फल जो अष्टसिद्धियां प्रत्यक्ष मिलती हैं उन्हें त्यागना कठिन है।

अब विचारने योग्य है, कि ऐसी सिद्धियां जिसे प्राप्त हों वह क्या इनके प्रलोभनमें पडकर इनके साथ नहीं अटक जावेगा ? अवश्य इनमें लिपटकर मुख्य लक्ष्य जो भगवत-स्वरूप है उसके भूलजानेका भय है।

इसलिये भगवान् प्राणियोंके कल्याणनिमित्त इस ध्यानयोग अर्थात् अष्टांगयोगकी सिद्धियोंसे बचानेकेलिये आरंभहीमें चेतादेते हैं, कि जो प्राणी कर्मोंके फलसे अनाश्रितहोकर अर्थात् नाना प्रकारकी सिद्धियोंकी ओर न देखकर इस योग का साधन करेगा वही यथार्थ योगी और सन्न्यासी है। फिर भगवान्को यह स्मरण होआया, कि इस योगके साधन करनेमें अधिक कठिनता है, क्योंकि बहिरंग-साधन तो सुलभ है जिसमें केवल पुष्कलद्रव्य और अवकाशमात्रके लाभहोनेसे कुछ भी कठिनता नहीं पडती। पर यह जो ध्यानयोग अन्तरंगसाधन है, इसमें शारीरिक और मानसिक नियमोंमें दृढ रहनापडता है और बहिरंगसाधन द्वारा जो कुछ अपने अन्तःकरणको शुद्धकरलाया है, उसे बचाना पडता है। अतएव केवल अग्नि छोडदेनेसे और अक्रिय होजानेसे कोई पुरुष योगी वा सन्न्यासी नहीं

होसकता । वरु कर्मकरतेहुए कर्मका फल परित्यागकरे । फलोंके सन्न्याससे तो वह सन्न्यासी है और ईश्वर-प्राप्तिकेलिये योग करताहुआ योगी है ।

भगवान्‌का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि **बहिरंगसाधन** में जैसे निष्कामहो, वैसेही **अन्तरंगसाधनमें** प्रवेश करनेसे पहले निष्कामतत्त्वका स्मरण करलेवे । जैसे किसी नरेशका भृत्य वा अमात्य जब उस नरेशके समीप जाता है तो दर्पणमें देखकर बडी चतुराईके साथ पगडी, चादर इत्यादि भलीभांति सुधारलेता है । पर राजमंदिरमें प्रवेश करनेसे पहले द्वारपर फिर एकबार हाथोंसे पगडी और चादरको सुधार लेता है । इसी प्रकार भगवान् अधिकारीको यह चेताते हैं, कि जैसे तुमने निष्कामकर्मको बहिरंगसाधनमें सुधारा है, अब अन्तरंगसाधनमें अर्थात् भगवत्—मन्दिरमें प्रवेश करते समय फिर उसी निष्कामतत्त्वको वैसे ही सुधारलो । अर्थात् कामनारहित होकर प्रवेश करो !

जैसे राजमन्दिरके भीतर मणि-माणिकसे जडीहुई बहुतेरी वस्तु पडीरहती हैं । इसी प्रकार भगवत्‌के अन्तःपुरमें भी अद्भुत और अलौकिक शोभायें पडी हैं । ऐसा न हो, कि तुम वहां ही लुभाजाओ ! अटक जाओ ! क्योंकि वहां लुभाजाओगे तो लुभाते ही चलेजाओगे । फिर तो भगवत्‌के सिंहासनतक पहुंचना ही दुर्लभ होजावेगा। इसलिये भगवान् इस अध्यायके आरंभमें ही " अनाश्रितं कर्मफलम् " वाक्यका प्रयोग करके तुमको सावधान करदेते हैं, कि तुम्हारे कर्मोंका फल ब्रह्मलोकके सुखोंकी प्राप्ति भी क्यों न हो

तुम उसे परित्यागकरोगे, तब ही तुम सच्चे सन्न्यासी और सच्चे योगी कहे जाओगे ॥ १ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी, कि भगवन्! श्रुति स्मृतियां जिस निरग्नि और अक्रियतत्त्वको सन्न्यासकरके प्रसिद्ध करती हैं उसे आप सन्न्यास क्यों नहीं कहते हो ?

इसके उत्तरमें भगवान् फिर एकबार गुणवृत्तिकरके सन्न्यास और योगकी एकता दिखलातेहुए कहते हैं—

मू०— यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव! ।
न ह्यसन्न्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २

पदच्छेदः— पाण्डव! (हे अर्जुन!) यम (सर्वकर्मतत्फलपरित्यागलक्षणाम्) सन्न्यासम् (परमार्थसन्न्यासम्) इति (अनेनाभिधानेन अनेनोपाधिना) प्राहुः (श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणानि निरूपयन्ति संशन्ति वा) तम् (सन्न्यासम्) योगम् (फलाभिसन्धिरहितकर्मानुष्ठानलक्षणाम) विद्धि (जानीहि) हि (यस्मात्) कश्चन (कश्चिदपि) असंन्न्यस्तसंकल्पः (अपरित्यक्तः फलविषयसंकल्पोऽभिसंधिर्येन सः) योगी (कर्मयोगी । समाधानवान्। अविक्षिप्तचित्तः । चित्तवृत्तिनिरोधे समर्थः) न (नहिं) भवति (भवितुमर्हति) ॥ २ ॥

पदार्थः— (पाण्डव !) हे पाण्डुका पुत्र अर्जुन ! (यम्) जिस कर्मफलके परित्यागको (सन्न्यासम्) परमार्थ-सन्न्यास

कहते हैं (तम्) उसीको (योगम्) फलाभिसंधिरहित कर्मानुष्ठानरूप योग (विद्धि) जान ! (हि) क्योंकि (कश्चन) कोई भी (असंन्यस्त संकल्पः) बिना कर्मोंके फलोंके संकल्प त्यागे (योगी) समाहितचित्तवाला योगी (न भवति) नहीं होसकता है ॥ २ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव] हे पाण्डुपुत्र अर्जुन ! जिसे सन्न्यासी कहते हैं, उसे ही योगी भी जान ! अर्थात् जो योगी है वही सन्न्यासी भी है । सन्न्यास और योगको बालबुद्धिवाले अज्ञानी दो मानते हैं परजो ज्ञानी हैं वे दोनोंको एक समान मानते हैं । तथा सांख्य और योगको जो मनुष्य एक करके देखता है वही यथार्थ दृष्टिवाला है । फिर उसे दृढ करनेकेलिये तुझसे कहता हूं, कि जिस तत्त्वको श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, इतिहास तथा वेदविद्, तत्ववेत्ता, ज्ञानी तथा सम्यग्दर्शी सन्न्यास ऐसा कहकर पुकारते हैं तू उसीको योग जान ! क्योंकि सन्न्यास और योगमें अन्तर कुछ भी नहीं है । जैसे किसी राजकुमारको युवराज कहते हैं पर वह युवराज यथार्थमें राजा ही है । उसके रोम चर्मादि सातों धातु राजाके ही रोमचर्मादिका बिम्ब है । राजाके आत्मत्वमें जो कुछ चमत्कार है सो उसमें भी है । पिताके ही दैविक और आत्मिक गुणोंका पुत्र है । इसलिये आत्मज कहाजाता है । जितना अन्तर युवराज और राजा में है उतना ही अन्तर योगी और सन्न्यासीमें है । जितना अन्तर बीज और वृक्षमें है उतना ही अन्तर योगी और सन्न्यासीमें है ।

जैसे बीजमें सम्पूर्ण वृक्षका संस्कार सूक्ष्म-रूपसे बनाहुआ रहता है ऐसे ही योगीमें सन्न्यासका संस्कार सूक्ष्म-रूपसे बना रहता है। क्योंकि इस संसारमें तीन प्रकारके प्राणी हैं— प्रथम जो संसारको ही मुख्य मानते हैं विषय-सुखको ही सुख जानते हैं, उसके परिणामकी ओर दृष्टि नहीं करते और मतवालोंके समान विषयके मदसे माते फिरते हैं। इस कारण अन्तमें नरकगामी होजाते हैं और यम-दण्डोंसे पीडित कियेजाते हैं।

दूसरे वे जो संसारकी ओर भी दृष्टि रखते हैं और परलोककी ओर भी ध्यान रखते हैं। संसारको गौण और परलोकको मुख्य समझते हैं। वे पथिकोंके समान इस संसारको उत्तरणस्थान (सराय) समझते हैं और अपने कुटुम्बियोंको मार्गका संगी समझकर उनसे संग करतेहुए शरीर-यात्राकी समाप्ति करते हैं।

तीसरे वे हैं जो संसारको एकबारगी मिथ्या जानकर त्यागकी इच्छा रखते हैं तथा तिस त्यागकी पूर्त्ति निमित्त महात्माओंका संग करते हैं और उनके उपदेशसे कर्मयोगमें प्रवृत्त होते हैं। उनके हृदयमें त्यागका अंकुर बना रहता है। वे सन्न्यास धारण करें वा न करें सन्न्यासी ही हैं। जैसे बरगदका बीज बरगद ही है, बरगदसे इतर कुछ भी नहीं है ऐसे कर्मयोगी भी सन्न्यासी ही हैं इतर कुछ नहीं।

इसी तात्पर्यसे श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द कहते हैं, कि [न ह्य-सन्न्यस्तसंकल्पो योगी भवति **कश्चन**] जब तक कोई प्राणी कर्मफलके संकल्पोंका त्याग न करे तब तक योगी नहीं

होसकता । नाना प्रकारके विषयोंके संकल्प जब तक मनमें बने रहते हैं तब तक वह घोर संसारी आवागमनका अर्थात् बारम्बार जन्मने और मरनेका पात्र बनारहता है, योगी नहीं होसकता । जब फलका त्याग होजाता है तब कर्म-बन्धनका कारण छूटजानेसे संसारी न होकर सन्न्यासीके ही समान रहता है । क्योंकि सन्न्यासीने भी प्रवृत्ति-मार्ग में फँसनेका मुख्य कारण जो फल-सहित कर्म है तिसे त्याग दिया है । और योगीने भी अपनी चित्त-वृत्तियोंको निरोध करनेके निमित्त कर्म-फलके संकल्पका त्याग किया है । इसलिये दोनों, समान हैं । क्योंकि योगी यदि संकल्पोंका त्याग नहीं करेगा तो उसके चित्तमें चंचलता बनी रहेगी और वह विक्षिप्त रहेगा । विक्षिप्त होनेका कारण ही कर्मफलका संग्रह है । इसलिये फल त्याग होते ही चित्तकी समाधानता प्राप्त होती है । ज्यामिति शास्त्रवालोंका सिद्धान्त है, कि जो दो वस्तु एक वस्तुके समान होंगी वे सब आपसमें समान होंगी । इस लिये चित्त विक्षिप्त करनेवाले कामके संकल्पोंके परित्याग करनेसे योगी और संन्यासी एक समान हैं । यदि चित्तको विक्षिप्त करनेवाली दशाएँ किसीमें वर्त्तमान रहीं तो न वह योगी है और न सन्न्यासी है । चित्तको विक्षेप करनेवाली नव दशायें हैं उन्हींके अन्तर्गत अविरति है जिस से विषयोंकी इच्छा उत्पन्न होती है । साधकोंके हितार्थ ९ प्रकारकी विक्षेपकरनेवाली दशाओंका वर्णन करदिया जाता है—

"व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्ते अन्तरायाः ।" (पतं० पा० १ सूत्र३०)

अर्थ—१. व्याधि, २. स्त्यान, ३. संशय, ४. प्रमाद, ५. आलस्य, ६. अविरति, ७. भ्रान्तिदर्शन, ८. अलब्धभूमिकत्व और ९. अनवस्थितत्व ये नव प्रकारके विक्षेप हैं जो चित्तको चंचल कर योगियों वा सन्न्यासियोंकी उन्नतिके मार्गमें अन्तराय अर्थात् विघ्न कारक हैं। अब इनका विलग विलग वर्णन किया जाता है—

१. व्याधिः— "धातुवैषम्यनिमित्तो ज्वरादिः" धातुकी विषमता के कारण ज्वरादि रोगोंका उत्पन्न होना।

२. स्त्यानः— "अकर्मण्यता चित्तस्य" चित्तमें कर्मकरनेकी इच्छा न होना।

३. संशयः— "उभयकोट्यालम्बने विज्ञानम् यथा योगः साध्योऽसाध्यो वेति" दोनों ओर आलम्बन करना अर्थात् हां, ना के मध्यमें चित्तका डांवाडोल होना। जैसे चित्तमें यह द्विविधा उत्पन्न होनी, कि योग मुझसे साध्य है वा नहीं।

४. प्रमादः— "अननुष्ठानशीलतासमाधिसाधने औदासीन्यम" समाधिके साधनमें उदासीनताका होना अर्थात् चित्तका न लगना।

५. आलस्यम— "कायचित्तयोर्गुरुत्वं योगविषये प्रवृत्यभाव हेतुः" शरीर और मनका भारी होजाना जो योग-क्रियामें प्रवृत्तिके न होनेका मुख्य कारण है।

६. "अविरतिः— "चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मागर्द्धः" अर्थात् नाना प्रकारके विषयोंमें स्पृहा होनी।

७. भ्रान्तिदर्शनम्— " शुक्तिकायां रजत्ववद्विपर्ययज्ञानम् " जैसे सीपीमें चांदीका भ्रम होता है इस प्रकार ज्ञानका विपर्यय होना अर्थात् जो न हो, तैसा समझना ।

८. अलब्धभूमिकत्वम्— " कुतश्चिन्निमित्तात् समाधिभूमेरलाभः " किसी कारणसे समाधि भूमिकाका लाभ न होना—

९. अनवस्थितत्वम्— " लब्धायामपि समाधिभूमौ चित्तस्य तु तत्राप्रतिष्ठा " समाधिकी भूमिका लाभ होने पर भी चित्तका वहां नहीं ठहरना ।

रजोगुण और तमोगुणके प्रभावसे योगमें चित्तके चंचल करने वाले ये नव प्रकारके विक्षेप हैं । इन नवों विक्षेपोंमें श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्दने केवल इस श्लोक में एक अविरति रूप विक्षेप दिखानेके लिये " न ह्यसन्न्यस्तसंकल्पः" वाक्यका प्रयोग किया है ।

शंका— भगवान् अर्जुनके प्रति बारंबार इसी एक विषयका कथन क्यों करते हैं ? क्या एक ही विषयको पुनः-पुनः कथन करना पुनरुक्ति दोष नहीं है ?

समाधान— भगवानका कथन ऐसा सूक्ष्म है, जिसके यथार्थ मर्मको साधारण व्यक्ति नहीं समझ सकता । उनके मुखारविन्दसे निकले हुए रहस्योंको समझनेकेलिये कुशाग्रबुद्धिवाला होना चाहिये । इस स्थानपर जो कर्म्मोंके फलके त्यागका विषय कहरहे हैं और इस से पूर्व जो तीसरेसे पांचवे अध्याय तक इसी कर्म्मफलत्यागके विषय

कथन करचुके हैं इन दोनोंमें अवश्य थोडा अन्तर है। जिसे पाठकों के बोध निमित्त यहां संक्षिप्त रूपसे दिखला दिया जाता है—

पिछले अध्यायोंके भिन्न श्लोकोंमें भगवान्ने **कर्म्मफलका त्याग, कर्म्मोंके कर्त्तृत्वाभिमानका त्याग,** कर्मोंके फलोंमें **आसक्तिका त्याग,** विषयभोगके निमित्त नाना प्रकारके **यत्नोंके करनेका त्याग** तथा तिनकी प्राप्ति निमित्त **परिग्रहोंका त्याग** और तिन विषयोंकी **संगतिका** त्याग इत्यादि कथन कर चुके हैं, परं इस श्लोकमें उन कर्म्मोंके फलोंकी प्राप्तिमें **संकल्पमात्रका त्याग,** कथन कररहे हैं।

इस सूक्ष्मताको केवल बुद्धिमान् और विद्वान ही विचार सकते हैं। साधारणको इतना विचार करनेकी शक्ति नहीं होसकती इसलिये साधारण प्राणियोंको भगवान्के बचनमें पुनरुक्तिका भ्रम होता है, विद्वानोंको नहीं।

दूसरी बात यह है, कि इस ग्रन्थका नाम गीता है। गीता शब्द का अर्थ है (गीयतेस्म आत्मविद्योपदेशात्मिका ब्रह्मतत्वोपदेशमयी कथा यत्र। " गै + क्त) अर्थात् आत्मतत्वके उपदेशसे युक्त ब्रह्म तत्त्वोपदेशमयी कथा जिसमें गायी जावे उस ग्रन्थको गीता कहते हैं।

अब बुद्धिमान् विचारें, कि जितने गीत गायेजाते हैं सबोंमें उस गीतका एक ध्रुव होता है। गानेवाला एक एक पदको समाप्त करता हुआ बारंबार उसी ध्रुवपर पहुंचकर पदकी समाप्ति करता है। गीतका सारांश उस ध्रुवपर आटिकता है। यदि वह ध्रुव बार-बार

गाया न जावे तो उस सम्पूर्ण गीतका अर्थ सुननेवालोंकी समझमें कदापि न आवे। इसी प्रकार भगवान् इस गीता रूप गीतमें आत्म-तत्व और ब्रह्म-तत्वके भिन्न विषयोंका गान करते हुए उसी अपने ध्रुवपरे आपहुंचते हैं। सो ध्रुव क्या है ? सुनो ! [**अनाश्रितं कर्मफलम् कार्य्यं कर्म करोति यः**] कर्मके फलोंसे अनाश्रित होकर तथा निरासक्त और निरभिमान होकर जो कर्म करना है बस यही इतना इस गीता ग्रन्थके प्रथमषट्कका ध्रुव है, अर्थात् सार है। तथा भगवत्के चरणारविन्दमें सब कर्मोंके फलोंको समर्पण कर निष्काम-भक्तिका सम्पादन करना सम्पूर्ण गीताका ध्रुव है। इस लिये भगवान् पुनः-पुनः इसी ध्रुवपर आपहुंचते हैं। जब-जब कोई अध्याय समाप्त होकर दूसरेका आरम्भ होता है तब-तब इसी निष्काम-कर्म्मको दिखलादिया करते हैं। जैसे अध्याय २ में श्लो० ५५, ७१. अध्याय ३ में श्लो० ६, १६, २५, ३०. अ० ४ में श्लो० १६, २०, २३. अ० ५ में श्लो० १०, १२, १३, २१. अ० ६ में श्लो० १, ४, १८, २४। ये सब स्थान इस प्रथमषट्कमें गीता रूप गानके ध्रुव हैं। विद्वान् इन श्लोकोंको विचारपूर्वक पढकर समझ लेवेंगे ॥ २ ॥

इतना सुनकर अर्जुनने पूछा भगवन् ! कर्मयोगकी कहीं भी तो समाप्ति होगी ? अर्थात् कर्मयोग जो सन्यासकी गौणवृत्ति है कहीं न कहीं तो शुद्ध सन्न्यासको प्राप्त करावेगा ? सो कृपाकर कहो, कि यह योग कहां जाकर अवधिको पाता है ?

इतना सुन भगवान् बोले !

मू०— आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

पदच्छेदः— योगम् (यमनियमादयोऽष्टांगयोगम् । ध्यानयोगम् वा) आरुरुक्षोः (आरोढुमिच्छोः) मुनेः (मननशीलस्य) कर्म (फलाभिसन्धिरहितं कर्म) कारणम (साधनम्) उच्यते (वेदमुखेन मया कथ्यते) तस्य, योगारूढस्य (प्राप्तध्यानयोगस्य । योगांगानुष्ठानप्रवृत्तस्य) एव (निश्चयेन) शमः (सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिसन्न्यासः) कारणम् (मोक्षस्य साधनम्) उच्यते ॥३॥

पदार्थः— (योगम्) यमनियमादि अष्टांगयोग अर्थात् ध्यानयोगपर (आरुरुक्षोः) चढनेकी इच्छाकरनेवाले (मुनेः) मुनिकेलिये (कर्म) निष्कामकर्मका सम्पादन करना (कारणम्) साधनरूप (उच्यते) कहागया हे पर (तस्य) तिस (योगारूढस्य) योगपर आरूढ होगयेहुएकेलिये (एव) निश्चयकरके (शमः) सब कर्मोंसे उपशम अर्थात् निवृत्ति होजाना (कारणम) मोक्षका साधनरूप (उच्यते) कहागया है ॥ ३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से प्रश्न किया है, कि कहीं भी तो कर्मयोगकी अवधि होगी ? जहांसे प्राणी सन्न्यासका अधिकारी होगा । इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**] इस अष्टांगयोग अर्थात् ध्यानयो-

गकी इच्छा करनेवाले मुनियोंकेलिये निष्कामकर्मोंका करना ही साधन-रूप कहागया है; अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्तकर संसारसे वैराग्य प्राप्तकर भगवान्के स्वरूपमें ध्यानलगानेकी इच्छा करनेवालोंकेलिये तथा ईश्वरकी ओर आनेकेलिये कर्म ही, कारण अर्थात् साधन कहा-गया है। इसलिये गुरुओंको चाहिये, कि ऐसे पुरुषोंको निष्कामक-र्मोंका साधन उपदेश करें। क्योंकि निष्काम-कर्मसाधनसे ही धीरे-धीरे त्यागका अंकुर शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है। जैसे किसी कोठेपर चढनेकेलिये सोपान (सीढी) बनायाजाता है, उस सीढीमें पांव रखनेकेलिये दण्ड लगायेजाते हैं, फिर जिस किसीको सीढीपर चढना सिखलायाजाता है उसे पहले सबसे नीचेवाले दण्डपर दोनों पैरोंका रखना सिखलाते हैं, एक पैरसे अगले दण्डको ग्रहणकरना और पिछलेको त्यागते ऊपरकी ओर चढना बताते हैं। इसी प्रकार विषयग्रस्त प्राणीको जब विषयोंसे रुचि कम होती है और उसका चित्त ईश्वरकी ओर झुकता है तब उसको पहले तमोगुण और रजोगुणके दण्डोंको त्यागकरा सत्वगुणकी अधिरोहिणी सीढीपर चढाते हैं, फिर इन सत्व-गुणी कर्मोंके फलोंको भी त्यागकर निष्कामकर्मके दण्डपर चढा लेजाते हैं। एवम् प्रकार निष्कामकर्मोंके साधन द्वारा उसके चित्तको स्वच्छ और निर्मल बना ध्यानयोगपर चढजानेका अधिकारी बनादेते हैं।

जब एवम् प्रकार ध्यानयोगपर चढगया तब गुरुओंको चाहिये, कि प्राणियोंको उपासना और ज्ञानके दण्डोंपर चढातेहुए ब्रह्मानन्दके प्रासाद पर बैठा स्थिर करदेवें। जब एवम प्रकार प्राणी योगारूढ होजाता है अर्थात् योगमें ब्रह्मानन्दके छतपर बैठ जाता है, तब [**योगारूढस्य**

तस्यैव शमः कारणमुच्यते] तिस योगारूढ-पुरुषकेलिये वेदशास्त्रों ने शमहीको साधन बताया है अर्थात् प्रपंचके उपशम होजानेसे सर्वप्रकारकी क्रियाओंकी निवृत्तिके पश्चात् जितने काम्यकर्म हैं सबोंका त्याग जो सन्न्यास, उसीको मोक्ष प्राप्तिका साधन बताया है । तब प्राणी एवम् प्रकार सब उपद्रवोंसे रहित हो भगवत्स्वरूपके ध्यानमें मग्न होकर सुखी हो शान्त पूर्वक बैठरहता है । इस विषयको भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " **सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी** " (देखो अ० ५ श्लो० १३)

अर्जुनने जो प्रश्न कियाथा, कि निष्काम-कर्मयोगकी कहीं अवधि है वा नहीं ? तिसका उत्तर भगवानने स्पष्टकर देदिया, कि जब तक प्राणी आरुरुक्षु है अर्थात् योगके प्रासादपर चढनेकी इच्छा करता है पर चढ नहीं सकता तब तक कर्मोंकी आवश्यकता है और जब योगारूढ होगया अर्थात् समाधिस्थ होगया तब उसे फिर किसी कर्मके करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, कर्मोंसे एक बारगी छुटकारा पाजाता है ।

शंका— वेदकी तो यह आज्ञा है, कि (**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति**) जब तक जीवे तब तक हवनादि करता रहे । पर भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि " **समः कारणमुच्यते** " योगारूढके लिये क्रियाकी निवृत्ति ही कारण है, सो वेदविरुद्ध होता है । ऐसा क्यों ?

समाधान—यह वेदका वचन साधारण कर्मकाण्डियोंके लिये है, पर जो कर्मकाण्डकी समाप्ति कर ध्यानयोगका अधिकारी होगया है उसके लिये नहीं है। और भगवान् जो " **समः कारणमुच्यते** "

कहरहे हैं सो ध्यानयोगके अधिकारियोंके लिये कहरहे हैं। शंका मत करो!

श्यामसुन्दर अर्जुनको उपदेश कररहे हैं, कि कर्मोंके साथ झगडना अर्थात् कर्मोंके साथ युद्ध करना तब ही तक है जब तक मनुष्य ध्यानयोगमें स्थिर नहीं हुआ है, पर जब ध्यानयोगरूप अपने स्थानमें आपहुंचता है, तो फिर उसे कर्म करनेका क्लेश नहीं उठाना पडता। इसी विषयको श्रुतिने इन्द्र और असुरोंके युद्धका दृष्टान्त देकर दिखलाया है। सो सुनो!

श्रु०— ॐ स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानम् न विजज्ञौ तावदेनमसुरा अभिबभूवुः स यदा विजज्ञेथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद " (कौषीतक्युपनिषत् अ० २ खं २० में देखो)।

अर्थ— इन्द्र जो सर्वदेवाधिपति है जब तक इस आत्माको नहीं जानता तब तक उसे असुर लोग पराजय करलेते हैं। पर जब वह आत्माको जानलेता है तब सब असुरोंको मारकर सब देवोंका श्रेष्ठत्व जो अपना राज्यपद उसे लाभ करता है। इसी प्रकार यह योगारूढ पुरुष सब पापोंको हनन कर अर्थात् कर्मबन्धनोंको काटकर सब भूतोंका श्रेष्ठत्व जो अपना स्वरूप तिसे प्राप्त करता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि योगारूढ-प्राणीको ही शम लाभ होता है, अर्थात् सर्व प्रकारके प्रपंचोंसे उपशम होकर कर्मोंकी निवृत्ति प्राप्त

होती है। क्योंकि केवल अन्तःकरणकी शुद्धि पर्यन्त कर्मोंकी आवश्यकता है फिर कुछ प्रयोजन नहीं है। इस श्लोक द्वारा भगवान्‌ने अर्जुनको पूर्ण प्रकार समझा दिया, कि केवल ध्यानयोगकी प्राप्ति तक ही कर्मोंके सम्पादन करनेकी आवश्यकता है ॥ ३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह कैसे बोध होगा, कि यह प्राणी योगारूढ होगया और अब इसे कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है? सो कृपाकर कहो!

मू०— यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्प सन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

पदच्छेदः— यदा (यस्मिन्काले) हि (निश्चयेन) न (नहि) **इन्द्रियार्थेषु** (रमणीयेषु विषयेषु) न (नैव) **कर्मसु** (नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिसिद्धेषु । विषयप्राप्तिसाधनेषु वा) **अनुषज्जते** (अभिनिवेशं करोति) **तदा** (तस्मिन्काले) **सर्वसंकल्पसन्न्यासी** (इदम्मया कर्त्तव्यमेतत्फलं भोक्तव्यमित्येवं रूपाणां मनोवृत्तिविशेषाणां त्यागशीलः) **योगारूढः** (प्राप्तध्यानयोगः) **उच्यते** (कथ्यते) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (**यदा**) जब ही अधिकारी पुरुष (**हि**) निश्चय करके (**न**) न तो (**इन्द्रियार्थेषु**) नाना प्रकारके रमणीय विषयोंमें (**न**) न (**कर्मसु**) नाना प्रकारके कर्मोंमें (**अनुषज्जते**) आसक्त होता है (**तदा**) तब ही वह मनुष्य (**सर्वसंकल्पसन्न्यासी**) सर्व प्रकारके

संकल्पोंको त्याग अलग होजानेवाला (योगारूढः) योगमें आरूढ-हुआ (उच्यते) कहाजाता है ॥ ४ ॥

भावार्थः— अर्जुनके पूछने पर भगवान योगारूढ पुरुषका लक्षण बताते हैं, कि [**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते**] जब प्राणी न तो विषयोंमें, न कर्मोंमें लिप्त होता है अर्थात प्राणीका स्वभाव ही ऐसा होजाता है, कि चाहे कोई प्राणी सहस्रों सुन्दर रमणीय विषयोंको उसके सम्मुख क्योंन करदेवे पर वह अचल पर्वतके समान अपने स्थानसे नहीं टलता, विषयकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता और मायाके प्रलोभनमें नहीं पडता तब जानना चाहिये, कि यह अवश्य योगारूढ महात्मा है । फिर कहते हैं, कि उस विषयकी प्राप्ति निमित्त नाना प्रकारके साधनोंमें भी जो नहीं लिपटता अर्थात् न तो उसको विषयोंमें आसक्ति होती है, न उस विषय

टिप्पनी— जैसे राजा **जयवलि** के समीप गौतम पंचाग्नि-विद्या पूछने गये तब **जयवलि** ने कहा " **वित्तस्य नरं बृणीथा इति** " **स होवाच तथैव राजन् ! मानुषं वित्तम्** (छा० उत्तरार्द्ध प्रपा० ५ श्रुति ६) ।

अर्थ— जयवलिने गौतमसे कहा, तुम जितनी सम्पत्ति चाहो मुझसे मांगो जितनी मांगोगे कोटावधि मैं देनेको तैयार हूं । इतना सुन गौतम जो योगारूढ महात्मा हैं बोले हे राजन् ! तुम्हारा यह जो मानुषीवित्त है सो सब तुम्हारा है तुम्हींको रहे, मैं कुछ नहीं चाहता । इसी प्रकार जब रंभा नाम अप्सराने शुकदेवके समीप जा अपनी ओर मोहित करनेके लिये नाना प्रकारके यत्न किये तब शुकने उसे अपने स्थानसे दूर भगा ही दिया तनक भी उसकी ओर न देखा ।

की प्राप्ति निमित्त किसी प्रकारके कर्म करनेकी रुचि रखता है तथा जो नित्य, नैमित्तिक, काम्य और प्रतिसिद्ध चारों प्रकारके कर्मोंसे भी कुछ संग नहीं रखता अर्थात् अविद्या-माया और विद्या-माया दोनोंसे वैराग्य प्राप्त कर किसीमें आसक्त नहीं होता, तब जानना चाहिये, कि यह पुरुष अवश्य योगारूढ है।

भगवान्ने जो यहां " अनुषज्जते " पदका प्रयोग किया है तिससे अत्यन्त सूक्ष्म अर्थका अनुभव होता है अर्थात् 'संग' और 'अनुषंग' इन दो पदोंमें जो अन्तर है उसे स्पष्ट करदिया है सो कहते हैं— अन्तःकरणसे किसी विषयमें अथवा विषयकी प्राप्ति निमित्त किसी कर्ममें प्राणीका एक बारगी लगजाना तो संग कहाजाता है और जब कभी उनका संग छोडता है, तो कुछ काल तक अन्तःकरणमें उस संगका संस्कार पडजानेके कारण जो अध्यास अर्थात् थोडी-थोडी स्मृति बनी रहती है उसे अनुषंग कहते हैं। जैसे किसी दीपकके बुझजानेके पश्चात् जो थोडी देर तक उस बत्ती पर लाली देखपडती है, सो अग्निका आनुषंगिक अभ्यास है।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि जब प्राणी विषयोंको वा उनके कर्मोंको त्यागता है तब यहांतक त्यागे, कि उनकी किंचित्मात्र भी स्मृति अन्तःकरणपर न रहे, तब वह योगारूढ कहाजावेगा। सो भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि "रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते " (अ० २ श्लो० २९ में देखो) फिर भगवान् कहते हैं, कि जो प्राणी विषयोंसे भी दूर है तथा उनकी प्राप्तिका

उपाय भी कुछ नहीं करता है पर किसी--किसी समय ऐसा संयोग आप डता है, कि जब उसके नेत्रोंके सामने मेरी दुर्जया माया आ खडी होती है तब उससे मोहित हो उसकी प्राप्तिका संकल्पकर बैठता है सो संकल्प विक्षेप उत्पन्न करता है । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**सर्वसंकल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते**] जब प्राणी माया के सम्मुख सर्वप्रकारके संकल्पोंका त्यागी होजाता हैं, उसकी प्राप्तिकी कुछ भी परवा नहीं करता तब ही वह योगारूढ कहाजाता है। अर्थात् श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण तथा ब्रह्मवेत्ता, महात्मा उसीको योगारूढ कहते हैं । इनही लक्षणोंसे योगारूढ की पहचान कीजाती है। यहां भगवान्ने आधे श्लोकमें "सर्वसंकल्पसन्न्यासी" कहकर सब कर्मोंका मूल काटकर फेंकदिया, क्योंकि सर्व कर्मोंका मूल संकल्प ही है बिना संकल्पके कोई कर्म नहीं होता । मन भी इसी संकल्पके अधीन होकर कर्मोंमें प्रवेश करता है। प्रमाण श्रु०—"**ॐ संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यथ वाचमीरयति**" (छां० उत्तरार्ध० प्र० ७ खं० ४ श्रु० १ में देखो)

अर्थ— संकल्प मनसे श्रेष्ठ है अर्थात् संकल्प जो कर्तृत्वसम्बन्धी अन्तःकरणकी वृत्ति है, जिससे मनमें यह बिचार उठता है, कि अब कर्म करना चाहिये, सो संकल्प मनसे श्रेष्ठ है। क्योंकि संकल्पके पश्चात् मन किसी कर्मकी पूर्त्ति करनेका विचार करता है । जैसे पहले अध्ययनका संकल्प उठा फिर विचार हुआ, कि अब अध्ययन करना चाहिये तिसके अनन्तर वाणी अध्ययन करनेको समर्थ होती है । अर्थात् कर्म आरंभ होता है ।

इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, कि सर्वकामनाओंका मूल यह संकल्प ही है। तहां मनु भी कहते हैं— " **संकल्पमूलः कामोवै यज्ञः संकल्पसंभवः** । " (मनु० अ० २ श्लो० २ में देखो) इसलिये जितने संकल्पज-कर्म हैं सब बन्धनके कारण हैं। अतएव भगवान् कहते हैं, कि जो **सर्वसंकल्पसन्न्यसी** है वही यथार्थ **योगारूढ** है। इसलिये यहां स्वाभाविक कर्मोंको छोड जितने **संकल्पजकर्म** हैं, उनका त्याग योगारूढ-पुरुषोंसे ही होता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जैसे घोर सुपुप्तिमें सोजानेवाला संसारमात्रकी सुधि नहीं रखता ऐसे योगारूढ प्राणी कामनारूप संसारसे मानो घोर सुषुप्तिमें सोजाता है, पर ब्रह्मानन्दके सूर्य्यसे उस का अन्तःकरण प्रकाशमान रहता है। इसलिये **तुरीयानन्दको** भोगता रहता है, यही योगारुढकी पहचान है।

प्रश्न— जो विषय मनके खींचनेमें अत्यन्त प्रबल है उसका संकल्पमात्र मिटना कैसे संभव है? और **योगारूढ** प्राणियोंका संकल्प क्यों और कैसे मिटजाता है ?

उत्तर— यदि किसी प्राणीके पास एक साधारण रूपेका कंकण हो और दूसरा मनुष्य उससे यह कहे, कि यदि तुम यह अपना कंकण नदीके मांझधारमें फेंकदो, तब मैं यह दूसरा हीरोंसे जडा हुआ स्वर्णका कंकण जो मेरे पास है तुमको देदूंगा। इतना सुनते ही वह प्राणी झट अपना कंकण जलमें फेंकदेगा। इसी प्रकार प्राणी जब योगारूढ होकर उस परमानन्दमय भगवत्स्वरूपकी मनोहरताको देखता है. तब इस विष-

यकी मनोहरताको झट परीत्याग करदेता है। उस विषयका संकल्पमात्र भी उसके चित्तमें नहीं रहता। श्रु०— " ॐ यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषम् ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमम् साम्यमुपैति ॥ " (मुं० ३ खं० १ श्रु० ३)

अर्थ— जब विद्वान् रुक्मवर्ण अर्थात् अत्यन्त सुहावना स्वर्णके समान चमकता हुआ मनको मोहनेवाला परम आनन्दस्वरूप कर्त्तारको जो ईश है, जो ब्रह्मयोनि है और जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है उसे देखता है तब सर्व प्रकारके पाप पुण्य कर्मोंको जो विषयमें बांधनेवाले हैं त्यागकर परम समताको अर्थात् अद्वैत स्वरूप परम शान्तिको प्राप्त होजाता है। इसी विषयको फिर दूसरी श्रुति कहती है।

" ॐ सम्प्राप्यैनं ऋषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः " (मुं० ३ खं० २ श्रु० ५में देखो) अर्थात् इस परमानन्दमय भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो कृत्य-कृत्य होजाते हैं, " वितरागाः " सर्व प्रकारके विषयोंकी प्राप्ति छोडदेते हैं और इसी अपने परमानन्दमें शान्त होजाते हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि परमानन्दके देखते ही विषयानन्द फीका पडजाता है, फिरतो इसे कौन पूछता है? तबही जानाजाता है, कि यह प्राणी योगारूढ है ॥ ४ ॥

इतना सुन अर्जुनने प्रार्थनाकी— भगवन्! तुम्हारे मुखसरोजसे टपकते हुए ज्ञानामृतको पी-पीकर मैं कृत-कृत्य तो अवश्य होरहाहूं,

पर इतना और जानना चाहता हूं, कि एवम् प्रकार योगारूढ होनेकेलिये प्राणीको किससे सहायता लेनी पडती है ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

पदच्छेदः— आत्मानम् (संसारार्णवनिमग्नं स्वजीवम्) आत्मना (अभ्यासवैराग्ययुक्तया बुद्ध्या । विवेकादि सम्पन्नेन शुद्धान्तःकरणेन । विवेकयुक्तेन मनसा) उद्धरेत् (ऊर्ध्वं हरेत् विषयसंग परित्यागेन योगारूढतामापादयेत् । जडाशयात्पृथक्कुर्य्यात्) न [तु] आत्मानम् (स्वं जीवम्) अवसादयेत् (अधोनयेत् । संसारसमुद्रे मज्जयेद्वा ।) हि (यस्मात्) आत्मा, एव (निश्चयेन) आत्मनः, बन्धुः (संसारबन्धनान्मोचनहेतुः । हितकारकः) आत्मा, एव, आत्मनः, रिपुः (अपकारी शत्रुः) ॥ ५ ॥

पदार्थः— (आत्मानम्) संसारसमुद्रमें डूबेहुए अपने जीव को (आत्मना) अपने ही अभ्यास वराग्यमय शुद्धान्तःकरणसे (उद्धरेत्) उद्धार करे (न, तु) न कि (आत्मानम्) अपनेको अपने आत्मा ही से (अवसादयेत्) नीचेको गिरा संसार-सागरमें बोरदेवे । (हि) क्योंकि (आत्मा) अपना ही आत्मा (एव)

Let self in man be raised by self
Let him not make a hell for self

निश्चय करके (आत्मनः) अपने आपका (बन्धुः) हितकारी है तथा (आत्मा) अपना ही आत्मा (एव) निश्चय करके (आत्मनः) अपने आपका (रिपुः) शत्रु है ॥ ५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि योगारूढ होनेकेलिये प्राणीको किसकी सहायता लेनी चाहिये ? उसके उत्तरमें श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**उद्धरेदात्मनात्मानम् नात्मानमवसादयेत्**] अपने ही आत्मासे अपने आत्माका उद्धार करे, न कि अपनेको अपने ही आत्मासे संसार-सागरमें डुबाकर गलादेवे । अर्थात् यह अपना जीव, जो अपने संचित-कर्मों के पछे पडाहुआ, बारम्बार चौरासी-लक्ष-योनियोंमें भटकता हुआ और संसारके अपार समुद्रमें सूखे तूम्बेके समान लहरोंके धक्के खाता हुआ इधर-उधर लुढकता फिरता है, उसे अपने ही आत्मासे उद्धार करे ।

अर्थात् अपने ही आत्माको अपना शिक्षक बनावे और उसीसे उपदेश लेवे । क्योंकि संसारकी रीति-भांतिको देखनेसे ही ऐसा बोध होता है, कि जब यह मनुष्य विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न करलेता है, किसीसे कुछ भी रंचकमात्र प्रयोज नहीं रखता, जब निष्काम होकर अपने कल्याणकेलिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय इत्यादि कर्मोंका सम्पादन करनेका अभ्यास करलेता है तब धीरे-धीरे इसको अपने अन्तःकरण की शुद्धि प्राप्त होजाती है । जब एवम् प्रकार शुद्धान्तःकरणवाला होजाता है तब उसमें आपसे आप विवेककी उत्पत्ति होनेलगजाती है। एवम् प्रकार उन्नति करते-करते परमपदको चढजाता है। इसलिये भगवान्

कहते हैं, कि अपने आप ही अपने पुरुषार्थ और परिश्रम द्वारा अपनी ही विवेकमयीबुद्धिसे अपना उद्धार करलेवे। अर्थात् इस घोर संसारसागर से अपनेको बाहर निकाललेवे और योगारूढ होकर परम धामपर चढजावे। तहां श्रु० " ॐ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः। ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ॥ (श्वेताश्व० अध्या० १ श्रुति १०, ११में देखो)

अर्थ— जब प्राणी उस परमात्माके ध्यानसे और परमतत्वके भावसे जुडजानेसे अर्थात् ब्रह्मभूत होजानेसे उसकी विश्वमायाकी अर्थात् सुख-दुःख मोहात्मक प्रपंचकी निवृत्ति होजाती है, तब उस देवको जानलेनेसे सर्व प्रकारकी अविद्या रूप पाशोंका नाश हो जाता है। फिर तिस अविद्याके क्लेशोंकी निवृत्ति होनेसे उसके कार्य्यभूत बारंबार जन्म और मरणका भी नाश होजाता है। एवम् प्रकार यह जीव ऊपर चढते२ योगारूढ होकर परमानन्दको प्राप्त हो सुखी होजाता है।

इसी विषयको भगवान् इस श्लोकमें स्पष्ट रूपसे कहते हैं, कि अपने ही आत्मासे अपने आत्माका उद्धारकरे, अर्थात् धीरे-धीरे योगारूढ होताहुआ परमपदपर चढजावे। " नात्मानमवसादयेत् " ऐसा न करे, कि अपनेही आत्मासे अपने आत्माको नीचे गिरादेवे। अर्थात् भगवत्स्वरूपके ध्यानको छोड, योगकी सिद्धियोंमें पड, लोकलोकान्तरोंके नाना प्रकारके ऐश्वर्य्यके भोगादिमें फंसकर, पूर्ण विषयासक्त हो एक बारगी उस महाप्रभुको भूल भ्रष्ट न होजावे। क्योंकि जो प्राणी केवल कर्मफलद्वारा विषयकी ही प्राप्तिमें मग्न हो, विषयसुखहीमें फंस

रहेगा, तो वह अवश्य कालान्तरमें नीचे गिरना आरंभ करेगा। फिर तो गिरते-गिरते रसातलको पहुंच जावेगा। क्योंकि नीचे गिरना अत्यन्त सुलभ है, पर ऊपर चढना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है। इसमें पुरुषार्थकी आवश्यकता है। पर्वतके शृंगपर चढना कठिन है पर गिरनेमें न तो कुछ यत्न है, न परिश्रम ही है। जहां गिरने लगा फिर तो मत पूछो! नाना प्रकारके पत्थरोंसे टकराता हुआ अंग-भंग हो, न जाने कहां जापडेगा कुछ ठिकाना नहीं। श्रु० " ॐ यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः। न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ " (कठो० अ० १ बल्ली ३ मं० ७)

अर्थ—जो मनुष्य विज्ञानवान् नहीं होता, योगारूढ नहीं होता और अमनस्क होताहै अर्थात् समाहितचित्त नहीं होता, सदा अशुचि रहता है, नाना प्रकारके विषयोंमें मग्न रहकर अपनी इन्द्रियोंको अपवित्र रखता है अर्थात् वशीभूत न रखकर सदा चलायमान रखता है, काम क्रोध इत्यादिके पल्ले पड़ प्रपंचमें मग्न रहता है वह धीरे-धीरे नीचेको गिरता ही चलाजाता है, वह तो कभी भी उस परमपदको प्राप्त नहीं करसकता। इसी कारण भगवान कहते हैं, कि प्राणीको सावधान रहकर यत्न—पूर्वक अपने आत्माको गिरनेसे बचाना चाहिये। क्योंकि [आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः] यह अपना आत्मा ही अपने आपका बन्धु है, अर्थात् हितकारी है, सहायक है, सर्व प्रकार कल्याण करनेवाला है और इससे इतर कोई दूसरा भव—बन्धनसे छुडानेवाला नहीं है। इसलिये यही अपना सच्चा बन्धु है इससे इतर जितने बन्धु, बांधव, हित,

मित्र इस संसारमें हैं सब स्वार्थी हैं। अपने स्वार्थके साधन निमित्त ही दिखलाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, कि कोई किसीको प्रतिदिन दस पांच मुद्रा देता चलाजावे, पर एक दिन देना रोकदेवे तो उस दिनसे लेनेवाला देनेवालेकी निन्दा करता फिरेगा। इससे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि कोई किसीका हित नहीं केवल अपना आत्मा ही अपना हित है। पुत्र, कलत्र इत्यादि जो कुछ हित करते हैं अपने ही आत्माके सुखकेलिये करते हैं, कोई किसी अन्यके लिये नहीं करता।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि अपना आत्मा ही अपना बन्धु है तथा इसीके प्रतिकूल यह अपना आत्मा ही अपना महान शत्रु है। क्योंकि यदि इस आत्मा द्वारा शम दमादिका साधन नहीं होसका, आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति न होसकी, गुरु सेवा द्वारा भगवतस्वरूपका लाभ न होसका, प्राणियोंका उपकार न बनसका और वेदशास्त्रोंका अध्ययन कर तदनुसार आचरण कर संसारे बन्धनसे छूटनेका साधन न होसका, वरु इसके प्रतिकूल अहर्निश काम-क्रोधमें फंस नानाप्रकारके कलहोंमें असत्य, स्तेय (चोरी) जारी, मद्यपान, द्यूत (जुआ) इत्यादि भ्रष्ट कर्मोंमें समय बितातारहा तो जानो, कि उसने अपने आत्माको अपने आप नष्टकिया और अपना शत्रु बनालिया। ये जो बाह्यशत्रु बनजाते हैं यह भी अपने आत्माका ही दोष है। क्योंकि क्रोधादिके अधिक होनेसे तथा छल, कपट, प्रपंच, अन्याय इत्यादि दुष्टकर्मोंके बढजानेसे सबही शत्रु होजाते हैं। इसलिये यह सिद्धान्त कियाहुआ है, कि अपना आत्मा ही अपना शत्रु है। इसलिये अपना आत्मा अपने ही द्वारा उच्च

और नीच दशाको प्राप्तहोता है । अतएव प्राणीको चाहिये, कि आप अपने आत्मा द्वारा अपना उद्धार करे । अर्जुनने जो यह पूछा था, कि योगारूढ होनेकेलिये प्राणीको किसकी सहायता लेनीचाहिये इसके उत्तरमें भगवान्ने स्पष्टरूपसे कहदिया, कि योगारूढ होनेकेलिये प्राणी अपने ही आत्मासे अपनी सहायता लेवे ।

शंका— भगवान् पहले कह आये हैं, कि " नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः " तथा "अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्य्योऽयमुच्यते ॥ " (देखो अ० २ श्लो० २४, २५) अर्थात् यह आत्मा नित्य है, सब ठौर है, स्थिर स्वभाव है, अचल है, सनातन है तथा अव्यक्त है, अचिन्त्य है और अविकार्य्य है ऐसा कहाजाता है। फिर जो एवम् प्रकार नित्य, अचल और अविकार्य्य इत्यादि गुणोंसे संपन्न शुद्ध बुद्ध है वह * उत्पत्ति, आप्ति, विकृति और संस्कृति इन चार प्रकारकी क्रियाओंके फलवाला नहीं होसकता । फिर भगवान्ने ऐसा क्यों कहा, कि यह आत्मा ऊपर चढता है और नीचे गिरता है तथा बन्धु है और शत्रु है । इन विकारोंसे आत्माको युक्त करनेसे भगवान्के वचनमें पूर्वापरविरोध होता है, ऐसा क्यों ?

समाधान— इसमें सन्देह नहीं, कि आत्मा सदा निर्विकार है, पर जिज्ञासुओंके समझानेकेलिये वेदान्तने भिन्न-भिन्न व्यवहारोंकी अपेक्षा, और इसके भिन्न-भिन्न अनेक नाम रखे हैं । मुमुक्षुओंको

* उत्पत्यादि विकृति संस्कृति रूपं चतुर्विधं क्रियाफलमात्मनि न संभवतीत्युक्तम्। (नीलकण्ठः)

आत्मतत्त्वका भेद समझानेकेलिये वेदान्तने + आत्माके तीन मुख्य नाम रखे हैं। प्रमाण "गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा" (वेदान्त पञ्चदशी प्रकरण १२ श्लो० ३९ में देखो) अर्थात् **गौणात्मा, मिथ्यात्मा और मुख्यात्मा** ये आत्माके तीन भेद हैं। इसलिये जिस-जिस व्यवहारमें जिस-जिस आत्माकी मुख्यता है तहां तिसकी प्रधानता है ।

दृष्टान्तोंसे उक्त तीनों भेद दिखलायेजाते हैं—

१. **गौणात्मा**— "देवदत्तस्तु सिंहोयमित्यैक्यं गौणमेतयोः । भेदस्य भासमानत्वात् पुत्रादेरात्मता तथा" (पंचद० अ० १२ श्लो० ४०)

अर्थ— जैसे किसीने कहा, कि यह देवदत्त सिंह है यहां सिंह और देवदत्तकी जो एकता है सो गौण है। क्योंकि इन दोनोंका भेद प्रत्यक्ष देखाजाता है । इसी प्रकार भेदके भासमान होनेसे पुत्रादिकोंका आत्मा भी गौण है। क्योंकि पुत्र और पिता दोनोंका भेद प्रत्यक्ष देख पडता है ।

२. **मिथ्यात्मा**—" भेदास्ति पंचकोशेषु साक्षिणं न तु भात्यसौ। मिथ्यात्माऽतः कोशानां स्थाणौश्चोरात्मता यथा" (पं० अ० १२ श्लो० ४१)

+ कोषोंसे देखाजाता है, कि आत्मा शब्दके अनेक अर्थ हैं जैसे यत्न, धृति, बुद्धि, स्वभाव, ब्रह्म, देह, मन, पुत्र, जीव, अर्क, हुताशन और वायु इत्यादि । भिन्न-भिन्न व्यवहारोंमें समय-समयपर आत्माके इन अर्थोंका व्यवहार कियाजाता है ।

अर्थ— यह जो अन्नमयादि ÷पंचकोशवाला शरीर है सो मिथ्यात्मा है। जैसे कोई पुरुष रात्रिके समय मार्गमें चलते-चलते एक स्थाणु (टूटेहुए वृक्षका स्तम्भ) देखकर अनुमान करता है, कि चोर है, पर यथार्थमें वह चोर नहीं है ठूंठ है। इसी प्रकार अज्ञानी भ्रमवश होकरे इस पंचकोशवाले शरीरको ही आत्मा समझता है और कहता है, कि मैं मनुष्यहूं, मैं गोराहूं, मैं कालाहूं, मैं काणा हूं, मैं बहिराहूं, मैं दुबला हूं, मैं मोटाहूं, इत्यादि। इसीको मिथ्यात्मा कहते हैं। क्योंकि इस स्थूल शरीर से और साक्षीरूप आत्मासे बहुत भेद है, पर यह भेद प्रतीत नहीं होता। जैसे चोर और स्थाणुमें भेद है पर सो भेद रात्रिसमयमें प्रतित नहीं होता इसी प्रकार अज्ञानताकी रात्रिके कारण मिथ्यात्मा और साक्षीरूप आत्मामें भेद प्रतीत नहीं होता।

३. मुख्यात्मा— "न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः सर्वान्तरत्वात्तस्यैव मुख्यात्मत्वमिष्यते" (पं० अ० १२ श्लो० ४२)

अर्थ— जो सच पूछाजावे तो साक्षीका आत्मासे भेद प्रतीत नहीं होता और न यथार्थमें भेद है। क्योंकि साक्षी जो मुख्यात्मा है, किसीका भी प्रतियोगी (विरोध करनेवाला) नहीं होता, वह तो केवल साक्षी मात्र है। दो पुरुषोंके दंगे तकरारमें मारखानेवाले और मारनेवाले दोनों को देखता रहता है, पर वह स्वयं किसीसे विरोध नहीं करता, न्यायके समय न्यायाधीशके सम्मुख सच्ची बात कहदेता है। इसी प्रकार यह "सर्वान्तरत्वात्" सबके अन्तर होनेसे साक्षीमात्र है। उसी मुख्या-

÷ पंचकोशोंका वर्णन अ० ३ श्लो० २७ में देखो।

त्माको समय-समयपर मुमुक्षुओंको समझानेके लिये वेदान्त शास्त्रने आत्माके तीन भेद दिखलादिये हैं।

अब वेदान्तका यह सिद्धान्त है– " सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता। तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥ (पं० अ० १२ श्लो० ४३)

अर्थ– इन तीनों प्रकारके आत्माओंके रहते भी व्यवहारोंमें जहां जिस प्रकारके आत्माकी आत्मता बनती है, तिन व्यवहारोंमें तिसी आत्माकी प्रधानता है। जैसे कोई प्राणी मृत्युको प्राप्त होरहा है, उस समय उसके घरमें वस्तु-तस्तुकी रक्षानिमित्त उसके पुत्रकी प्रधानता है। इसलिये यहां गौणात्मा की ही प्रधानता हुई। सो यहां जो भगवान्‌ने आत्मासे आत्माका उद्धार तथा अवसादन दिखातेहुए आत्मामें विकार दिखाया, सो इस पंचकोशात्मक देह सम्बन्धी जीवात्मताके विषय अर्थात् मिथ्यात्माके विषय दिखलाया, मुख्यात्माके विषय नहीं! मुख्यात्मा तो सदा साक्षीमात्र और निर्विकार है। यहां शंका मत करो!

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि पञ्चकोशके सम्बन्धसे नीचे गिरते–गिरते जो यह मिथ्यात्मा जीवात्मा कहलारहा है। सो मिथ्या त्माकी आत्मता है। इसलिये यहां इस श्लोकमें इसीकी प्रधानता है, यद्यपि साक्षी जो मुख्यात्मा सदा इसके साथ है पर अज्ञानताके कारण प्रतीत नहीं होता।

भगवान् कहते हैं, कि अपने आत्मासे अर्थात् मिथ्यात्मासे उन्नति करते–करते ऊपरको चढो! अर्थात् मुख्यात्मा बनजाओ! मुख्यात्मा

तो तुम हो ही, पर भ्रमात्मक ज्ञानसे स्थाणुको चोर समझ रहेहो, सो मत समझो ! ज्योंका त्यों नित्य शुद्ध बुद्ध समझो । इसीको समझनेकेलिये अर्थात् अपने यथार्थस्वरूपको पहचाननेकेलिये भगवानने "उद्धरेत्" ऐसा पद कहा । और पञ्चकोशोंमें जो प्रीति है वही इस आत्माका नीचे गिरना है सोभगवान् कहते हैं, कि इन पञ्चकोशोंकी प्रीतिको छोडो । अर्थात् अन्नमयकोषकी प्रीति छोड प्राणमयकोषको देखो, फिर प्राणमयकोषकी प्रीति छोड मनोमयकोषको देखो फिर मनोमयकोषकी प्रीति छोड विज्ञानमयपर चढो, विज्ञानमयकोषकी प्रीति छोड आनन्दमयपर चढो ! और आनन्दमयसे परमधामपर चढकर भगवद्-ध्यानमें अर्थात् ध्यानयोगमें मग्न होजाओ।

भगवानने यह जो कहा, कि अपना ही आत्मा अपना शत्रु और मित्र है, सोविकारात्मकबोधके कारण केवल इसी मिथ्यात्माके विषय कहा क्योंकि यहां इस श्लोकमें मिथ्यात्माका ही व्यवहार वर्णन कियागया है, इसलिये मिथ्यातमा जो जीवात्मा उसीकी यहां प्रधानता है ।

दूसरी बात यह है, कि आत्मा शब्दका अर्थ मन और बुद्धि भी है, सो मन बुद्धि अन्तःकरणका स्वरूप है । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि अपने ही अन्तःकरणसे अपनी उन्नति करो, अर्थात् मिथ्यात्मत्वके व्यवहारको छोडो ! क्योंकि अन्तःकरणका शुद्ध होना "ऊपर चढना" है और मलीन होना "नीचेगिरना" है। अन्तःकरणमें राग उत्पन्न होनेसे मित्रता और द्वेष उत्पन्न होनेसे शत्रुताकी प्राप्ति होती है सो इन राग और द्वेष दोनोंको परित्याग करो !

तीसरी बात यह है, कि पहले जो आत्माके अनेक अर्थ कह आये हैं तिनमें यत्न, धृति, स्वभाव और देह भी बतायेगये हैं इसलिये आत्मा

कहनेसे भगवान्का यह भी तात्पर्य्य है, कि मनुष्य अपने यत्नसे, धृतिसे, स्वभावसे और देहसे भी अपनी उन्नतिका यत्न करे ॥ ५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! किस अवस्थामें अपना आत्मा शत्रु है ? और किस अवस्थामें मित्र है ? अर्थात् अपने आत्माके शत्रु मित्र होजानेका लक्षण क्या है ? कैसे पहचान सकते हैं, कि अब मेरा आत्मा शत्रु है वा मित्र है ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— येन (नियन्त्रा) आत्मना (विवेकयुक्तेन मनसा) एव (निश्चयेन) आत्मा (कार्यकारणसंघातः) जितः वशीकृतः) तस्य (आत्मजितस्य योगारूढस्य) आत्मा (अन्तःकरणम्) आत्मनः (जीवस्य) बन्धुः (सहायकः । उच्छृङ्खलत्वप्रवृत्त्यभावेन स्वहितकारकः) [किन्तु] अनात्मनः (अजितात्मनः । अजितचेतसः) तु, आत्मा, एव (निश्चयेन) शत्रुत्वे (अपकारेकारित्वे) शत्रुवत् (रिपुवत् । शत्रुभावे । वाह्यशत्रुरिवोच्छृङ्खले प्रवृत्याऽनिष्टकारित्वे) वर्त्तेत (वर्त्तमानो भवति) ॥ ६ ॥

पदार्थः— (येन) जिस चतुर यत्न करनेवाले पुरुषसे (आत्मना) अपने विवेकयुक्त मन द्वारा (आत्मा) अपना शरीर

इन्द्रियोंके सहित (जितः) वशीभूत करलिया गया है (तस्य) उसीका (आत्मा) अन्तःकरण (आत्मनः) उसका अपना (बन्धुः) सहायक है और इसीके प्रतिकूल (अनात्मनः) जिसने अपनेको नहीं जीता (तु) तो तिसका (आत्मा) अपना ही आत्मा (एव) निश्चय करके (शत्रुत्वे) उसके अपकार करनेमें (शत्रुवत्) शत्रु के समान (वर्त्तेत) वर्तमान होता है अर्थात् जिसने अपनी आत्मासे अपनेको जीता है इसलिये जितेन्द्रिय होगया है उसकी आत्मा तो उसका हित है और जिसने आपसे अपनेको नहीं जीता उसका आत्मा उसका शत्रु है ॥ ६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा है, कि यह आत्मा किस अवस्थामें अपना बन्धु है? और किस अवस्थामें अपना शत्रु होता है? फिर किन लक्षणोंसे यह पहचाना जाता है? कि अब मेरा आत्मा मेरा मित्र है, अब शत्रु हैं। इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः**] जिसने अपने आत्मासे अपने आत्माको जीतलिया है उसीका आत्मा उसका बन्धु हैं। अर्थात् सर्व प्रकारके विषयानन्दको मृगतृष्णाके समान जान जिसने दूरहीसे तिरस्कार करदिया है, सर्व प्रकारके प्रलोभनोंसे चित्तको हटा यतचित्तात्मा होचुका है और किसी विषयके संग्रहकेलिये संकल्प मात्र भी नहीं करता है। जैसे कोई बीर अपने शत्रुकी सर्व-प्रकारकी धोखा देनेवाली कलाओंको जान, अपने बचनेका पूर्ण यत्न कर, अपने गढमें सुख-पूर्वक निर्भय बैठजाता है, इसी प्रकार जो "**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्**" (अ० ५ श्लो० १३)

इस मेरी आज्ञानुसार नवद्वारकी देहमें न कुछ करता, न कराताहुआ सुखपूर्वक शान्तचित्त हो बैठजाता है, उसी पुरुषका आत्मा उसका अपना बन्धु होता है। उसी पुरुषका आत्मा उसको संसार-क्लेशसे पार करदेता है। अथवा यों अर्थ करलो, कि उसका मुख्यात्मा जो ईश्वर सो उसके मिथ्यात्मा जीवका परम बन्धु है । जैसा भगवान् पहले कहआये हैं, कि "**सुहृदः सर्वभूतानाम्**" मैं सम्पूर्ण विश्वमात्रके जीवोंका सुहृद् अर्थात् बन्धु हूं । तहां भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो विषयोंकी प्रीति छोड मुझमें प्रीति करता है, उसका मैं बन्धु होकर नाश नहीं होनेदेता । सर्व प्रकारके क्लेशोंसे बचाता हूं । श्रुतिः " **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः** (श्वेताश्व० अ० ४ श्रुति ७)

अर्थ— परमात्मा और जीवात्मा जो दो पक्षी इस शरीर रूप वृक्ष पर बैठे हैं इनमें एक जो भोक्ता (जीव) सो कर्मोंके फल तथा राग-द्वेषादिके भारसे दुखित हो अर्थात् दबकर ऐसा शोचता है, कि मैं दुखी हूं, बिना किसी रक्षकके अकेला पडा हूं, कौन मेरी सुधि लेवेगा ? एवम् प्रकार अत्यन्त दीन, रक्षकहीन होकर शोचमें जलता है तथा मोहाक्रान्त होकर अनेक प्रकारके दुखोंसे दुःखी रहता है। पर जब किसी पूर्व-जन्मके शुभ-कर्मोंके उदय होनेसे अपने संगी ईश्वरकी ओर देखता है, उसकी विभूति और महिमाको पहचानता है तब वह प्राणी वीतशोक होजाता है अर्थात् शोकसागरसे छूटकर कृत-कृत्य होजाता है, आप्तकाम हो जाता है। फिर उसे किसी पदार्थकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं रहती ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस शरीररूप वृक्षपर जो दो पक्षी मिथ्यात्मा (जीव) और मुख्यात्मा (ईश्वर) बैठे हैं ये दोनों जब तक पीठसे पीठ जोडे बैठे हैं अर्थात जब तक यह जीव ईश्वरसे विमुख है, तब ही तक दुखी हो, नाना प्रकारके कर्मोंके फलोंको भोगता रहता है । तबही तक उसका दूसरा आत्मा इसका शत्रु है । पर जब दोनोंके मुख एक दूसरेसे मिलजाते हैं अर्थात् जीवात्मा ईश्वरके सम्मुख होजाता है तब परमानन्दको प्राप्त होजाता है । तब ही इसका आत्मा इसका बन्धु कहाजाता है

भगवानके कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि इसी प्रकार अपना आत्मा अपना बन्धु है । अब भगवान कहते हैं, कि इसीके प्रतिकूल [अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्] जो अजितात्मा है जिसने अपने अन्तःकरणको गुरुके उपदेश द्वारा निष्कामकर्मोंसे शुद्ध नहीं किया, राग, द्वेष, काम और क्रोधकी ओर लगादिया, एकबारगी अचेत होकर कभी किसी प्रकारके धर्म्मकी ओर नहीं देखा, सन्ध्या, हवन तर्पणादिसे विमुख रहा, इष्टपूर्त्त इत्यादिका सम्पादन नहीं किया । वरु इसके प्रतिकूल चोरी, जारी, मिथ्या, छल कपट, प्रपंच, द्वेष, पाखण्ड, लोलुपता, धूर्त्तता, असूया इत्यादि दुष्टकर्मोंमें अपनी आयु बितादी, उसीका आत्मा उसका शत्रु है। क्योंकि ऐसे प्राणीके सिरपर जब काल चढ आता है तब यमदूत मुद्गरोंसे मारमारकर वैतरणीमें डूबाते हैं और कहते हैं, कि "कृतꣳ स्मर कृतꣳ स्मर" अर्थात् जो दुष्टकर्म तूने किया है उसको स्मरण कर ! उसको स्मरण कर ! एवम् प्रकार नरकके दुःखोंको भोगकर फिर इस मृत्युलोकमें आ शूकर,

कूकर इत्यादि नीच योनियोंमें उत्पन्न होता है, ऐसे ही प्राणीका आत्मा उसका शत्रु है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणीने अपने ही आत्मासे अपने आत्माका घात किया, इसी कारण ऐसे पुरुषका अपना ही आत्मा अपने शत्रुत्वमें अर्थात् अपकार करनेमें लगारहता है, शत्रुके समान बर्त्ताव करता है अर्थात् पूर्ण शत्रु ही है।

क्योंकि जब यह जीव यमदण्डसे पीडित होता है तब पछताता है और बोलता है, कि " **यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्। एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभागिनः।**

अर्थ— अपने पुत्र, कुलत्र इत्यादिके पालन पोषणकेलिये जो मैंने शुभाशुभकर्म किये थे, उनके फल आज मैं अकेला भोगरहा हूं न जाने वे लोग कहां गये जो मेरे उपार्जन कियेहुए द्रव्यसे मुझे अपना–अपना कहकर अपना स्वार्थ सिद्ध करलेते थे। अब इस समय तो मैं अकेला नरकमें जलरहा हूं उनमेंसे किसीको सामने नहीं देखता। यही दुःखभोगना अपने आपकी शत्रुता है। क्योंकि प्राणीके आत्माहीने शत्रु होकर उसे ऐसे दुःखमें डुबादिया।

श्यामसुन्दरके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिसको जितात्मा देखो उसे जानो, कि इसका आत्मा इसका बन्धु है और जिसे अजितात्मा देखो! पहचानलो, कि इसका अपना ही आत्मा अपना शत्रु है ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! एवम् प्रकार जो जितात्मा है, जिसका आत्मा उसका बन्धु है वह किस फलको प्राप्त होता है? सो कृपाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
॥ ७ ॥

पदच्छेदः— शीतोष्णसुख दुःखेषु (शीतोष्णादिषु प्राप्तेषु) तथा, मानापमानयोः (पूजापरिभवयोः) जितात्मनः (जितः अन्तःकरणं येन तस्य । निर्विकारचित्तस्य) प्रशान्तस्य (सर्वत्र समबुद्ध्या रागद्वेष शून्यस्य) परमात्मा (महेश्वरः । वासुदेवः) समाहितः (हृदि स्थितः । हृदि आविर्भूतः)॥ ७ ॥

पदार्थः— (शीतोष्णसुखदुःखेषु) ठंढक और गरमीमें सुख और दुःखमें (तथा मानापमानयोः) मान और अपमानमें (जितात्मनः) जितेन्द्रिय तथा यतचित्तात्माका और (प्रशान्तस्य) सदा शान्त रहनेवालेका (परमात्मा समाहितः) परमात्मा समाहित होता है अर्थात् उसकी समाधिका विषय होता है। तात्पर्य्य यह है, कि उसीके हृदयमें परमात्मा स्थित होजाता है ॥ ७ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे पूछा है, कि जितात्मा प्राणीको कौनसा उत्तम फल लाभ होता है ? उसके उत्तरमें भगवान्

कहते हैं, कि [**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः**] जो प्राणी जितात्मा (इन्द्रियजित) तथा प्रशान्त है उसी केलिये परमात्मा समाहित है। अर्थात् उसीके ध्यानमें परमात्मा स्थिर रहता है। जिसने अपनी बुद्धि भगवत्में स्थिर रक्खी है, जो किसी प्रकारके विकारको प्राप्त नहीं होता, षोडसी, मन हरनेवाली युवतियों के सम्मुख जो तनकभी चलायमान नहीं होता, शुकदेवके समान स्वर्गकी रम्भाका भी तिरस्कार करडालता है तथा जिसके हृदयमें यहां तक सज्जनता उमडी हुई है, कि अपनी भलाई करनेवालेके साथ तो क्या? वह अपने बुरा करनेवालेके साथ भी भलाई ही करनेमें तत्पर रहता है अर्थात् जो सदा क्षमाका समुद्र ही बनाहुआ है। इसी कारण जो जितात्मा और प्रशान्तात्मा की पदवीसे सुशोभित है ऐसोंहीके लिये परमात्मा समाहित है। अर्थात् वह महाप्रभु सदा उनके चित्तमें स्थिर है। अथवा यों कहलो, कि ऐसे ही पुरुषकेलिये परमात्मा जो स्वयं प्रकाशस्वरूप है, समाधिका विषय होजाता है। तात्पर्य्य यह है, कि परमात्मामें उसीकी समाधि लगजाती है। ऐसा प्राणी अन्य किन-किन विशेष गुणोंसे सम्पन्न रहता है? सो भगवान् कहते हैं, कि [**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः**] शीत और उष्णमें, सुख और दुःखमें क्लेशोंको शान्तिपूर्वक सहन करलेता है ऐसा प्राणी शान्तरूपसे विहार करता है। शीत और उष्ण कहनेसे साधारण दृष्टि से तो ठंडक और गरमीसे ही तात्पर्य्य है पर यथार्थमें इन दोनों शब्दोंसे स्वरूपतः केवल सरदी गरमीको नहीं समझनी चाहिये। क्योंकि प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि दस पांच मनुष्य परस्पर भाषण करतेहुए ऐसा बोला

करेते हैं, कि भाई ! संसारकी सरदी, गरमी सबको समय-समयपर सहन करनी चाहिये ! कहावत है, कि " जब जस बहै बयार पीठ तब तैसी दीजे " अर्थात् संसारी दुःख सुख सरपर आपड़ें तो अवश्य सहना चाहिये। इसलिये सरदी गरमी कहनेसे स्वरूपतः ग्रीष्मऋतुकी गरमी और शीतकालकी सरदीसे तात्पर्य नहीं है वरु सुख दुःख से तात्पर्य है।

इसी सामान्य सरदी गरमीके सहनेवालोंको महात्मा वा जितात्मा तथा प्रशान्तचित्त कहाजावे तो साधारण पशु-पक्षी तथा हलजोतनेवाले कुलियोंको जो ग्रीष्मऋतुके प्रचण्ड तापमें दिनभर हलजोताकरते हैं, महात्मा कहना चाहिये। इसलिये यहां शीतोष्ण कहनेसे स्वरूपतः केवल साधारण सरदी गरमी मात्रसे प्रयोजन नहीं है, वरु संसारके अन्य प्रकारकेदुःख-सुखोंसे भी प्रयोजन है। इसलिये भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो संसारकी सरदी गरमी अर्थात् भली बुरी दशामें व्याकुल नहीं होता तथा सुख दुःखमें जो सदा प्रसन्न चित्त रहता है वही यथार्थ जितात्मा है, क्योंकि अपने स्थानसे वह हिलता नहीं।

शंका— यदि शीतोष्ण कहनेसे भगवानका तात्पर्य्य सांसारिक दुखोंःसे ही है, तो शीतोष्णके साथ फिर सुखदुःखेषु क्यों कहा?

समाधान— शीतोष्ण कहनेसे उन दुःखोंका प्रयोजन है जो किसी दैवी-उत्पातसे उत्पन्न होते हैं। जैसे अनावृष्टिके कारण दुष्काल पडजाना, विशूचिका इत्यादि रोगोंका फैलजाना, जल और अग्निका अधिक उत्पात होना, जिसे एक ही बार बहुतेरे प्राणियोंको सहन करना पडता है और दुःख-सुख कहनेसे विशेषकर एक ही प्राणीके दुःखसुख से प्रयोजन है, जो उसे अपने शुभाशुभकर्मोंद्वारा अकेले ही भोगना

पडता है। एक ही घरमें एक ही समय एक दुखी रहता है और दूसरा सुखी रहता है, सो व्यक्तिके विशेष कर्मोंका फल है, यहां शंका मत करो!

भगवान् कहते हैं, कि दुःख सुखमें जो व्याकुल नहीं होता उसीके लिये परमात्मा समाहित है।

अब कहते हैं, कि (मानापमानयोः) मान और अपमानमें जिसके चित्तको विकार नहीं उत्पन्न होता वही परमात्मस्वरूपमें समाधिस्थ रहता है।

शंका—जिस अपमानको *अम्बरीष राजाके द्वारपर दुर्वासा नहीं सह सके तो साधारण प्राणी कैसे सहसकता है?

समाधान— साधारण प्राणीकेलिये यह उपदेश है भी नहीं। यह तो उसीकेलिये है जिसने अनेक काल अभ्यास करके अपने अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है और योगारूढ होगया है। क्योंकि जब वह एवम् प्रकार योगारूढ होकर समदर्शी होजाता है तब मान और

* निरपराध अम्बरीष राजाने जब दुर्वासाको अतिथि बनाकर द्वादशी बीतजानेके भयसे केवल जलपानमात्र करलिया था इसे दुर्वासाने अपमान समझा और राजाके समीप आकर बोले, कि अहो! "अस्य निरांसस्य श्रियोन्मत्तस्य पश्यतः। धर्मव्यतिक्रमं विष्णोरभक्तस्येशमानिनः॥ योमामतिथिमायातमातिथ्येन निमन्त्र्य च। अदत्त्वा भुक्तवांस्तस्य सद्यस्ते दर्शये फलम्॥ एवम्ब्रुवाण उत्कृत्य जटां रोषविदीपितः। तया स निर्ममे तस्मै कृत्यां कालानलोपमाम्॥ (श्रीमद्भागवत स्कं० ६ अध्या० ४ श्लो० ४४, ४५, ४६)

अपमानको सहन करनेमें समर्थ होजाता है । हां ! इतना तो अवश्य है, कि माहेश्वरी माया अत्यन्त प्रबला है जो ब्रह्मादिको भी मोहित करलेती है । इसलिये इस अपमानकी चपेटमें दुर्वासा आगये तो यह घटना क्षणमात्रकेलिये थी । वरु प्रायः ऐसा देखाजाता है, कि जब-जब कोई महात्मा मायावश काम क्रोधादिकी चपेटमें आजाता है तो भगवान् स्वयम् उसे चेताकर शुद्ध और निर्म्मल करदेते हैं । जैसे दुर्वासाको चेतादेनेकेलिये चक्रकी प्रेरणाकी । जिसके भयसे दुर्वासा सुमेरुकी कन्दरामें जा घुसे, लोकलोकान्तरोंमें भागतेरहे, ब्रह्मा-दिकी शरणगये, पर कोई उनकी रक्षा करनेमें समर्थ न हुआ । जब भगवान्‌की शरण जागिरे तब उन्होंने उपदेश किया, कि " जा ! मेरे भक्त अम्बरीषके पास जा ! जब तेरी जान बचेगी " फिर ऐसा ही हुआ उधर अम्बरीषको दुर्वासाके इतना क्रोध करनेपर भी तनक क्षोभ न हुआ ।

अथ— अहो ! देखोतो सही— निर्लज्जको देखोतो ! जो द्रव्यसे उन्मत्त, विष्णुकी भक्तिसे रहित, अपनेको सबका शीरोमणि माननेवाले अम्बरीष राजाके अन्यायकी ओर तो देखो ! जिसने मुझको वडे आदरसन्मानसे अपना अतिथि बनाकर भी मेरी कुछभी परवा न करके मुझको बिना भोजन कराये आप भोजन करलिया है । अच्छा ! मैं अपने इस अपमानका फल बहुत ही शीघ्र दिखलाता हूं । इतना कहकर अपनी एक जटा उखाड पृथ्वी पर पटकदी । जिससे प्रलयकालकी अग्निके समान लहरातीहुई कृत्या नामकी देवी राजा को भस्म करनेकेलिये दौडी ।

इस इतिहाससे प्रत्यक्ष देखाजाता है, कि दुर्वासा ऐसे महापुरुषसे जब अपमान नहीं सहागया तो साधारण प्राणी कैसे सहसकता है ?

अब दोनों दृष्टान्त यहां आपके सामने एक ही ठौर रखेहुए हैं। बुद्धिमान् विचार करसकते हैं, दुर्वासाका क्रोधमें आकर अपमान न सहना, तिसका दण्ड दुर्वासाको और सहनशील होनेका फल अम्बरीषको मिला। अर्थात् जिसकी रक्षा भगवानके चक्रसे होगयी। इसी प्रकार अम्बरीष राजाके समान जो प्राणी सब दशाओंमें शान्तचित्त है वही जितात्मा है। यहां शंका मत करो! देखो! भगवान्ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे अम्बरीषके सम्मुख दुर्वासाको कहा है, कि "ये दारागार पुत्राप्तान्प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ मयि निर्बद्धहृदयाः साधवः समदर्शिनः वशं कुर्वन्ति मां भक्ताः सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा॥ (श्री मद्भागवत स्कं० ९ अ० ४ श्लो० ६५, ६६)

अर्थ— जो अपनी स्त्री, घर, पुत्र, पौत्र, प्राण, धन तथा इस लोक और परलोकको परित्यागकर मेरी शरण प्राप्त होते हैं, उनको मैं कैसे त्याग करनेको समर्थ होसकता हूं? क्योंकि जिसने मुझमें अपने हृदयको निरन्तर लगारखा है ऐसे समदर्शी साधु मुझको इस प्रकार वश करलेते हैं जैसे पतिव्रता स्त्री अपने सच्चे पतिको वशीभूत करलेती है॥

भगवान्के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि उक्त गुणोंसे जो प्राणी सम्पन्न है मैं सदा उसके आगे-पीछे, दायें-बायें डोलता रहता हूं॥ ७"

अब भगवान् ऐसे जितात्माकी प्रशंसा नाना प्रकारसे करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं—

मू०— ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकांचनः ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (शास्त्रोपदेशजा बुद्धिः तथा शास्त्रार्थध्यानतः प्रमारूपोऽनुभवस्ताभ्यां तृप्तः आत्मा यस्य सः) कूटस्थः (संसारतापादप्रकम्प्यः । विषयसन्निधावपि विकारशून्यः) विजितेन्द्रियः (विषयग्रहणात् व्यावर्त्तितानीन्द्रियाणि येन सः) समलोष्टाश्मकांचनः (समानि मृत्पिण्डपाषाणकांचनानि यस्य सः) योगी (योगारूढपुरुषः) युक्तः (समाहितः । योगारूढो वा) इति उच्यते ॥ ८ ॥

पदार्थः— (ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है आत्मा जिसकी तथा (कूटस्थः) किसी प्रकारके तापसे नहीं कम्पायमान होता हृदय जिसका फिर (विजितेन्द्रियः) जो प्राणी जितेद्रिय है और (समलोष्टाश्मकांचनः) समान हैं मिट्टीके पिण्ड पत्थर और काञ्चन जिसकी दृष्टिमें सो ही (योगी) योगारूढ पुरुष (युक्तः) समाहितचित्तवाला है (इति) ऐसा (उच्यते) कहाजाता है ॥ ८ ॥

भावार्थः— अब आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कई श्लोकोंमें ध्यान-योगकी शिक्षा देते हुए परमात्मसमाहित पुरुषकी प्रशंसा करते

हुए कहते हैं, कि [ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः] ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है आत्मा जिसका अर्थात् गुरुके उपदेश द्वारा शास्त्रके विषयोंको पूर्णप्रकार ग्रहणकर तदनुसार विचार तथा अभ्यासपूर्वक ज्ञानकी * सातों भूमिकाओंको प्राप्तकर शुद्ध करली है बुद्धि जिसने तथा तिस ज्ञानके परिपक्व होनेसे आत्मा अनात्माके भेदका पूर्णप्रकार प्रत्यक्ष करलिया है जिसने और जो कुछ जाननेको था जानलिया है जिसने वही " ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा " कहलाता है ।

प्रमाण— परोक्षापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा । तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोयं समाप्यते ॥ अर्थात् विचारसे जो ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है वह दो प्रकारका है परोक्ष और अपरोक्ष। तहां परोक्ष-ज्ञानका विचार करते—करते जब अपरोक्ष-ज्ञानकी प्राप्ति होती है तब विचारकी समाप्ति होजाती है । क्योंकि जिसको जानना था सो प्रत्यक्ष करके जानलिया। जैसे भोजनकी आवश्यकता तबहीतक है जबतक क्षुधाकी शान्ति नहीं हुई है । क्षुधाकी शान्ति होनेपर अत्यन्त रुचिकारक पदार्थ भी फीके होजाते हैं । इसी प्रकार शास्त्रोंका विचार तबही तक है जबतक अपरोक्षज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष विज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है । पर जब इसकी प्राप्ति होगयी और " अहं ब्रह्मास्मि " की अखण्ड वृत्ति चलपडी तब विचारकी समाप्ति होजाती है क्योंकि यहां तृप्ति होगई। ऐसा प्राणी सर्व प्रकार तृप्त होकर

---

* सप्तभूमिका देखो अ० ३ श्लो० १८

फिर किस दशाको पहुंचता है? सो भगवान् कहते हैं "— **कूटस्थो विजितेन्द्रियः**" कूटस्थ और विजितेन्द्रिय होजाता है। जैसे कूटस्थ-ब्रह्म स्वयं निर्विकार है, स्थूल-सूक्ष्म-शररीकी उपाधियोंसेतनक भी कम्पायमान नहीं होता। इसी प्रकार सो पुरुष भी कूटस्थ होजाता है। पहले जो कूटस्थ कहआये हैं उसमें और इसमें कुछ भेद नहीं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जो प्राणी स्थूल शरीरके विकारोंको त्यागकर सूक्ष्म-शरीर हो फिर तिस सूक्ष्मको कूटस्थमें लय करदेता है वही यथार्थ कूटस्थ है। और जब वह कूटस्थ हुआ तो विजितेन्द्रिय अवश्य होगा। क्योंकि जैसे जलके स्थिरहुए जलाकाशमें भासनेवाले चन्द्र सूर्य्य सब स्थिर देखेजाते हैं और जलके डोलनेसे सब डोलते देखपडते हैं। इसी प्रकार प्राणी जब कूटस्थ दशाको प्राप्त होता है तो स्थूल सूक्ष्म शरीरोंके साथ जितनी इन्द्रियां हैं तथा मन, चित्त, बुद्धि अहंकारादि जो अन्तःकरण हैं सब एकबारगी स्थिर होजाते हैं। इसी कारण सो प्राणी अपनी इन्द्रियोंको वशीभूत करलेता है। अब भगवान् कहते हैं, कि एवम् प्रकार स्थिरचित्त होजानेसे [**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः**] वही योगी योगमें युक्त अर्थात् आरूढ कहलाता है और परमात्मामें समाहितचित्त कहाजाता है।

यहां युक्त कहनेसे भगवानका तात्पर्य्य यह है, कि जैसे बाजीगर मस्तकपर घट लियेहुए एक पतली डोरीपर गानकरता, बोलता, हंसता और पैरोंको आगे बढाता चलाजाता है, पर उसका चित्त उसी स्थानपर स्थिर रहता है जहां उसके पैरोंके तलवे और डोरीका मेल है। यदि उस डोरीमें उसका चित्त युक्त न हो तो आप भी नीचे गिरपडे और

मरतकका घट भी गिरकर चूर-चूर होजावे। इसी प्रकार जो प्राणी मिट्टीका लोंदा, पत्थर और सोना सबको एक समान देखता है, जिसने सब व्यवहारोंको त्याग करदिया है उसे न तो स्वर्णसे, न किसी और प्रकारके द्रव्य इत्यादिसे कुछ प्रयोजन रहता है। इसलिये उसकेलिये मृत्पिण्ड, ईंट, पत्थर और काञ्चन सब एक समान हैं। अश्मके अर्थ हीरा, लाल, पिरोंजा, पुखराज, नीलम आदि भी होसकते हैं। इसलिये भगवानके कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि उसकी दृष्टिमें सर्व-प्रकारके रत्न तथा स्वर्ण इत्यादि, ईंट और पत्थरके समान हैं। इसी विषयको भगवान् पहलेभी कह आये हैं, कि "**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे....**" (देखो अ० ५ श्लो० १८) बुद्धिमानोंको स्मरण रखनाचाहिये, कि संसृतव्यवहारदृष्टिसे इन ईंट और रत्नोंमें अन्तर है किन्तु परमार्थदृष्टिसे ये सब समान हैं।

टिप्पणी— ऐसा मत करो, कि सिल और लोढा लेकर किसी जौहरीकी दुकान पर जा उससे यों कहो, कि भाई! यह सिल लोढा लो और इसके बराबर स्वर्ण देदो। क्योंकि भगवान्ने गीतामें पत्थर और स्वर्णको एक समान देखनेको कहा है।

फिर ऐसा भी मत करो, कि अपने पुत्रके यज्ञोपवीत संस्कारके समय ब्राह्मणके स्थानपर चांडालको बुलायाकरो और यह कहो, कि भगवान्ने ब्राह्मण और चांडालको समान कहा है ऐसा करनेसे धूर्त वा पागल समझे जाओगे। इसका पूर्ण ध्यान रखो, कि परमार्थकी बातोंको संसृत-व्यवहार वा स्वार्थमें योजना मत करो। ऐसा करना ज्ञानी होना नहीं है पागल होना है। इसलिये व्यवहार-दृष्टिसे इनका सम नहीं देखना है परमार्थ दृष्टिसे देखना है।

भगवान्का यह तात्पर्य नहीं है, कि गीता पढकर सब छोटे बडे पागल होजावें। जैसे आज कलके नवीन प्रकाश वाले शास्त्रके वचनोंको पढकर पागल होजाते हैं। मुख्य तात्पर्यको न समझकर व्यवहारमें भी परमार्थ दृष्टिको घुसेड दिया करते हैं। ऐसा करना तो यथार्थमें पागल ही होना है ज्ञानी होना नहीं है। अस्तु—

भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि जो प्राणी उक्त गुणोंसे सम्पन्न है वही जितात्मा और समाहितचित्त है ॥ ८ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि ऐसे समबुद्धिवालोंमें भी उत्तम कौन है ?

मू०— सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु (अनपेक्षोपकारकर्त्ता, स्नेहवान्, शत्रुः, विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षकः कृतापकारमपेक्ष्यापकर्त्ता तथा सम्बन्धेनोपकर्त्ता एतेषु) साधुषु (सदाचारिषु) पापेषु (दुराचारिषु) अपि, च समबुद्धिः (ब्रह्मदर्शनेन एकरूपा बुद्धिर्यस्य सः) विशिष्यते (सर्वत उत्कृष्टो भवति विशिष्टो भवति) ॥ ९ ॥

पदार्थः— (सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु) सुहृत्, मित्र और उदासीन " किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं रखनेवाला " मध्यस्थ " विवादियोंका न्यायपूर्वक हित चाहनेवाला " द्वेष्य

"अपने साथ विरोध करनेवाला" और बन्धु इन सबोंमें तथा (साधुषु) साधुओंमें और (पापेषु) पापियोंमें (अपि, च) भी जो (समबुद्धिः) समान बुद्धि रखनेवाला है वही (विशिष्यते) सर्व प्रकार के योगारूढ प्राणियोंमें विशेष अर्थात् उत्तम समझाजाता है ॥ ६ ॥

भावार्थः— इस अध्यायमें भगवान् योगारूढ प्राणियोंकी प्रशंसा करनेके पश्चात् उनको ध्यान-योगमें प्रवेश करनेकी शिक्षा दिया चाहते हैं। इसलिये उत्तम मध्यम अधिकारियोंका वर्णन करते हैं। ऐसा करनेसे अधिकारियोंकी श्रद्धा दुगुनी और चौगुनी बढती है। जब कोई किसी प्राणीको युद्धादि विशेष कार्योंमें प्रवृत्त करना चाहता है तो पहले उसे श्रद्धा दिलानेकेलिये उसकी प्रशंसा और स्तुति करता है। जैसे नरेश-बृन्द अपने वीरोंकी स्तुति और प्रशंसा कर उनको बाणविद्यामें चतुर बना, शरीरमें कवच, वर्म, सन्नाह् और शिरस्त्राण इत्यादि पहना, नाना प्रकारकी शिक्षा दे युद्धमें नियुक्त करते हैं। इसी प्रकार त्रिभुवनपति श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द अपने सेवकोंपर कृपादृष्टिकर उनको योगरूप युद्धमें नियुक्त करनेकेलिये उनकी प्रशंसाकर उनको भिन्न-भिन्न गुणोंसे सुशोभित करते हैं। अर्थात् ध्यान-योगमें प्रवृत्त होनेवालोंको पहले किन-किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये? उन गुणोंका वर्णन कर मानो यह उपदेश करते हैं, कि हे अधिकारियो! तुमको चाहिये, कि इन विषयोंपर पूर्ण ध्यान रक्खो। क्योंकि जिस प्राणीमें ये गुण नहीं होंगे वह ध्यान-योगका अधिकारी नहीं होसकता। एवम् प्रकार पिछले श्लोकोंमें मध्यम अधिकारियोंका वर्णन कर अब इस श्लोकमें उत्तम अधिकारियोंका वर्णन

करतेहुए कहते हैं, कि [सुहृन्मित्रार्य्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु] " सुहृद्, मित्र, अरि, उदासी, मध्यस्थ द्वेष्य और बन्धु इन सातों प्रकारके मनुष्योंमें तथा [साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते] " साधुषु " सदाचारियों और " पापेषु " पापाचारियोंमें जो एक समान बुद्धि रखता है वही योगारूढ, अन्य सब योगियोंमें तथा यतात्माओंमें श्रेष्ठ है। अर्थात् सर्व प्रकार सर्व ठौर उसीकी उत्तमताकी प्रशंसा कीजाती है।

यहां भगवान्ने नवों प्रकारके मनुष्यों की गणना की है जिनसे प्रत्येक प्राणियोंको समय-समयपर संग करनेकी आवश्यकता पडती है। अथवा यों कहलो, कि ये नवों प्रकारके मनुष्य प्रत्येक मनुष्यके सम्मुख संयोगवशात् समय-समयपर आ उपस्थित होते हैं। तहां यह स्वाभाविक है, कि इनमें किसीके मिलनेसे प्रसन्नता और किसीके मिलनेसे घृणा प्राप्त होती है। इसी कारण किसीसे राग और किसीसे द्वेष होजाता है पर जिसे इनसे राग द्वेष न हो जो सबको एक समान देखे उसीकी गणना श्रेष्ठ योगियोंमें है।

पाठकोंके कल्याण निमित्त इन नवों प्रकारके पुरुषोंके स्वरूपोंका वर्णन करदिया जाता है—

१. सुहृद:— जो बिना किसी अपने प्रयोजनके परायेका उपकार कियाकरे। अर्थात् परायेपर जब किसी प्रकारका क्लेश आपडे तब अपने शरीरसे, बलसे तथा धन सम्पत्तिसे जिस प्रकार संभव हो उपकार करदेवे पर उसका बदला कभी न चाहे। जैसे महाराज शिवि

ने अपने शरीरका मांस काट श्येन (बाज) को देकर कपोतकी जान बचाई । इस प्रकारके स्वभावतः उपकारी सुहृद् कहेजाते हैं ।

२. मित्र-- वह है जो अपने साथ सहज स्नेह रखे और अपना हितकारी हो " माता मित्रं पिताचेति स्वभावात् त्रितयंहितम् " माता, मित्र और पिता ये तीनों स्वभावसे ही हित होते हैं पर इन तीनोंमें भी मित्रकी श्रेष्ठता कथन कीगई है— " न मातरि न दारेषु नात्मनि न च सोदरे। विश्वासः तादृश पुंसां यात्त्व मित्रे स्वभावजे" अर्थात् मनुष्योंके लिये जो विश्वास मित्रमें होता है वह न माता में न स्त्री में, न पुत्रमें, न सहोदर भाईमें किसीमें भी नहीं होता।

तिस मित्रकी प्रशंसा यों कीगई है—सुनो ! " शोकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्रंभभाजनम्। केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम्। " अर्थात् शोकसे और शत्रुके भयसे बचानेवाला तथा प्रीति और विश्वास का पात्र जो दो अक्षरका मित्र-रूपी रत्न है उसे न जाने किसने रच-दिया है। तात्पर्य यह है, कि मित्र मनुष्योंके लिये रत्नरूप ही है वरु रत्नसे भी अधिक है। क्योंकि रत्न जड है और मित्र चेतन है, रत्न विपत्तिके समय समीपसे हटजाता है और मित्र सटजाता, है इसलिये रत्नसे मित्र अधिक है।

३. अरिः—अर्थात् शत्रु जो मित्रके प्रतिकूल है उसे अरि कहते हैं। मित्र सदा हित चाहता है शत्रु सदा अहित चाहता है। इसी कारण नीति तो यह है, कि " शत्रुणा नहि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि संधिना । सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येनपावकम् "

अर्थ— शत्रु चाहे लाखों उपायोंसे अपने साथ मेल करने आवे तो भी उससे मेल नहीं करना चाहिये और न उसकी चिकनी चुपडी बातों पर विश्वास ही करना चाहिये । जैसे पानी जो अग्निका शत्रु है चाहे कितना भी गरम क्यों न हो तो भी आगको बुझा ही देता है।

४. उदासीनः— " विजिगीषोः शत्रुमित्रभूमितो व्यवहितः व्यवहितत्वादेव नोपकारी नाप्यपकारी केवलमूर्द्धमासीन इव । "

अर्थात् बादी और प्रतिबादी दोनोंकी शत्रुता वा मित्रतासे कोई प्रयोजन न रखकर उनसे आंख बचाकर न तो किसीका उपकार करे और न अपकार करे, केवल ऊंचे बैठकर देखाकरे अर्थात् दोनोंसे उदासीन रहे ।

५. मध्यस्थः— "वादिप्रतिवादिनोरन्तरे तिष्ठतीति मध्यस्थः" जो वादी और प्रतिवादिके मध्यमें दोनोंका हित करने वाला है तथा जो "मध्यस्थाः परकीयकार्य्यकुशलाः स्वार्थाविरोधेन ये " अपने स्वार्थकी इच्छा न करके परायेके कार्य्य करदेनेमें जो कुशल हों वे ही मध्यस्थ कहलाते हैं ।

टिप्पणी— " बरतवाज़ो हाय दुश्मन तकियाकरदन अब्लहीस्त
पाय बोसे सैल अज़ पा अफगनद दीवाररा " (शादी)

وبلو اضع ھائے دشمن تکیہ کردن ابلہ ھست ✦ پائبوس سیل از پا افکند دیوارا

अर्थ— शत्रुकी नम्रतापर भरोसा करना मूर्खता है क्योंकि पानी जब दीवाल की जडको चूमता है तो उसे जडसे गिरा ही देता है ।

६. द्वेष्यः— जिसने किसीसे किसी प्रकारका क्लेश पायाहो इस लिये उसका अपकार करनेमें तत्पर हो उसे द्वेष्य कहते हैं। बहुतेरोंकी राजनीति अनुसार यह सम्मति है, कि गुणयुक्त द्वेष्य समयानुसार ग्राह्य है और दोषयुक्त अपना स्नेही भी त्याज्य है। पर परमार्थदर्शियोंकी दृष्टि में तो दोनों एकही समान हैं। "**द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् । त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासी दंगुलीवोरगक्षता ।**"

(रघु० सर्ग १ श्लो० २८)

अर्थ— जैसे महाराज दिलीपको कडवी औषधिके समान द्वेष्य भी ग्राह्य था और सांपसे डसीहुई अपनी अंगुलीके समान दोषयुक्त अपना स्नेही भी त्याज्य था।

७. बन्धुः— जिसके साथ किसी प्रकारका अपना सम्बन्ध हो इस कारण अपना उपकार कियाकरे उसे वन्धु कहते हैं—

"**उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्र विप्लवे ।**
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स वान्धवः ॥

अर्थ— विवाहादि उत्सवोंमें, किसी आपत्तिमें, दुर्भिक्षमें, राज्यके पलटनेके समय जो साथ देवे तथा जब राजाके समीप किसी दोषमें पकडकर लायाजावे तो उस समय जो राजद्वारपरे आकर भलेबुरेका साथी हो तथा श्मशानमें अर्थात् अपना मृतक फूंकनेके समय जो साथरहे वही बन्धु कहाजाता है।

८ साधुः— "सायधति निष्पादयति धर्म्मादि कार्य्यमिति साधुः" जो धर्म्मादिक कार्य्योंका साधन और सम्पादन करे उसीको साधु कहते

हैं। " यथा लब्धोपि सन्तुष्टः समचित्तो जितेन्द्रियः। हरिपादाश्रयो लोके विप्रसाधुरनिन्दकः ॥ निर्वैरः सदयः शान्तो दम्भाहंकारवर्जितः। निरपेक्षो मुनिर्वीतरागः साधुरिहोच्यते ॥ लोभ मोहमदक्रोधकामादि रहितः सुखी । कृष्णांघ्रिशरणः साधुः सहिष्णुः समदर्शनः। कृष्णाश्रयः कृष्णकथानुरक्तः कृष्णेष्टमन्त्रस्मृतिपूजनीयः । कृष्णानिशंध्यानमनास्त्वनन्यो यो वै स साधु मुनि वर्य्य कार्ष्यम् ॥ (पाद्मोत्तरखण्ड अ० ९९) इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है। अर्थात् जो सन्तोषी, समदर्शी इन्द्रियजित, हरिभक्त निन्दारहित, निर्वैर, दयावान, शान्त, दम्भ और अहंकारसे रहित, निरपेक्ष, रागद्वेष रहित, लोभ, मोह, मद, क्रोध, कामसे दूर, सदा अपने आत्मामें सुखी, कृष्णपदारविंदकी शरण, सहनशील कृष्णहीके आश्रय रहनेवाला + कृष्णचरणानुरागी, कृष्ण इष्ट मन्त्रकी स्मृति और पूजा करनेवाला और जो अन्य सब आश्रयोंको छोड अहर्निश कृष्णसे मन लगानेवाला है वही मुनियोंमें श्रेष्ठ साधु कहाजाता है। " न प्रहृष्यति सम्माने नावमानेन कुप्यति । न क्रुद्धः पुरुषं ब्रूयादेतत् साधोस्तु लक्षणम् ॥ (गरुड० अ० ११३ श्लो० ४२) अर्थात् मान वा अपमानसे जो हर्षविषादको न प्राप्त हो तथा क्रोध करके कठोर वचन न बोलें यही साधुका पूर्ण लक्षण है।

अर्थात् अपने सुखकी इच्छा छोड जो परायेके सुखकी इच्छा करनेवाला है तथा परायेके दुःखसे दुखित होनेवाला है वही साधु है।

+ कृष्णसे कृष्णके सब अंशकलाओंके अवतारादिको समझना चाहिये अर्थात् पूर्णब्रह्म परमेश्वर जगदीश्वरके जितने अवतारादि हैं किसीसे मन लगावे ।

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं, कि—

" साधुचरित नवनीति समाना । कहा कविन पै कहै न जाना ॥
निज दुःख पाइ द्रवै नवनीता। परदुख दुखी सो सन्त पुनीता ॥ "

६. पापः— अब पापात्मा अर्थात् दुर्जनोंका वर्णन करते हैं इस पापात्मा दुर्जनकी उपमा कविने मच्छरसे दी है अथवा यों कहलीजिये, कि मच्छरकी उपमा दुर्जनसे दी है दोनोंका एक ही तात्पर्य है—

प्राक्पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् । छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंकः सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति (हि० मि० श्लो ०८१)

अर्थ— दुर्जन या मशक (मच्छर) पहले तो पैरोंपर गिरता है फिर पीठके मांसको खाता है अर्थात् पीठ पीछे हानि पहुंचानेका उद्योग करता है । फिर दोनों कानके समीप आकर विचित्र शब्द करता है अर्थात् लोप-चोपभरे ध्वन्यात्मक शब्दोंसे मीठी मीठी बातें करता है । जैसे मच्छर रोमकूपके छिद्रमें घुसजाता है ऐसे ही दुर्जन भी आपत्ति देखकर अपना दाव लगाता हुआ निःशंक होकर नाना प्रकारकी बुराइयां करने लगजाता है । कवि कहता है; कि दुर्जनोंका सब आचरण यह मच्छर दिखलाता है । अभिप्राय यह, कि पापियों और खलोंका आचरण ठीक-ठीक मशकके समान है ।

**" दुर्जनो नार्जवं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।
स्वेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् "**

(हितो० सु० १३७)

अर्थ— दुर्जनकी कितनी भी सेवा कीजिये पर वह सीधा कभी नहीं होगा जैसे कुत्तेके पुच्छको कितना भी तेल उबटन लगाकर सीधा कीजिये पर वह सीधा नहीं होसकता । अब दुर्जनकी पहचान बताते हैं।

" दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्द्धासनो, गाढालिंगनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः । अन्तर्भूतविशो वहिर्मधुमयश्चातीवमायापटुः, को मायामयपूर्वनाटकविधिर्यः शिक्षितो दुर्जनैः ॥ पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे, निर्वाते व्यजने मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै शृणिः । इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ताकृता, मन्ये दुर्जन चित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः " (हितो० सु० १६४, १६५)

अर्थ— आतेहुए देखकर दूरसे हाथ उठाना, आंखोंसे स्नेह प्रकट करना, अपना आधा आसन बैठनेकेलिये देना, बड़ी दृढता के साथ बलपूर्वक हृदयमें लगाकर मिलना, मीठी-मीठी बातें करनी प्रश्नका उत्तर बडे आदरके साथ देना, भीतरसे तो विषके समान जान-मारनेका यत्न करना और बाहरसे अमृतके समान मधुरता दिखलानी न जाने यह कौनसे अपूर्व नाटककी मायासे भरा व्यवहार है जिसे दुर्जनोंने सीखरखा है ॥ १६४ ॥

समुद्रके दुस्तर गंभीर जलके पार होजानेकेलिये नौका, अन्धकारके दूर करनेकेलिये दीपक, ग्रीष्म ऋतुमें तापको हटानेकेलिये पंखा और मदान्धहस्तीके मद शान्त करनेकेलिये अंकुश, इत्यादि

देखकर यों प्रतीति होती है, कि ऐसी कोई कठिनता पृथ्वीपर नहीं है, जिसको दूर करनेके उपायकी चिन्ता विधाताने न की हो अर्थात् सर्व प्रकारकी चिन्ताओंके दूर करनेका उपाय विधाताने रचा, पर मैं तो ऐसा जानता हूं, कि दुर्जनके चित्तकी वृत्ति हटानेका उपाय विधाताको भी न सूझा इसलिये भग्नोद्यम होकर चुप बैठ रहे ॥ १६५ ॥

मुख्य तात्पर्य यह है, कि ऐसा कोई कुकर्म पृथ्वी-मण्डलमें नहीं है जिसको दुर्जन आनन्द पूर्वक करनेको उद्यत न होजावे। सोतेहुए का गला काटदेना, बच्चे और स्त्रियोंको तथा गैया और ब्राह्मणोंको मारदेना, घरोंमें आग लगादेनी, विष देना, अन्त्यज अर्थात् भंगी और चर्मकारोंकी स्त्रियोंसे क्रीडा करनी तथा गुरु शय्यामें भी बिहार करना, मद्यपानादिमें रुचि रखनी, चोरी करनी, इत्यादि जितने दुष्कर्म हैं सब दुर्जनोंके शरीरमें रहते हैं। वरु दुर्जन तो पापका एक शरीर ही बनाहुआ है। सो दिखलाते हैं—

द्विजादिहत्या मूर्द्धानं मदिरापानलोचनम्।
सुवर्णस्तेयवदनं गुरुतल्पगतिश्रुतिम् ॥
स्त्रीहत्या नासिकं चैव गोहत्यादोषबाहुकम्।
न्यासापहरणग्रीवं भ्रूणहत्या गलन्तथा ॥
परस्त्रीगति वुक्कालं सुहृल्लोकवधोदरम्।
शरणापन्नहत्यादि नाभिं गर्वकथाकटिम् ॥
गुरुनिन्दा सक्थिभागं कन्याविक्रयशेफसम्।
विश्वासवाक्यकथनपायुं पितृवधांघ्रिकम् ॥

उपपातकरोमाणं महाकार्यभयंकरम् ।
कृष्णवर्णं पिंगनेत्रं स्वाश्रयात्यन्तदुःखदम् ॥
(पाद्मे क्रियायोगसारे अ० २१)

ब्राह्मणोंकी हत्या तो इसका मस्तक है, मदिरापान इसके लोचन हैं, सुवर्णकी चोरी इसका मुख है, गुरुपत्नीसे भोग करना इसके कान हैं, स्त्री हत्या इसकी नासिका है, गो हत्या दोनों भुजाएँ हैं, न्यासका हरण करलेना इसका कण्ठ है, भ्रूणहत्या (गर्भके बच्चेको मारना) तो गला है, परस्त्रीगमन इसकी छाती हैं, सुहृदोंका बध करना इसका पेट है, शरण आएहुएको मारना इसकी नाभि है, गर्वसे कथा करनी इसकी कटि है, गुरु निन्दा इसकी सक्थिभाग है, कन्या बेचनी इसका शेफ है, विश्वासका वचन बोलना इसका पायु है, पितृवध करना इसके चरण हैं और इनसे इतर जितने प्रकारके उपपातक हैं सब इसके रोम हैं। एवम प्रकार इसका भयंकर शरीर काला रंग कुइस आंख अपने आश्रय रहनेवालोंको अत्यन्त दुःखदायी है । इसी प्रकार पापका स्वरूप पापात्मा अर्थात दुर्जनके शरीरके भीतर निवास करता है ।

अब ऐसे पापीको मरनेके पश्चात् यमदूत मुद्गरोंसे मारतेहुए नाना प्रकारके क्लेश देतेहुए कैसे मार्ग होकर नरकमें लेजाते हैं ? सो वर्णन

टिप्पणी— पापात्मनां शृणु गतिं विस्तरेण वदाम्यहम् ।
षडशीति सहस्राणि योजनानि दुरात्मनाम् ॥

करते हैं— इस मार्गके वर्णन करनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि प्राणी इसे पढ कर दुर्जनताको छोडे। जो इस घोरे दुःखका वृत्तान्त पढकर भी दुर्जन ही रहा, तो जानो! ब्रह्मदेवसे भी उसके स्वभाव तथा उस को नरकोंसे छुडानेका कोई उपाय नहीं बन सकता।

प्रोक्तो मार्गस्य विस्तारः सर्वदुःखान्वितस्य च।
कचित्क्वचिज्ज्वलद्वह्निः सन्तप्तः कर्द्दमः क्वचित् ॥
क्वचित क्वचित् द्विजश्रेष्ठ! सन्तप्तं ताम्रवालुकम्।
क्वचित् क्वचित तीक्ष्णशिलाः क्वचित्तप्तशिलास्तथा ॥
क्वचित् क्वचिच्छस्त्रवृष्टिः क्वचिदंगारवर्षणम्।
उष्णाम्बुवर्षणं क्वापि क्वचित्पाषाणवर्षणम।
ज्वलदग्निरिव क्वापि सन्तप्तो वाति मारुतः ॥
गम्भीरा अन्धकूपाश्च तृणावृतमुखा द्विज!।
क्वापि कंटकवृक्षाश्च नाराचसमकंटकाः।
पाषाणश्रेणयः क्वापि दुरारोहा सपन्नगाः ॥
क्वचिद्गाढान्धकारश्च क्वचिच्छोणितवर्षणम्।
क्वचिद्वीरणवृक्षाश्च क्वचित्काशाः क्वचित्शराः।
एवं बहुविधक्लेशे छायाजलविवर्जिते ॥
तस्मिन्मार्गे द्विजश्रेष्ठ! पापिनो यान्ति दुःखिनः।
नग्ना विमुक्तकेशाश्च प्रेताकारा भयंकराः।
गच्छन्ति पापिनस्तत्र शुष्ककण्ठोष्ठतालुकाः ॥

अर्थ — पापात्माओंकी दुर्गति विस्तारपूर्वक कहता हूं सुनो—

जिस मार्ग होकर पापात्मा घसीटेजाते हैं वह मार्ग ८६००० (छियासी हज़ार)

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि योगारूढ प्राणियोंमें श्रेष्ठ और उत्तम वही है, जिसकी दृष्टिमें उक्त नवों प्रकारके मनुष्य एक समान हैं । जिसे किसीसे रागद्वेष नहीं है और ऐसे नरकगामी पुरुषोंसे भी जो घृणा नहीं करते । क्योंकि जो प्राणी सब कामनाओं से रहित होकर केवल ध्यान-योगद्वारा भगवत्स्वरूपमें मग्न रहा चाहता है, उसे अन्य किसी प्रकारका व्यवहार ही नहीं है, जिसके लिये वह किसीसे कुछ सम्बन्ध रक्खे । हां! उससे बैर विरोध करने-वाले प्राणी हों तो हों, पर वह तो सबोंको समान देखता है । इसी कारण भगवान्ने ऐसे प्राणीको अन्य प्रकारके सब योगियोंमें श्रेष्ठ कहा ।

योजन अर्थात् ६८८००० (छै लाख अठासी हजार) मील लंबाईमें है जिसमें सर्व प्रकार के दुःख भरेहुए हैं । कहीं-कहीं तो आग जलरही है, कहीं गरम दलदल है, कहीं-कहीं तांबेकी वालुकाएं अत्यन्त गरम करके मार्गपर बिछायी हुई हैं, तलवारकी धारके समान कटेहुए पत्थर मार्गपर पडे हैं, कहीं-कहीं ऊपरसे नाना प्रकारके शस्त्रोंकी वर्षा होरही है, कहीं-कहीं अग्निके अंगारोंकी वर्षा होरही है, कहीं गरम जलकी तथा कहीं पत्थरोंकी वर्षा होरही है, जलतीहुई अग्निके समान गरम वायु बहरही है । कहीं-वीच मार्गमें वडे वडे अँधेरे कूप हैं जिनका मुख घाससे बन्द किया है जहां पांव पडते ही प्राणी नीचे जागिरता है, कहीं-कहीं कांटेके वृक्ष हैं जिनमें बाणोंके समान कांटे लगे हैं, कहीं-कहीं पत्थरोंके ढेरमें सांप लटके हुए हैं, कहीं घोर अन्धकार है, कहीं रुधिरके मेघ वृष्टि कररहे हैं, कहीं वीरण (कटैले थूहर) के वृक्ष और कहीं-कहीं काश और कहीं शरोंके वृक्ष हैं जिनपर होकर यमदूत इन पापियोंको घसीटते हैं । इस प्रकार पापियोंके मार्गमें नाना प्रकारके क्लेश भरेहुए हैं न तो वहां छाया है और न जल है इसी मार्ग होकर पापी जाते हैं । नंगे बदन, केश छूटेहुए, प्रेतके आकारमें बडे भयंकर मारे प्यासके जिनके कण्ठ ओष्ठ और तालू रूखे रहते हैं ।

योगारूढ प्राणियोंको किन-किन गुणोंसे युक्त होना चाहिए ? सो भगवान् यहांतक कहचुके ॥ ६ ॥

अब आगे १० वें श्लोकसे ३२ वें श्लोक पर्यन्त भगवान् योगारूढ पुरुषोंकेलिये योगकी रीति बतावेंगे। अधिकारी पुरुष इनपर पूर्ण ध्यान देकर पढें और इनके अनुसार आचरण करें, तो भगवत्स्वरूपमें प्रवेश करजाना उनकेलिये दुस्तर नहीं है।

मू०— योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

पदच्छेदः— योगी (योगाभ्यासपरः) सततम् (निरन्तरम्) रहसि (गिरिगुहादौ। योगप्रतिवन्धकदुर्जनादिवर्जिते स्थाने) स्थितः [सन्] एकाकी (संगशून्यः) यतचित्तात्मा (वशीकृतं चित्तमिन्द्रियाधिष्ठितदेहञ्च यस्य सः) निराशीः (निराकांक्षो। निराहारो वा) अपरिग्रहः (कन्थापुस्तकादि बहुपरिग्रहशून्यः। योगप्रतिवन्धकपदार्थशून्यो वा) आत्मानम् (अन्तःकरणम्) [निरोधभूम्याम्] युंजीत (समादध्यात्) ॥ १० ॥

पदार्थः— (योगी) योगाभ्यासमें तत्पर रहनेवाला प्राणी (सततम्) सदा (रहसि) एकान्तस्थानमें (स्थितः) निवास करता हुआ (एकाकी) अकेला (यतचित्तात्मा) अपने मनको और इन्द्रियोंके सहित देहको वश कियेहुए (निराशीः) सर्व कामना रहित अर्थात् आहार रहित हो (अपरिग्रहः) कन्था, पुस्तकादि अधिक बखेडोंको न रखकर (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको योग-क्रियामें

(युंजीत) लगावे। अर्थात् चित्तको समाधानकर सर्व-चिन्ता-वर्जित हो भगवत्स्वरूपमें एकाग्र करदे ॥ १० ॥

भावार्थः — योगाभ्यासियोंको अपने योग साधन निमित्त पहले क्या करना चहिये ? सो भगवान् कहते हैं, कि **[योगी युंजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः]** योगी अभ्यास आरंभसे पहले गिरिगुहा इत्यादि किसी प्रकारके शून्य-स्थानमें निवासकर सदा अपने आत्माको स्थिर करे अर्थात् अन्तःकरणको और इन्द्रियों सहित अपने शरीरको एक ठौर स्थिर रखनेका अभ्यास करे। क्योंकि जब ध्यानावस्थित होगा, उस समय यदि कोई क्लिष्ट वा अक्लिष्ट वृत्ति चित्तमें उदय होआवेगी तो अवश्य वह चित्तको चंचल करदेवेगी। क्योंकि वृत्तियां जब फुरना आरंभ करती हैं तो उनका एक तार बंधजाता है, अर्थात् एकके पीछे दूसरी लगातार उदय होती चली आती हैं और चित्तको ऐसी प्रबलताके साथ अपनी ओर खींचती हैं, कि बडे-बडे बुद्धिमानोंकी बुद्धि व्याकुल होजाती है। कोई बुद्धिमान् यह पता नहीं कहसकता, कि थोडी ही देर पहले जो चित्त एकाग्र था नजाने कब किस समय किस क्षणमें अपने हाथसे बाहर निकलगया ? इसकी एकाग्रताके यत्नमें बडे-बडे बुद्धिमान् और विवेकी ढीले होरहते हैं कोई उपाय हाथ नहीं आता। इसका कारण यह है, कि जबतक अपने साथ किसी प्रकारका व्यवहार बना रहेगा तबतक उस व्यहारकी पूर्ति और अपूर्तिके यत्नकी चिन्तामें वृत्ति दौड़ती रहेगी। क्योंकि उस व्यवहारकी स्मृतिरूप वृत्ति अधिक सताती है। प्रमाण "अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः" (पतं० अ० १ सू ११)

अर्थ— जिन विषयोंका पहले अनुभव कियाजाता है अर्थात् जो-जो विषय अन्तःकरणके सम्मुख होकर प्रवाह करते हैं, अन्तःकरणपर उनका संस्कार जमजानेसे उनके त्याग न होनेका नाम स्मृति है। सो प्राणीके अन्तःकरणमें बार—बार बिना बुलाये आपसे आप उदय होतीरहती है, उसके आरम्भसे परिणामतक जितनी बातें उस स्मृतिके अन्तर्गत होती हैं सब अन्तःकरणको ढकलेती हैं । चाहे प्राणी स्वयं उनका स्मरण करे वा न करे, पर अन्तःकरणपर उनका संस्कार जमे रहनेके कारण वे आपसे आप स्मरण होती रहती हैं । इसलिये चित्तको क्षणमात्र भी एकाग्र नहीं होने देतीं । सभी इस बातका अनुभव करते हैं, कि जब कोई मूर्ख वा विद्वान् चुप होकर थोडी देरकेलिये बैठजाता है तो किसी न किसी व्यवहारकी चिन्ता उसके चित्तमें उदय होआती है। जैसे किसीका पुत्र रोगग्रस्त होगया हो तो जिस समय वह हाथमें माला लेकर बैठेगा, तब दो चार मणिकातक तो उसकी वृत्ति जपमें रहेगी, फिर न जाने कब किस मणिकापर अंगुली रखते उसकी मनोवृत्ति पुत्रकी औषधी करने चलीजावेगी, वह उसे स्वयं नहीं पकडसकता, फिर तो उसके सामने जितने वैद्य और चिकित्सक (Doctor) हैं सबोंकी मूर्त्तियां आखडी होंगी। नाना प्रकारकी औषधियोंको पात्रोंमें देखने लगजावेगा । यहांतक, कि हाथकी माला गिर पडेगी तब उसको चेत होगा, कि मैं कहां हूं । इसलिये जबतक प्राणी सर्वप्रकारके व्यवहारोंको छोड एकान्तमें नहीं जा बैठेगा तबतक चित्तका समाधान होना असंभव है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि (**रहसि स्थितः**) योगाभ्यासी किसी पर्वतकी कन्दरामें

अथवा किसी ऐसे ठौरमें जहां मनुष्योंका प्रवेश न हो, विविक्त-स्थान हो, सुन-सान हो और किसी प्रकारका उपद्रव न हो, जा बैठे। जैसे सर्प अपना केंचुल छोड सब ओरसे निश्चिन्त हो अपने बिलमें जा बैठता है, इसी प्रकार एकान्तस्थानमें जा बैठे। पर इतना स्मरण रखना चाहिये, कि यदि उस एकान्तस्थानमें भी दो चार चेलोंको लियेजावेगा, तो वे चेले उसे भोजन वस्त्रकेलिये सतावेंगे, फिर तो उनके पालन पोषण निमित्त उसे कुछ न कुछ यत्न करना ही पडेगा। इस-लिये भगवान् कहते हैं– [**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीर-परिग्रहः**] अकेला हो किसीका साथ न करे। यदि शंका हो, कि चेला नहीं साथ रेहनेसे सेवा कौन करेगा? तो उत्तर इसका यह है, कि सेवाकी कोई आवश्यकता न रखे। किसी नदीके तटपर वा पर्व-तके झरनोंके किनारे निवास करे। जहां आप अपने हाथमें जलपात्र लेकर शरीरके कर्मोंके सम्पादनकरलेनेका अभ्यास करलेवे। भोजनकेलिये अपने हाथसे कन्द मूल फल ले आयाकरे। यदि कोई बस्ती समीप हो तो केवल सूर्य्यास्तके समय एकबार भिक्षा करलावे और अकेला ही रहे, परं अकेला रहनेमें एक भय यह भी है, कि जो कोई सुन्दर स्त्री अक-स्मात् उधर होकर अकेली निकलपडी और हमारे योगीजीका चित्त मोहित करलिया, तो सारा बना-बनायाघर बिगडगया। किसीने कहा "मृगनयनीके नयनसर उठत मदन तनजाग। गयो कमण्डल भाडमें टर्रानो वैराग ॥

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि "यतचित्तात्मा" अर्थात् जब एकान्त हो और अकेला निवास करे, तो "यतचित्तात्मा" भी

अवश्य हो। अर्थात् अपने चित्तको इन्द्रियों सहित अपने वशीभूत रक्खे। अर्थात् फिर " निराशी " हो, किसी विषयकी इच्छा न करे, सर्व विषयोंकी इच्छामात्रसे वर्जित हो। अथवा निराशीका निराहार भी अर्थ होसकता है। क्योंकि एकान्त-निवासमें सदा कन्द मूलका मिलना अथवा उसके समीपके एक ही ग्रामसे नित्य भिक्षा मिलनी असम्भव है इसलिये कभी-कभी निराहार रहनेका भी अभ्यास रखे।

अब शंका यह है, कि उपर्य्युक्त सर्वगुणोंसे सम्पन्न भी हो, पर संगमें थोडी वस्तु-तस्तु रक्खे तो उनकी रक्षाकी चिन्ता अवश्य सतावेगी, इसलिये भगवान् कहते हैं कि "अपरिग्रहः" भी हो अर्थात् किसी प्रकारकी वस्तु-तस्तु भी साथ न रखे, केवल शरीरके आच्छादनमात्र जो वस्त्र शरीरमें लगा हो रहनेदेवे। दो लँगोटियोंके साथ शीतसे रक्षानिमित्त एक कम्बल मात्र रखे। इतना ही नहीं वरु अभ्यास द्वारा शीत और उष्णके सहनेका भी अभ्यास प्राप्त करले।

इसी विषयको भगवान् पहले भी कहआये हैं, कि " निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः " (अ० ४ श्लो० २१) तहां श्रुतिका भी वचन है, कि " कुटुम्बं विसृजेत्पात्रं विसृजेत्पवित्रं विसृजेद्दण्डांश्च लौकिकाग्नींश्च विसृजेदिति होवाच " (आ० श्रु० २)

अर्थ—कुटुम्बियोंको त्यागे (पवित्रम) जल शोधनेके वस्त्रको भी त्यागदेवे ब्रह्मचर्य्यके समय जो दण्डधारण किया था उसे भी त्याग देवे और लौकिकाग्नियोंको भी त्यागदेवे। ऐसी आज्ञा प्रजापतिने आरुणेयी ऋषिको दी है।

इस श्रुतिके अनुसार ही भगवान्‌ने इस श्लोकमें सन्न्यासके सब धर्म्मोंको प्रकट करदिया है । इससे अनुभव होता है, कि योगारूढ प्राणी अर्थात् ध्यानयोगी किसी न किसी समय सन्न्यास अवश्य ग्रहण करे। क्योंकि जबतक प्राणी सर्व प्रकार काम्य कर्मोंका त्याग नहीं करेगा तबतक ध्यानयोगका अधिकारी हो ही नहीं सकता । इसलिये भगवान्‌की आज्ञानुसार जो निराशी और त्यक्तसर्वपरिग्रह है वह सन्न्यासीही है । अथवा यों कहो, कि वह सन्न्यास पदपर चढाहुआ है, सन्न्यासके घरमें घुसाहुआ है। इस ध्यानयोगका साधन करनेसे उसका सन्न्यास धर्म-पूर्ण हो ही जावेगा । परिणाम यह होगा, कि ×कुटीचक बहूदक और हंस सन्न्यासके इन तीन श्रेणियोंको समाप्तकर अन्तमें परमहंस होजावेगा, जहां जाकर सर्वप्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित जीवन्मुक्तकी पदवी प्राप्त करेगा । फिर तो वह चाहे एक स्थानमें निवास करे चाहे जहां तहां फिरता रहे। इसी अवस्थाकी प्राप्ति निमित्त श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र एकान्तमें निवासकर इस योगक्रियाके साधनकी शिक्षा देरहे हैं ।

प्रश्न— क्या योगक्रिया केवल सन्न्यासी ही करसकता है ? ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ इसके अधिकारी नहीं हैं ?

उत्तर— ब्रह्मचर्य्यादि आश्रमोंके जो भिन्न–भिन्न कर्म बतायेगये हैं वे इसी तात्पर्य्यसे बतायेगये हैं, कि प्राणी धीरे-धीरे उन्नति करता-

× सन्न्यासकी ये चारों श्रेणियां हैं— १. **कुटीचक**, २. **बहूदक**, ३. **हंस** और ४. **परमहंस** साधकोंको क्रमशः एक दूसरेपर चढना पडता है ।

हुआ अन्तमें इस सन्न्यासको प्राप्तकरे। क्योंकि जिस घरमें सुखपूर्वक निवास करना है उस घरकी दीवालोंको, खम्भोंको, छतोंको, कोठरियोंको पूर्णप्रकार दृढ करलेना चाहिये जिससे अन्धड, झक्कडके समय किसी प्रकारका क्लेश न हो। इसलिये प्रथमके तीन आश्रम जो इस सन्न्यासरूप घरकी दीवाल, खम्भ और छतके समान हैं तिनका ज्योंका त्यों मर्य्यादा-पूर्वक पालन करनाचाहिये। अतएव जो जहांका अधिकारी है वहां उसी आश्रममें ठहरकर निष्काम कर्मोंका सम्पादन करता जावे। इसी विषयको भगवान् पहले भी कह आये हैं "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" (अ० ३ श्लो० ३५) अर्थात् परायेके भय देनेवाले धर्म्मको ग्रहण करनेसे अपने धर्म्ममें रहकर मरजाना उत्तम है। अतएव भगवानने पहले ही गृहस्थाश्रमका धर्म्म कहदिया है, कि गृहस्थ अपना धर्म पालन करता रहे तो धीरे-धीरे सन्न्यासका अधिकारी होजावेगा। हां! इतना तो अवश्य है, कि पूर्वके तीनों आश्रमवालोंमें जिसको जिसी समय त्याग प्राप्त हो वह वहांहीसे उसी समय सन्न्यासी होजावे।

प्रमाण श्रुतिः—"ॐ ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्य्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वाऽथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" (जाबालोप० श्रु० ४ में देखो)।

अर्थ— साधारण नियम तो यह है, कि ब्रह्मचर्य्याश्रमको समाप्त करके गृहस्थ होवे; गृहस्थसे बानप्रस्थ होवे और वानप्रस्थसे सन्न्यासी

होजावे। पर जिसे पूर्वजन्मके संस्कारानुसार ब्रह्मचर्य्य ही पालन करते हुए तीव्र वैराग्य उत्पन्न होजावे, तो गृहस्थ न होकर एका-एक सन्न्यासी होसकता है और वानप्रस्थसे भी सन्न्यासी होसकता है। व्रति अर्थात् जो मासोपवासादि व्रतके नियम हैं, उन्हें करके, चाहे न करके भी सन्न्यासी होसकता है। स्नातक वा अस्नातक भी अर्थात् गृहस्थमें स्त्री ग्रहण करके अथवा न ग्रहण करके भी सन्न्यासी होसकता है। उत्सन्नाग्नि अर्थात् जिसकी स्त्री शान्त होगई हो वह भी सन्न्यासी होसकता है। अथवा जिसने अग्निको न स्वीकार किया हो अर्थात् आश्रमी हुआ हो वा न हुआ हो किसी भी अवस्थामें क्योंन हो, सन्न्यासका ग्रहण करसकता है। इसी कारण श्रुति अन्तमें आज्ञा देती है, कि " यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् " जिसी दिन हृदयमें सच्चा वैराग्य उत्पन्न हो उसी दिन सब छोड-छाड चलाजावे अर्थात् सन्न्यासी होजावे।

श्रुतिने सामान्य आज्ञाको उल्लेखनकर यह विशेष प्रकारकी आज्ञा इसी कारण दी है, कि पूर्वजन्मके संस्कारकी प्रवलता किसी प्रकारसे भी रुक नहीं सकती। यह संस्कार ही की प्रवलता थी, कि शुकदेव जन्म लेतेही उत्तम संन्यासी अर्थात् परमहंस होगये।

इसलिये जिज्ञासुके प्रश्नका उत्तर यही है, कि तीव्र वैराग्य उत्पन्न होतेही ब्रह्मचारी वा गृहस्थ कोई क्यों न हो इस योगका अधिकारी होसकता है। पर बिना तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुए प्रत्येक आश्रमवालोंको अपने धर्मका ही पालन करना उचित है ॥ १० ॥

एवम् प्रकार एकान्तस्थानमें एकाकी होकर जितेन्द्रिय योगी सब बखेडोंको त्याग आगे क्या करे ? सो भगवान कहते हैं—

मू०— शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
॥ ११, १२ ॥

पदच्छेदः— **यतचित्तेन्द्रियक्रियः** (निगृहीता चित्तस्यान्तःकरणस्य विषयाणां स्मरणरूपेन्द्रियाणां च विषयग्रहणरूपा क्रिया येन सः) **आत्मनः** (स्वस्य) **आसनम्** (आस्यते उपविश्यते यस्मिन् तन्मृन्मयं स्थण्डिलम्) **न** (नहि) **अतिउच्छ्रितम्** (अत्युच्चम्) **न** (नैव) **अतिनीचम** (अत्यधस्थम) **चैलाजिनकुशोत्तरम्** (वस्त्रं व्याघ्रादिचर्म ते कुशेभ्य उत्तरे उपरितने यस्मिन्तत) **शुचौ** (स्वभावतः संस्कारतो विशुद्धे) **देशे** (जन समुदायरहिते निर्भयगंगातटगुहादौ समे स्थाने) **स्थिरम्** (निश्चलम्) **प्रतिष्ठाप्य** (स्थापयित्वा) **तत्र, आसने, उपविश्य** (उपवेशनं कृत्वा) **मनः** (अन्तःकरणम) **एकाग्रम्** (क्षिप्तमूढविक्षिप्तभूमित्यागेन समाहितम्) **कृत्वा, आत्मविशुद्धये** (अविद्यापंकनिवृत्तिद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै) **योगम्** (संप्रज्ञातसमाधिम्) **युंज्यात्** (अभ्यसेत् अनुतिष्ठेद्वा) ॥ ११, १२ ॥

पदार्थः— (यतचित्तेन्द्रियक्रियः) चित्तकी क्रिया अर्थात् स्मृति और इन्द्रियोंकी क्रिया जो इनही विषयोंका ग्रहण इन दोनोंको जिसने वश करलिया है ऐसा प्राणी (आत्मनः) अपने (आसनम्) आसनको, जो (न, अति) न बहुत (उच्छ्रितम्) ऊँचा हो (न, अति) न बहुत (नीचम) नीचा हो (चैलाजिनकुशोत्तरम्) जिसपर पहले कुश तिसपर मृग वा व्याघ्रका चर्म फिर कोमल वस्त्र बिछाया हो (शुचौ, देशे) पवित्र स्थानमें (स्थिरम्) निश्चलरूपसे (प्रतिष्ठाप्य) स्थापन करके (तत्र,) तहां (आसने) तिस आसनपर (उपविश्य) बैठकर (मनः) मनको (एकाग्रम्) एकाग्र (कृत्वा) करके (आत्मविशुद्धये) अपने आत्माको अविद्यारूप मलसे रहितकर ब्रह्मसाक्षात्कार करनेकेलिये (योगम) संप्रज्ञात् समाधिमें (युंज्यात्) युक्तकरे अर्थात् अपनेको ध्यानयोगमें जोडदेवे ॥ ११, १२, ॥

भावार्थः— श्री आनन्दकन्द ब्रजचन्द्र पिछले श्लोकमें जो आज्ञा देचुके हैं, कि योगी एकाकीहोकर एकान्तस्थानमें चलाजावे और यतचित्तात्मा हो। तिसे आगे क्या करना चहिये ? सो इस श्लोकमें कहते हैं— [**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः**] प्रथम अपने आसनको निश्चलरूपसे किसी पवित्र स्थानमें स्थापन करे अर्थात जो स्थान स्वभावतः पवित्र हो अथवा संस्कारतः पवित्र कियागया हो। जैसे गंगा यमुना इत्यादि नदियोंके तट और बदरी केदारादि जो तीर्थ-स्थान पवित्र कहेजाते हैं। भगवान् कहते हैं, कि ऐसे पवित्र स्थानमें अपने आसनको स्थिररूपसे

अर्थात् निश्चल करके स्थापनकरे । जैसे मिट्टीकी वेदी बनाते हैं इस प्रकारेकी वेदी बनावे, काष्ठादिका आसन न बनावे । क्योंकि काष्ठादिके आसन एक तो स्थिर नहीं रहते, दूसरे सदा पृथ्वीपर रहनेसे जब सडजाते हैं तब उनमें कीडे इत्यादि प्रवेश करजाते हैं । इसलिये काष्ठका आसन केवल ब्रह्मचारी और गृहस्थोंकेलिये है जो जीर्ण होने परे नवीन बना सकते हैं । एकान्तबासीको जीर्ण होनेपर दूसरे आसनकी प्राप्ति निमित्त यत्न करना पडेगा अतएव केवल मिट्टीकाही आसन बनावे। सो कैसा होना चाहिये ? भगवान कहते हैं, कि [नात्युच्छ्रितं नातिनीचम चैलाजिनकुशोत्तरम्] न तो बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा हो, सम हो अर्थात् एक वितस्तमात्रसे अधिक ऊँचा न हो । फिर कैसा हो, कि पहले उसपर कुश बिछाया जावे फिर उस कुशपर मृग अथवा व्याघ्र-चर्म बिछा हो और उस चर्मपर कोमल वस्त्र हो। श्रु०— " ॐ निःशब्ददेशमास्थाय तत्रा सनमवस्थितः " (क्षुरिको० श्रु० २)

अर्थ— निश्शब्द अर्थात् शून्य देशमें उक्त प्रकारका आसन स्थापन करलेवे ।

शंका— पूर्व श्लोकमें तो कह आये हैं, कि एकान्तवासी योगी अपरिग्रह हो किसी प्रकारका पात्र आदि साथ न रखे, वस्त्रादि भी न रखे। अब कहते हैं, कि मृगचर्म अथवा व्याघ्रचर्म भी हो फिर वस्त्र भी हो। जब इतनी वस्तु रखनी ही है तो दोएक पात्र भोजन अथवा जलपीनकेलिये क्यों न रखे ?

समाधान— आसनवाले वस्त्र अथवा मृगचर्मादि तो शरीरके नीचे दबे रहते हैं इसलिये उनकी रक्षाकी चिन्ता कुछभी न होगी। पर जो धातु इत्यादिके पात्र शरीरसे भिन्न हैं अथवा कौपीन वा आसनसे इतरे जो किसी प्रकारके वस्त्र शरीरकी शोभा निमित्त हैं वे न रक्खेजावें। सन्न्यासी केवल काष्ठ वा लौकीका तूंबा साथ रक्खे। जिसे चौरादि भी नहीं लेसकते। उनकी रक्षाकी चिन्ता न रहेगी। परिग्रह शब्दसे उनही वस्तु—तरतुओंका तात्पर्य्य है जो चौरादि लेजासकें, अतएव इस प्रकारके पात्रादि न रक्खे। इसी कारण भगवान्‌ने "अपरिग्रहः" कहा है।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार आसनको निर्म्मल, स्वच्छ और दृढ अर्थात् निरुपद्रव बनाकर [**तत्रैकाग्र्यम्मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः**] तहां अपने मनको एकाग्र करके यतचित्तेन्द्रियक्रियः होकर योग आरंभ करे। यतचित्तेन्द्रियक्रिय किसे कहते हैं? सो सुनो! चित्तकी क्रिया जो विषयोंकी स्मृति और इन्द्रियोंकी क्रिया जो विषयोंका ग्रहण इन दोनोंको अपने वशमें रखे अर्थात् न तो कभी विषयोंकी स्मृति करे और न उनका ग्रहण करे। यदि ऐसा कहो, कि जिस वस्तुकी स्मृति नहीं होगी उसका ग्रहणभी नहीं होगा फिर भगवान्‌ने दोनों बातें एकसाथ क्यों कही? क्योंकि चित्तकी क्रिया हाथमें आतेही इन्द्रियोंकी भी क्रिया रुक जावेगी। जैसे किसी घडीके स्प्रिंगके रुकतेही उसके अन्य सब यंत्र आपसे-आप रुकजाते हैं। ऐसे चित्तके निरोध होतेही इन्द्रियां भी निरुद्ध होजावेंगी फिर भगवान्‌ने यहां "**यतचित्तेन्द्रियक्रियः**" चित्त और इन्द्रिय दोनोंके नाम क्यों

लिये ? तो उत्तर यह है, कि संभवतः चित्तकी क्रिया तथा स्मृति तो रुकजावे पर इन्द्रियोंमें विषय ग्रहण करनेकी शक्ति बनी रहे, तो चित्तके शान्त रहतेभी इन्द्रियां उसे अपनी ओर खींचेगी। क्योंकि भगवान पहलेही कह आये हैं, कि " इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति-प्रसभं मनः " (देखो अ० २ श्लो० ६०) अर्थात ये बलवती इन्द्रियां बलात्कार मनको अपनी ओर खींचती हैं इसलिये जबतक इन्द्रियोंमें ग्रहण करनेकी शक्ति बनी रहेगी तबतक ये इन्द्रियां चित्तको बिगाडती रहेंगी। इसी कारण भगवानने यों कहा, कि इन्द्रियोंकी क्रियाकोभी जिसने रोका है अर्थात स्मृति और ग्रहण दोनोंको त्याग दिया है जिसने, वही अधिक यत्नशील है, उसीको " यतचित्तेन्द्रिय-क्रियः " कहते हैं।

यदि यह कहो, कि चित्तका स्वभाव स्मरण करनेका है और इन्द्रियोंका स्वभाव ग्रहण करनेका है। जिस द्रव्यका जो स्वभाव है वह द्रव्य जबतक स्वयं नाश न होजावे तबतक उसके स्वभावका नाश नहीं होता। जैसे अग्नि जबतक स्वतः नाश न हो तबतक उसकी दाहिका-शक्तिका नाश नहीं होसक्ता। इसी प्रकार जबतक चित्त और इन्द्रियां दोनोंका स्वरूपतः नाश न होजावे तबतक चित्तसे स्मृति और इन्द्रियोंमें रूप रस ग्रहणकी शक्ति बनी रहेगी। जबतक प्राणीका प्राण न निकलजावे तबतक इन दोनोंमें किसीका भी नाश नहीं होसकता। इससे अनुभव होता है, कि जीते-जीते तो चित्त और इन्द्रियोंका नाश नहीं होसकता। जब इनका स्वतः नाश नहीं हुआ तो इनकी क्रियाका अर्थात इनके स्वभावका भी नाश कैसे होसकता है ? इससे

सिद्ध होता है, कि यतचित्तेन्द्रियक्रिय कोई होही नहीं सकता? ऐसा मत कहो! जैसे कूकर शूकर इत्यादि नीच जीवोंको मलमांसादि भ्रष्टरस ग्रहण करनेका विशेष स्वभाव फैलाहुआ है, यदि उनको उन भ्रष्ट रसोंके बदले मधुर अन्न इत्यादि उत्तमरस देदियेजावें तो वे उन भ्रष्ट रसोंको त्याग उन उत्तम रसोंका ग्रहण करने लगजावेंगे। फिर तो उत्तमरस ग्रहण करते-करते भ्रष्ट रसोंका ग्रहण छूटजावेगा। इससे सिद्ध होता है, कि ग्रहण करनेका उनका स्वभाव तो बनाहीं रहा केवल भ्रष्टरसके बदले उत्तम रस ग्रहण करने लगगये। इसी प्रकार चित्तको शरीर अथवा पुत्र, पौत्रादि नश्वर वस्तुओंकी स्मृतिके स्वभावके बदले भगवत्स्वरूपकी स्मृतिमें प्रेम रसके ग्रहण करनेके स्वभावका अभ्यास करायाजावे तो इनका स्वभाव भी बनारहा और "यतचित्तेन्द्रियक्रिय" भी होगये अर्थात् द्रव्यका स्वभाव ज्योंकात्यों बना रहगया और मुख्य तात्पर्य्य भी निकलगया।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि चित्तको विषयस्मृतिके बदले भगवत्स्वरूपकी स्मृति देदीजावे और इन्द्रियोंको विषयरसके बदले प्रेमरस देदियाजावे तो चित्त भगवन्मूर्त्तिमें और इन्द्रियां प्रेमरसमें सदा मग्न रहकर अपने वशमें ही रहेंगी। इसी कारण भगवानके कथनानुसार यतचित्तेन्द्रियक्रिय होना असंभव नहीं है। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार विषयोंसे चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाका रोकनेवाला [उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये] उक्त प्रकार यतचित्तात्माहोकर पहले जिस प्रकारका आसन कहआये हैं उस प्रकारका आसन बना, उसपर बैठ, केवल

आत्माकी शुद्धिकेलिये योग साधनकरे । अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिके योग्य अपनेको बनावे ।

जो प्राणी अविद्याके पंकमें गचपच होकर अपने यथार्थ रूपको भूलरहा है वह ध्यानयोगसाधनद्वारा अपनेको निर्म्मल और निर्विकार बनाकर अपना यथार्थरूप जो भगवत्स्वरूप है उसे जाननेका अधिकारी बनावे ।

भगवानने उपरोक्त दो श्लोकोंमें आसन बनानेका स्थान और आसनपर बिछानेकेलिये कुश इत्यादिका वर्णन किया॥ ११, १२॥

अब भगवान अगले दो श्लोकोंमें यह बताते हैं, कि योगी चौरासीलक्ष आसनोंमें किस आसनको लगाकर बैठे—

मू०— समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
॥ १३, १४ ॥

पदच्छेदः— स्थिरः (दृढप्रयत्नः) ब्रह्मचारिव्रते स्थितः (वीर्य्यनिरोधाभ्यासे दृढव्रतः) प्रशान्तात्मा (प्रकर्षेण रागादि दोष-रहितः आत्माऽन्तःकरणं यस्य सः) विगतभीः (व्याघ्रादि भयरहितः। मृत्युभयरहितः । सर्वकर्म परित्यागे युक्तायुक्तशंकारहितः) मच्चित्तः (मयि परमेश्वरे परमात्मनि सगुणे निर्गुणे वा अन्तःकरणं यस्य सः)

मत्परः (सर्वाराध्यत्वेन मामेव नित्यं मन्यते यः । परमानन्दस्वरूपत्त्वा-दहमेव परमपुरुषार्थो यस्य सः) कायशिरोग्रीवम् (कायः देहमध्य-भागः शिरः ग्रीवा च मूलाधारादारभ्य मूर्द्धान्तपर्य्यन्तम्) समम् (अवक्रम्) अचलम् (निष्कम्पम्) धारयन् (स्थिरयन्) दिश-श्चानवलोकयन् (अन्तरान्तरादिशांश्चावलोकनमकुर्वन्) स्वम् (स्वकी-यम्) नासिकाग्रम् (नासिकायाऽग्रभागम्) संप्रेक्ष्य (संवीक्ष्य। अव-लोक्य) मनः (अन्तःकरणम्) संयम्य (विषयाकारवृत्तिशून्यं कृत्वा) युक्तः (विषयाकारवृत्तिनिरोधेन भगवदेकाकारचित्तवृत्तियुक्तः) आसीत (तिष्ठेत्) ॥ १३, १४ ॥

पदार्थः— (स्थिरः) जो प्राणी आसन लगाकर योगाभ्यास के लिये यत्न करनेमें दृढ होकर स्थिर होगया है (ब्रह्मचारिव्रते-स्थितः) अपने वीर्यके निरोधमें दृढव्रत होरहा है, (प्रशान्तात्मा) रागद्वेषादि विकारोंसे रहित शान्तचित्त होगया है (विगतभीः) एकान्त-बासमें एकाकी होनेपर भी जिसको व्याघ्रादिका भय नहीं है अथवा जो मृत्युके भयसे रहित होगया है तथा कर्मोंके त्यागने और न त्यागनेका भी भय जिसे नहीं है (मच्चित्तः) मुझ परमेश्वरमें जिसने अपना चित्त लगादिया है और जो (मत्परः) मेरा ही परा-यण है अर्थात् मुझहीको अपना इष्ट जानता है और अपना परम पुरुषार्थ मानता है वह प्राणी अपने आसनमें स्थित हो (कायशिरो ग्रीवम्) शरीरका मध्यभाग शिर और गलाको (समम्) एक सीधमें (अच-लम्) बिना हिले डोले (धारयन्) धारण कियेहुए ((दिशश्चा-नवलोकयन्) इध उधर किसी दिशाको न देखता हुआ (स्वं नासि-

काग्रम्) अपनी नासिकाके अग्रभाग अर्थात् नोंकको ही (संप्रेक्ष्य) देखताहुआ (मनः संयम्य) मनको विषयोंसे रोक (युक्तः) युक्तमें एकाग्र-वृत्तिकर योगसाधनमें (आसीत) तत्पर होवे ॥ १३, १४ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो आसन बनाने और उसपर कुशादि बिछानेकी विधि कहआये हैं तिसके अनुसार किस आसन को लगा कैसे योगाभ्यास करे? सो स्पष्ट-रूपसे कहतेहुए श्री आनन्द-कन्द आज्ञा करते हैं, कि [समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं-स्थिरः] कटिसे लेकर ग्रीवाके नीचे तकके अंग अर्थात् कटिप्रदेश, नाभि, हृदय और दोनों ओरके कन्धे सब एकसाथ मिल काया कह लाता है, सो इन सब अंगोंको तथा शिर और ग्रीवा (गलाको) एक सीधमें सीधा (vertical) करले जिससे शिखा सीधा आकाशकी ओर रहे अर्थात् शरीर ऐसा सीधा बनजावे, कि जिधरसे देखे उसी ओरसे शरीर समकोण (Right angle) बनाहुआ देख पड़े। एवम् प्रकार सम्पूर्ण शरीरको अचलरूपसे स्थिर करे।

मुख्य अभिप्राय भगवानके कहनेका यह है, कि सब आसनोंमें श्रेष्ठ जो सिद्धासन तिसे लगाबैठे। सो सिद्धासन बिना इन अंगोंके सीधा किये लगही नहीं सकता इसलिये सिद्धासनमें जो चिबुक (ठुड्डी) झुकाकर हृदयमें अड़ाई जाती है उसका विशेष तात्पर्य यही है, कि ये सब अंग अचल होजावें हिलें-डोलें नहीं। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि अचलरूपसे इन अंगोंको धारण करे। पश्चात् [संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्] दशों दिशा-

ओंसे दृष्टिको रोकेहुए नासाका अग्रभाग जो नासिकान्त उसे अवलोकन करे, अन्य किसी ओर दृष्टिको न जानेदेवे। क्योंकि इधर उधर दृष्टि-

टिप्पणी— पर ऐसा देखाजाता है, कि एकाएक नासिकाके अग्रभागको देखनेसे थोडी ही देरके पश्चात आंखें दुखने लगजाती हैं, मस्तकमें कुछ क्लेश होता है, इसलिये योगीको उचित है, कि नासाग्रावलोकनसे पहले त्राटकका साधन करलेवे। फिरतो घंटों नासाग्र देखा कीजिये न आंखें दुखेंगी और न मस्तकमें किसी प्रकारका क्लेश ही होगा।

साधकोंके कल्याण निमित्त यहां त्राटकका वर्णन करदियाजाता है—

त्राटक:— निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

अर्थ— नेत्रोंके सामने किसी प्रकारका एक सूक्ष्म-लक्ष्य बना रक्खे यदि ब्रह्मचारी वा गृहस्थ हो तो अपनी पूजाके घरकी दीवालपर एक काली गोल बिन्दु बना अथवा अपने इष्टदेवकी मूर्त्ति के दोनों भउहोंके मध्य ललाटस्थानमें एक कस्तूरीकी बेंदी लगा अपना लक्ष्य बनालेवे। इन्हींमें किसी एकपर अपने नेत्रोंको तब तक जमावे जबतक आंसू न निकले। यदि वानप्रस्थ, बनवासी वा एकान्त वासी हो तो बनमें किसी अपने सम्मुखवाले वृक्षकी किसी एक डालीके अग्रभागको अपना लक्ष्य बनाकर दोनों नेत्रोंसे पूर्ववत् देखता रहे। जब न देखसके, अश्रु आने लगजावें तब नेत्रोंको थोडी देरके लिये मींच रखे फिर उसी प्रकार अवलोकन करे। एवं प्रकार बार-बार अवलोकन करनेके पश्चात् जब नेत्र बिना क्लेशके एक मुहूर्तमात्र ठहरने लगजावें तब सिद्धासन बांधकर पहले अपने दोनों नेत्रोंसे अपना नाभिको एक मुहूर्त्त मात्र अवलोकन करे, फिर वहांसे ऊपर अपने हृदयकी गहराईपर नेत्रोंको पूर्ववत् जमादेवे।

एवम् प्रकार जब हृदयपर त्राटकका अभ्यास होजावे तब नेत्रोंकी दृष्टि हृदयसे उठाकर नासाग्रपर लेआवे अर्थात् नासाग्रका अवलोकन करे। जब एवम् प्रकार त्राटक-क्रिया सिद्ध करके नासाग्रका अवलोकन करेगा तब नेत्र नहीं दुखेंगे और न मस्तकमें व्यथा होगी।

पात करनेसे कभी सुन्दर पुष्पोंसे लदे वृक्ष, कभी जलभरी उमडी काली घटा तथा कभी दामिनीकी दमक इत्यादिकी शोभा देख चित्त के चंचल होजानेका भय है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि अपनी नासिकाके अग्रभागको देखे अर्थात् अपने नेत्रोंको सब ओरसे रोककर केवल नासिकाका अग्रभाग अवलोकन करता रहे और नासिकाकी नोंकपर दृष्टि जमाये रहे। इस नासिकाके अग्रभाग (नोंक) के अवलोकनसे मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि नासिकाकी नोंकसे दृष्टिको ऊपरकी ओर नासिकाकी सीधीलकीर होकर भ्रूमध्यमें भउहोंतक पहुंचा, भीतरकी ओर ज्योतिका अवलोकन करे। यह क्रिया गुरुद्वारा जानने योग्य है।

ऐसा करते समय पलकें ऊपरसे गिरती हुई देख पडेंगी और पुतलियां ऊपरको चढते-चढते भ्रूमध्यमें अर्थात् दोनों भउहोंके मध्यमें पहुंचेंगी तहां प्रथम अन्धकार देख पडेगा, फिर लालरंग देख पडेगा, फिर तहां नेत्रोंको उसी प्रकार जमाते-जमाते सूर्य्यके समान ज्योतिका दर्शन होगा जिसे **सुषिरमण्डल** कहते हैं। जिसका वर्णन अध्या० ५ श्लोक० २८ में किया जाचुका है।

मुख्य तात्पर्य्य नासाग्रावलोनका यही है, कि भ्रूमध्यमें ज्योतिका दर्शन होवे। यदि किसीको शंका हो, कि न जाने भीतर ज्योति है वा नहीं? तो इस शंकाके दूर करनेके लिये यह अपने हाथकी तर्जनी और मध्यमासे दोनों नेत्रोंकी नीचेवाली नाडीको धीरे-धीरे दाबे, ज्योति अवश्य प्रकट होगी। तहां प्रत्यक्ष देखनेमें आवेगा, कि

सर्वत्र ज्योतिही ज्योति फैली हुई है । फिर तो आंखें खोलकर देखनेसे भी नीचेसे ऊपर तक ×ज्योतिही-ज्योति दीख पडेगी । इसी ज्योतिदर्शनके तात्पर्य्यसे भगवानने नासाग्रावलोकनकी विधि बतायी है । जो सिद्धासन लगाते-लगाते सिद्ध होजाती है । पाठकोंके कल्याण निमित्त उसी सिद्धासनकी विधि जिसका संकेत भगवान् इस श्लोकमें कररहे हैं, बतायाजाता है—

सिद्धासनम्— " योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् । मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥ स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरम् । ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ (ह० प्र० द्वि० उ० श्लो० ३१ में देखो)

अर्थ— गुदा और उपस्थके मध्यस्थानमें जिसे योनिस्थान कहते हैं साधक अपने बायें पांवकी ऐंडी लगाकर दृढकर बैठजावे, फिर दायें पांवकी ऐंडीको गुरुकी बतायी हुई रीतिसे मेढ्रस्थान (नाभिसे नीचे शिश्नेन्द्रियसे उपरके भाग) में दृढकर स्थिरकरे और दोनों चरणोंकी पांचो अंगुलियोंको दोनों ओर जंघा और टांगोंके बीचमें प्रवेशकर दाबरखे । पश्चात् हृदयकी गहराईमें जो गलेसे नीचे है

× बहुतेरे आजकलके नवीन प्रकाशवाले मूर्ख इस ज्योतिर्दर्शनके विषयमें यों कहते हैं, कि आंखोंके टीपनेसे चकाचौंध लगजाती है पर यह चकाचौंध उनकी बुद्धिमें लगीहुई है आंखोंमें नहीं है । इश्वर इनकी चकाचौंध छुडावे इनको सुबुद्धिदेवे और किसी गुरुका संगदेवे जिसके द्वारा इनको इस अमूल्य रत्नका लाभ हो ।

अपनी चिबुक (ठुड्डी) को लगाकर स्थिर करे। एवम प्रकार स्थिर हो इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकेहुए दोनों पुतलियोंको मिला एक दृष्टिकर भृकुटीके बीचोंबीच भीतरकी ओर देखता रहे। इसी आसनको मोक्षके कपाटका तोडनेवाला सिद्धासन कहते हैं।

अब इस " **सिद्धासन** " की श्रेष्ठता वर्णन कीजाती है—

" चतुरसीति पीठेषु सिद्धमेव समभ्यसेत् ।
द्विसप्तति सहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥
आत्माध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ।
सदासिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात ॥ "

(हठयोगप्रदीपिका उ० द्वि० ३९, ४०)

यह सिद्धासन जो योगके चौरासी आसनोंमें श्रेष्ठ है उसे सदा अभ्यास करे। यह सिद्धासन शरीरके मुख्य बहत्तर हजार नाडियोंके मलको शोधन करनेवाला है। आत्माका ध्यान करनेवाला और मिताहारी अर्थात् प्रमाणसे पथ्य पदार्थोंका भोजन करनेवाला यदि बारह वर्ष पर्यन्त इस आसनका ही अभ्यास करे तो वह अवश्य निष्पत्ति-अवस्थाको प्राप्त होजावे अर्थात् उसका योग सिद्ध होजावे।

इस आसनमें शरीर इधर उधर डोलता नहीं। चाहे जितने काल तक योगाभ्यासी इस आसनपर बैठा रहे क्लेश नहीं होता है। योगसूत्रके कर्त्ता महर्षि पतंजलि भी कहते हैं, कि " **स्थिरसुखमासनम्** " (पतं० अ० २ सु० ४६) अर्थात् वही आसन उत्तम है जिसके लगानेसे स्थिरता और सुख प्राप्त हो, सो स्थिरता और

सुख अन्य आसनकी अपेक्षा इस आसनमें विशेषतः अधिक होते हैं इसलिये इस आसनकी श्रेष्ठता कहीगयी ।

इस आसन लगानेवाले योगीको किन-किन गुणोंसे युक्त होना चाहिये सो भगवान कहते हैं, कि [**प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः**] प्रशान्तात्मा हो विगत भी हो और ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित हो। अर्थात् सर्व प्रकारकी चंचलतासे रहित एकाग्रचित्त हो और सर्वप्रकारके भयोंसे रहितहो । तात्पर्य्य यह है, कि जबतक प्राणी प्रशान्तात्मा नहीं होगा तबतक राग द्वेषके कारण शत्रु मित्रका जो लेश मनमें लगा रहेगा वही मनकी चंचलताका कारण होगा ॥ इसलिये इन विकारोंको परित्यागकर प्रशान्तचित्त होवे । इसी कारण भगवान कहते हैं, कि विगतभी हो अर्थात् ऐसी शंका न करे, कि मेरा शत्रु मुझको यहां एकान्तवासी अकेला जानकर किसी प्रकारका उपद्रव करेगा तथा व्याघ्रादि क्रूर जीव मुझे खाजावेंगे । ऐसी शंकाओंको एकदम छोडदेवे । क्योंकि जिस प्राणीने सब छोड-छाड उसी नारायण सर्वशक्तिमान्‌में चित्त लगाया है, उसीको अपना सच्चा रक्षक जाना है उसे क्या वह भगवत अपना ध्यान करतेहुए नहीं बचावेगा ? उसके शत्रुओंको क्या दण्ड नहीं देगा ? प्रह्लादकेलिये क्या हिरण्यकशिपुको नहीं फाडखायगा ? फिर भय कैसा ?

बनमें एकाकी रहनेसे फिर ऐसा निर्भय योगी ब्रह्मचर्य्यव्रतकाभी पालन करनेवाला हो चाहे सुन्दरसे सुन्दर अप्सरा उसके सन्मुख क्यों न आजावे उसे कुत्तेके उवान्तके समान जाने। एवम्प्रकार ब्रह्मचर्य्यव्रतमें स्थित होवे अर्थात अपने वीर्य्यके निरोधमें तत्पर

* आठों प्रकारके मैथुनसे वर्जित होवे । इस व्रतके पालनसे क्या लाभहोता है ? इस विषयमें पतञ्जलि कहते हैं– "ब्रह्मचर्य्यप्रतिष्ठायां-वीर्य्यलाभः" (पतं० अ० २ सू० ३०) जो प्राणी ब्रह्मचर्य्यव्रतमें प्रतिष्ठित है उसको बल और पराक्रमका लाभ होता है, किसी प्रकारके रोगादिका उपद्रव भी नहीं सताता, अन्तःकरणमें स्थिरता प्राप्त होती है और इन्द्रियोंके दमन करनेकी सामर्थ्य प्राप्त होती है । इसी सूत्रका भाष्य करतेहुए व्यासदेव कहते हैं, कि "यः किलब्रह्मचर्य्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशयं वीर्य्यं सामर्थ्यमाविर्भवति । वीर्य्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्य्यं तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनः सवीर्य्यं प्रकर्षमागच्छति ।"

अर्थ– जो प्राणी निश्चयकरके ब्रह्मचर्य्यका दृढ अभ्यास करता है तिसे उस ब्रह्मचर्य्यकी पूर्त्ति करलेनेसे अत्यन्त बल और अद्भुत शक्ति उत्पन्न होती है । वीर्य्यके निरोध करनेहीको ब्रह्मचर्य्य कहते हैं, तिसको पूर्णकरलेनेसे अर्थात् उच्च श्रेणीका ब्रह्मचर्य्य प्राप्त करलेनेसे शरीर, इन्द्रिय और मन अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकारकी सामर्थ्यको प्राप्त होते हैं ।

यहां ब्रह्मचर्य्य कहनेसे भगवानका तात्पर्य्य ब्रह्मचर्य्याश्रमसे नहीं है, क्योंकि यहां तो एकाकी योगीके विषयमें कहरहे हैं, जो बनमें जाकर

* स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः । (गारुडे अ० ६४)

अर्थ– १. स्मरण, २. कीर्तन, ३. केलि, ४. प्रेक्षण, ५. गुह्यभाषण, ६. संकल्प, ७. अध्यवसाय और ८. क्रियानिवृत्ति । येही आठ प्रकारके मैथुन हैं ।

ध्यानयोगमें तत्पर हुआचाहता है। इसलिये यहां गुरुकुलमें जाकर विद्या उपार्जन करनेसे तात्पर्य्य नहीं है, क्योंकि बनवासी तो बचपनही में यज्ञोपवीत संस्कारके पश्चात् इन कर्मोंका सम्पादन करचुका है। इसलिये भगवान्‌का तात्पर्य्य यहां केवल वीर्य्यनिरोध अर्थात् इन्द्रियदमनसे है। यहां ब्रह्मचर्य्यब्रतके स्मरण दिलानेसे भगवान्‌का यह भी तात्पर्य्य है, कि प्रायः योगियोंके योगवलको बढतेहुए देख इन्द्रादि देवता जो अपनी पदवीके छिन जानेके भयसे अप्सरा-इत्यादिको भेज, उनके योग भ्रष्ट करनेमें तत्पर रहते हैं सो ऐसा न होनेपावे, कि योगी उन अप्सराओंकी अद्भुत् छविको देख मोहित हो भ्रष्ट होजावें। इसलिये भगवान् पुनः पुनः ब्रह्मचर्य्यब्रतकी स्मृति कराते चले जारहे हैं। बहुतेरे साधारण प्राणी यों पूछ बैठते हैं, कि मनुष्य अपने जानते तो अपने वीर्य्यके निरोधका पूर्ण यत्न रखसकता है, पर विधाताने ऐसी सृष्टिकी रचनाकी है, कि स्वप्नमें भी वीर्य्यपात होजायाकरता है तिसके रोकनेका क्या उपाय है?

उत्तर इसका यह है, कि यदि प्राणी वीर्य्यके उत्तेजित होनेके कारणोंको हटादेवे और इसका पूर्ण विचार रक्खे तो स्वप्नमें भी वीर्य्यपात नहीं होसकता, यह तो एक प्रकारका रोग है। किन-किन पुरुषोंका स्वप्नमें वीर्य्यपात होता है? सो कहते हैं— प्रथम तो वह जिसे व्यभिचारकी अधिकतासे धातुप्रमेहका रोग है। ऐसा प्राणी व्यभिचार छोडे और रोगकी चिकित्सा करावे। दूसरा वह जो सदा स्त्रियोंकी प्राप्तिके विचारमें रहता है। यद्यपि उसे स्त्रीकी प्राप्ति तो नहीं होती पर उसकी स्मृति रहनेसे स्वप्नमें स्त्रियां दीखपडती हैं, तहां वीर्य्यपात

होनेका भय है। ऐसा प्राणी स्त्रीका ध्यान छोडे। तीसरा वह जो बहुत अधिक सोता है। क्योंकि अधिक सोनेसे श्वासोच्छ्वासकी रगडके द्वारा जो शरीरमें गर्मी उत्पन्न होती है उससे सुषुम्णा नाडी विना स्त्री आदिके स्मरणहुए भी खुलजाती है इस कारण प्राणीको सुखका अनुभव होनेसे वीर्य्यपात होजायाकरता है। दो प्रहरसे अधिक शयन करना धातुकेलिये हानिकारक है।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम् प्रकारके इन्द्रिय-दमनको व्रत पालन करताहुआ दृढ आसनोंमें स्थिर हो [**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्तआसीत मत्परः**] मनको संयम करके मच्चित्त हो, अर्थात् मेरेमें चित्तको लगाताहुआ स्त्री पुत्रादिके स्नेहको तथा सुखको तिलांजलि देकर मेरे साकार वा निराकार-रूपको अपने मनमें बसावे, सदा मेरे ही स्वरूपके आनन्दमें मग्न रहे तथा (मत्परः) मेरा परायण रहे, अहर्निश मुझहीको अपना श्रेय और प्रेय जानकर मुझहीमें लगारहे और मुझको ही परम पुरुषार्थ समझे। भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि प्रह्लाद ऐसे भक्तके समान मच्चित्त और मत्परायण हो।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो भगवत्में चित्त लगाकर भगवत्परायण होजाता है, उसे ब्रह्माण्ड मात्रके किसी देवता, देवी, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, सिंह, सर्प, आग और पानी किसीका भी भय नहीं रहता। यह सिद्धान्त है, कि जब भय नहीं रहेगा तो चित्त आनन्द-पूर्वक स्थिर और शान्त रहेगा। भगवान् कहते हैं, कि इसी प्रकार मच्चित्त और मत्परायण होकर विगतभी

अर्थात् निर्भय विहार करे। जब कोई योगी मच्चित्त और मत्पर होगा तब विगतभी अर्थात् निर्भय होगा और जब निर्भय होगा तब प्रशान्तात्माभी अवश्य होगा। यथा श्रु०— "आनन्दब्रह्मणोविद्वान् न विभेति कुतश्चन।

अर्थ— ब्रह्मानन्दमें मग्न प्राणी किसीसे भी डरता नहीं है निर्भय होजाता है। इसी विषयको भगवान् पुनः पुनः कहते हैं, कि मेरेमें चित्त लगायेहुए मनको विषयोंसे सतायेहुए, वृत्तियोंका निरोध कियेहुए, मुझ परमेश्वरके साकार वा निराकार स्वरूपमें समाहित-चित्त हो ध्यानयोगके साधनमें तत्पर रहे ॥ १३, १४ ॥

उक्त प्रकार योगसाधनकरनेवाला योगी किस फलको प्राप्त होता है ?

सो भगवान् कहते हैं—

मू०— युंजन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
॥ १५ ॥

पदच्छेदः— योगी (ध्यानयोगाभ्यासी) नियतमानसः (निगृहीता मनोवृत्तिविकारा येन सः) एवम् (अनेन रूपेण) सदा (निरन्तम्। दीर्घकालं वा) आत्मानम् (अन्तःकरणम्) युञ्जन् (समाहितं कुर्वन्) मत्संस्थाम् (मय्येव एकीभावेनावस्थानं यस्यांरताम्। मदधीनां वा) निर्वाणपरमाम् (मोक्षस्यानन्यसाधन-भूताम्) शान्तिम् (संसारोपरतिम्) अधिगच्छति (प्राप्नोति) ॥१५॥

पदार्थः— (योगी) ध्यानयोगका अभ्यास करनेवाला योगी (नियतमानसः) जिसने मनोवृत्तिके विकारोंको निरोध करलिया है वह (एवम्) इस प्रकारसे (सदा) निरन्तर (आत्मानम्) अपने अन्तःकरणको (युंजन्) समाधान करताहुआ (मत्संस्थाम्) मेरे अधीन रहनेवाली तथा (निर्वाणपरमाम्) मोक्ष निष्ठावाली (शान्तिम्) शान्तिको (अधिगच्छति) प्राप्त होता है अर्थात् मुझमें स्थिर होकर संसारसे उपरामको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

भावार्थः— श्रीगोलोकविहारी जगतहितकारी योगका फल वर्णन करतेहुए अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**युंजन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः**] जो योगी नियतमानस है वह सदा अपनेको योगमें युक्त करताहुआ क्या करता है ? सो सुनो ! पूर्व श्लोकमें बतायीहुई रीतिसे आसनको पूर्णप्रकार लगाकर, तिस आसनपर दृढ-स्थित, ब्रह्मचर्य्यव्रतपर ध्यान रखताहुआ सदा मेरेमें परायण हो, जिस ध्यानयोग साधनकरनेवाले योगीनें अपनी मनोवृत्तिके विकारोंको नाश

Thus for wholeness ever striving,
The will poised Sage of mind restriained
Enters peace in all restending
That where but in me abides 15

नियत चित्त जो योगी ऐसे
सन्तत रहता योगासक्त ।
मुझमें स्थित निर्वाण-रूपिणी ।
शान्ति वही पाता है भक्त ॥ १५ ॥

करदिया है अर्थात् जिसकी वृत्ति विषयोंकी ओर न जाकर मेरी ओर लग गई है, जो सहस्रों आपत्तियोंके प्राप्त होनेपर भी अपनी निष्ठासे चंचल न हो और अपने नियत कियेहुए ध्यानसे नहीं डिगे उसीको नियतमानस कहते हैं। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब योगी ध्यानावस्थित होकर श्री हरिके स्वरूपमें मन लगाता है तो नाना प्रकारकी सिद्धियां चारों ओरसे आकर उसे घेरलेती हैं। अष्ट सिद्धियां हाथ बांधे खडीहोजाती हैं और बहुतेरी रानी रौतानियां अपने स्वार्थकी सिद्धि निमित्त उस योगीके चारों ओर हाथबांधे आ खडीहोती हैं। यहांतक, कि देवांगनायें हाथोंमें पानदान, गुलाबदान, इतरदान, पुष्पमाला इत्यादि लेकर सम्मुख पहुंचती हैं। तहां श्रुतिका प्रमाण है—

श्रु०— "ॐ तं पंचशतान्यपसरसां प्रतिधावन्ति शतं मालाहस्ताः शतमांजनहस्ताः शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः" (कौषीतकी उ० अ० १ श्रु० ४ में देखो)

अर्थ— जब योगी अपने योगबलसे ब्रह्मानन्दप्राप्तिके योग्य होजाता है, तो प्रथम उसके सम्मुख पांचसौ सुन्दर-सुन्दर रूप यौवनसे सम्पन्न अप्सरायें (परियां) आकर खडीहोती हैं। सौ तो हरिद्रा, केशर और कुमकुम-चूर्ण, सौ नाना प्रकारके वस्त्र, सौ नन्दनबनके मधुर-मधुर फल, आभरण और सौ विविध प्रकारके पुष्पोंकी मालाएँ लियेहुए योगीके सम्मुख आ प्राप्त होती हैं और उसे अपने संग लेजानेकी चेष्टा करती हैं।

भगवान्‌के कहनेका यह अभिप्राय है, कि इस प्रकार घेरे जानेपर जो अपने योगसे और सिद्धियोंके प्राप्तहोनेसे भी जो घृणा करता है उसीको नियतमानस कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि इस प्रकार नियतमानसयोगी सदा अपने अन्तःकरणको योगक्रियामें तथा मेरे स्वरूपमें समाधान कियेहुए **[शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति]** संसारसे उपरामको प्राप्त होकर शान्तिको प्राप्त होता है। सो शान्ति कैसी है? सो कहते हैं, कि **निर्वाणपरमा** है और **मत्संस्था** है। अर्थात् जिस अवस्थामेंपहुंचकर कुछ करने वा जाननेको शेष नहीं रेहजाता। योगी आत्मामें लय होजाता है। जैसे बत्ती जलते-जलते समाप्त होजाती हैं, उसकी ज्योति महदाकाशमें लय होजाती है। उसी अवस्थाको **निर्वाणपरमा** कहते हैं। प्रमाण श्रुतिः—ॐ **यथा निर्वाण काले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥** " (छुरिकोप० मं० २१)

अर्थ— जैसे दीपक बुतनेके समय जलकर लय होजाता है तैसे ही सब कर्मोंको दग्ध करके योगी लय होजाता है। सो भगवान् आगे कहेंगे। फिर श्रीमद्भागवतका वचन है—

मुक्ताशयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः। आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः। देहे च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा सिद्धो विपश्यत्यऽध्यगमत्स्वरूपम्। दैवादुपेतमथदैववशादपेतं वासो यदा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ (श्रीमद्भा० स्कं० ३ श्लो० ३५, ३७)

अर्थ— पूर्वोक्त **नियतमानस** पुरुष जब सर्व प्रकारके आशयों से रहित, सबसे विरक्त और निर्विषय हो इस प्रकार निर्वाण होजाता

है जैसे " अर्चिः " (दीपककी ज्वाला) तेल वत्तीके नाश होनेसे अपने महाकारण महाभूताकाशमें लय होजाती है, इसी प्रकार वह पुरुष बिना किसी व्यवधान (रुकावट) के सर्व प्रकारके गुणप्रवाह (देहेन्द्रियोंके व्यवहार) से रहित हो केवल एक आत्मानन्दके साक्षात्कारका अनुभव करलेता है।

फिर कपिलदेवजी अपनी माता देवहुतीको उपदेश करते-करते एवम्प्रकार कहते हैं, कि हे मातः! जो योगाभ्यासमें पूर्ण इस अन्नके शरीरमें विद्यमान जिस शरीरसे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करता है वह शरीर दैवाधीन आसनपरसे उठबैठा वा उठखडा रेहा वा तहांसे किसी दूसरे स्थानको चलागया अथवा फिर आसनपर आबैठा इन बातोंका भी अनुसन्धान नहीं रखता है। जैसे मद्यपी मद्यपान करनेके पश्चात् उस मदसे उन्मत्त हो यह नहीं अनुभव करता, कि उसकी कटिमें जो वस्त्र लिपटाहुआ था वह है वा गिरगया। ऐसी अवस्था जब योगीकी होजाती है तभी उसे निर्वाणपरमा कहते हैं। इसीका नाम जीवन्मुक्ति है।

यदि पूछो, कि वह **निर्वाणपरमा** कैसी है? जिसे योगी प्राप्त करता है। तो भगवान् कहते हैं, कि " मत्संस्थाम् " मुझ ही में जिसका अवस्थान है। इसलिये जो मेरे ही अधीन है।

श्री आनन्दकन्दके कहनेका तात्पर्य यह है, कि जो **निर्वाणपरमा-शान्ति** भगवत्के आश्रय है वही सर्वोत्तम और श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य देव देवी सब उसीके अधीन हैं। यथा श्रुतिः— "**तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥**" (श्वेता० अ० ६ श्रुति ७)

अर्थ— वह परब्रह्म जगदीश्वर यम, वरुण, कुवेरादि ईश्वरोंका भी परम महेश्वर है, इन्द्रादि देवताओंका भी परम देव है, प्रजापति, बृहस्पति इत्यादि पतियोंका भी पति है और अक्षर ब्रह्म होनेके कारण परम अविनाशी स्वरूप सबोंसे परे है । अर्थात् अन्य सबोंका नाश होजाता है पर उस भगवत्स्वरूपका कभी भी नाश नहीं होता । तिस ऐसे भगवत्को हम चौदहों भुवनका ईश सबोंसे स्तुति कियेजाने योग्य जानते हैं ।

इसी कारण भगवान्ने इस **निर्वाणपरमाशान्तिको** अपने अधीन अर्थात् "**मत्संस्था**" कहा और यह कहा, कि जो इसे प्राप्त करता है वह मेरे स्वरूपमें लय होजाता है । इस योगका मुख्यफल यही है ॥ १५

अब जगत-हितकारी श्री गोलोकविहारी अगले श्लोकमें
योगियोंको उनके आहार-विहारकी शिक्षा देते हैं—

मू०— नात्यश्नतस्तु योगोस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
नचातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्ज्जुन ! ॥ १६

पदच्छेदः— [हे] **अर्जुन** ! **अत्यश्नतः** (अत्यन्तमधिकम् भुञ्जानस्य) **तु** (निश्चयेन) **योगः** (योगसिद्धिः) **न** (नैव) **अस्ति** (भवति) **च** (तथा) **एकान्तम्** (नितान्तम्) **अनश्नतः** (अनाहारस्य) **न**, **च** (तथा) **अतिस्वप्नशीलस्य** (निद्रालोः । शयालोः) **न**, **च** (तथा) **जाग्रतः** (जागरणविशिष्टस्य) **नैव** [योगोऽस्ति] ॥ १६ ॥

पदार्थः—(अर्जुन!) हे अर्जुन! (अत्यश्नतः) अत्यन्त अधिक भोजन करनेवालेके लिये भी (तु) निश्चय करके (योगः) योग (न, अस्ति) नहीं है (च) तथा (एकान्तम्) एकबारगी (अनश्नतः) निराहार रहनेवालेके लिये भी (न) योग नहींहै ! इसी प्रकार (अतिस्वप्नशीलस्य) अत्यन्त अधिक सोनेवालेके लिये (च) भी (न) योग नहीं है तथा (जाग्रतः) बहुत जागनेवालेके लिये (च) भी (न) योग नहीं है । तात्पर्य यह है, कि ऐसे लोगोंका योग सिद्ध नहीं होता जो बहुत भोजन करते हैं वा एकबारगी भूखे रहजाते हैं तथा जो बहुत सोते हैं वा बहुत जागते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब श्री योगेश्वर भगवान् योगियोंको उनके आहार विहारकी शिक्षा देतेहुए कहते हैं, कि [**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति नचैकान्तमनश्नतः**] जो प्राणी बहुत खाता है उसकेलिये योग नहीं है । क्योंकि अत्यन्त भोजन करनेवालेके शरीरमें तो कफ, मेद और वायुकी अधिकता होजाती है जिससे रसवहा नाडियोंके मार्ग रुकजाते हैं, इसलिये अन्नोंके रसोंके ठीक-ठीक अपने स्थानपर नहीं पहुंचनेसे नाना प्रकारके रोगोंकी उत्पत्ति होती है। जिस कारण योगक्रियाका सम्पादन होही नहीं सकता । यथा—
" अनात्मवन्तः पशुवद्भुजंते येऽप्रमाणतः । रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ "

अर्थ— जो लोग मूढतावश पशुके समान अप्रमाण भोजन करते हैं वे अपने शरीरमें आप रोगोंके मूल बनजाते हैं और अजीर्ण-रोगको

प्राप्त होते हैं । अर्थात अधिक खानेवलोंको अजीर्णका रोग अवश्य होता है । यथा= **प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम । तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशात् विनश्यति ॥**

अर्थ— आहारकी विषमतासे मनुष्योंको अजीर्ण (अपच) होजाता है सो रोगोंका मूल है और तिसी रोगके नाशहुए सब रोग नाश होजाते हैं । इसी विषयमें धर्म्मशास्त्रोंकी भी यों सम्मति है— " **अनारोग्यम नायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् । अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्त-त्परिवर्जयेत् ॥** (मनु० अ० १ श्लो० ५७)

अर्थ— अति भोजन रोगोंका कारण है, आयुको भी हानिपहुंचानेवाला है और स्वर्गका भी कारण नहीं। क्योंकि आलस्यके अधिक होनेसे तथा रोगोंसे पीडित रहनेसे स्वर्गतक पहुंचानेवाले यज्ञादिकोंका सम्पादन नहीं होसकता तथा पुण्योंसे भी रहित है, लोकविद्विष्ट है अर्थात्

टिप्पणी— बहुतेरे कुविचारी और मूर्ख ऐसा समझते हैं, कि अधिक भोजन करनेसे शरीरमें बल और वीर्य्यकी अधिकता होती है । पर ऐसा समझना उनकी मूर्खता है । देखो ! हांडीमें चावल यदि प्रमाणसे अधिक होजावें तो उबलकर बाहर गिर पडेगा, कच्चा रहजावेगा और परिपक्व नहीं होगा । इसी प्रकार बालक, युवा, और वृद्ध अपने शरीर और जठराग्निके प्रमाणानुसार यदि भोजन करेंगे तो उत्तम है । " पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु । वायोः संचरणार्थंतु चतुर्थमवशेषयेत ॥ " इस वचनके अनुसार पेटका दो भाग अन्नसे, तीसरा भाग जलसे भरना और चौथा भाग वायुके प्रवाहकेलिये रखना चाहिये । जिससे रसवहा नाडीके प्रवाहमें रुकावट न हो । इसी नाडी द्वारा सातों धातु बनते हैं जिनमें अन्तिम धातु " वीर्य्य " है ।

संसारमें तथा अडोस-पडोसमें निन्दाका कारण है । लोग कहते हैं, कि अमुक प्राणी बहुतबडा उदरम्भर अर्थात् पेटू है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि "नचैकान्तमनश्नतः" जैसे अत्यन्त भोजन करने वालोंकेलिये योग नहीं है इसी प्रकार एकबारगी नहीं भोजन करनेवाले अर्थात् निराहार रहनेवालोंकेलिये भी योग नहीं है । क्योंकि निराहार रहनेसे निर्वलता होती है तथा कलेजा सूख जाता है । इसलिये प्राणायामादि क्रियाओंके साधनमें श्वासोच्छ्वासकी जब रगड पडती है तब उस रगडसे कलेजाके छिल जानेका भय है । जिसके छिलनेसे रुधिर निकलपडता है । इस योग-क्रियामें परिश्रम अधिक पडता है इसलिये योगीका कलेजा हृष्ट पुष्ट रहना चाहिये जो बिना भोजन नहीं होसकता इसलिये योगियोंकेलिये निराहार रहना भी हानिकारक है ।

भगवान्का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि योगी न अधिक भोजन करे न भूखा रहे । क्योंकि दोनों बातें हानिकारक हैं । तहां शतपथ ब्राह्मणका प्रमाण है— "ॐ यदुह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति तन्न हिनस्ति यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयो न तदवति। इति"

अर्थ— × आत्मसम्मित जो अन्न है वह प्राणीकी रक्षा करता है, वह प्राणीका नाश नहीं करता और जो अन्न एकवारगी थोडा खाया

× आत्मसम्मितम्— जो अन्न पूर्णप्रकार परिपक्व होकर सुन्दर सुखदायी रसोंको उत्पन्न कर शरीरको बलिष्ट और पुष्टबनावे, जिससे नाना प्रकारके कार्य्य करनेमें उत्साह हो तो उसी अन्नको "आत्मसम्मित" अन्न कहते हैं ।

जाता है वह भी नाशका कारण होता है उससे भी रक्षा नहीं होसकती।

इसी कारण योगशास्त्रमें मिताहारी रहनेकी आज्ञा है। अर्थात् योगी न अधिक भोजन करे, न कम भोजन करे, तहां चरकमें भगवान् अत्रि कहते हैं, कि " **हिताहारोपयोग एक एव पुरुषस्याभिवृद्धिकरो भवति। अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति॥** " (चरकः) अग्निवेशसे भगवान् अत्रि कहते हैं, कि जो आहार हित है अर्थात् मिताहार है और पथ्य वस्तुओंसे युक्त है उसका उपयोग अर्थात् सेवन करनेसे पुरुषोंके बल बुद्धिकी वृद्धि होती है। और इसके प्रतिकूल जो आहार अहित है अर्थात् अधिक वा न्यून है तथा अपथ्य वस्तुओंसे युक्त है वह नाना प्रकारकी व्याधिओंका कारण है।

इस वचनसे भी सिद्धान्त होता है, कि योगियोंको मिताहारी होनाचाहिये तथा पथ्य वस्तुओंका भोजन करनाचाहिये। सात्विक-भोजन पथ्य होता है **राजसी और तामसी** भोजन अपथ्य हैं। सात्विकादि तीनों प्रकारके आहारोंका वर्णन भगवान् अर्जुनके प्रति आगे सतरहवें अध्यायमें करेंगे।

योगियोंकेलिये कौनसी वस्तु पथ्य हैं और कौन-कौनसी अपथ्य हैं? सो कहते हैं— " **कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान। आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलपिण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः॥ भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतमरूक्षम। अति लवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम्** " (हठयोगप्रदीपिका उपदेश १ श्लो० ५९, ६०)

अर्थ— कडुई जैसे निम्बादि, + खट्टी जैसे आमकी खटाई इत्यादि, × तीक्ष्ण (लाल मिरच इत्यादि) लवण (बहुत नमक) उष्ण (बहुतगरम) अथवा वे वस्तु जिनका गुण बहुत गरम है जैसे गुड इत्यादि, ❀ हरितशाक (कच्चा शाक) कांजी, तेल, तिल, सरेसों, मद्य, मछली, बकरे इत्यादिका मांस, दधि, तक्र, कुलथी, वेरका फल, तिलपिण्डी और हींग इतनी वस्तु योगियोंकेलिये अपथ्य हैं और हानिकारक हैं। एवम्प्रकार योगी आहारका विचार करता हुआ नीचे लिखे व्यवहारोंको भी अपथ्य ही जानकर वरज देवे ।

"वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं बह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातः स्नानोपवासादि कायाक्लेशविधिं तथा ॥"
(गोरक्षवचनम्)

+ नीबू— ग्रहण करने योग्य पथ्य है।

× कालीमिरची— पथ्य है।

❀ शाकं भिनत्ति वपुरस्थिनि हन्ति नेत्रम्,
वर्णं विनाशयति रक्तमथापि शुक्रम्।
प्रज्ञाक्षयं प्रकुरुते पलितं च नूनम्,
हन्ति स्मृतिं गतिमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥
शाकेषु सर्वे निवसन्ति रोगाः, सहेतवो देहविनाशनाय ।
तस्माद्बुधः शाकविवर्जनं च, कुर्यात् तथाम्लेषु स एव दोषः ॥
(भावप्रकाशः)

अर्थ— दुर्जनलोगोंके संगको त्यागे, दुर्जनोंके निवासस्थानके समीप अपना स्थान न बनावे, अग्नि न तापे, स्त्रीका संग न करे, मार्ग न चले, प्रातःकाल ठण्डेपानीसे स्नान न करे, किसी प्रकार भी उपवास न करे। अथवा अपनी कायाको अन्य किसी प्रकारका क्लेश न देवे। इतनी बातें योगियोंकेलिये हानिकारक हैं। अब योगियोंकेलिये जो वस्तु पथ्य हैं वे लिखीजाती हैं—

" गोधूमशालियवषष्ठिकशोभनान्नम्, क्षीराज्यखण्डनवनीतसिता मधूनि। शुंठीपटोलकफलादिकपंचशाकम्, मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्, मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥ " (हठ० प्रथ० उ० श्लो० ६२, ६३)

अर्थ— गेहूं, चावल, जौ, साठी, शमा, कंगनी, दूध, घृत, खांड, माखन, मिश्री, मधु, सोंठ, पलवल, फलादि, (आम, अमरूद, सेव, अंगूर, नासपाती इत्यादि) पंचशाक जीवन्ती, वास्तूक (बथुआ) काकमाची (गुडकामाई) पुनर्नवा और चौलाई ये पांच शाक " पञ्च-शाक " कहे जाते हैं । इनको छोड और सर्वप्रकारके शाक रोगके कारण हैं, सो अपथ्यमें दिखाआये हैं । मुद्ग (मूंग) कूपका दिव्यजल श्रेष्ठ साधकोंकेलिये पथ्य है । शरीरको पुष्टकरे ऐसा मधुर, दूध घृतादियुक्त ओदन (भात) तथा धातुको पोषण करनेवाले एवं मनको रुचिकारक पदार्थोंको योगी भोजन करे ।

शंका— पहले तो कह आये हैं, कि योगी एकाकी होकर एकान्तस्थानमें निवास करे, अपरिग्रह हो अर्थात् कुछ भी अपने

साथ न रक्खे । अब कहते हैं, कि ऐसे—ऐसे पौष्टिक पदार्थोंका भोजन करे । जब एकाकी और अपरिग्रह होगा तो ये पौष्टिक-पदार्थ उसे कहांसे मिलेंगे ?

समाधान— योगियोंकी दो अवस्थायें होती हैं आरम्भावस्था और निस्पत्त्यवस्था । आरम्भावस्था अर्थात् योगक्रियाके साधन-कालमें इन पथ्य और अपथ्य वस्तुओंका विचार है । पर निष्पत्त्यवस्था अर्थात् क्रिया सिद्ध होजानेके पश्चात् केवल कन्द मूल ही गुणकारक हैं और पौष्टिक हैं । इसलिये निष्पत्त्यवस्थावाले सिद्धपुरुषोंके लिये भगवानने एकाकी और अपरिग्रह होना कहा है । साधक जो आरम्भावस्थामें है, ग्रामोंके समीप निवासकर सायंकाल ग्राममें जाकर भिक्षा द्वारा पथ्यका सेवन करसकता है । क्योंकि जो गृहस्थ हरिभक्त होते हैं, वे योगियोंकेलिये अपने घरके बनेहुए सब उत्तम और पौष्टिक-पदर्थोंमेंसे योगीका भाग निकाल, अपने घरमें एक ओर रख, भोजन करते हैं। बहुतेरे गृहस्थ भक्तजन शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार बडे प्रेमसे नाना प्रकारके पक्वान्न योजन पर्य्यन्त दूर रहनेवाले योगियोंके समीप लेजा, भोजन कराते हैं। पश्चात् लौटकर अपने घरमें भोजन करते हैं. अथवा वहां ही योगीका बचाहुआ जूठन लेकर तृप्त होजाते हैं। अब रहे वे जो दूर-दूरके बनमें निवास करते हैं । उनकेलिये परमात्माने बनमें नाना प्रकारकी मेवा तथा कन्द मूल बडे-बडे स्वादिष्ट और पुष्टिकारक बना रक्खे हैं, जो समय-समयपर फलते हैं । कोई ऋतु ऐसी नहीं जिसमें नाना प्रकारके फल और कन्दमूल बनमें न मिलते हों। इसलिये योगियोंको भोजनकी तो तनक भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।

दूसरी बात यह है, कि यह योग-क्रिया भाग्यवानहीको लाभ होती है, फिर जो भाग्यवान् है, उसे पौष्टिक और पथ्य भोजन मिलनेमें शंकाही क्या है इसलिये यहां तनकभी शंका मत करो !

अब भगवान् कहते हैं, कि **[न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्ज्जुन!]** हे अर्जुन ! अत्यन्त सोनेवालेकेलिये भी योग नहीं है और अत्यन्त जागनेवालेकेलिये भी नहीं है । क्योंकि साधककेलिये योग साधनकरनेका उत्तम समय प्रातःकाल ही है। अर्थात् सूर्य्योदयसे पीछे प्रहर दिन चढेतक योगारम्भका उत्तम समय है। इसलिये जो प्राणी शयनमें ही रहेगा उसे योगसाधनका समय ही नहीं मिलेगा । बहिर्भूमि, दन्तधावन तथा षट्कर्मोंके करते-करते दो प्रहर दिनसे अधिक बीत जावेगा। फिरतो अपहरणमें अर्थात् सूर्य्यके ढलनेके पश्चात् साधकोंको क्रियाका आरम्भ करना हानिकारक है। ऐसा करनेसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है, नाडियां शुष्क होजाती हैं, परस्पर एक दूसरेसे चिपटजाती हैं और पित्तसे तपीहुई नाडियोंमें एक प्रकारकी ऊष्णता उत्पन्न होजाती है। प्राणको पूरक द्वारा ब्रह्मरन्ध्र-तक खैंच लेजानेसे मस्तिष्कमें उष्णता बढजाती है, मस्तकके अधिक गरम होनेसे अन्तःकरणमें चंचलता उत्पन्न होती है। इसलिये एकठौरमें ध्यान नहीं जमसकता । जब ध्यान न जमा तो ध्यानयोगकी सिद्धि नहीं हुई । वरु इसके प्रतिकूल उन्मादादि रोगोंके उत्पन्न होनेका भय है । इसलिये योगीको अधिक सोना हितकारक नहीं ।

इस ध्यानयोगका मुख्य तात्पर्य यही है, कि भगवत्स्वरूपमें ध्यान जमे । क्योंकि "ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः" (पतंजलि अ० २ सू० ११)

अर्थ— मोहादि विकारोंसे मिलीहुई जो चित्तकी वृत्तियां हैं; वे ध्यानसे ही छूटने योग्य हैं। इसलिये वह योगी जो भगवत्स्वरूपको प्राप्त कर संसृत-क्लेशोंसे छूटना चाहता है अधिक निद्रा लेनी वरजदेवे।

अब भगवान् कहते हैं, कि "जाग्रतो नैव चार्ज्जुन!" हे अर्जुन! जो प्राणी अधिक जागता है वह भी योगका अधिकारी नहीं है। क्योंकि अधिक जागनेसे भी अन्न परिपक्व नहीं होता जिससे रोग उत्पन्न होते हैं। दूसरी बात यह है, कि जो योगी अधिक जागरण करेगा, वह जब प्राणायामादि क्रियाओंमें प्रवेश करेगा तब उसे निद्रा सतावेगी, तो उसे यह स्मरण नहीं रहेगा, कि किस नाडीसे वह चढा है और अब किस नाडीसे उसे उतरना चाहिये। यदि ऐसा हुआ, कि जिधरसे चढा है उसी नाडीसे उतरेगा तो कलेजा टुकडा-टुकडा होजावेगा, वायु कोप करके नसोंको विदीर्ण करदेगी। इस-लिये योगीको अधिक जागना मानो मृत्युको बुलाना है। अतएव अधिकसे अधिक छै घण्टे और कमसे-कम तीन घण्टे तक अर्थात् एक पहरसे कम कदापि नहीं सोना चाहिये।

मुख्य तात्पर्य भगवान्‌का यह है, कि योगी न अधिक भोजन करे तथा न कम भोजन करे। आत्म-सम्मित भोजन करे तथा न अधिक सोवे न कम सोवे। मूल आशय इस श्लोकका यह है, कि केवल भोजन शयन ही नहीं, वरु अन्य प्रकारके जो व्यवहार हैं उनमें समता रखे, अर्थात् चलना, फिरना, उठना बैठना बोलना, चालना इत्यादि सब प्रकारके कायिक और वाचिक व्यवहारोंको सम रखे और अधिक ग्रन्थों का भी अवलोकन न करे॥ १६ ॥

अब भगवान् योगियोंके अहार-विहारकी समताका फल कहते हैं—

मू०— युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

पदच्छेदः— युक्ताहारविहारस्य (नियतपरिमाणः भोजनगमनादिर्यस्य तस्य) कर्म्मसु (शारीरिकादि व्यापारेषु शौचस्नानादिषु प्रणवादि जपादिषु वा) युक्तचेष्टस्य (नियतैव चेष्टा यस्य-तस्य) युक्तस्वप्नाववोधस्य (परिमितौ निद्राजागरौ यस्य तस्य) योगः दुःखहा (सर्वसंसारदुःखक्षयकृत) भवति ॥ १७ ॥

पदार्थः— (युक्ताहारविहारस्य) नियत परिमाणसे भोजन करने और मार्ग चलनेवाले तथा (कर्म्मसु युक्तचेष्टस्य) शारीरिक-क्रिया भाषणादि तथा प्रणवादि मंत्रोंके जपमें नियतकाल पर्यन्त परिश्रम करनेवाले तथा (युक्तस्वप्नाववोधस्य) सोने और जागनेकी समताके नियम रखनेवाले योगीका (योगः) ध्यान-योग (दुःखहा) संसार-दुःखका नाश करनेवाला (भवति) होता है ॥ १७ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो भगवान् भोजन, शयनादिकी शिक्षा देआये हैं तिसके अनुसार चलनेवाले योगियोंका फल कहते हैं, कि [युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु] जो साधक अपने आहार विहारका परिमाण ठीक-ठीक नियमित रखता है अर्थात् प्रतिदिन एक परिमाणसे भोजन करता है, न्यूनाधिक नहीं

करता तथा अपथ्य वस्तुओंकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता, वरु एकाहारी होकर रहता है अर्थात् एक ही प्रकारकी वस्तु प्रतिदिन भोजन करता है, उसीका योग दुःख हरनेवाला होता है। क्योंकि जिस प्रकारके आहारका अभ्यास होजाता है, वह वस्तु अभ्यस्तसात्म्य होजाती है। इसलिये यदि उसमें कुछ अवगुण भी हो तो अभ्यास करने वालेकी हानि नहीं होती। इस आहारके विषय पूर्व श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहाजाचुका है।

अब भगवान् कहते हैं, कि साधकका विहारभी नियमित होना चाहिये अर्थात् चलने फिरनेमें भी विचार रखना चाहिये। यदि योगी को संयोग वशात् कभी पन्थ चलनेकी आवश्यकता हो तो अधिक न चले "**योजनान्नापरं गच्छेत्**" इस वचनके अनुसार एक योजनसे अधिक एक दिनमें नहीं चलना चाहिये। उसका भी दो भाग कर-देवे, अर्द्ध योजन प्रातःकाल और अर्द्ध योजन भोजनोत्तर। सायं काल पहले चलकर उत्तरणस्थान इत्यादिमें विश्राम करजावे। यह चलना भी तब ही चाहिये जब किसी विशेष कारणसे कहीं चलनेका संयोग आनपडे, नहीं तो योगीके लिये पांव-पांवचलना हानि कारक है। 'विहार' शब्दका अर्थ स्त्रीसंगादि क्रीडा भी है। सो एकाकी योगीको तो किसी प्रकारकी क्रीडा करनेका संयोग ही न पडेगा। पर जो कोई गृहस्थाश्रममें योग क्रिया प्राणायामादिकी उन्नति किया चाहे तो उसे केवल ऋतुमती भार्य्यासे क्रीडा करनेकी आज्ञा है। अर्थात् मासमें एकबार क्रीडा कर सकता है। स्त्री गर्भवती होजानेके पश्चात् तो उसे क्रीडासे बचजानेका पूर्ण अवकाश मिलजाता है। फिर भगवान्

कहते हैं, कि " युक्तचेष्टस्य कर्मसु " आहार-विहारसे अतिरिक्त अन्य जो भाषण, शौच, स्नान, मंत्र जपादि तथा स्तुति, पाठादि कर्म हैं उनको भी युक्तचेष्टासे अर्थात् नियमसे करना चाहिये । ऐसा न होना चाहिये, कि एकही कर्ममें सारा दिन बीतजावे । बहुतेरे प्राणियोंका स्वभाव है, कि बोलने लगगये तो बोलतेही चलेजाते हैं और ऐसा बकने लगते हैं, कि उनकी बातोंको फिर कोई सुनने नहीं चाहता । इस प्रकार योगीको अधिक बोलनाभी नहीं चाहिये । और किसी विषयमें किसीके साथ शास्त्रार्थ नहीं करना चाहिये, हां ! कोई जिज्ञासु किसी स्थानसे कुछ पूछने आजावे तो योग्य उत्तर देकर उसे सन्तोष कर-देना चाहिये, पर किसी बकवादीके साथ × वितण्डावाद वा जल्पादि नहीं करना चाहिये ।

इसी प्रकार शौचको इतना न बढावे, कि दिनभर उसीमें लगारहे और इतना कमभी न करे, कि शरीरसे दुर्गन्ध निकला करे **"यावता-शुद्धिं मन्येत तावच्छौचं समाचरेत्"** इस वचनके अनुसार जबतक अशुद्धिकी शंकारहे तबहीतक शौच करना चाहिये ।

इसी प्रकार स्नानादिका भी नियम रखना चाहिये और जपादि

× एवमेतन्न चाप्येवमेवञ्चैतन्न चान्यथा ।
प्रत्यूचुर्बहुशस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ॥ (महाभा० २-३६-२)

जल्पः— परमतखंडनपूर्वकं स्वमतव्यवस्थापनम् (जटाधरः)

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । (गौतमन्यायसू० १-४२)

भी तबही तक करना चाहिये जबतक मन एकाग्र रहे। भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जितने कर्म, योगीके करनेयोग्य हों उनको योगी युक्तचेष्ट होकर करे, व्यर्थ इनके करनेमें समय न बितावे। इसी प्रकार करनेवालेका योग सिद्ध होता है।

अब श्री योगेश्वर भगवान् कहते हैं, कि [**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा**] जो साधक उक्त गुणोंसे सम्पन्न निद्रा और जागरणको नियमपूर्वक पालनकरता है तिसका योग, दुःखका नाश करनेवाला होता है। अर्थात् जिस बुद्धिमान योगीने सर्वप्रकारके कर्मोंमें समता प्राप्तकी है और पूर्वश्लोकोंमें भगवतकी दीहुई शिक्षाके अनुसार जितात्मा, प्रशान्त, कूटस्थ, समबुद्धि, एकाकी, निराशी, अपरिग्रह, विगतभीः, स्थिरासनस्थित, भगवत्परायण, नियतमानस, युक्ताहार-विहार, युक्तचेष्ट और युक्तस्वप्नावबोध है उसी योगीका योग "दुःखहा" दुःखोंका नाश करनेवाला होजाता है। क्योंकि वही सर्वप्रकारकी उपाधियोंसे रहित-स्थानको प्राप्त होजाता है। ऐसे योगीको निर्म्मल आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। आत्मज्ञानसे करोडों जन्मोंके शुभाशुभको नाशकर भगवत्स्वरूपमें जामिलता है। इसी कारण भगवानने ऐसे योगको दुःखहा कहा है।

तहां उपनिषद्का भी प्रमाण है श्रु०— "ॐ यताहारो जितक्रोधो जितसंगो जितेन्द्रियः। निर्द्वन्द्वो निरहंकारो निराशीरपरिग्रहः"। (तेजोबिन्दूप० मं० ३) अर्थात जो योगी यताहार अर्थात् युक्ताहार है, क्रोधरहित है, सर्वसंगवर्जित है, जितेन्द्रिय है, निर्द्वन्द्व है,

अहंकार रहित है, कामनाओंसे शून्य है तथा किसी प्रकारका परिग्रह अर्थात् वस्तु-तस्तु अपने साथ नहीं रखता है सो योगी संसार-दुःखको नाश करके किस अवस्थाको प्राप्त होता है ? सो कहते हैं । श्रु०—

" ॐ परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्ततन्द्रो निराश्रयः । सोमरूपकलासूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ उपाधि रहितं स्थानं वाङ्मनोतीतगोचरम् । स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातंपदाच्युतम् ॥ आनन्दं नन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् । चिन्त्यमेवं विनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुवमच्युतम् ॥ (तेजविन्दूप० अ० १ मं० ५, ७, ८)

अर्थ— जिस स्थानको ध्यानयोगवाला योगी प्राप्त होता है सो कैसा है ? " **परमं गुह्यम्** " अत्यन्त गोपनीय है, जिसका भेद अर्थात् गुप्तरहस्य योगियोंको छोड अन्य किसीको ज्ञात नहीं है । फिर वह कैसा है, कि ह्यस्ततन्द्र है, जो आजतक विदित नहीं हुआ, जिसे आधार नहीं है निराधार है, सोमरूप है । जैसे ऊपर नीचे दायें बायें किसी ओर आकाशका पता नहीं है, कि कहांतक है इसीप्रकार वह भी अप्रमेय है तथा अत्यन्त सूक्ष्म कलावाला है । क्योंकि उसे " **अणोरणीयांसम्** " अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म कहा है । सो ही विष्णुपरमपद अर्थात् योगियों और भक्तोंकी विश्राम भूमि है । अर्थात् जहां जाकर योगीजन विश्राम करजाते हैं । फिर वह स्थान कैसा है ? कि उपाधि रहित है । जहां जाकर शुभाशुभकर्म नाश होजाते हैं । बचनसे जो नहीं कहाजासकता और न मनसे अनुमान किया जासकता है । फिर कैसा है, कि " **स्वभावं भावसंग्राह्यम्** " स्वाभाविक भावसे जो ग्रहण करने योग्य है अर्थात् बनावटी ध्यान करनेसे जो

नहीं ग्रहणमें आता वरु सच्चे हृदयकी भावना करनेसे जो ग्रहण करने योग्य है तथा " संघातैकपदाच्च्युतम् " वाणीसे अतीत होनेके कारण जो वचनसमूहके भीतर नहीं आसकता अथवा यों अर्थ करलो, कि + संघातैकपद जो स्त्री पुत्र कलत्रादिके समूहमें रहने वाला संसारी मनुष्य, तिससे " च्युतम " त्यागाहुआ जो स्थान है अर्थात् संसारी मनुष्य जहां नहीं पहुंच सकते । क्योंकि वह स्थान संसारियोंकेलिये अगम है । फिर वह कैसा है ? कि " आनन्दम् " आनन्दस्वरूप है फिर " नन्दनातीत " है अर्थात् दूसरा कोई जिसे आनन्द नहीं करसकता क्योंकि वही एक सबको आनन्द करनेवाला स्वयं आनन्द-स्वरूप है । फिर वह कैसा है ? कि संसारियोंसे " दुष्प्रेक्ष्य" है देखा नहींजाता " अज " है और " अव्यय " है तथा " चित्त-वृत्तिविनिर्मुक्तम् " चित्तवृत्तियोंसे विलग है क्योंकि अन्तःकरण इत्यादि उपाधि उसमें नहीं हैं । फिर वह " शाश्वतम् " सदाकेलिये है, " ध्रुवम् " स्थिर है और " अच्युतम् " नाशरहित है ।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि युक्ताहारविहारवाला योगी ऐसे अचल और आनन्दमय स्थानको प्राप्त होकर सब दुःखोंसे छूटजाता है, इसलिये उसका योग 'दुःखहा' कहाजाता है ॥ १७ ॥

अब भगवान युक्त शब्दका जो प्रयोग करते चलेआये हैं तिसका यथार्थ अर्थ अगले श्लोकमें बताते हैं ।

+ स्त्री पुत्रादि संघात एवैकं पदमाश्रयो यस्य रागिणस्तेनोज्झितम् त्यक्तमव्य इत्यर्थः ॥

मू०— यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८

पदच्छेदः— यदा (यस्यामवस्थायाम्) विनियतम् (विशेषेण नियतं स्थानसंयतमेकाग्रतामापन्नम् वा) चित्तं (अन्तःकरणम्) आत्मनि (स्वस्वरूपे) एव (निश्चयेन) अवतिष्ठते (स्थितिं लभते) तदा (तस्यामवस्थायाम्) सर्वकामेभ्यः (ऐहिकामुष्मिकभोगेभ्यः) निस्पृहः (विगततृष्णः) [सन] युक्तः (निर्विकल्पः । प्राप्तयोगो वा) इति, उच्यते (कथ्यते) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (यदा) जिस समय योगी (विनियतम्) सर्वप्रकारकी चिन्तासे वर्जित हो (चित्तम्) अन्तःकरणको केवल (आत्मनि, एव) आत्माहीमें निश्चयकर (अवतिष्ठते) स्थिर करता है (तदा) तिस समय (सर्वकामेभ्यः) सर्व प्रकारकी कामनाओंसे (निस्पृहः) तृष्णारहित होकर (युक्तः) समाहित अर्थात् योगमें युक्त है (इति उच्यते) ऐसा कहाजाता है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अब भगवान युक्त पुरुषका अर्थात् ध्यानयोग द्वारा समाधि प्राप्त कियेहुए पुरुषका चिन्ह बतातेहुए कहते हैं, कि [यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते] जिस कालमें योगी विशेष करके नियत चित्त होकर अपने स्वरूपहीमें स्थिर होजाता है अर्थात् सर्वप्रकारकी अन्य चिन्ताओंसे वर्जित होकर केवल अपने परमानन्दकी प्राप्तिकी चिन्तामें अपने अन्तःकरणको एकाग्र करलेता है । जैसे पक्षी

दिनभर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें उड-उडकर अपना अहार चुगते फिरते हैं पर सन्ध्या होतेही सर्वप्रकार निश्चिन्त हो अपने घोंसलेमें आनन्द पूर्वक प्रवेशकर एकाग्र हो व्याधा इत्यादिके भयसे अथवा श्येन इत्यादि क्रूर पक्षियोंके भयसे चिन्तारहित होजाते हैं । इसी प्रकार जो योगी सांसारिक उपद्रवोंके भयसे रहित हो आत्माहीमें स्थिर होजाता है अर्थात् अपने स्वरूपहीमें अवस्थान करजाता है तबही वह युक्त कहलानेका अधिकारी होता है । इस प्रकार युक्त होनेकेलिये जो श्रेणियां बनायी हुई हैं उन्हें कहते हैं । प्रमाण श्रु०—"ॐ यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥" (कठो० अ० १ वल्ली० ३ श्रु० १३)

अर्थ— प्राज्ञ जो बुद्धिमान योगी है वह पहले वाग् जो वचन इत्यादि इन्द्रियां हैं उनको मनमें लय कर, तिस मनको ज्ञानात्मा जो बुद्धि तिसमें लय करे । पश्चात् उस बुद्धिको " महति ज्ञानात्मनि " श्रेष्ठ ज्ञानात्मामें लय करे, तिस ज्ञानात्माको शान्तात्मा अर्थात् परमानन्दात्मामें लय करे । एवम्प्रकार लय होताहुआ मुख्यात्मा भगवत्स्वरूपमें लय होजावे ।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार अपने आत्मामें लय होकर जो लौकिक सर्व कामनाओंसे स्पृहा रहित होजाता है, तब वह " युक्त " कहाजाता है ।

प्रश्न— ध्यानयोगीको क्या भगवत्की अलौकिक छविका दर्शन होजाता है ?

उत्तर— इसमें क्या कुछ सन्देह भी है ? योगियोंके सम्मुख तो भगवान् सदा उपस्थित रहते ही हैं । भगवान् उसी योगीको सब योगियोंमें श्रेष्ठ मानते हैं जो उनके स्वरूपमें स्थित रहता है । सो आगे इसी अध्यायके ४७वें श्लोकमें कहेंगे "योगिनामपिसर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना" ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जो योगी सब ओरसे चित्तवृतियोंको समेट सर्व चिन्ता वर्जित आत्मस्वरूपमें स्थित हो, सर्व प्रकारकी कामनाओंको त्यागदेता है वही "युक्त" कहाजाता है । अर्थात् समाहितचित्त यथार्थ योगतत्त्वको पहुंचा हुआ कहाजाता है ॥ १८॥

अब भगवान् "युक्त" पुरुष के चित्तकी स्थिरताकी एक अद्भुत उपमा देकर दिखाते हैं—

मू०— यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।
योगिनोयतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

पदच्छेदः— यथा (येन प्रकारेण) **निवातस्थः** (वातवर्जितदेशे स्थितः) **दीपः** (प्रदीपः दीपकदशाकर्षः । कज्जलध्वजः । ज्योत्स्नावृक्षः । दोषास्यः) **न** (नहि) **इंगते** (कम्पते । विचलति) **सा** (सैव) +**उपमा** (दृष्टान्तः) **यतचित्तस्य** (संयतान्तःकरणस्य । योगाभ्यासबलादेकाग्रीभूतान्तःकरणस्य) **योगम्** (ध्यानयोगम्) ×**युंजतः** (अनुतिष्ठतः) **योगिनः**

+उपमा—उपमीयते अनया इति उपमा

×युंजतो योगमात्मनः—आत्मनो योगं समाधिमनुतिष्ठत इत्यपि अन्वयः ।

(एकाग्रभूमौ संप्रज्ञातसमाधावारूढस्य) आत्मनः (अन्तःकरणस्य) स्मृता (योगज्ञैश्चित्तप्रचारदर्शिभिः चिन्तिता) ॥ १९ ॥

पदार्थः— (यथा) जैसे (निवातस्थः) वायुसे रहित स्थानमें स्थित (दीपः) दीपक (न) नहिं (इंगते) हिलता है (सा) सो ही (उपमा) दृष्टान्त (योगम) ध्यानयोगको (युञ्जतः) अनुष्ठान करतेहुए (यतचित्तस्य) यतचित्तवाले अर्थात् अन्तःकरणको संयममें रखनेवाले (योगिनः) योगीके (आत्मनः) अन्तःकरणकी (स्मृता) तत्त्वदर्शियोंद्वारा दीगई है अर्थात् निवातस्थानमें रखेहुए दीपककी स्थिर लौ के समान योगीका चित्तभी स्थिर रहता है ॥ १९ ॥

यहां दूसरा अन्वय इस प्रकार भी करसकते हैं, कि (आत्मनो योगयुञ्जतः) आत्मयोग जो संप्रज्ञातसमाधि तिसे साधन करतेहुए योगीके चित्तकी उपमा दीगई है।

भावार्थः— अब श्री योगेश्वरभगवान योगियोंके अन्तःकरणकी एकाग्रताको दीपककी लौसे उपमा देतेहुए कहते हैं, कि [**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते**] जैसे किसी घिरेहुए स्थानमें जहां वायुका वेग नहीं प्रवेश करसकता दीपककी लौ सीधी बलती रहती है। इधर उधर दायें बायें नहीं हिलती स्थिर और शान्त रहती है। भगवान कहते हैं, कि [**सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युंजतो योगमात्मनः**] इसी प्रकारकी उपमा तत्त्वदर्शियोंने उनके अन्तःकरणकी दी है जो योगी योगमें आरूढ सदा ध्यानमें तत्पर अपने चित्तको योगाभ्यासके बलसे एकाग्र कियेहुए है।

यहां "युञ्जतो योगमात्मनः" कहनेसे भगवान्‌का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब योगी धर्म्ममेघसमाधि में लय होजाता है तब उसकी एकाग्रताको बात रहित स्थानमें दीपककी लौ से उपमा देना चाहिये।

धर्म्ममेघ समाधि किसे कहते हैं ? सो सुनो ! "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्म्ममेघः समाधिः" (पातं० पा० ४ सू० २६) प्रसंख्यान अर्थात् पूर्णतत्त्वका बोध जिससे योगविद्याके सारे कीलकांटोंका भेद लाभ होता है। तिससे योगियोंको जो सिद्धियां प्राप्त होती हैं उन सिद्धियोंको भी कुसीद अर्थात निन्दित जानकर त्याग देते हैं, तिस त्यागसे जो उन्हें विवेकख्याति प्राप्त होती है जिसके द्वारा सब शुभाशुभकर्मोंसे रहित होजाते हैं। तब पूर्वजन्मार्जित संस्कारोंके बीजके नाशहोजानेसे कैवल्य लाभ होकर फिर किसी प्रकारके प्रत्ययका उत्थान नहीं होता। इसी लिये वृत्ति सब ओरसे शान्तिको प्राप्तकर भगवत्स्वरूपमें लय होजाती है तब उसे धर्म्ममेघसमाधि कहते हैं। ऐसी समाधिवाले योगीके अन्तःकरणको दीपककी लौ से उपमा दीहै।

शंका— विवेकी तत्त्वदर्शियोंने जो दीपककी लौसे उपमादी है इसका क्या कारण ? स्थिरताकी उपमातो किसी पर्वतसे वा वृक्षके स्तम्भसे वा किसी गृहके खम्भसे देना उचितथा ?

समाधान— दीपककी लौसे उपमा देनेके अनेक कारण हैं। प्रथमतो यह है, कि अन्तःकरण भी ज्योतिस्वरूप प्रकाशमय है और दीपककी लौभी प्रकाशस्वरूप है, इसलिये प्रकाशको प्रकाशसे उपमा

देनी अधिक अनुरूप और योग्य है। क्योंकि जैसे लौ निर्वातस्थानमें स्थिर और अधिक प्रकाशमान होती है इसी प्रकार योगियोंका अन्तःकरण भी एकान्त देशमें अधिक प्रकाश करता है। दूसरा कारण यह है, कि अन्तःकरणका आधार जो चित्तब्रह्मानाडी जिसके आश्रय अन्तःकरण प्रवाह करता है उसका स्वरूप ठीक—ठीक दीपककी लौके आकारानुसार है। जैसे लौ जडमें कुछ मोटी फिर धीरे-धीरे गोपुच्छाकार वा सुण्डाकार (गावदुम) होती हुई पतली सुईके समान नोक बनातीहुई समाप्त होजाती है, इसी प्रकार अन्तःकरणकी + चित्तवहा-नाडी भी भ्रूमध्यसे आरंभ होकर ललाट प्रदेशतक गोपुच्छाकार होती हुई चलीगयी है। इसी कारण दीपककी लौसे उपमा दीगयी है।

तीसरा कारण—

निर्वातस्थान कहनेसे यह तात्पर्य्य नहीं है, कि जहां एकदम वायु न हो वहां दीपककी लौ रक्खीजावे। प्रथम तो कोई स्थान निर्वात

+ प्रायः देखाजाता है, कि रामानुजसम्प्रदायके वैष्णवगण मस्तकपर जो चन्दन लगाते हैं उसमें तीन रेखायें खींचते हैं जिनमें मध्यवाली रेखा जिसे "श्री" कहते हैं ठीक दीपककी लौ के समान लाल वर्णकी बनाते हैं। यद्यपि वे वहिरंग साधनमें यों जनाते हैं, कि दोनों ओरकी दो रेखायें भगवान्के चरणारविन्द हैं और मध्यमें "श्री" जो लक्ष्मी है वह उन चरणोंकी सेवा कररही है। पर इस चिन्हसे कुछ अन्तरंग और आध्यात्मिक साधनका भी संकेत है। वह यह है, कि दोनों ओरकी दो रेखायें इंडा और पिंगला और मध्यमें सुषुम्णा नाडी का संकेत है। अर्थात् वे यह दिखलाते हैं, कि सुषुम्णा नाडी दीपककी लौ के समान भ्रूमध्यसे ब्रह्मरन्ध्रकी ओर चित्तवहा नाडीको अपने साथ लिये हुए चलीजाती है।

होंही नहीं सकता। दूसरे यदि कोई निर्वातस्थान हो भी तो वहां दीपककी लौ बलही नहीं सकती। दीपककी लौ तबहीतक बलतीहुई रहेगी जबतक उस दीपकको कुछ भी थोडा बहुत पवन उस अग्निके प्रमाणानुसार सहायताके निमित्त मिलरहेगा यदि पवन लौंके प्रमाणसे कम होगा तो भी लौ बुतजावेगी और अधिक होगा तो भी लौ बुतजावेगी। दीपकको हवाके झकोरेमें रखकर देखलो तथा किसी छोटी कुलियामें दीपकको रखकर उसका मुंह ढककर देखलो। दोनो दशाओंमें लौ बुतजावेगी। इसलिये लौ को उसके प्रमाणसे न अधिक पवन मिलना चाहिये और न कम पवन मिलना चाहिये। अतएव निर्वातस्थान कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि लौ के प्रमाणानुसार थोडा पवन हो। लौ की आग और हवा परस्पर युक्त हो तब तो उनकी मित्रता बनी रहे, और लौ जीवित रहे। इससे सिद्ध होता है, कि वही पवन लौका शत्रु है तथा वही पवन लौका मित्र है। इसलिये यहां योगीके अन्तःकरकी लौ से उपमा देनेका यही तात्पर्य्य है, कि योगीके आत्माको पांचभौतिक शरीरके साथ जो सम्बन्ध है सोही मानो अग्नि और वायुका मेल है। अर्थात् चैतन्य आत्मा और जड शरीरका मेल तबहीतक कल्याणकारक है जबतक प्रकृतिके गुणोंका ठीक-ठीक बोध करके योगीने चित्तकी समता प्राप्त करली है और युक्त होगया है। और जिसके किसी तत्त्वमें न्यूनाधिक्य नहीं है। क्योंकि न्यूनाधिक्य होनेसे अपना ही आत्मा अपना शत्रु है सो भगवान् पहले ही कह आये हैं, कि "**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः**" आत्मा ही आत्माका बन्धु है और आत्माही आत्माका शत्रु है। सो जो प्राणी आत्मयो-

गमें अर्थात धर्ममेघसमाधि में (जिसका वर्णन पहले कर आये हैं) युक्त है, उसीका अन्तःकरण दीपककी लौके समान स्थिर है । (देखो श्लो० ५ में)

चौथाकारण— दीपकसे उपमा देनेका यह है, कि जैसे दीपककी लौ सदा ऊर्द्ध रहती है। इसी प्रकार योगियोंका चित्त सदा ऊर्द्ध-मुख रहता है । अर्थात ज्ञानकी भूमिकाओंपरे धीरे-धीरे चढता चलाजाता है । अधोमुख नहीं होता । अधोमुख होनेसे विषयका संग होजाता है और तिस संगसे वासना बनी रहती है । जब वासना बनीरही तो मोक्षकी प्राप्ति नहीं होकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पडता है । इसलिये योगी सदा सर्वप्रकारकी वासनाओंको त्याग, अपने चित्तको निर्वातस्थान दीपककी लौके समान ऊर्ध्व-मुख रखे । इस दृष्टान्तसे भगवानका यही तात्पर्य्य है ।

शंका— भगवानने जो इस श्लोकमें " योगिनो यतचित्तस्य " कहकर चित्तको वशीभूत कियेहुए योगीके अन्तःकरणकी उपमा लौ से दी तहां सन्देह यह है, कि बिना बासनाके त्यागे चित्त वशीभूत नहीं होसकता । तिस बासनाको पतंजलि इत्यादि शास्त्रकारोंने अनादि कहा है तो इस अनादिका त्याग कैसे हो ? यथा प्रमाण—

" तासामनादित्वंचाशिषो नित्यत्वात् (पतं० पा०४ सू० १०)

अर्थ— " तासाम " आशिषके नित्य होनेसे बासनाओंको अनादित्व भी है । प्राणीके हृदयमें जो अपने विषयसुखके सदा प्राप्त रहनेकी अभिलाषा और नाश होनेका त्रास अथवा अपने

शरीरके वर्त्तमान रहनेकी उत्कण्ठा तथा मरजाने अथवा किसी दुःख के आगमनका आशय है, उसे आशिष कहते हैं सो नित्य है । देखो किसी प्रकारके भयसे छोटे बच्चोंके मुखका बिगडजाना, कांपने लगना इत्यादि चेष्टाओंके देखनेसे स्मृति द्वारा आशिष का नित्य रहना सिद्ध है । इसी आशिषके अनादित्वको देखनेसे वासनामें भी अनादित्व पाया जाता है । जब बासनाएँ नाश न हुईं तो दीपककी लौ के समान चित्त कैसे स्थिर होसकता है ? इसलिये भगवानका लौ से उपमा देना एकदैशिक जानपडता है, नित्य शांत वा स्थिर रहना नहीं सिद्ध होता । इसलिये लौ से स्थिरताकी उपमा केवल समाधिअवस्था में बन सकती है। पर ब्युत्थान-अवस्थामें तो योगियोंके चित्तका भी चंचल रहना सिद्ध होता है । ऐसी एकदैशिकस्थिरतासे क्या लाभ?

समाधान— बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये कि इन बासनाओंका कारण क्या है ? तहां पतंजलि कहते हैं— **"हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः"** (पतं० पा० ४ सू० ११)

अर्थ— हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन ये ही चारों इस बासनाके कारण हैं । इन चारोंको वशीभूत करलेनेसे बासनाओंकी शान्ति होती है । यदि यह कहो, कि पहल बासनाओंको अनादि

टिप्पणी— ये चारों क्या हैं ? सो कहते हैं सुनो ।

(१) हेतु— अन्तरका अनुभव अर्थात् विषयसुखका जो प्राणीको भीतर-भीतर अपने हृदयमें अनुभव होता है जिसे अन्तरानुभव कहते हैं वही हेतु कहला है । जैसे स्त्रीसंगके रतिसुखका अनुभव ।

कहा अब हेतु, फल इत्यादिके वश करनेसे उनका अभाव कहते हैं ऐसा पूर्वापर विरोध क्यों ? तो उत्तर यह है, कि स्वरूपतः किसी विशेष व्यक्ति (योगी) से तो इनका अभाव ही होजाता है पर सामान्यतः प्रवाहरूपसे इनका अभाव नहीं होता इसलिये ये अनादि

(२) फल— जाति, आयुष्य और भोग ये फल हैं ; क्योंकि अविद्याके ही कारण शरीरकी रचना हुई है जब तक अविद्या है तब ही तक *पुर्यष्टका तयार रहती है, जब तक पुर्यष्टका बनी रहती है तब तक वही पुर्यष्टका एक शरीरसे निकल दूसरे शरीर को ग्रहण करती है एवम्प्रकार एकके पीछे दूसरे शरीरको ग्रहण करती चलीजाती है । तहां भिन्न-भिन्न योनियोंमें भिन्न-भिन्न जाति, आयुष्य और भोग मिलते हैं यही फल कहलाता है ।

(३) आश्रय— बुद्धितत्वको आश्रय कहते हैं । क्योंकि जितनी बासनाएँ हैं सब बुद्धिके आश्रय रहती हैं । अर्थात् बुद्धि ही निश्चय करनेवाली शक्ति है जो विषयों के स्वादको निश्चय करलेती है, कि यह स्त्री–सुख है, यह पुत्रसुख है, यह धनसुख है, यह रूपसुख है, यह रससुख है और यह गन्धर्वसुख है इत्यादि ।

(४) आलम्बन— जिसके देखने वा सुननेसे अर्थात् जिसके सम्मुख होनेसे चित्तको उत्तेजना होती है । जैसे स्त्रीके सम्मुखहुए कामोद्दीपन इत्यादि । यहां रूप आलम्बन है ।

* " भूतेयन्द्रमनोबुद्धिर्वासनाकर्मवायवः । अविद्याचाष्टकं प्रोक्तं पुर्य्यष्टमृषिसत्तमैः (इसका अर्थ देखो अ० २ श्लो० ३२ में)

कहीजाती हैं । इसी कारण जीव भी प्रवाहरूपसे अनादि कहा-जाता है । स्वरूपतः तो इसका भी नाश ही होता रहता है जैसे स्वरूपतः जो अपनी जाति, आयुष्य और भोगका भ्रम है, कि मैं देव हूं, मैं नर हूं, मैं राक्षस हूं इत्यादि ये सब राग-द्वेषके कारण हैं और रागद्वेष धर्माधर्मके कारण हैं और वे भोग बासनाके कारण हैं । पुनः सो बासना भ्रमका कारण है। भ्रम रागद्वेषका, रागद्वेष धर्मा-धर्मका, धर्माधर्म भोगका, भोग बासनाका और बासना फिर भ्रमका। इसी प्रकार इनका अनादि चक्र सदा वर्त्तमान है । अतएव प्रवाहसे वासनाओंको अनादि कहा और स्वरूपतः इसका अभाव कहा।

इसी कारण भाष्यकार पतंजलि कहते हैं, कि हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन येही चारों वासनाके मूल कारण हैं। जब इन चारोंको वशीभूत करलेनेसे अन्तःकरणका अभिमान छूटजाता है तब बासना-ओंका क्षय होकर योगीका चित्त निर्वातस्थानस्थ दीपकके समान ऊर्ध्व-मुख होकर स्थिर होजाता है। इसलिये यतचित्त योगीकी उपमा भगवान्‌ने ऊर्द्ध-मुख दीपकसे दी है । यहां शंका मत करो! दीपककी लौसे उपमा देनी अतिही अनुरूप और योग्य है ॥ १६ ॥

अब भगवान् अगले चार श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि यथार्थ योग क्या है ? उसके लक्षण क्या हैं और किन लक्षणोंसे पहचान सकते हैं, कि यह पुरुष योगी है ?

मू०—यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगं वियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥
॥ २०, २१, २२, २३ ॥

पदच्छेदः— योगसेवया (योगानुष्ठानेन) यत्र (यस्मिन्-काले) निरुद्धम् (सर्ववृत्तिनिरोधेनैकाग्रीभूतं) चित्तं (अन्तःकरणम्) उपरमते (संसारविकारादुपरतिं लब्ध्वा स्वस्वरूपे विलीनं भवति) च (तथा) यत्र (यस्यामवस्थायाम्) आत्मना (समाधिपरिशुद्धेनान्तःकरणेन) आत्मानम् (परमचैतन्यज्योतिस्वरूपम्) पश्यन् (साक्षात्कुर्वन्) आत्मनि (तस्मिन् परमचैतन्यज्योतिस्वरूपे) एव (निश्चयेन) तुष्यति (सन्तुष्टो भवति) [तथा] यत्र (यस्मिन्नवस्थाविशेषे) आत्यन्तिकम् (अनन्तम् । निरतिशयम् अत्यन्तसमीपस्थम्) बुद्धिग्राह्यम् (रजस्तमोमलरहितया सत्त्वग्राहिन्याऽग्रया सूक्ष्मया बुद्ध्या ग्राह्यम्) अतीन्द्रियम् (विषयेन्द्रियसम्बन्धातीतम् । अविषयजनितम्) यत् सुखम् (परमानन्दम्) तत् वेत्ति (जानाति । अनुभवति) च (तथा) [यत्र] अयम् (ध्यानयोगयुक्तपुरुषः)

स्थितः (दृढप्रतिज्ञया आत्मस्वरूपेणावस्थितः) तत्त्वतः (आत्मस्वरूपात्) एव (निश्चयेन) न (नहि) चलति (प्रच्यवते) च (तथा) यम् (ज्योतिस्वरूपम्) लब्ध्वा (प्राप्य) ततः (तस्मात् परमानन्दलाभात्) अपरम् (अन्यम्) लाभम् (कल्याणम् फलम्) अधिकम् (श्रेष्ठम् । प्रशस्यतरम् । उत्कृष्टम्) न मन्यते (नैव चिन्तयति) यस्मिन् (निरतिशयानन्दे ब्रह्मणि) स्थितः (तादात्म्यं प्राप्तः) गुरुणा (महता) दुःखेन (क्लेशेन । जन्ममरणत्रासेन) अपि, न विचाल्यते (स्वरूपान्न प्रचलितो भवति नाभिभूयते वा) तम् (आत्मावस्थाविशेषम्) दुःखसंयोगवियोगम् (दुःखसंयोगेन रहितम्) योगसंज्ञितम् (योगशब्दवाच्यम् । योगचिन्हितम्) विद्यात् (विजानीयात्) सः, योगः, अनिर्विण्णचेतसा (निर्वेदरहितेन चित्तेन) निश्चयेन (शास्त्राचार्य्योपदेशजनितेनाध्यवसायेन) योक्तव्यः (अभ्यसनीयः) ॥ २०, २१, २२, २३ ॥

पदार्थः— (**यत्र**) जिस समय (**योगसेवया**) योगके अनुष्ठान द्वारा (**निरुद्धम्**) सर्वप्रकारेकी वृत्तियोंसे निरुद्ध हुआ (**चित्तम्**) चित्त (**उपरमते**) सर्व विषयोंसे उपरामको प्राप्त होता है (**यत्र च**) फिर जिस समय (**आत्मना**) समाधिसे शुद्ध अन्तःकरण द्वारा (**आत्मानम्**) परम चैतन्य ज्योतिःस्वरूप आनन्दघनको

टि०— एतावता कालेन योगः न सिद्धः किमतः परं कष्टम् । अत्यनुतापः निर्वेदः तद्रहितेन ।

इह जन्मनि जन्मान्तरे वा योगः सिद्धति त्वरया किमित्येवं धैर्ययुक्तेन मनसा ।

(पश्यन्) देखताहुआ अर्थात् साक्षात् करताहुआ (आत्मनि) आत्माहीमें (एव) निश्चय करके (तुष्यति) सन्तोषको प्राप्त होता है तथा (यत्र) जिस समय (आत्यन्तिकम्) अत्यन्त समीपस्थ और (बुद्धिग्राह्यम्) निर्म्मल बुद्धिसे ग्रहण करने योग्य (अतीन्द्रियम्) तथा विषयको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित (यत् सुखम्) जो सुख है (तत्) तिसको (वेत्ति) योगी जान लेता है (च) और (यत्र) जिस समय (अयम्) यह योग साधन करनेवाला (स्थितः) अपने अनुष्ठानमें दृढ प्रतिज्ञासे स्थित रहकर (तत्त्वतः) आत्मस्वरूपसे (नैव) कभी नहीं (चलति) डिगता है (च) और (यम्) जिसको (लब्ध्वा) लाभ करके (ततः) तिससे (अपरम्) अन्य किसी प्रकारके (लाभम्) लाभको भी (अधिकम्) अधिक (न) नहीं (मन्यते) मानता है फिर (यस्मिन्) जिस अवस्थामें (स्थितः) स्थिर होकर (गुरुणा दुःखेन) बहुत बडेदुःखसे अर्थात् जन्म मरणके भयसे (अपि) भी (न) नहीं (विचाल्यते) डांवाडोल होता है (तम्) तिसी (दुःखसंयोगवियोगम्) दुःखके संयोगसे रहित आत्मावस्था विशेषको (योगसंज्ञितम्) योग शब्दका वाच्य अर्थात् यथार्थ योग (विद्यात्) जानना चाहिये (सः) सोही (योगः) योग (अनिर्विण्ण) निर्वेद अर्थात् व्याकुलता रहित (चेतसा) चित्तसे (निश्चयेन) निश्चयकरके (योक्तव्यः) अभ्यास करने योग्य है ॥ २०, २१, २२, २३ ॥

भावार्थ:— योगियोंके चित्तकी उपमा दीपककी लौ से देकर अब श्री आनन्दकन्द चार श्लोकोंमें यह दिखलाते हैं, कि किस-किस अवस्था विशेषको योग कहना चाहिये । अर्थात् इस योगतत्त्वको अनेक विशेषणोंसे युक्त करके दिखातेहुए भगवान् कहते हैं, कि [यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया] जिस अवस्थामें योगके अनुष्ठान द्वारा चित्तबृत्तियोंके निरुद्ध होजानेसे अर्थात् रुक-जानेसे सब झंझटोंको छोड-छाड चित्त अपने आत्मस्वरूप में लय होजाता है उसी अवस्थाको योग कहते हैं । पाठकोंके बोधार्थ चित्त-बृत्तियोंका वर्णन विस्तार पूर्वक करके उनका निरोध योगानुष्ठानसे कैसे होता है ? सो दिखलाया जाता है । योगसूत्रके कर्ता पतंजलि कहते हैं, कि " **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** " (पतं० पा० १ सू० २)

अर्थ—"चित्तस्य अन्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्त्तनं योग इत्यर्थः " अर्थ— चित्त जो अन्तःकरण तिसकी वृत्तियोंका जो निरोध अर्थात् निवर्तन है उसे योग कहते हैं । निवर्तन प्रय-त्नविशेषको कहते हैं (प्रयत्नविशेषो वृत्तिविलयहेतुः) बृत्तियोंके लय होनेका हेतु किसी प्रकारका विशेष प्रयत्न ही है । अब वे बृत्तियां जिनको योगी, योग-सेवासे निरुद्ध करके उपरामको प्राप्त होगा कितने प्रकारकी हैं ? सो पाठकोंके कल्याण निमित्त यहां वर्णन कीजाती हैं । " बृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः " क्लिष्ट और अक्लिष्ट बृत्तियां पांच प्रकारकी हैं । क्लिष्ट तो दुःख देनेवाली वृत्तियां हैं और अक्लिष्ट वे हैं जिनसे दुःख नहीं होता, वरु सुखदायिनी हैं । जैसे किसी बालक ने अपने विवाहका बृतान्त सुना तो उसके अन्तःकरणमें सुन्दर स्त्री

प्राप्त होनेके विषय जो वृत्तियां दौडरही हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियां हैं। और जब उसीने सुना, कि जिस स्त्रीसे विवाह होनेवाला था वह मरगई तबसे वे ही वृत्तियां क्लिष्ट अर्थात् दुःखदायिनी होगईं। इसी प्रकार अन्तःकरणमें पुनःपुनः क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्तियां दौडती रहती हैं। सो वृत्तियां प्राणीको शान्ति अवस्थामें स्थिर होनेका अव-काश नहीं देती हैं। तिनके पांच भेद हैं प्रमाण— "प्रमाणविपर्य्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः।" (पतं० पा० १ सू० ६) अर्थात् १. प्रमाण २. विपर्यय, ३. विकल्प, ४. निद्रा और ५. स्मृति ये पांच प्रकारकी वृत्तियां हैं जिनको अन्तःकरण अहर्निश वर्तता रहता है।

अब इन पांचोंका भिन्न-भिन्न वर्णन करके यह दिखलाया जाता है कि ये वृत्तियां किस प्रकारके यत्न करनेसे निरुद्ध होती हैं। अर्थात् एक-एकको निरोध करनेके कौन-कौनसे यत्न हैं? जिनके अभ्याससे योगाभ्यासी अपनी वृत्तियोंका निरोध सुगम रीतिसे करसके।

पहले पांचों वृत्तियोंके स्वरूप सुनो!

प्रमाण— (प्रमा साधनं प्रमाणम्) जब अन्तःकरण किसी वस्तु-तत्त्वको ठीक-ठीक समझने और उसके यथार्थ बोध निमित्त नाना प्रकारकी उपपत्तियोंको सम्मुख रखकर न्याय करने लगजाता है तब जिस सिद्धान्त द्वारा उस तत्त्वके हां वा ना, शुद्ध वा अशुद्ध, यथार्थ वा अयथार्थ, समझनेकी जो शक्ति प्राप्त होती है उसे प्रमाण कहते हैं। तहां योगशास्त्रने अनेक प्रमाणोंसे केवल तीन ही प्रमाण स्वीकार किये हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम तहां—

(क) "तत्रानधिगतार्थनिश्चयरूपा चित्तवृत्तिरूपा प्रत्यक्ष प्रमाणम्।" अर्थ— जब इन्द्रिय और अर्थ दोनोंका सन्निकर्ष अर्थात् सामीप्य वा संयोग होता है अन्य कुछ भी उनके मध्यमें बाधक नहीं होता तथा व्यभिचार रहित अर्थात् सर्व प्रकारकी शंकाओंसे वर्जित ज्ञानको धारण करनेवाली चित्तकी वृत्ति उत्पन्न होती है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । अर्थात् चित्त-वृत्ति जब वस्तु-तत्त्वको ज्योंका त्यों निश्चय करलेवे तब उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहना चाहिये।

इसी प्रमाणसे योगियोंको समाधिकी अवस्थामें ब्रह्मका निश्चय होजाता है सो अक्लिष्ट हैं अर्थात् सुखदायी है। पर सामान्य पुरुषोंके लिये संसृत-व्यवहारोंमें प्रत्यक्षप्रमाण-वृत्ति क्लिष्ट अर्थात् दुःखदायी है। ये तो योगियोंके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। पर सामान्य प्राणियोंकी दृष्टिमें जो सम्पूर्ण विश्वमात्रके सुर्य्य, चन्द्र, तारागण, आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथ्वी तथा स्थूल शरीरके अन्तर्गत जो रोम, चर्म इत्यादि सप्त धातु हैं जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कीजाती हैं सब प्रत्यक्ष-प्रमाण ही हैं। इसलिये सामान्य पुरुषोंका चित्त इन प्रत्यक्षमें दौडता फिरता है उसीका नाम प्रत्यक्षप्रमाण—वृत्ति है। यही वृत्ति सामान्य पुरुषोंके लिये क्लिष्ट और योगियोंके लिये अक्लिष्ट है।

(ख) अनुमानप्रमाण— "व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्म्मता ज्ञानजन्य ज्ञानम्"। जिस ज्ञानकी उत्पत्ति, व्याप्तिको देखकरे होवे अर्थात् वस्तु किसी विशेष वस्तुमें व्याप्त है और वह व्याप्त वस्तु विशेष क० जाननेवाली वस्तुका धर्म्म समझा जावे, तिसके द्वारा जो उस

वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होवे उसे अनुमान कहते हैं। जैसे "धूमदर्शनाद्वन्हिमान् पर्वत इत्याकारं ज्ञानम्।" इसी प्रकार इस स्थूलको चलते, फिरते, खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते, देखकर यह अनुमान करना, कि इस स्थूल शरीरके साथ कोई और भी चैतन्य है जो प्राणके संयोगसे सर्वप्रकारके कार्य्योंके सम्पादनमें सहायता करता है तथा मेरी योग-क्रिया इस जन्ममें बडी शीघ्रतासे सिद्ध होती चली जाती है इससे अनुमान होता है, कि मैं पूर्व जन्ममें भी योगी था अथवा मेरा पुत्र बिना शास्त्र अध्ययन किये शुद्धवाक्य उच्चारण करता है इससे अनुमान होता है, कि पीछे यह महान विद्वान् होगा। यह भी अनुमान प्रमाणवृत्ति सामान्य पुरुषोंके लिये दुःखदायी है पर योगियोंको इसका निरोध आत्मज्ञानसे होजाता है।

(ग) शब्दप्रमाण— "योग्यशब्दजन्या वृतिश्च शब्दप्रमाणम्" शास्त्र पुराणोंमें तथा वेदादि द्वारा योग्य पुरुषोंके बचनोंसे जो वृत्तिकी उत्पत्ति है सो शब्दप्रमाण वृत्ति कही जाती है। ब्रह्मलोक, प्रजापतिलोक, वृहस्पतिलोक, इन्द्रलोकादि लोकोंका वृत्तान्त सुनकर अथवा स्वर्ग नरकके वृत्तान्तोंको श्रुति स्मृतियों द्वारा पठनकर तदनुसार वृत्तिका प्रवाह होना शब्दप्रमाण-वृत्ति कही जाती है।

इतनी प्रकारकी वृत्तियोंको प्रमाण कहते हैं। इन प्रमाणजन्य वृत्तियोंका निरोध केवल वैराग्यसे होता है। अर्थात् जब ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तके विषयोंसे विराग उत्पन्न होता है तब प्रमाणजन्य वृत्तियां आपसे आप नष्ट होजाती हैं। इसी कारण सूत्रकार पतंजलिने

कहा है, कि " अभ्यासवैराग्याभ्यान्तन्निरोधः " (पतं० पा० १ सू० १२) अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तियोंका निरोध होता है। तहां प्रमाणजन्य वृत्तिका वैराग्यसे और शेष वृत्तियोंका (जिनका आगे वर्णन करेंगे) अभ्याससे निरोध होजाता है।

२. विपर्यय— " मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम " जो वस्तु जैसी नहीं है तैसी समझनेका जो मिथ्या ज्ञान है उसीको विपर्यय कहते हैं। जैसे " शुक्तिकायां रजतज्ञानम् " सीपमें चांदीका ज्ञान होना। इसी प्रकार प्राणियोंको जबतक अनात्ममें आत्मा भासता है अर्थात् मिथ्या वस्तु सत्य समझमें आती है अनित्य संसारको नित्य समझकर इसके साथ नाना प्रकारकी मिथ्या वृत्तियों द्वारा व्यवहार करते हैं तब तक उसे विपर्ययवृत्तिकहते हैं। इस वृत्तिका भी नाश केवल आत्मबोधसे होता है। तात्पर्य यह है, कि इसके नाश निमित्त योगियोंको आत्मयोगका बार-बार अभ्यास करना चाहिये।

३. विकल्प— " शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः " अर्थ— जो वस्तु एकबारगी है ही नहीं, न भूतकालमें हुई। न वर्तमानमें है और न भविष्यमें होगी अर्थात् तीनोंकालोंमें वस्तुतः जिसकी शून्यता है पर केवल शब्दमात्र ही काममें आता है उसे विकल्प कहते हैं। तिसके पीछे जो साधारण पुरुषोंकी वृत्ति चलती है उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। जैसे " राहोश्शिरः, शशश्रृंगम् ।" अर्थात् राहुका शिर, खरहेका सींग इत्यादि। फिर कभी-कभी काव्यादि में जहां तहां वाक्योंकी उपमा देनेके समय कहपडते हैं, कि अमुक

प्राणीकी बात तो आकाशके पुष्प ऐसी सुहावनीमात्र है । अर्थात् आकाशमें पुष्प कभी नहीं होता पर उपमा देदिया करते हैं इसलिये केवल शब्दज्ञानानुपात मात्र है यथार्थमें वस्तुकी शून्यता है । पर शून्य-वस्तुमें भी जब वृत्ति प्रवाह करती है और उस शून्य वस्तुकाभी प्रभाव प्रायः मूर्खोंके अन्तःकरणपर पडता है तो वहभी दुःखदायी होता है । जैसे अन्य सब वृत्तियां क्लिष्ट अक्लिष्ट हैं ऐसी ही यह वृत्तिभी है ।

साधारण मूर्खपुरुषोंको यह वृत्ति किस तरह दुःखदायी होती है सो दिखलायाजाता है—

एक घीका व्यापारी अपने घीका घडा किसी एक कुलीके शिर-पर रेखकर लेचला । अपने घरसे अपनी दूकानतक पहुंचादेनेकेलिये चारआने पैसेदेने स्वीकार किये । वह मूर्ख कुली अपने मनहीमन विचारने लगा, कि मुझे जो ये चारआने पैसे मिलेंगे उनसे मैं एक कुक्कुटी (मुर्गी) मोल लूंगा, वह बच्चे देगी तो उन बच्चोंको वेचूंगा जिससे दो रुपये के लगभग होंगे । तब उन रुपयोंसे एक अजा (बकरी) मोल लूंगा जो थोडे दिनोंमें कई बच्चे देगी उनको वेचकर दश पन्द्रह रुपये बनालूंगा । तब एक बछिया मोललूंगा । बछिया पालकर बड़ी करूंगा । वह बच्चे देवेगी तिनको बेचकर पचास रुपये एकत्र करलूंगा । फिर उन पचास रुपयोंसे एक अत्यन्त सुन्दर अश्व (घोडा) मोल लूंगा । ससुराल चलनेके समय उस अश्वपर यों उछलकर चढूंगा । बस इतना विचारताहुआ जो एकबार

उछला, कि सिरसे घडा गिरकर फूटगया और घृत मिट्टीमें मिलगया। बनियेने उसे बेत मारना आरंभ किया । और कहा, कि तूने मेरे घीका घडा क्यों गिरादिया ? कुली बोला तूने मेरे जांघोंके नीचेसे घोडा क्यों भगादिया ? कुलीकी बातोंपर लोग हंसे और बनियेको समझा बुझाकर उसकी मारसे कुलीकी जान बचाई ।

इस दृष्टान्तसे देखाजाता है, कि न तो कहीं कुक्कुटी है, न अजा है, न बछिया है और न अश्व है। सब वस्तुओंकी शून्यता है पर इस शून्यवृत्तिका भी प्रभाव ऐसा पडा, कि बनियेका घी नष्ट गया और कुलीने बेतोंकी मार खायी। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इसी प्रकार विकल्पवृत्ति मूर्खोंको दुःखदाई होती है, पर योगियोंको साव-धानतापूर्बक अभ्यास करनेसे अर्थात् युक्त होनेसे इस विकल्पवृत्ति का भी नाश होजाता है ।

४.— "अभावप्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा" (पतं० पा० १ सू० १०) जिस समय सर्व प्रकारकी वस्तुओंका चित्तसे अभाव होजावे अर्थात् अन्तःकरण पर अविद्याका आवरण पडजानेसे कुछभी उसके सम्मुख शेष न रहे, प्रज्ञा अन्तर्मुख होजावे, वृत्ति-यां सब एकस्थानमें सिमटकर एकीभूत होजावें उसे निद्रावृत्ति कहते हैं । यह तो स्वयं निरुद्ध है इसके निरोध करनेकी कोई आवश्य-कता नहीं। पर योगीको चाहिये, कि नियमित निद्रा लेकर फिर अपने ध्यानयोगके साधनमें तत्पर होवे। यदि इस वृत्तिको एकबारगी नाश किया चाहे तो तपोबलसे अथवा पूर्ण साहस द्वारा गुडाकेश अर्थात् निद्रा-जित होसकता है ।

५. स्मृति— " अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः " (यो० पा० १ सू० ११) अर्थात् जिस विषयका एकबार अनुभव होचुका है उसका असम्प्रमोष (अन्तःकरणसे चोरी नहीं होना) अर्थात् नाना प्रकारके विषयोंके सुख दुःखको जो इन्द्रियोंके द्वारा एकबार अनुभव करलेते हैं उनका अन्तःकरणसे नहीं हटना ही स्मृतिवृत्ति है । जैसे स्त्रीसुख, पुत्रसुख, धनसुख अथवा शत्रुद्वारा जो दुःख इनकी स्मृति बार-बार बनी रहती है । इसका बिरोध अन्तःकरणकी शुद्धि लाभ करनेसे होता है ।

अब देखा जाता है, कि चित्तकी जितनी वृत्तियां हैं सब योगानुष्ठानसे विरुद्ध होजाती हैं । क्योंकि योगीको वैराग्यसे प्रमाण रूप बृत्तिका निरोध, आत्मयोगसे विपर्ययरूप वृत्तिका निरोध, युक्तमानस होनेसे विकल्परूप बृत्तिका निरोध, निद्राजित होनेसे निद्रारूपबृत्तिका निरोध और शुद्ध अन्तःकरण होनेसे स्मृतिरूप बृत्तिका निरोध होजाता है । ये सब गुण योगियोंमें होते हैं । इनहीं तत्त्वोंके साधनमें तत्पर होना तथा आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि के अभ्यासमें तत्पर रहना योगानुष्ठान कहाजाता है ।

इसी कारण श्री गोलोक बिहारी जगत्‌हितकारी कहते हैं, कि प्राणीका अन्तःकरण " योगसेवया " योगके अनुष्ठानसे जब उपरामको प्राप्त होता है तब उसी अवस्थाको योगसंज्ञासे पुकारना चाहिये । यह प्रथम लक्षण योगका है । अब दूसरा सुनो !

भगवान् कहते हैं, कि [**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति**] जब प्राणी अपने निर्म्मल अन्तःकरणसे उस आत्माको अर्थात् सच्चिदानन्दघन भगवत्स्वरूपको साक्षात्कार करता हुआ आपसे आप उसी स्वरूपमें सन्तोष प्राप्तकर लेता है अर्थात् पूर्णप्रकार सन्तुष्ट हो अन्य किसी सुखकी इच्छा नहीं करता, तब उसी दशाको **योगसंज्ञाके** नामसे पुकारना चाहिये।

इसी विषयको भगवान् दूसरे अध्यायके ५५ श्लोकमें भी कह आये हैं, कि " **आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते** " अर्थात् सर्वप्रकारकी अन्य कामनाओंको त्यागकरके जब प्राणी केवल अपने आत्मा ही में सन्तुष्ट हो रहता है तो उसीको **स्थितप्रज्ञ** कहते हैं। फिर पांचवें अध्याके २४ श्लोकमें भी कह चुके हैं कि "**योऽन्तः सुखोऽन्तरारामः**...." अर्थात् आत्मा ही में जिसको सुख है और आत्मा ही में जो आनन्दपूर्वक रमण करनेवाला है वही प्राणी मोक्षको प्राप्त होता है। इसी विषयको यहां स्पष्टरूपसे कहते हैं, कि जब प्राणी अपने अन्तःकरणको निष्काम कर्मोंके सम्पादन द्वारा **कर्मयोगके** अनुष्ठानसे मलरहित करके शुद्धकरलेता है अर्थात् संशय, विपर्यय इत्यादि वृत्तियां उसको नहीं सतातीं और रागद्वेषके कठिन बन्धनको जब तोड डालता है, तब सर्व प्रकारकी संसृत-चिन्ताओंसे बर्जित हो निर्मल अन्तःकरणसे '**आत्मानं पश्यन्**' उस नित्य अविनाशी सच्चिदानन्द घन भगवत्स्वरूपको साक्षात्कार करताहुआ " **आत्मनि तुष्यति** " आत्मा ही में सन्तोषको प्राप्त होता है। अर्थात् **आत्मरति आत्मतृप्ति** और **आत्म तुष्टिको** प्राप्त करता हुआ आत्मा ही में

मग्न रहता है तब जानना चाहिये, कि इस प्राणीको योगका लाभ हुआ है । श्रुति— ॐ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् (मुं० ३ खं० २ श्रु० ८) ।

अर्थ— जैसे गंगा, यमुनादि नदियां अपने प्रवाहसे कल्लोलें करती हुई अपने नाम और रूपको त्याग समुद्रमें जा लय होजाती हैं, इसी प्रकार योगानुष्ठान करनेवाला विद्वान् इस नामरूपात्मक माया के विस्तारसे छूटकर उस दिव्य परात्पर पुरुष भगवत्स्वरूप रूप आनन्द-सागरमें लय होजाता है । तब जानना चाहिये, कि इस प्राणीको ध्यानयोगकी प्राप्ति होगयी और तब उस अवस्थाको योग शब्द वाच्य कहना चाहिये । यह योगका दूसरा लक्षण है ।

अब तीसरा लक्षण सुनो, भगवान् कहते हैं, कि [सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् । वेत्ति] जो सबसे महान् अत्यन्त सुख है, जिस सुखसे बढकर कोई दूसरा सुख ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त नहीं है अर्थात् सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत्में जितने सुख हैं सब नश्वर होनेके कारण अत्यन्त न्यून हैं पर यह ब्रह्मसुख नित्य होनेके कारण अत्यन्त उत्कृष्ट और यथार्थ सुख है । इसलिये यह * आत्यन्तिकसुख कहाजाता है। क्योंकि यह तो स्वयं

* आत्यन्तिक शब्दका अर्थ "अति निकट" भी है इसलिये ब्रह्मसुखको जो अपने अत्यन्त निकट है आत्यन्तिक कहा है । अन्य जितने सुख हैं

प्राणीका अपना सर्वस्व है जो उसके साथ ही साथ तीनों कालोंमें वर्तमान रहता है । केवल अविद्याके आवरणसे अनुभव नहीं होता है पर अविद्या हटजानेसे योगीके सामने झट प्रकट होजाता है। इसी कारण भगवान्ने इस आत्मसुखको आत्यन्तिक सुख कहा है जिससे बढकर कोई दूसरा सुख नहीं तथा जिससे अत्यन्त समीप वाला कोई अन्य सुख नहीं । सो आत्यन्तिक सुख कैसा है? भगवान् कहते हैं, — "तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् वेत्ति" बुद्धि-ग्राह्य और अतीन्द्रिय जो सुख है तिस सुखको जब योगी जानता हैं तब जानना चाहिये, कि योगी योगतत्त्वको प्राप्त हुआ है और तब उस अवस्थाको योग शब्दवाच्य कहना चाहिये ।

अब बुद्धिग्राह्य और अतिन्द्रिय इन दोनों शब्दोंकी व्याख्या कीजाती है। "बुद्धिग्राह्य" जो सुख बुद्धिसे ग्रहण करनेमें आवे और जिसे ग्रहणकर बुद्धिस्थिररहे लोप न होजावे । विषयसुख और आत्म-सुखमें इतनाही अन्तर है, कि विषयसुख केवल इन्द्रियग्राह्य हैं बुद्धिग्रा-ह्य नहीं हैं। क्योंकि विषयसुखके आस्वादन करनेके समय एक प्रकारकी सुषुप्ति उत्पन्न होकर बुद्धिको अविद्यामें डालदेती है, तब बुद्धि ही उस सुखमें लय होकर विचार-शून्य होजाती है । जैसे किसी भंग पीने-

---

वे अपनेसे बहुत दूर हैं क्योंकि स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि द्वारा जो नाना प्रकारके विषय-सुख प्राप्त होते हैं वे शरीर छूटनेके पश्चात् अपनेसे इतनी दूर पडजाते हैं, कि फिर उनका मिलना असंभव होजाता है । इसलिये विषयके सुख आत्यन्तिक नहीं कहे [illegible]

वालेको आनन्द तबहीतक है जबतक इतने प्रमाणसे ग्रहण करता है जिससे बुद्धि स्थिर होकर उस आनन्दको ग्रहण करती है तथा उसी आनन्दमें मग्नहो नाना प्रकारके सुरोंको अलापताहुआ गानविद्याके जानने वालोंको भी प्रसन्न करता है तबतक उस आनन्दको बुद्धिग्राह्य समझना चाहिये। क्योंकि बुद्धि लोप न होनेसे उस आनन्दके साथ उसका विचार भी बनाहुआ है। पर जब वही प्राणी प्रमाणसे अधिक भंग वा कोई दूसरी मादक वस्तु पान करजाता है तब वह विचार जाता-रहता है, बुद्धि लुप्त होजाती है। इसी प्रकारकी दशा सर्वप्रकारके विषय-सुखोंमें भी होती है। क्योंकि सर्व विषयसुख विकारवान् और मलीन हैं इसकारण बुद्धिको बिगाड डालते हैं। पर ब्रह्मसुख अत्यन्त गंभीर होनेके कारण विकारवान नहीं वरु सदा एकरस पूर्ण है। जैसे समुद्र जलसे परिपूर्ण होनेके कारण कभी भी विकारवान नहीं होता। चाहे कितनी भी नदियां उसमें जा मिलें चाहे दिन रात मेघमाला वर्षा करती रहे। इसी प्रकार ब्रह्मसुख चाहे कितना भी अधिकसे अधिक होजावे पर बुद्धिको लोप नहीं करसकता। देखो वर्षाऋतुमें जलकी बाढ पानेसे छोटी-छोटी नदियां विकारवती हो आस पासके ग्रामोंको बहालेजाती हैं। इसी प्रकार विषयसुख वृद्धिपानेसे इन्द्रियों द्वारा बढते-बढते बुद्धि और विचारके ग्रामोंको बहालेजाता है। अतएव भगवान्ने योगियोंके सुखको बुद्धिग्राह्य कहा है। प्रमाण श्रु०— "ॐ तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणाम्। अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥" (कठो० अ० २ वल्ली० ६ श्रु० ११)

अर्थ— जब बुद्धिके साथ-साथ सब इन्द्रियां अचल अवस्थाको

प्राप्त होती है तब उसीको योग कहते हैं। तबही वह योग अप्रमत्त कहाजाता है। अर्थात् जिस अवस्थामें फिर इन्द्रियों द्वारा किसी प्रकारके "प्रभवाप्ययौ" आरंभ और विनाश तथा लय और विक्षेपका भय नहीं रहता वही ठीक-ठीक योगकी अवस्था है। क्योंकि बुद्धि मत-वालोंके समान उन्मत्त नहीं होती और सुखमें लय और विक्षेपका भय नहीं रहता।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि आत्मसुखमें बुद्धि स्वादको पाकर अपने स्वरूपको भूल नहीं जाती, प्राणी बुद्धिहीन नहीं होजाता और सर्व प्रकारके सुखमें लय, विक्षेप, रसास्वाद और कषाय जो चार प्रकारके विकार हैं जो योगियोंकी समाधिके विरोधी हैं वे ब्रह्मसुख (समाधि) की बुद्धिको नष्ट नहीं करते। क्योंकि इन चारों दोषोंके रहते समाधिसुख बुद्धिग्राह्य नहीं कहा जासकता। अब उक्त चारों प्रकारके विकारोंका स्वरूप कहते हैं—

१. लय—अत्यन्त प्रसन्नताके कारण सुषुप्तिके समान वृत्तिका सुखमें डूब जाना।

२. विक्षेप—निरुद्ध हुए मनमें फिर संकल्पोंका उदय होना।

३. कषाय—लयतासे जगा हुआ समताको जबतक प्राप्त नहीं होता ऐसी समाधिकी मध्यमा अवस्थामें अटका हुआ चित्त कषाय दोष वाला कहलाता है।

४. रसास्वाद—समाधिसुखमें राग होजाना।

तहां श्री शंकराचार्य्यजीके गुरुदेव श्री गौडपादाचार्य्यजी इन चारोंसे बचनेकी आज्ञा देते हुए कहते हैं —

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
स कषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत् ॥
नास्वादयेत् सुखं तत्र निःसंगःप्रज्ञया भवेत ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तं एकीकुर्य्यात्प्रयत्नतः ॥
(गौडपादीयकारिका प्रकरण ३ श्लो० १२३, १२४)

अर्थ—सुषुप्तिके समान लयमें डूब गये हुए चित्तको प्रबुद्ध करे अर्थात् जगावे और विक्षेपको प्राप्त हुए चित्तको शान्त करे अर्थात् समाधि-सुखमें डूबनेसे पहले चित्तको सावधान और चैतन्य रक्खे पर ऐसा न हो, कि वह चित्त किसी विकारसे विक्षिप्त होजावे इस कारण विक्षेपसे भी उसे शान्त रक्खे। अब कहते हैं, कि इन दोनों लय और विक्षेप अवस्थाओंके मध्य जबतक चित्त समताको प्राप्त न हो तब तक उसे कषायदोष कहते हैं सो "स कषायं विजानीयात्" योगी बडी सावधानता और कुशाग्रबुद्धिसे उस कषाय दोषको जानले। और जब चित्त इस दोषसे रहित होकर समताको प्राप्त होने लगे तब उस समतासे चित्तको चलायमान करे अर्थात् फिर उसे फुरने न देवे। नहीं तो विक्षेपके प्राप्त होनेका भय है।

तात्पर्य यह है, कि जैसे लय और विक्षेपके दोषोंसे चित्तको रहित किया है इसी प्रकार इस कषाय दोषसे भी रहित कर समतामें रक्खे प्राप्त।

एवम्प्रकार लय, विक्षेप और कषाय दोषोंसे बचाकर रसास्वाद चौथे दोषसे भी बचावे । अर्थात् योगी कहीं अपनी बुद्धिको स्थिर कर समाधि--सुखके रसका आस्वादन न करने लगजावे । क्योंकि रसास्वादमें पडनेसे प्रज्ञा लुप्त होजाती है फिरतो जैसे अप्सराऐं ब्रह्मसुखतक पहुँचनेके मार्गमें अपना सुख दिखा कर योगीको बीच मार्गमें ठहरालेती हैं इसी प्रकार रसास्वाद भी समाधिकी सिद्धिमें अर्थात् भगवत्स्वरूपके आनन्द तक पहुंचनेमें विघ्नकारक है ! इसीलिये रसास्वादसे भी प्रज्ञाको निःसंग होना चाहिये अर्थात् सविकल्प-समाधिके अन्त और निर्विकल्पसमाधिके पूर्व तक जो समाधिका सुख है उसीको यथार्थ रसास्वाद कहते हैं। योगी तिस सुखमें आसक्त होकर न फँसे । आगे निर्बिकल्प-समाधि तक पहुंचनेका यत्न करे । विवेकवती बुद्धि करके उस सुखसे निस्पृह रहे। एवम्प्रकार असंगबुद्धिसे परमानन्दमय आत्मा की भावना करे और चित्तको यत्न पूर्वक निश्चल करके एकाकार करे । अर्थात् समाधि-रूप प्रयत्नसे बुद्धिको अन्तरात्माके सम्मुख कर चिन्मात्र सत्ता-स्वरूपके विषयोंको एकीभूत करदेवे । तात्पर्य यह है, कि अहं ब्रह्मास्मि, सोहमस्मि इत्यादि तत्त्वको जब पहुँचजावे तव वह सुख बुद्धिग्राह्य कहा जावेगा। प्रमाण श्रु०— "ॐ समाधि निर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत । न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।"

अर्थ—समाधि द्वारा चित्तके मलोंको दूर करके आत्मसुखमें प्रवेश करनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसके आनन्दको शारदा भी

वर्णन नहीं करसकती केवल अपना ही अन्तःकरण जानता है। इसलिये उस सुखको भगवान्ने बुद्धिग्राह्य कहा है। इसी कारण गायत्री जपते समय " धियो यो नः प्रचोदयात् " कहकर परमात्मासे शुद्ध बुद्धिकी प्रार्थना करते हैं और इसी प्रकार श्रुति भी प्रार्थना करती है, कि " सन्नो बुद्ध्या शुभया सम्पुनक्तु " सो भगवान् मेरेको शुद्धबुद्धिके साथ मिलादेवें।

इस श्लोकमें भगवान्ने जो बुद्धिग्राह्य शब्दका प्रयोग किया है तिसकी व्याख्या यहांतक समाप्त हुई। अब " अतीन्द्रिय " शब्दकी व्याख्या आरंभ होती है। सो सुनो! " अतीन्द्रिय " इन्द्रियां जहां नहीं पहुंचसकतीं उसे अतीन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियोंकी शक्तिसे जो परे हो अर्थात् जहांतक इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेकी पूर्णशक्ति रखती हैं तहांसे जो परे हो। सर्वसाधारण प्राणी जानते हैं, कि शरीरमें जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियां हैं वे अपने विषयको जहां पाती हैं तहां उस विषयके साथ ऐसी चिपटजाती हैं, कि उसे नहीं छोडतीं। यह विषय जहांतक वृद्धिपानेको समर्थ होता है तहांतक इन्द्रिय उसके साथ जाती है। पर यह भी निश्चित है, कि जितने विषय हैं सबोंका अन्त है। इसलिये उनका सुख भी अन्त पाता है। इसीकारण जैसे विषय-सुख अन्तवाले हैं तैसे इन्द्रियां भी अन्तवाली है। फिर जो वस्तु अन्तवाली हो उसे अल्प कहते हैं। अतएव इस विषय-सुखको श्रुतिने भी अल्प कहा है और आत्मसुख तथा ब्रह्मसुखको भूमा (बहुत बडा) नित्य और एकरस कहा है। " श्रु०— ॐयो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति।

अर्थ— जो भूमा है वही सुख है और एकरस है इसी कारण इन्द्रियोंका वहां गम नहीं है। क्योंकि इन्द्रियां केवल विषयसुखको अनुभव करनेवाली हैं ब्रह्मसुखको नहीं जानतीं। इसीलिये लज्जित होकर रहजाती हैं। प्रमाण श्रुतिः— " ॐ यद्वाचानाभ्युदितम् " " यन्मनसा न मनुते " " यच्चक्षुषा न पश्यति " " यच्छ्रोत्रेण न शृणोति " " तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि " इत्यादि (केनोप० मं० ५, ६, ७ में देखो) इन श्रुतियोंसे सिद्ध है, कि ब्रह्म तथा ब्रह्मसुख वचनसे नहीं बोला जासकता, मनसे मनन नहीं किया जासकता और कानोंसे नहीं श्रवण किया जासकता। जो ऐसा है उसीको ब्रह्म वा ब्रह्मसुख जान! इससे सिद्ध होता है, कि वह ब्रह्म वा ब्रह्मसुख इन्द्रियोंसे परे है।

शंका— जितने पदार्थ हैं सब इन्द्रियोंद्वारा अनुभव कियेजाते हैं। जितने सुख हैं इन्द्रियों द्वारा ही भोगेजाते हैं इसलिये ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा, कि जो सुख इन इन्द्रियोंसे परे है वह है ही नहीं। ऐसे सुखको वाधित—न्यायसे स्वीकारे ही नहीं करना चाहिये। क्योंकि " उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं याचयेदिति वाधितन्यायः "।

अर्थ— जो वस्तु नेत्रोंके सामने उपस्थित है उसे छोड किसी अन्य अर्थका स्वीकार करना वाधितन्याय है। इसी कारण जो सुख इन्द्रियों द्वारा भोगाजाता है और इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित है उसे छोड अन्य किसी सुखका कहना नहीं बनता। इसलिये कहना पडेगा, कि ब्रह्मसुख कोई है ही नहीं।

समाधान— ऐसा मत कहो ! और ऐसा मत समझो, कि इन इन्द्रियों ही द्वारा जो जानाजावे और भोगाजावे वही सुख है। ऐसा समझना नितान्त भूल है। देखो! ये इन्द्रयां स्वयं स्वरूपतः जड हैं, इनमें स्वयं देखने, सुनने वा जाननेकी कुछभी शक्ति नहीं है। इनको सदा चैतन्य आत्मासे ये शक्तियां मिलती हैं। आत्मा ही की चेतनताका बिम्ब इनपर पडरहा है। यह आत्मा ही आंखकी भीआंख है कानका भी कान है। सुनो! प्रमाण श्रु०— " ॐ श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाँच स उ प्राणस्य प्राणः............ ।

(केन० खं० १ श्रु० २ में देखो)

अर्थ— यह चैतन्य निर्मल आत्मा कानका भी कान है, मनका भी मन है, वचनका भी वचन है और यही प्राणका भी प्राण है इत्यादि इत्यादि ।

जैसे दश पहलवाले लालटेनमें एकही बत्ती लाल काचकी ओर लाल, काले काचकी ओर काला और पीलेकी ओर पीला प्रकाश करती है इसी प्रकार यह आत्मा भी शरीरके लालटेन (Lantern) में आंख; कान, नाक, जिह्वा इत्यादि भिन्न-भिन्न काचोंकी ओर भिन्न-भिन्न प्रकाश देरहा है। जिसकी चैतन्य शक्तिका बिम्ब पाकर इन्द्रियां सुख इत्यादि भोगनेमें समर्थ होती हैं। फिर केवल जिसकी शक्तिकी छाया वा बिम्बमात्रसे ही इन्द्रियां विषयसुख भोगनेको समर्थ होती हैं तो क्या स्वयम् तिस परम शक्तिमान् आत्मामें उसपरमसुखके भोगनेकी सामर्थ्य नहीं होगी? और अपने दिव्यबोधसे उस परमसुखको नहीं जानेगा, कि

इससे परे कोई पूर्ण ब्रह्मसुख भी है या नहीं। इसलिये ऐसा मत कहो, कि ब्रह्मसुख है ही नहीं। तुमको झकमारकर अवश्य कहना पडेगा, कि इस विषयसुखसे परे कोई ब्रह्मसुख भीहै और पूर्ण है। जिसको श्रुतियोंने भूमा कहा है अर्थात् सर्वब्यापक, बहुत और अविनाशी कहा है। इसी कारण भगवान् इस ब्रह्मसुखको अतीन्द्रिय कहरहे हैं। शंका मत करो!

शंका— जब आत्माही की शक्तिसे ये इन्द्रियां शक्तिमान् हैं तो जैसे आत्माद्वारा ब्रह्मसुखका अनुभव होता है इनके द्वारा भी अनुभव होना चाहिये। फिर आत्मसुखको भगवान्ने अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे परे) क्यों कहा ?

समाधान— सुनो! देखो यह जो आकाशमें पीयूषपिण्ड (चन्द्रमा) है इसे अपना प्रकाश नहीं है सूर्य्यके प्रकाशका बिम्ब इस पर पडता है जिससे यह प्रकाशमान् होकर पृथ्वीको प्रकाशित करता है। पर इस प्रकाशमें इतनी शक्ति नहीं है, कि रात्रिके अन्धकारको नाशकरके दिनके समान सर्वत्र उजियाला करदेवे। केवल सूर्य्य ही का प्रकाश रात्रिको नाशकर दिन बनादेनेमें समर्थ है। इसलिये यह कहना पडेगा, कि यद्यपि सूर्य्य ही से चन्द्रमें प्रकाश आता है तथापि सूर्य्यके प्रकाशकी समता चन्द्र तीन कालमें भी नहीं करसकता। अतएव यों अवश्य कहना पडेगा, कि सूर्य्यका प्रकाश अतिचन्द्र है अर्थात् चन्द्रमाकी शक्तिसे परे है। इसी प्रकार यद्यपि आत्माहीके प्रकाशसे इन्द्रियां प्रकाशित हैं तथापि यही कहना पडेगा, कि ब्रह्म-

सुख अतीन्द्रिय है । इन्द्रियां वहांतक पहुंचनेको समर्थ नहीं । शंका मतकरो ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि विषयजन्यसुखं अल्प है और आत्मसुख भूमा है अर्थात् अनन्त, व्यापक और सबोंमें विशाल तथा यथार्थ सुख है, इसी परमसुखके निमित्त नारदने जब सनत्कुमारके समीप जाकर जिज्ञासा की है तब सनत्कुमारने उत्तर दिया है, कि श्रुतिः— "ॐ सुखं त्वेवविजिज्ञासितव्य इति" तुमको सुखकी जिज्ञासा करनी चाहिये। तब नारदने कहा, कि "ॐ भूमानं भगवो विजिज्ञास इति" हे भगवन् सनत्कुमार! मैं भूमा अर्थात् परम सुखकी ही जिज्ञासा करता हूं सो आप मुझे परम-सुखस्वरूपका उपदेश कीजिये । तब सनत्कुमारने कहा— "यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्" (छां० प्रपा० ७ खं० २३ में देखो) अर्थ—जो भूमा अर्थात् पूर्ण ब्रह्मसुख है वही परम सुख है जिससे अतिशय अन्य कुछ भी नहीं । सो ही भूमा सबसे श्रेष्ठ निरतिशय तथा परमानन्दसुख है । इससे जो अन्य है अल्प है और तुच्छ है । क्योंकि जो अल्प होता है उसीमें तृष्णा बनी रहती है । जैसे किसी अधिक पिपासावालेकी प्यासकी शान्ति थोडे जलसे नहीं होसकती वरु वह जल भी उसके शरीरमें जाकर जलजाता है । इसी प्रकार विषय-सुख अल्प होनेके कारण तृष्णाको भी बढाता है और आप भी नष्ट होजाता है। पर जो भूमा है वह पूर्ण है अर्थात् तहां तृष्णा जो दुःखका कारण है वह शेष नहीं रहती और सुख लाभ करनेवालेको भी पूर्ण सन्तोष होजाताहै । अर्थात् निरतिशय आनन्दको प्राप्त होजाता है । तिसका कारण यही है, कि जो परब्रह्मसुख है सो सब

विषय-सुखोंका भी अधिष्ठान है। जहांसे ये विषयसुख अल्प होकर निकलते हैं। जैसे किसी मिट्टीके पात्रको समुद्रमें डुबा दो तो वह सदा भीगा रहेगा, पर समुद्रसे उस पात्रमें थोडा जल निकाल कर बाहर रखदो तो वह जल कुछ कालके पश्चात् सूखजावेगा और वह पात्र भी शून्य पडा रहेगा। इसी प्रकार जिसने अपने अन्तःकरणको (भूमा) परिपूर्ण आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द तथा भगवत्स्वरूपके आनन्दसागरमें डुबा रक्खा है वह कभी आनन्द रहित नहीं होसकता। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि जिस अवस्थामें योगीको यह भूमा-स्वरूप-सुख का लाभ होता है जिससे परे दूसरा कोई सुख नहीं है और जब योगी सर्व प्रकारके विषय-सुखोंकी तृष्णासे रहित होकर अन्य सब सुखोंको तुच्छ जानकर इस ब्रह्मानन्द सुखको जो आत्यन्तिक है, **बुद्धिग्राह्य** है और **अतीन्द्रिय** है जानलेता है तब इस सुखको सबसे अधिक मानने लगता है। और तब वह योगी यथार्थ योगतत्त्वको प्राप्त होनेवाला कहाजाता है। इसी अवस्थाको योगशब्दवाच्य कहना चाहिये। भगवान्ने योगका यह तीसरा लक्षण वर्णन किया।

अब श्री वृन्दाबनबिहारी मदनमुरारी कहते हैं, कि [**यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः**] अर्थात् जिस अवस्थामें अवस्थित होनेसे फिर अपने तत्त्वसे योगी चलायमान् नहीं होता। * नवों प्रकारके

* १. व्याधि (रोग) २. स्त्यान (इच्छा होने पर भी कर्म करने को समर्थ न होना, ३. संशय (यह वस्तु है वा नहीं है इसके बीचमें चित्तका पडा रहना ४. प्रमाद (योगके अंगोंके अनुष्ठान करनेमें सावधानता न रहनी) ५.

अन्तराय जो योगियोंकेलिये विघ्नकारक हैं, उनके सम्मुख उपस्थित होनेपर भी जो सर्व प्रकार स्थिर रहता है "**यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः। अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा**" (गौडपादीयका० प्र० ३ श्लोक ४६)

अर्थ— जब योगीका चित्त अपने तत्वमें इस प्रकार स्थितहोजावे, कि लय और विक्षेपके उपद्रवोंसे दायें-बायें नहीं हिले। 'अनिंगन' अर्थात् निवातस्थ-दीपशिखाके समान अडोल रहे और 'अनाभास' अर्थात् फिर समाधिसे व्युत्थानकालमें नहीं भासे तब जानना चाहिये, कि योगी ब्रह्मस्वरूपमें सम्पन्न हुआ और योगभूमिकाको प्राप्त होगया। यह योगका चौथा लक्षण है।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः**] अर्थात् जिस चित्तवृत्ति-निरोधरूप अखण्ड निर्विकल्प (असंप्रज्ञात) समाधिको लाभ करके अन्य किसी प्रकारके लाभको अधिक नहीं मानता है तब जानना चहिये, कि यह योगी योगतत्वको प्राप्त होगया। प्रमाण श्रु०— "**यस्मात्परं नापर-**

आलस्य (शरीरकी गुरुतासे योगानुष्ठानमें चित्तका न लगना) ६. अविरति (विषयकी तृष्णाका न छूटना) ७. भ्रान्ति भूल (कुछ औरको और समझना) ८. अलब्धभूमिकत्व (समाधिमें चित्तका स्थिर न होना) ९. अनवस्थितत्व (समाधि भूमिकाके लाभ करनेमें चित्तका स्थिर न होना) ये नवों प्रकारके उपद्रव योगियोंके योगमें बाधा करते हैं।

मस्ति किंचित ” (श्वेताश्वतर० अ० ३ श्रु० ९में देखो) अर्थात जिससे परे दूसरा कुछ नहीं है वही परम लाभ है । “ कृत्यं कृतं प्राप्तं प्रापणीयमित्यात्मलाभान्न परं विद्यते ” इस स्मृतिके बचनानुसार आत्मलाभसे बढकर कोई दूसरा लाभ नहीं है जिससे प्राणी कृतकृत्य होवे और जो लाभ ‘ प्राप्तप्रापणीय ’ कहा जावे । तहां कृतकृत्य तो उसे कहते हैं, कि जहांतक जितने लाभ हैं सबोंसे बढकर लाभ उठावे जिसकी प्राप्तिके निमित्त फिर उसे कुछ करना न हो और प्राप्त प्रापणीय उस प्राणीको कहते हैं जिसने अनेक यत्नों करके सुख-समूहको एक ही बार प्राप्त किया हो ।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जिस लाभको लाभकरके फिर किसी अन्य लाभका लोभ नहो सोही केवल आत्मसुख है। क्योंकि इन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक प्रजापति इत्यादि लोकोंके जो लाभ हैं वे सबिकार और दूषित कहेगये हैं । क्योंकि किसी लोकमें ईर्षा, किसीमें अहंकार तथा उनसे नीचे गिरनेका भय है इसलिये ये सब लाभ आत्मसुख-लाभसे नीचे ही हैं । अतएव भगवान् कहते हैं, कि जब योगीको ऐसा बोध होजाता है, कि इस आत्मलाभसे अधिक कोई दूसरा लाभ नहीं है तब जानना चाहिये कि इसे योग तत्त्वका बोध होगया है और तबही उसे यथार्थ योगशब्दवाच्य कहना चाहिये। भगवान्ने योगका यह पांचवां लक्षण वर्णन किया।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते**] जिस अवस्थामें स्थित होकर महान्

दुःखके प्राप्त होनेपर भी चंचल नहीं होता अर्थात् नाना प्रकारके जो शारीरिक क्लेश हैं उनके उपस्थित होनेपर भी अपने अनुष्ठानको जब योगी नहीं छोडता है तब जानना चाहिये, कि इसे योगतत्त्व प्राप्त होचुका है।

यहां केवल शारीरिक क्लेशमात्र कहनेका कारण यह है, किभगवान् केवल एकाकी अर्थात एकान्तबासी योगीकी दशा वर्णन कररहे हैं। ऐसे एकाकीको पुत्र, कलत्रादि कुटुम्बियोंके वियोगका अथवा धन, सम्पत्ति इत्यादिके विनशजानेका दुःख घेर ही नहीं सकता, केवल शरीर-मात्र ही रहता है। इसलिये यहां केवल शारीरिक दुःखसे ही तात्पर्य्य है।

शंका— योगीको तो नाना प्रकारकी अद्भुत सिद्धियां लाभ होजाती हैं। इच्छामात्रसे जो चाहे करसकता है, तो क्या वह अपने शारीरिक दुःखोंके टालनेमें समर्थ नहीं होसकता ?

समाधान— जितने पूर्वार्जितकर्म भोगनेकेलिये इस वर्त्तमान जन्ममें उदय होचुके हैं जिनको प्रारब्धके नामसे भी पुकारते हैं उनको तो अवश्य भोगलेना ही कल्याणकारक है। क्योंकि प्रारब्धका नाश भोगसे इतर अन्य किसी उपायसे नहीं होसकता। यद्यपि योगी अपने योगबलसे प्रारब्धके हटादेनेमें समर्थ है, पर जब वह इस वर्त्तमान शरीरसे हटादेवेगा तो फिर उसे भोगनेकेलिये दूसरा शरीर अवश्य धारण करना पडेगा जो योगियोंकेलिये अत्यन्त दुःखदायी है। प्रमाण श्रु०— " रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसः स्नायवः स्नायु-

भ्योऽस्थीन्यस्थिभ्यो मज्जा मज्जातः शुक्रं शुक्रशोणितसंयोगादावर्त्तते गर्भः " (गर्भोपनिषत् श्रु० २ में देखो)

अर्थ— अन्नके रसोंसे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे मेद (चर्वी) मेदसे स्नावा (शिरा) स्नावासे हड्डी, हड्डीसे मज्जा, मज्जासे बीज फिर बीज और रजके मिलनेसे गर्भ तयार होता है। अब बुद्धिमान् विचार सक्ता है, कि यह शरीर कैसी घृणा करने योग्य वस्तु है ? इस कारण योगी दूसरे शरीरके ग्रहणकी इच्छा न करके शारीरिक दुःखको इसी शरीरमें भोगलेता है। उसके नाश करनेके लिये सिद्धिका बल नहीं दिखलाता। शंका मतकरो !

अब भगवानका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि " दुःखेन गुरुणाऽपि " जब योगी प्रारब्धानुसार किसी प्रकारके घोर दुःखके उपस्थित होनेपर भी व्याकुल नहीं होता तब जानना चाहिये, कि यह यथार्थ योगभूमिको प्राप्त करचुका। यह योगका छठवां लक्षण है॥

भगवानने जो २०, २१ और २२ श्लोकोंमें योगके ६ लक्षण भिन्न-भिन्न ६ वाक्योंमें दिखलाआये हैं अर्थात् १. जब योगानुष्ठानसे चित्तको संसारसे उपराम होजावे। २. जब अपने आत्मा द्वारा आपही अपने आत्मामें सन्तुष्ट होजावे। ३. जब अतिशय बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे परे) सुखको प्राप्त होजावे। ४. जब स्थिर होजानेसे अपने योगतत्त्वसे चलायमान न हो। ५. जब सबसे परे लाभको प्राप्तकर किसी दूसरे प्रकारके लाभको अधिक न माने। ६. जब किसी घोर दैहिक तापसे व्याकुल न हो

इन हीं छवों लक्षणोंसे युक्त अवस्थाको कौनसे नामसे पुकारना चाहिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते है, कि [तं विद्याद्दुःख-संयोगवियोगं योगसंज्ञितम्] तब उसी विशेष अवस्थाको योगसंज्ञित अर्थात् योगशब्दवाच्य कहना चाहिये । अभिप्राय यह है, कि योग शब्द जिसका वाचक है सो यही अवस्था है। वह योग कैसा है ? कि दुःखसंयोगवियोगवाला है अर्थात् दुःखका संयोग जो भिन्न–भिन्न योनियोंसे स्पर्श होना, तिसे दुःखसंयोगका सदा-केलिये वियोग करादेनेवाला है अर्थात् आवागमनका दुःख एकबारगी छुड़ादेनेवाला है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि जो योग इस प्रकारका है जिससे पूर्व कथन कीहुई उपरामादि भिन्न अवस्थाओंकी प्राप्ति चित्तको होती है [स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विरणचेतसा] ऐसे योगको निश्चय करके अनिर्विरण (निर्वेद रहित) चित्तसे अनुष्ठान करना चाहिये । अनिर्विरण उस चित्तको कहते हैं जो निर्वेद रहित हो अर्थात् ऐसा पुरुषार्थी चित्त हो, कि कठिनसे भी कठिन कार्य के सम्पादन करनेमें तत्पर होजावे । उसकी कठिनताको देखकर पूर्ति करनेमें निराश न हो । उस कार्यसे मुंह न मोडे अर्थात करते-करते थककर न छोडदेवे, उसमें लगाही रहे। अभिप्राय यह है, कि ऐसा विचारता रहे, कि कभी न कभी इस कार्यको मैं अवश्य ही पूर्ण करूंगा । बहुतेरे योग-क्रिया साधन करनेवाले ऐसा विचारने लगजाते हैं, कि यम, नियमादिका प्रतिपाल करना, पथ्या-पथ्यके विचारानुकूल भोजनादि करना, मिताहारी होकर रहना, इन्द्रि-

योंको वशीभूत करना, विषयोंको त्यागना, दुःख, सुख, शीत, उष्ण मान और अपमानमें सम रहना, नित्य प्रातःकाल उठकर क्रियामें तत्पर होना, आसनोंका लगाना, मुद्रा इत्यादिका साधन करना, तथा प्राणायाम करते समय बासना रहित होकर ईडा और पिंगला द्वारा श्वास को चढाना और उतारना इत्यादि जो अत्यन्त कठिन साधन हैं वे शीघ्र सिद्ध नहीं होते । इसलिये चलो भाई ! छोडदो इन बखेडोंमें कौन पडे ?

भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! ऐसा डरपोक बनकर ध्यान-योगको जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है त्याग न देवे वरु ऐसा विचारे, कि इस जन्ममें सिद्ध हो वा न हो अगले जन्मोंमें कहीं न कहीं तो जाकर सिद्ध होहीगा। जहां तक सम्भव हो इसमें लगे ही रहो ! ऐसे दृढ अन्तःकरणवालेको अनिर्विण्णचित्त कहते हैं। हे अर्जुन ! ऐसे अनिर्विण्ण-चित्तवालेको अपने अनुष्ठानमें दृढ देखकर मैं स्वयम् उसकी सहायता करता हूं । इसलिये ऐसा योग अवश्य योक्तव्य है अर्थात् करनेके ही योग्य है ।

निर्विण्णचेतस होकर दृढतासे योगसाधनमें स्थिर रहनेके विषय श्री स्वामी गौडपादाचार्यजी अपनी कारिकाके तीसरे प्रकरणके ४१वें श्लोकमें कहते हैं, कि " उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः " ॥

अर्थ— जैसे एक कुशाके अग्रभागके बराबर जल—बिन्दुको अपने तोल द्वारा समुद्रसे बाहर फेंकनेमें सम्पूर्ण समुद्रके उत्सेक

अर्थात् (उलीचडालनेकी) दृढ प्रतिज्ञा एक टिट्टिभ नाम पक्षीको होगयी और उसके मनमें निश्चय होगया, कि मैं इस समुद्रको सुखा डालूंगा। इसी प्रकार परिखेद रहित चित्तके दृढ प्रतिज्ञ होनेसे अवश्य योग सिद्ध होजाता है और भगवत्स्वरूपकी (साकार हो वा निराकार) प्राप्ति होती है। इस टिट्टिभ पक्षीका वर्णन आत्मपुराण के एकादश अध्याय में यों किया है, कि "एक टिट्टिभ पक्षी किसी समुद्रके तटमें निवास करता था उसके अंडोंको समुद्र अकस्मात् भाठा ज्वार द्वारा बहालेगया तब उस पक्षीको क्रोध उत्पन्न हुआ और उसने यों प्रतिज्ञा की— मैं इस समुद्रके जलको बाहर फेंककर इसे सुखा ही दूंगा। ऐसा निश्चय करके अपने चोंचसे जल निकाल-निकाल बाहर फेंकना आरम्भ किया। तब उसकी जातिके पक्षियोंने समझाया, कि तू क्यों व्यर्थ मरता है तुझसे यह समुद्र नहीं सूख सकता। पर उसने उनका एक भी न माना और कहा, कि मैं अपने चोंचसे इसी प्रकार विन्दु मात्र जल निकालते-निकालते किसीन किसी दिन अवश्य इस समुद्रको सुखादूंगा। अकस्मात् महर्षि श्री नारद उस मार्ग होकर आनिकले और उसकी दशा देख उसे बहुत समझाया पर उसने उनकी भी न मानी और बोला, कि भगवन्! एक जन्मको कौन पूछे यदि लक्ष जन्ममें भी यह समुद्र सूखेगा तो मैं अवश्य इसे सुखाकर ही छोड़ूंगा। नारदजी उस पक्षीकी ऐसी अनिर्विण्णता देख प्रसन्न हुए। झट गरुडसे जाकर टिट्टिभ पक्षीका सर्व वृत्तान्त कह सुनाया और बोले, कि हे गरुड! समुद्र आजकल ऐसा अभिमानी होगया है, कि तुम्हारी जातिसे अर्थात् पक्षियोंसे विरोध

रखता है। इतना सुन गरुडको क्रोध आया और वहां पहुंच अपने पङ्खोंकी वायुके वेगसे समुद्रके जलको शुष्क करना आरम्भ करदिया। यह देख समुद्रको भय हुआ, कि गरुड विष्णु-भक्त हैं, महात्मा हैं यह तो इच्छामात्रसे मुझे ऐसे शुष्क कर सकता है जैसे अगस्त्यने मुझे पान करलिया था। एवम्प्रकार भयभीत हो समुद्रने पक्षीके अण्डों को तीरपर फेंकदिया।

इस दृष्टान्तसे मुख्य तात्पर्य यह है, कि जो प्राणी भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति निमित्त योगके अनुष्ठानमें लगपडेगा और टिट्टिभ पक्षी के समान दृढ प्रतिज्ञ और दृढव्रत होगा वह अवश्य अपने योगकी सिद्धि लाभ करेगा और उसकी पूर्तिमें भगवत् स्वयं उसकी सहायता करेंगे। क्योंकि भगवान् पहले कहआये हैं, कि " योगक्षेमम्वहाम्यहम् " मैं ही योगक्षेमका देनेवाला हूं अर्थात् वस्तुकी प्राप्ति मैं ही कराता हूं। फिर उस प्राप्त वस्तुकी रक्षा भी मैं ही करता हूं। इसलिये भगवान् अपने श्रीमुखसे आज्ञा देते हैं, कि हे अर्जुन! "निश्चयेन योक्तव्यः" ऐसा योग निश्चय करके अनिर्विण्ण-चित्तसे अनुष्ठान करने योग्य है ॥ २०, २१, २२, २३ ❀ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा,— भगवन्! चित्तकी अनिर्विण्णता किस उपायसे प्राप्त होती है? कृपा कर कहो!

❀ अनिर्विण्णः— (निर् + विद् + क्तः, ततो नञ् समासः।)

अर्थ— निर्वेदशून्यः, अश्रान्तः, निग्लानिः, विगत क्लेशः इत्यादि अनिर्विण्ण शब्दके अर्थ हैं।

भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— संकल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥
॥ २४, २५ ॥

पदच्छेदः— सर्वान् (ब्रह्मलोकपर्यन्तान् सम्पूर्णान्) संकल्पप्रभवान् (संकल्पात् तथाऽविचारजनितेऽशोभने शोभनाध्यासात् प्रभवो येषां तान्) कामान् (विषयाभिलाषान्) अशेषतः (निर्विशेषतः) त्यक्त्वा (श्ववान्तपायसवत्परित्यज्य) मनसा (अन्तःकरणेन) एव, इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियसमुदायम् चक्षुरादिकरणसमूहम्) समन्ततः (सर्वेभ्यो विषयेभ्यः आसमन्तात् भागे । विषयसमूहात्) विनियम्य (नियमनं कृत्वा । प्रत्याहृत्य) धृतिगृहीतया (धैर्य्येण युक्तया) बुद्ध्या (निश्चयवृत्त्या) शनैः शनैः (भूमिकाजयक्रमेण मन्दम्मन्दम्) उपरमेत् (उपरतिं सम्पादयेत् । स्वरूपसमीपे प्रीतिं सम्पादयेत् [तथा] मनः (अन्तःकरणम्) आत्मसंस्थम् (आत्मनि संस्थं युक्तम्) कृत्वा, किंचित् (स्वल्पम्) अपि, न चिन्तयेत् (न विचारयेत्) ॥ २४, २५ ॥

पदार्थः— (सर्वान्) सर्वप्रकारके (संकल्पप्रभवान्) संकल्पोंसे उत्पन्न (कामान्) कामनाओंको (अशेषतः) पूर्ण-

रूपसे (त्यक्त्वा) त्यागकरके तथा (मनसा, एव) मनसे ही (इन्द्रियग्रामम्) इन्द्रिय समुदायको (समन्ततः) सर्व विषयोंकी ओरसे समेट (विनियम्य) विशेषकर अपने-अपने नियम में रखकर (धृतिगृहीतया) धैर्य्यसे युक्त (बुद्ध्या) बुद्धिद्वारा (शनैः शनैः) धीरे-धीरे (उपरमेत्) उपरामको प्राप्त होवे। तथा (मनः) मनको (आत्मसंस्थम्) आत्मामें स्थिर (कृत्वा) करके (किंचिदपि) किसी प्रकारकी कुछ भी (न, चिन्तयेत्) चिन्ता न करे ॥ २४, २५ ॥

भावार्थः— श्री योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रश्नको सुन चित्तकी अनिर्विराणताकी प्राप्तिका साधन वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि प्राणीको चाहिये, कि जब योगतत्त्वका अनुष्ठान आरम्भ करे तब सबसे पहले [**संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः**] संकल्पसे उत्पन्न पातालसे ब्रह्म-लोक पर्यन्तकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्णरूप त्याग कर धीरे-धीरे शान्त-चित्त होवे।

प्राणीका स्वभाव है, कि बार-बार नाना प्रकारके संकल्पोंसे अपनी कामनाओंको दृढ करलेता है। अर्थात् पहले प्राणीके चित्त में किसी विषयकी स्मृति होआती है। जैसे १. हेतु, २. फल, ३. आश्रय और ४. अवलम्बन (जिनका वर्णन इसी अध्यायके श्लोक १६ में होचुका है) इन चारोंके उपस्थित होनेसे जो विषय-सुखके भोगनेकी इच्छाएँ उपज आती हैं उन्हींको " **संकल्पप्रभवान् कामान्** " कहते हैं। अर्थात् मनमें जो प्रबल तरंगें उठती हैं, कि

यह सुख मुझे प्राप्त हो, एवम्प्रकार विषय-सुखके परिणाम दुःखको भूल विषयकी सुन्दरता और शोभाकी ओर दौडजाता है । बारम्बार यही आशा करने लगजाता है, कि यह धन, सम्पत्ति, यह सुन्दर स्त्री तथा स्वर्गलोककी अप्सराएँ मुझे प्राप्त होजावें । इसीको संकल्प कहते हैं । तिस संकल्पकी स्मृति अन्तःकरणपर जमनेसे कामना उत्पन्न होतीहुई वृद्धिको पाती चली जाती है । इसलिये कामनाएँ संकल्पज कहलाती हैं । विषयियोंकेलिये सब सुखोंमें अत्यन्त सुखदायी स्त्रीसुख है, तिसका मुख्य कारण कामदेव है, कामदेवकी उत्पत्ति केवल संकल्पसे हुई है और होती है इसी कारण कामदेवको संकल्पज, संकल्पमय, संकल्पयोनि इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं । इसी कारण अन्य सब कामनाएँ भी सदा संकल्पज ही होती हैं । इस संकल्पके पीछे-पीछे मन चलता है तहां श्रुतिका वचन है, कि " संकल्पो वाव मनसो भूयान् " अर्थात् संकल्प मनसे श्रेष्ठ है । तात्पर्य्य यह है, कि कर्तृत्वसम्बन्धी अन्तःकरणकी वृत्तिको संकल्प कहते हैं । तिसके पश्चात् मनका वेग आरंभ होता है । जैसे पहले वायुकी झकोडें चलती हैं तब बडे-बडे नद नदियोंमें तरंगें उठने लगजाती हैं इसी प्रकार संकल्प की वायुके प्रवाह होते ही मनमें विषयोंकी तरंगें उठने लगजाती हैं । जब एवम्प्रकार तरंगें उठने लगीं तो शान्ति समीपमें नहीं रह सकती । जब शान्ति न हुई तो जैसे तरंग उठतेहुए जलमें अपने मुखकी आकृति स्वच्छ और सम नहीं देख पडती इसी प्रकार शान्ति-रहित चित्तमें अपना स्वरूप जो आत्मस्वरूप है स्वच्छ नहीं देख पडता । इसी कारण जब आत्माका दर्शन अर्थात् आत्मज्ञान स्वच्छ-रूपसे नहीं

लाभहुआ तो भगवत्प्राप्तिका आनन्द प्राप्त होना दुस्तर है अर्थात् निर्वेद रहित चित्तको योगकी सिद्धि द्वारा भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिका लाभ नहीं होसकता । अतएव भगवान् कहते हैं, कि संकल्पसे उत्पन्न जितनी कामनाएँ हैं उनको त्याग करके योगी अपने चित्तको निर्वेदरहित करलेवे ।

शंका—अब यह है, कि उन कामनाओंका केवल थोडा अंश परित्याग करे अथवा जितनी कामनायें हैं उन सबोंको उनकी उत्पत्तिका कारण वासना इत्यादिके सहित पूर्णरूपसे त्याग करे ?

समाधान— इन विषयोंका संस्कारमात्र भी चित्तके किसी कोनेमें रहजानेसे जैसे कच्चे बीजसे फिर वृक्ष उदय होजाता है ऐसे फिर व्युत्थानकालमें विषय-रूप बहुत बडे वृक्षके फूटकर निकलनेका भय है । जैसे सूर्य्यकी किरणें पृथ्वीपर फैली हुई जलको शोषण करलेती हैं इसी प्रकार अपने योगरूप तेजसे योगी कामनाओंको शोषण करलेवे अर्थात् पूर्णप्रकार कामना रहित होजावे ।

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार सब कामनाओंको पूर्ण-रूपसे परित्याग करके तथा [**मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समंततः**] मन द्वारा इन्द्रिय समुदायको चारों ओरसे नियममें लाकर और [**शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया**] परम धृति-युक्त बुद्धिके साथ धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त हो अर्थात् शान्ति लाभ करे । नियमित रखनेका अर्थात् मन सहित इन्द्रियोंके नियममें करनेका तात्पर्य्य यही है, कि कर्तृत्वाभिमानशून्य होकर इनका संय-मकरे जिससे इनके कार्य्यमें न्यूनाधिक्य (कमी बेशी) न हो, समता

प्राप्त रहे और आप प्राणी सब कुछ करता हुआ भी बन्धनमें न पडे जैसा, कि भगवान् पहले अध्याय ५ में श्लोक ८ से १३ तक उपदेश करआये हैं उसी प्रकार संयम पूर्वक इन्द्रियोंसे सब कार्य्योंको करताहुआ " पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन " अर्थात् देखता, सुनता और स्पर्श करता हुआ भी ऐसा समझे, कि " नैव किंचित् करोमि " मैं कुछ भी नहीं करता । प्रकृति उचित रीतिसे जिस आचरणके योग्य समझ कर जहां-जहां जो कर्म करवा देती है, इन्द्रियां प्रसन्नता पूर्वक करलेती हैं, मुझ यतचित्तात्माको न उनसे राग है न द्वेष है।

भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो योगी सब संकल्पज कामनाओंको त्यागकर मन सहित इन्द्रियोंका नियममें लाकर शनैः शनैः उपरामको प्राप्त होता है, उसीका चित्त अनिर्विण्णत्वको प्राप्त होता है। यदि पूछो, कि केवल संसृत-व्यवहारोंमें संसृत-राग-द्वेषसे बहुतेरे विवेकी वा योगी तो नियम करलेते हैं पर बहुतोंको स्वर्गादि सुखोंकी तथा अणिमादि अष्ट सिद्धियोंकी अभिलाषा बनी रहती है तो इनसे भी मनको नियमन करना चाहिये वा नहीं ? इसीके उत्तरमें भगवानने " समन्ततः " शब्दका प्रयोग किया है ॥ अर्थात नीचेके संसृत-विषयोंसे लेकर ऊपर स्वर्गलोकादिके सुखों तकका त्याग करे । अष्ट सिद्धियोंकी ओर भी न देखे तब ही पूर्ण प्रकार नियमन करना कहा जावेगा । अर्थात वशिष्ठअरुन्धती-दर्शन न्याय से पहले अनेक प्रकारकी जो योग-भूमि हैं तिनके द्वारा क्रमशः भूमिजय करता चला जावे अर्थात पहले यम नियमके पालनसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करे, फिर आसनसे शारीरिक

चंचलताको रोके, अन्नमयकोशको जय करे, प्राणायामके साधन द्वारा प्राणमयकोशको जय करे। पीछे प्रत्याहार द्वारा मनोमयकोश को जय करताहुआ धारणासे विज्ञानमयकोशका संयम करके, ध्यानसे आनन्दमयकोशको अपने हाथकर समाधिमें प्रवेश करे। तिसके अनन्तर सबीजसमाधि अर्थात् संप्रज्ञात समाधिको प्राप्त कर फिर तिस बीजको नष्ट करके त्रिपुटीको तोड, असंप्रज्ञातसमाधिको लाभ करे। एवम्प्रकार धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त होनेसे स्वर्गादि सुख तथा अष्ट सिद्धियोंके सुखसे भी उपरामको प्राप्त होकर सब ओरसे नियमन होजानेसे अनिर्विराणता अवश्य प्राप्त होजाती है। क्योंकि इन योग-भूमियोंकी जय एक बारगी एक ही बार एक ही समय नहीं होसकती अतएव धीरे-धीरे अभ्यास करे। पर इसके साथ इतना तो अवश्य होना चाहिये, कि चाहे घोरसे घोर आपत्ति क्यों न आजावे पर योगी अपने लक्ष्यसे न हटे। इसी कारण भगवान इस श्लोकमें कहते हैं, कि "धृतिगृहीतया बुद्ध्या" अर्थात् कैसी बुद्धि से शनैःशनैः उपरामकी ओर चेष्टा करे? तो कहते हैं, कि धृतिगृहीत बुद्धिसे करे। अर्थात सब प्रकारकी दृढतासे बुद्धिको स्थिर और दृढ करके धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त होवे। इस धृतिगृहीत बुद्धिके उदाहरणके लिये पाठकोंको एक सुन्दर इतिहास सुनाता हूं—

महाराज युधिष्ठिरने महाभारत विजय करनेके पश्चात् अश्वमेध यज्ञका संकल्प करके जब अपने अश्वको दिग्विजयके लिये छोडा और उसकी रक्षाके निमित्त अर्जुन, बभ्रुवाहन, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नीलध्वज, वृषध्वज, हंसध्वज इत्यादि वीरोंको श्री कृष्ण भगवानके

साथ नियुक्त करदिया । अश्व सर्वत्र विजय पाताहुआ महाराज मोर-ध्वजकी राजधानी रत्ननगरके समीप जब पहुंचा तब मोरध्वजके पुत्र ताम्रध्वजने बडी बीरताके साथ उस अश्वको छीन लिया जिस कारण ताम्रध्वजके साथ पूर्वोक्त वीरोंको युद्ध करना पडा । ताम्रध्वजने उक्त वीरोंको रणमें मूर्च्छित करडाला और लडते-लडते अपनी युद्ध-कलासे अर्जुनको भी नाकोंदम करदिया तब अर्जुन व्याकुल हो श्यामसुन्दरसे बोला, कि भगवन् ! इस छोटेसे बालकमें इतनी बीरता कहांसे आई ? भगवानने उत्तर दिया, कि अर्जुन ! इसका पिता मोरध्वज अपने धर्ममें धृतिगृहीत-बुद्धि है और ऐसा धर्मात्मा है, कि किसी प्रकारका याचक उसके सम्मुख जाकर याचना करे उसे निराश नहीं करता, अवश्य उसकी अभिलाषा पूर्ण करदेता है । हे अर्जुन ! भिक्षुकोंकी याचनाकी पूर्त्ति करनेमें वह धृतिगृहीत-बुद्धि है । अर्जुन ने कहा भगवन ! मैं उसे देखा चाहता हूं आप कृपा कर उसकी धृति की परीक्षा कर मुझे दिखाइये जिससे मेरेको सन्तोष हो । भगवानने कहा अच्छा चलो मेरे संग चलो इतना कह भगवानने एक वृद्ध तपस्वीका वेष बनाया और अर्जुनको चेला बना मोरध्वजके सामने पहुंचे और कहा, कि हे राजन् ! मैं तुम्हारे समीप कुछ भिक्षा निमित्त चला आता था मार्गमें इस व्याघ्रने इस मेरे चेलेको पकडलिया और भक्षण करजानेकी इच्छा की मैंने कहा इसके बदले मुझे खाले ! पर उसने कहा मैं वृद्ध तपस्वीको भक्षण नहीं करता । मैंने उससे कहा, कि कोई उपाय बतलो जिससे इस बालककी जान बचे । उसने कहा मुझे भी शोक है, कि मैं तपस्वीके बालकको भक्षण करने चला

हूं क्या करूं २७ दिवसका भूखा हूं । हां ! इतना तो होसक्ता है, कि यदि कोई राजकुमार मिलजावे तो उसका मांस भक्षण कर सन्तुष्ट होजाऊँ । इसलिये हे राजन् ! यदि तू राजकुमार ताम्रध्वजको इस मेरे बालकके बदले देकर इसकी जान बचादे तो तेरा यश पृथ्वी-मण्डलपर अटल रहेगा । राजाने कहा भगवन् ! यदि इस बालकका प्राण बच-जावे तो आप अवश्य मेरा बालक व्याघ्रको देदीजिये । इतना सुन भगवान् बोले, कि इस व्याघ्रकी यह प्रतिज्ञा है, कि उस बालकके पिता माता अपने हाथोंसे उसे चीरकर दो टुकडे करदेवें "तो इसके दाहिने अंगको मैं भक्षण करूंगा । और बायां छोडदूंगा" इतना सुन राजाने कहा जो आज्ञा ! मैं महलमें बालकको लाने जाता हूं आप उस व्याघ्रको लेआइये । मोरध्वज अपनी रानीके समीप गया और सारा वृत्तान्त कहसुनाया । रानीने कहा भगवन् ! आज इस मेरे गर्भ को धन्यबाद है जिससे मैंने ऐसा पुत्र उत्पन्न किया जो आज परोपकार में समर्पण होता है । पश्चात् माता पिता दोनों राजकुमार ताम्रध्वजके समीप जा उसे सारा वृत्तान्त कहसुनाया । ताम्रध्वजने कहा अहा ! आज मुझे इस मनुष्य-जन्म लेनेको धन्यबाद है, कि मैं आज तपस्वीके काज आऊंगा । हे तात ! मुझे शीघ्र उस तपस्वीके समीप ले चलिये और उस व्याघ्रको मेरे मांससे संतुष्ट कीजिये । ये तीनों बातें करते जबतक द्वारपर आये क्या देखते हैं, कि तपस्वी अपने बालक और व्याघ्रको संग लिये खडा है । तपस्वी-रूप भगवानने कहा, एक ओर राजा और एक ओर रानी आरा लेकर बालकको चीरें पर प्रतिज्ञा यह है, कि माता बालकके मुखको देखती रहे और तू भी रानीका मुख देखता रहे

फिरे बालकके सिरपर आरा चलता रहे । जब हाथमें आरा ले राजा और रानीने बालकके मस्तकपर आरा चलाया तपस्वी बोले, सुनो भाई ! एक प्रतिज्ञा और यह है, कि आरा धीरे-धीरे मत चलाओ ! और इस बातपर तुम तीनों ध्यान रक्खो, कि यदि किसीकी आंखसे आंसु बह पडेगा तो यह व्याघ्र मांसका भक्षण नहीं करेगा ।

जब आरा चलना आरंभहुआ तब केवल बच्चेकी बाईं आंखसे आंसु चला तपस्वीने कहा बसकरो ! बसकरो ! ! अब मेरा व्याघ्र इस मांसको भक्षण नहीं करता । राजकुमारने प्रार्थना की भगवन् ! अबतो मैं अपने पिताका वचन पालन करनेके निमित्त दो टुकडे होरहाहूं अब मेरा कौनसा पाप उदयहुआ जिससे आप मुझे त्याग रहे हैं ? तपस्वीने कहा देख ! तेरी बाईं आंखसे आंसु चलता है जो प्रतिज्ञाके विरुद्ध है । ताम्रध्वजने उत्तर दिया भगवन् ! मेरा बायां अंग इस कारण नहीं रोता है, कि उसे कष्ट हुआ वरु वह इसलिये रोता है, कि दायेंने क्या पुण्य किया था, कि ब्राह्मणके काम आरहा है और मैंने क्या पाप किया, कि श्याल, कागले और कूकरोंके आगे फेंक-दिया जाऊंगा ? इसलिये मेरी विनम्र प्रार्थना है, कि यह मेरा बायां अंग भी व्याघ्रको भक्षण करादियाजावे । इतना सुनतेही सबोंके रोंगटे खडे होआये । सबोंके नेत्रोंसे आंसू टपकने लगा । इस वचनसे मोहित होकर करुणासागर भी करुणासे भरगये और उसी क्षण आज्ञा दी, कि मत चीरो ! सम्पूर्ण शरीर व्याघ्रको भक्षण करादो ! जब व्याघ्रकी क्षुधा पूर्ण होगयी और ताम्रध्वज व्याघ्रके पेटमें चलागया । तब महाराज

मोरध्वजने प्रार्थना की—भगवन् ! अब तो आप दोनों भोजनकर मुझे सन्तुष्ट कीजिये । भगवान्‌ने कहा बहुत अच्छा ! जब भोजनका पात्र आया तब भगवान्‌ने कहा यह पात्र तबतक सरस और रुचिकर नहीं होगा जबतक एक ओर मैं, एक ओर यह मेरा चेला, एक ओर तू और एक ओर तेरा पुत्र ताम्रध्वज न बैठे और तब ही मैं भोजन करूंगा । तू अपने पुत्रको लेआ ! इतना सुन पहले तो मोरध्वजको आश्चर्य्य हुआ पर विचार करने लगा, कि तपस्वियोंका वचन प्रतिपालही करने योग्य है । दौडा-दौडा रनिवासमें चलागया । क्या देखता है, कि ताम्रध्वज शयन कररहा है । पूछा बेटा ! तू यहां कैसे आया ? ताम्रध्वजने कहा तात ! मुझको तो वही तपस्वी जो द्वारपर आये हैं गोदमें लेकर यहां सोलागये और कह गये, कि जब तेरा पिता लेने आवे तब तू उसके साथ चलाआना । पिताजी ! शीघ्रता कीजिये ! चलिये द्वारपर साधुका दर्शन करूं । मुझे तो ऐसा अनुभव होता है, कि वह साक्षात् भगवान् हैं । इतना कहते हुए पिता, पुत्र, दोनों जो द्वारपर आये तो क्या देखते हैं कि भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द मोरमुकुट धारणकिये हाथमें मुरलीलिये गले बनमालडाले अर्जुनकेसाथ त्रिभंगी-रूपसे बंशी टेर रहे हैं देखते ही दोनो पिता-पुत्र चरणोंमें गिरे । भगवान्‌ने कहा "तुम लोगोंकी धृति देख मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ, सत्य है तुम्हारे समान धृतिगृहीतबुद्धिवाला सहस्रोंमें कोई एक देखनेमें आवेगा । मोरध्वज ! तू धन्य है तू मेरा सच्चा भक्त है । वरमांग क्या मांगता है ?" राजाने कहा भगवन् ! और क्या मांगूं प्रथम तो यह, कि आपके चरणकमलोंमें मेरी प्रीति बनीरहे और दूसरा यह,

कि जैसी परिक्षा तुमने मेरी की ऐसी किसी औरकी न करना ! भगवान् एवमस्तु कह मन्द-मन्द मुसकरातेहुए अर्जुनके साथ अन्तर्द्धान होगये ।

प्रिय पाठको ! इस दृष्टान्तसे मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मोरध्वजके समान धृतिगृहीतबुद्धिवाला होनेसे प्राणी शीघ्र सिद्धिको प्राप्त होता है ।

अब भगवान् कहते हैं, कि उक्त प्रकार योगानुष्ठानमें तत्पर होकर [**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्**] मनको आत्माहीमें टिकाकर अर्थात आठों याम आत्माहीको देखताहुआ, सुनताहुआ, मनन करताहुआ इत्यादि अभ्यासमें समयको वितावे । आत्माहीमें रति, तृप्ति और तुष्टिको प्राप्त करे । अपने दायें, बायें, ऊपर, नीचे, सर्वत्र आत्महो आत्माको फैलाहुआ जाने । आत्मासे भिन्न एक तृणमात्र भी न जाने । दुःख, सुख, हानि, लाभ, मान, अपमान, निन्दा और स्तुति सबको आत्मा ही आत्मा जाने, अनात्माको तो कहीं लेशमात्र भी नहीं समझे । प्रमाण श्रुतिः— " ॐ अथात आत्मादेश एव आत्मैव अधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मापरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवद‌ꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मा मिथुन आत्मानन्दः । स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ " (छां० उ० प्रपा० ७ खं० २५ श्रु० २)

अर्थ— अब यहां आत्म-संस्थाका उपदेश करते हैं, कि आत्मा ही नीचे है, ऊपर है आत्मा ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारोंओरसे व्याप्त

है। सर्वत्र यह जो कुछ देखाजाता है अखण्ड परिपूर्ण आत्मा ही है। इससे इतर रंचकमात्र भी कुछ नहीं है। इस प्रकारसे जो प्राणी देखता है, श्रवण करता है, मनन करता है, तथा जानता है उसीको आत्मरति और आत्मक्रीडा अर्थात् आत्माके संग रमणकरनेका सौभाग्य प्राप्त है। उसीको आत्माके साथ मिथुन है (आत्माके संग मिलाप है) उसीको आत्मानन्द अर्थात् भगवत स्वरूपकी प्राप्तिका आनन्द लाभ है। वही स्वतंत्र चक्रवर्त्ती होता है। उसीको सब लोकोंमें इच्छानुसार सब कुछ प्राप्त करलेनेकी शक्ति होजाती है।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसे आत्मामें रत रहनेवाले योगीजनको **आत्मसंस्थ** कहते हैं। ऐसा योगी सब ओरसे वृत्तिको हटा केवल आत्माहीमें लगा " **न किंचिदपि चिंतयेत** " किसी अन्य विषयकी चिन्ता कदापि न करे। क्योंकि आत्मासे भिन्न अनात्मवस्तुओंकी स्मृति समाधिस्थ-योगियोंकेलिये बिघ्नकारक है।

जैसे घटाकाशमें जल भरदेनेसे वह आकाश **जलाकाश** भासता है और तिस जलाकाशमें फिर दूसरा आकाश देखपडता है। इसी प्रकार अन्तःकरणमें बहुतेरी वृत्तियां उदय होकर निर्म्मल आत्माके साथ उपाधिरूप होकर भासती हैं। जैसे जल इत्यादि उपाधियोंको घडेसे निकाल बाहर फेंकदेनेसे केवल घटाकाश ही रहजाता है। इसी प्रकार नाना प्रकारेकी वासनाओंको यत्न पूर्वक अन्तःकरणसे त्यागदेनेसे निर्म्मल स्वच्छ आत्मा ही आत्मा रहजाता है तब उसी अवस्थाको **आत्मसंस्थ** कहते हैं। इसी अभिप्रायसे भगवान् कहते हैं, कि

आत्म-विचार छोड योगी अन्य कुछ भी चिन्ता न करे । जब एव-म्प्रकार सब चिन्ता वर्जित हो केवल आत्माहीमें लगजानेका अभ्यास करेगा तब उसे वही अनिर्विण्णता प्राप्त होगी जिसको भगवान् पूर्व श्लोकमें वर्णन करआये हैं ॥ २४, २५ ॥

अब भगवान् इसी विषयको अधिक स्वच्छ कर अगले श्लोकमें कहतेहुए एकाग्रताका उपाय बताते हैं—

मू०— यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

पदच्छेदः— यतः यतः (यस्माद्यस्मान्निमित्तात्) चंचलम् (स्वभावदोषाच्चपलम्) अस्थिरम् (शान्तिरहितम्) मनः, निश्चरेति (वहिर्गत्वा समाधि विरोधिनीवृत्तिमुत्पादयति) ततस्ततः (तस्मात्तस्मान्निमित्तात) एतत् (मनः) नियम्य (प्रत्याहृत्य) आत्मनि (स्वस्वरूपे स्वप्रकाशपरमानन्दघने वा) एव वशम् (स्व प्रभुत्वम्) नयेत् (पर्यावस्थापयेत) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (यतः यतः) जिन-जिन कारणोंसे यह (चंचलम्) स्वभावसे ही अत्यन्त चंचल और (अस्थिरम्) शान्तिरहित (मनः) मन (निश्चरति) अपने हाथसे बाहर निकलजाया करता है (ततः ततः) तिन-तिन कारणोंसे (एतत्) इस मनको (नियम्य) रोककर (आत्मनि) अपने स्वरूपके साथ जो स्वप्रकाश और परमानन्द घन है (एव) निश्चय करके (वशम्) वशमें (नयेत्) करले अर्थात् आतमस्वरूपमें युक्त करदेवे ॥ २६ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो योगेश्वर भगवानने अर्जुनके प्रति योगियोंके उपरामके विषय यह कहा, कि " **शनैः शनैः उपरमेत्** " धीरे धीरे उपरामको प्राप्त हो। इसी विषयको अब इस श्लोकमें विशेष रूपसे वर्णन करते हैं अर्थात् चारों ओरकी उपाधियोंसे मनको रोक-लेनेका उपाय बतातेहुये कहते हैं, कि [**यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्**] यह मन जो स्वाभाविक पारदके समान चञ्चल है और अस्थिर है अर्थात् स्थिर नहीं रहता, वह जिन-जिन कारणोंको पाकर अपने स्थानसे निकलजाया करता है अर्थात् महा बलवती इन्द्रियों द्वारा मोक्षमार्गसे भागजाया करता है। इन्द्रियां जहां जिस प्रकारका अवलम्बन पाकर इसे खींचलिया करती हैं तहां तदाकार हो उसीमें रमण करने लगजाता है। पांचों प्रकारकी वृत्तियां जब-जब जिधरसे इसे चंचल करती हैं उधर ही उलझजाया करता है। इन वृत्तियोंके उदय रहते नाना प्रकारकी कामनाएँ सताती रहती हैं।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि यह मन जिस-जिस निमित्तसे चंचलत्वको प्राप्त होने लगे उस-उस निमित्तको योगी झट उसी समय अपनी कुशाग्र बुद्धिसे जान लेवे, कि अब मेरा मन अमुक वृत्तिके कारण नियमसे भगा चाहता है और विषयके सम्मुख दौडा चाहता है फिर तो उसी क्षण [**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्**] उसी-उसी निमित्तसे मनका नियमन करे अर्थात् जिस निमित्तसे मन बहिर्मुख होकर जिस वृत्ति द्वारा चंचल हुआ है उसी वृत्ति द्वारा मन को तहांसे हटा नियममें रखे अर्थात् उस वृत्तिको उसी वृत्तिसे रोके।

प्रमाणको प्रमाणसे, विकल्पको विकल्पसे, विपर्यको विपर्यसे, निद्रा को निद्रासे और स्मृतिको स्मृतिसे। अर्थात् उसी वृत्तिको उसी वृत्तिसे कैसे रोकना चाहिये ? सो समझाया जाता है सुनो !

योगी समाधिसे उठनेके पश्चात् अपनी व्युत्थान अवस्थामें बैठा है, कि इतनेमें एक अप्सरा सम्मुख आखडी होती है नाना प्रकारके हाव-भाव कटाक्षोंको करतीहुई चित्तको मोहित करना चाहती है। अब यहां अप्सरा प्रत्यक्ष प्रमाण होनेके कारण चित्तको खींचती है और उसीके साथ साथ स्मृति भी अपना कार्य करने लगजाती है अर्थात् चित्तको स्त्रीसंगका सुख स्मरण होआता है। इसलिये यहां दो वृत्तियां प्रमाण और * स्मृति एक संग मिलकर विक्षेपको प्राप्त करती हैं। पर जैसे यहां अप्सरा प्रत्यक्ष प्रमाण है तैसे योगी भी प्रत्यक्ष प्रमाण है। ये दोनों आंखोंसे देखेजाते हैं। तहां स्मृति-वृत्ति भी दोनों ओर कार्य कररही है। उधर अप्सराको देख भोगसुखकी स्मृति और अपनी ओर देख योगसुखकी स्मृति। अब यहां देखाजाता है, कि चित्त दोनों ओरकी खैंचा-तानीमें पडा है, कभी तो योगीके चित्तमें आता है, कि यह भोगसुख उत्तम है। ऐसी सुन्दर अप्सरा एकान्तमें हाथ आगई है। ऐसे उत्तम रत्नको त्यागना नहीं चाहिये, भोग ही लेना चाहिये।

---

* यदि स्मृतिवृत्ति न हो तो केवल प्रत्यक्षसे ही विक्षेप नहीं होसकता। जैसे शृंगी वा शुकदेवने अपसराओंको देखकर कुछ भी कामकी चेष्टा नहीं की। क्योंकि उन्होंने पहले कभी स्त्रीसुखको नहीं जाना इसलिये उनको स्मृति रहित प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं सतासकता।

यहां भोगकी स्मृति द्वारा जो संस्कार अन्तःकरणपर जमरहा है सो भोगके संकल्पके उदय करनेमें परम प्रबल है इसीको **चिन्त्यमान अवस्था** कहते हैं । इसी अवस्था तक मनके रोकनेका अवकाश है पर जब *** भुज्यमानअवस्था** आजाती है तो फिर नहीं रुक सकती ।

इधर जब योगी अपनी ओर देखता है तो उसे लज्जा आती है और विचारने लगता है, कि मैं योगी हूं अपने योगबलसे भगतस्वरूपकी प्राप्ति करसकता हूं चिरकालसे परिश्रम करके मैं अपने ब्रह्मचर्य्यका प्रतिपालन करचुका हूं, जिससे मैं **असंप्रज्ञात-समाधि** द्वारा अखण्ड ब्रह्मानन्द-सुखका अनुभव कररहा हूं । यदि इस समय इस क्षणिक-स्त्री सुखमें जा फँसता हूं तो मेरा कराकराया घर बिगडजाता है ।

इस स्त्रीको डाकिनी और पिशाचिनी समझकर परित्याग करो ! बुद्धिद्वारा दृढ विचारसे सब कुछ साध्य है । एवम्प्रकार **योग** और **भोग** दोनोंके मध्यमें चित्त जब जा पडता है, तब यदि विचार प्रबल हुआ तो **शब्दप्रमाण** अर्थात् श्रुतिस्मृतियोंके प्रमाणने सम्मुख आकर रोका और न्याय करदिया, कि विषय-भोग लम्पटोंकेलिये है, विद्वान् और ज्ञानियोंकेलिये नहीं । विद्वानोंका सुख ब्रह्मानन्द-स्वरूप है जो इस सुखसे विलक्षण है और नित्य है " न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं-

* विषयके सम्मुख होनेसे चित्तकी दो अवस्थाएं होती हैं । प्रथम तो विषय-भोग की चिन्ता करते रहना इसे **चिन्त्यमान अवस्था** कहते हैं । और जब उस विषयको भोगने लगते हैं तब उसे **भुज्यमानअवस्था** कहते हैं ।

तत् " इस श्रुतिके अनुसार अध्रुव (अनित्य) जो विषय-सुख तिसके द्वारा ध्रुव जो नित्यानन्दमय-ब्रह्मसुख तिसकी प्राप्ति नहीं होसकती । इसलिये इस **कामसुखको** परित्याग ही करना चाहिये । भगवान् भी अर्जुनको पहले उपदेश करचुके हैं--" **जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्** " (अ० ३ श्लो० ४३ में देखो)

अर्थ— हे महाबाहो ! तू प्रयत्न-पूर्वक इस कामरूप दुर्निवार्य्य शत्रुको छोड ! यदि एवम्प्रकार विचार द्वारा इन शब्द-प्रमाणोंकी प्रबलता सम्मुख जमगई तब तो सम्मुख उपस्थित हुई रंभाको ऐसे त्याग-दिया जैसे कूकरके उवान्तको ।

एवम्प्रकार जब योगीने अपने चंचल चित्तको विषयसे रोक अपने बशीभूत करलिया, तो मानो प्रत्यक्षप्रमाणके बलको प्रत्यक्षप्रमाण और शब्दप्रमाणकी प्रबलतासे तथा विषयसुखकी स्मृतिको समाधिसुखकी स्मृतिसे विजय करलिया । तात्पर्य्य यह है कि प्रमाण और स्मृति-वृत्तियोंको प्रमाण और स्मृति ही द्वारा रोकलिया । इसी प्रकार विपर्य्यय, विकल्प और निद्रावृत्तिको भी इनही द्वारा रोककर और नियममें लाकर आत्माहीमें बश करडाले । अब विपर्ययसे ? विपर्ययको कैसे नियममें लावे ? सो कहते हैं देखो ! अन्धकारके समय जो रज्जूमें सर्प भासता है " विपर्य्ययवृत्ति " है । यद्यपि रज्जू और सर्प दोनोंकी सत्यता है पर रज्जू सर्प नहीं है जब किसी दीपक द्वारा वा दिनमें सूर्य्यके प्रकाश द्वारा उस रज्जूको देखते हैं तब सर्पका भ्रम दूर होजाता है । इसी प्रकार प्राणीको अनात्मामें आत्माका भ्रम होरहा है । तथा यों कहलो, कि

असत्य में सत्य का भ्रम होरहा है तहां योगी इसी संसारके असत्य पदार्थोंसे अर्थात असत्य शरीरमें असत्य प्राणके अभ्यास द्वारा तथा विवेकी-जन असत्य अग्निमें असत्य अन्न और घृतादिके हवन द्वारा असत्य स्वर्गकी प्राप्ति कर फिर उसे त्याग सत्य आत्मामें स्थिर होते हैं। यही मानो विपर्य्यय-वृत्तिसे विपर्य्ययवृत्तिको नियममें लाकर मनको अपने वशीभूत करना है। अब विकल्पवृत्तिको विकल्प वृत्तिसे नियम में किस प्रकार लाना है? सो दिखलाया जाता है— सुनो!

शश (खरहा) को सींग नहीं होता, आकाशमें पुष्प नहीं होता, बन्ध्याके पुत्र नहीं होता, आकाशमें दुर्ग नहीं बनता, पानीमें आग नहीं लगती इत्यादि-इत्यादि। पर इन सब बातोंको मानलेना "विकल्प-वृत्ति" है। इसी प्रकार अज्ञानी शरीरको चेतन मानते हैं, पुत्र मरगया कहकर रोते हैं यह विकल्पवृत्ति दुःख देती है। अब कहते हैं, कि इस विकल्पको विकल्पसे नियममें लाना चाहिये अर्थात उसी पुत्रमें जो विकल्प रूपसे गाढ स्नेह था उसके मरजानेके पश्चात उस स्नेहकी चोट हृदयमें लगनेसे उस पुत्रकी प्रीतिके स्थान पर जो भगवत्की माधुरी मूर्त्तिसे गाढी प्रीति लगगयी यही मानो विकल्पसे विकल्पवृत्तिका हटाना है।

अब निद्रासे निद्रावृत्तिका नियममें लाना कैसे होता है? सो सुनो—

उधर जागरितकी वस्तुओंको भूलते-भूलते सुषुप्ति-अवस्थामें चित्त-वृत्तिका जाना जो निद्रा है तहां सब वस्तुओंका अभाव होजाता है

और इधर संसारकी सारी वस्तुओंका संकल्प त्याग अविद्या रहित हो समाधिमें प्रवेश करजाना भी जागरितकी वस्तुओंका अभाव ही है। इसलिये योगी इस सुषुप्तिरूप निद्रामें लय होनेसे वृत्तिको बचाकर समाधिमें लय करे तो मानो निद्रा वृत्तिसे उसने निद्रावृत्तिको नियमन किया।

अब यहां पाचों वृत्तियोंसे वृत्तियोंको नियममें लाना सिद्ध होचुका पर इस अर्थके समझनेमें सर्व साधारणकी बुद्धि प्रवेश नहीं करसकती। इसके समझनेकेलिये बहुत बडे गम्भीर मस्तिष्ककी आवश्यकता है। इसलिये इस श्लोकका दूसरा अर्थ सर्वसाधारणके समझनेकेलिये इस प्रकार भी करना चाहिये, कि जहां-जहां जिस वृत्तिमें मन दौड जावे, मोक्ष मार्गसे चंचल होजावे और अधिक कालतक स्थिर न रहे तो योगीको चाहिये, कि उन-उन वृत्तियोंसे हटाकर इस अपने चंचल और अस्थिर मनको नियममें ला अपने आत्माके वशीभूत करे। अर्थात् जब-जब चित्तवृत्ति संसारके भिन्न विषयोंकी ओर दौडे तब-तब वहां-वहांसे हठात् वृत्तिको हटा मनको भगवत्-स्वरूपमें लयकरे।

प्रश्न— चंचल और अस्थिर दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ है फिर दो पदोंका प्रयोग क्यों किया ?

उत्तर— चंचलता तो मनके उस स्वभावको कहते हैं जो क्षण-क्षण इधर उधर दौडा फिरता है, तनक भी स्थिर नहीं होता। और अस्थिरता उसे कहते हैं, कि मन किसी स्थानमें कुछ काल स्थिर तो रहे पर अधिक काल पर्यन्त स्थिर न रहे चंचल होजावे।

अतएव योगियोंको चाहिये, कि भिन्न-भिन्न निमित्तोंसे चित्तको रोक, आत्मामें अर्थात् भगवत्स्वरूपमें स्थापित करें ॥ २६ ॥

इस प्रकार मनको आत्मामें निरुद्ध करनेसे योगीको किस तत्त्वकी प्राप्ति होती है अर्थात् योगानुष्ठानमें उन्नति करता हुआ कहां पहुंचता है ? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०— प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

पदच्छेदः— **प्रशान्तमनसम्** (प्रकर्षेण उपरतचेतसम् । वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम् वा) **शान्तरजसम्** (प्रक्षीणमोहादिक्लेशम्) **ब्रह्मभूतम्** (ब्रह्मैव सर्वमित्येव निश्चयवन्तम्) **अकल्मषम्** (धर्माधर्मादि विकारवर्जितम्) **एनम्** (एतादृशम्) **योगिनम्** (आत्मयोगानुष्ठानकर्त्तारम्) **उत्तमम्** (निरतिशयम्) **सुखम्** (समाधिफलम्) **उपैति** (उपगच्छति) ॥ २७ ॥

पदार्थः— (**प्रशान्तमनसम्**) पूर्णप्रकार वृत्तियोंके रोकलेनेसे उपरामको प्राप्त होगया है मन जिसका तथा (**शान्तरजसम्**) रजोगुणके शान्त होजानेसे दूर होगये हैं मोहादि क्लेश जिसके (**ब्रह्मभूतम्**) ब्रह्महीको सर्वत्रदेखरहा है अन्तःकरण जिसका और ऐसे सर्वत्र ब्रह्ममय देखनेसे (**अकल्मषम्**) नाना प्रकारके धर्म और अधर्मरूप उपद्रवोंसे रहित होगया है चित्त जिसका (**एनं योगिनम्**) इस ऐसे योगीको आपसे आप (**उत्तमम्**) अत्यन्त श्रेष्ठ (**सुखम्**) सुख अर्थात् मोक्ष सुख (**उपैति**) प्राप्त होजाता है ॥ २७ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो भगवान्‌ने मनकी सब वृत्तियोंको अपने वश करके धीरे-धीरे उपरामको प्राप्त करनेकी शिक्षा दी है। अब उसी उपरामका फल कहते हैं, कि [**प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्। उपैति**] जो योगी पूर्व कथन कीहुई रीतिके अनुसार अपनी वृत्तियोंको वश करलेता है अर्थात् जैसे किसी बँधुआको शृंखलाओंसे बडी दृढताके साथ बांध कर इधर उधर हिलने नहीं देते, ऐसे वृत्तियोंको चारों ओरसे बांधकर इधर उधर हिलने नहीं देता। तात्पर्य्य यह है, कि विषयोंके सम्मुख होनेसे भी जो चित्तको चलायमान नहीं होने देता, व्युत्थान कालमें अर्थात् समाधि-टूटने पर भी जो चंचल नहीं होता, अपने लक्ष्य (भगवत्-स्वरूप) में टिका रहता है और सहस्रों आपत्तियोंकी उपस्थितिसे भी भयभीत न होकर धृतिगृहीतबुद्धि होरहता है वही '**प्रशान्तमनस**' कहलाता है। ऐसे योगीको उत्तम सुख आपसे आप प्राप्त होजाता है। फिर वह योगी कैसा है? कि [**शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्**] **शान्तरजस है, ब्रह्मभूत है और अकल्मष है** अर्थात् रजोगुणके नाश होजानेसे मोहादि विकारोंसे जो रहित होगया है। अथवा रज धूलिको कहते हैं इसलिये जिसके हृदयरूप दर्पणसे काम, क्रोधादि रूप धूलि निकल गयी है। जिसके निकल जानेसे हृदय शुद्ध और निर्मल होगया है, उसे **शान्तरजस** कहते हैं। फिर वह योगी कैसा

टिप्पणी— अंधेको आंख होजानेके समान अविद्याका अन्धकार जिसके नेत्रोंसे नष्ट होगया है ऐसे योगीको शान्तरजस कहते हैं।

है? " ब्रह्मभूतम् " ब्रह्मभूत है अर्थात् जो सर्वत्र ब्रह्ममय देखता है। एक सुईके अग्रभागसे लेकर सुमेरु पर्वत पर्यन्त सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देख रहा है। फिर वह कैसा है? कि "अकल्मषम्" किसी प्रकारका कल्मष अर्थात् विकार जिसके शरीरमें नहीं है, जिसने शुभाशुभ कर्मोंके फलको परित्याग करदिया है। इसलिये निर्मल और स्वच्छात्मा होरहा है ऐसे योगीके समीप उत्तम सुख जो ब्रह्मसुख सो आपसेआप पहुंचजाता है। क्योंकि जब तक प्राणी प्रशान्तमनस, शान्तरजस, ब्रह्मभूत तथा अकल्मष नहीं होगा तब तक आत्मसुखकी प्राप्ति नहीं होसकती।

प्र० श्रुतिः— " ॐ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् " ॥ (का० अ० १ वल्ली २ श्रुति २४ में देखो)

अर्थ— जो प्राणी दुश्चरितोंसे विरति प्राप्त न करके अकल्मष नहीं हुआ, शान्तात्मा नहीं हुआ तथा जो समाहित-चित्त नहीं होनेके कारण शान्तमानस भी नहीं है, वह चाहे सारे ब्रह्माण्ड मात्रके भेदका जाननेवाला क्यों न हो तथा कैसा भी चतुर क्यों न हो (एनम्) इस आत्मसुखको नहीं प्राप्त करसकता, केवल प्रज्ञासे प्राप्त करता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जिसे उत्तम ब्रह्म-सुख प्राप्त है उसके आगे पीछे सारे ब्रह्माण्डके सुख सेवामें उपस्थित रहते हैं। पर जैसे धर्मात्मा पुरुष सहस्रों रूप यौवन सम्पन्न दासियोंके मध्य केवल अपनी धर्म-पत्नीको छोड अन्य किसी ओर आंख उठाकर नहीं देखता। इसी

प्रकार योगी सहस्रों सुखोंके मध्य केवल ब्रह्म-सुखको ही देखता है अन्य किसी सुखकी ओर आंख उठाकर नहीं देखता। क्योंकि अखण्ड परिपूर्ण सर्वगत ब्रह्मसुखसे वह भरापूरा कृतकृत्य और आप्तकाम रहता है। इसी कारण भगवान्‌ने इस ब्रह्म-सुखको उत्तम सुख कहा है ॥ २७ ॥

अब भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्ट-रूपसे यह दिखलाते हैं, कि इसी उत्तम ब्रह्म-सुखको केवल योगी ही प्राप्त करता है—

मू०— युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

पदच्छेदः— एवम् (यथोक्तेन क्रमेण) **विगतकल्मषः** (निरस्ताविद्यादि क्लेशः । संसारहेतुधर्माधर्ममलरहितः) **योगी** (योगान्तरायवर्जितो योगी) **सदा** (सर्वस्मिन्काले) **आत्मानम्** (मनः । अन्तःकरणम्) **युंजन्** (आत्मनि समादधत् । वशीकुर्वन् स्वनिष्ठं कुर्वन् वा) **सुखेन** (अनायासेन) **ब्रह्मसंस्पर्शम्** (ब्रह्मणा संस्पर्शो यस्य तत् । त्रिविधोपाधिप्रविलयान्निर्विशेषं ब्रह्मैक्यम्) **अत्यन्तम्** (निरतिशयम्) **सुखम्** (परमानन्दैकरूपम्) **अश्नुते** (प्राप्नोति) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (एवम्) इस प्रकार (विगतकल्मषः) अविद्या द्वारा उत्पन्न नाना प्रकारके मल और क्लेशोंसे रहित (योगी) योगानुष्ठान करनेवाला साधक (सदा) निरन्तर (आत्मानम्)

मनको (युंजन्) समाधान करता हुआ (सुखेन) बिना किसी परिश्रमके बडी सुलभतासे (ब्रह्मसंस्पर्शम्) ब्रह्मसे स्पर्श अर्थात् ब्रह्मानन्दयुक्त (अत्यन्तम्) सर्वोत्तम (सुखम) सुखको (अश्नुते) प्राप्त करता है ॥ २८ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो उत्तमसुख कह आये हैं अब उसीको विस्तार-पूर्वक स्पष्ट-रूपसे कथन करतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः**] जो योग साधन करनेवाला साधक सर्व प्रकारके कल्मषोंसे रहित होकर निरन्तर मनको आत्मामें समाधान कियेहुए रहता है वही इस सुखका अधिकारी है । अर्थात् अविद्या जो नाना प्रकारके द्वन्द्वोंकी रचना करके जन्तुओंको कूपघटिका-यंत्रके समान बारम्बार नीचे ऊपर करती रहती है, शुभाशुभके फन्दे डालकर स्वर्ग और नरककी यात्रा करवाती रहती है, अत्यन्त गम्भीर समुद्रके वेगसे इधर उधर लुढकती-हुई सूखी तूंबीके समान भवसागरकी घोर धारामें जीवोंको लुढकाती-हुई कल्मषोंके धक्कोंसे व्याकुल करती रहती है, सुखसे सोनेवालों के लिये जैसे खटमल और मच्छर कल्मष रूपहैं, इसी प्रकार योगानुष्ठान करनेवालोंकी शान्तिमें और एकाग्रतामें जो अविद्या कल्मष-रूप है सो ब्रह्मसुखरूप शयनमें आनन्द पूर्वक सोने नहीं देती । अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि तक नहीं पहुँचने देती । तिस अविद्याको जिस योगीने बड़े प्रवल पुरुषार्थसे दूर फेंककरे ब्रह्मसुखमें प्रवेश करजाने की शक्ति प्राप्त करली है और त्रय तापोंको अपने समीप नहीं आने

दिया है; अपनी चित्त-वृत्तियोंको एकाग्र कर बिषयोंसे रहित हो यत-चित्तात्मा होरहा है उसी योगीको **विगतकल्मष** कहते हैं।

शंका— श्रुति तो यों कहती है, कि " **तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये** " अर्थ— जब तक प्रारब्धका भोग रहता है तब तक प्राणी दुःख सुखसे छूटकर मुक्त नहीं होता, प्रारब्धको अवश्य भोगता-रहता है। पर अब यहां कहते हैं, कि प्रबल पुरुषार्थ द्वारा दुःखोंसे छूटजाता है। इन दोनों सिद्धान्तोंमें परस्पर विरोध पायाजाता है। इनमें कौन मानने योग्य है ?

समाधान— सच है भोगना अवश्य है पर प्रबल पुरुषार्थसे जिसने ज्ञान प्राप्त किया उस ज्ञानी और मूढ दोनोंके भोगनेमें अन्तर है। ज्ञानी दुःख भोगनेमें अनुद्विग्न रहता है और मूढ उद्विग्न होकर व्याकुल होजाता है तथा रोने पीटने लगजाता है। ज्ञानी परमानन्दके मद्यसे मत्त होकर दुःखोंकी कुछभी परवाह नहीं करता। जैसे प्रह्लाद को अग्निमें जलने, सर्पके डसने, पर्वतसे गिरायेजाने इत्यादि दुःखोंकी कुछ भी परवाह न हुई। इसी प्रकार जो ब्रह्मभूत योगी है उसे दुःखोंके भोगनेका कष्ट नहीं व्यापता। शंका मत करो!

ऐसे ही योगीके विषय भगवान् कहते हैं कि जो योगी विगत-कल्मष है, वही निरन्तर अपने मनको आत्मस्वरूपमें समाधान कियेहुए ब्रह्मानन्दसे मत्त हो निश्चिन्त और सर्व प्रकारके उपद्रवोंसे निर्भय होकर [**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते**] सुख पूर्वक अर्थात् बिना परिश्रम आपसे आप श्रेष्ठ ब्रह्म-सुखको प्राप्त होता है।

वह सुख कैसा है ? सो भगवान् कहते हैं— ब्रह्मसंस्पर्शम् अर्थात् ब्रह्मसे संस्पर्श कियेहुआ है। जैसे कामी पुरुषका जब कामसे संस्पर्श होता है तब उसे सर्वत्र स्त्री ही स्त्री देख पडती हैं। स्वप्नमें भी स्त्री ही स्त्री देखता है। इसी प्रकार जिसका ब्रह्मसे संस्पर्श होगया है वही सदा सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखता है। क्योंकि वह ब्रह्मभूत होजाता है। जैसे नमककी डलीके स्पर्शसे पानी सर्वत्र लवण ही लवण होजाता है। इसी प्रकार योगी ब्रह्मभूत होकर अर्थात् ब्रह्मके संस्पर्शसे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखने लगता है। अथवा यों कहना चाहिये, कि अपने से लेकर सम्पूर्ण विश्वमात्र पर्यन्त ब्रह्म मय होजाता है। ब्रह्मसे इतर अन्य कुछ भी अनुभव नहीं करता। इसलिये सो सुख ब्रह्मसंस्पर्श कहाजाता है।

इसी ब्रह्मसंस्पर्श सुखके विषय कपिलदेव अपनी गीतामें कहते हैं, कि "मनः स्थिरं फलमिदं यथा पक्वं भवेत्तदा। माधुर्य्यं ब्रह्म-रसतां प्राप्तं हंसैः सुसेव्यते॥ मनोवासनया बद्धं मुच्येन्निर्वासनं यदि। तदेव ब्रह्मरसतां याति तत्पीयते बुधैः॥ ब्रह्मरसः स्वादुतमो ह्युत्तमे पूर्ण आत्मनि। इन्द्रैश्वर्य्यगतः क्षुद्रं का कथेतरभूपतेः॥"

(कपिलगीता अ० ५ श्लोक ८४, ८५, ८६)

अर्थ— योगानुष्ठान द्वारा मनको स्थिर करनेका फल ऐसा है जैसे पक्के आम्रफलकी मधुरता जो धीरे-धीरे प्राप्त होती है क्योंकि पक होनेसे पहले आममें खटास रहती है। जैसे-जैसे वह पकताजाता है वैसे-तैसे उसका रस मधुरताको प्राप्त होता जाता है। इसी प्रकार जैसे

जैसे योगीयोंका योग परिपक्व होता जाता है तैसे-तैसे उनके हृदयमें ब्रह्मरसता प्राप्त होती जाती है। जो योगी कुटिचक और बहूदक सन्यासकी दो अवस्थाओंको प्राप्त करनेके पीछे तीसरी हंसकी अवस्था प्राप्त करता है उसीके द्वारा ब्रह्मरसताकी मधुरता सेवेजाने योग्य है। अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि सो ब्रह्मरस, हंस जो राग द्वेष रहित जीव, ज्ञान रूप चीरेका ग्रहण करने वाला है तिससे सेवेजाने योग्य है। सो ब्रह्मरसता कब प्राप्त होती है? जब मन सर्व प्रकारकी बासनाओंको परित्याग कर शुद्ध होजाता है। जिस ब्रह्मरसको विवेकी पान करते हैं सो ब्रह्मरस कैसा है? कि आत्मानन्दसे पूर्ण, हृदयकमलकेलिये अत्यन्त स्वादु अर्थात् मीठा है, जिसके सम्मुख इन्द्रका ऐश्वर्य्य भी अत्यन्त क्षुद्र है, अन्य लौकिक राजाओंके सुखकी तो कथा ही क्या है॥

इसी ब्रह्मरसताके विषय भगवान् कहते हैं, कि यह सुख ब्रह्मसंस्पर्श-सुख कहाजाता है।? फिर यह सुख कैसा है "अत्यन्तम्" अत्यन्त है। अर्थात् जिसका अन्त नहीं है और सर्व प्रकारके परिच्छेदोंसे रहित है। क्योंकि जो पदार्थ * देश, काल और वस्तुसे परिच्छेदको पाता है उसका अन्त होता है। जैसे नित्य शीतल गंगाजलसे स्नानका सुख केवल गंगातटमें प्राप्त है अन्य स्थानमें नहीं इसलिये यह सुख देश-

* देश, काल और वस्तु तीनों प्रकारके परिच्छेदोंका वर्णन अ० २ श्लोक १६ में देखो।

بموجب قول ۴ پادشاهی ها همه فرس است درایوان ما

परिच्छेदसे परिच्छिन्न होनेके कारण एकही देशमें अन्तको पाता है। तथा शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुके स्पर्शका सुख और कोकिलके मधुर कुहुकके श्रवण करनेका सुख केवल बसन्त ऋतुमें ही होता है अन्य ऋतुओंमें नहीं। इसलिये यह सुख काल-परिच्छेदसे परिच्छिन्न होनेके कारण बसन्त ऋतुमें ही अन्तको पाता है।

इसी प्रकार पिपासाकी शान्तिका सुख केवल एक प्याला शीतल जलसे ही प्राप्त होता है, अन्य वस्तुसे नहीं। इसलिये यह सुख वस्तु-परिच्छेदसे परिच्छिन्न होनेके कारण जलही तक अन्तको पाता है।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि अन्य जितने सुख हैं सब देश, काल और वस्तुसे परिच्छेद होनेके कारण अन्तको प्राप्त होते हैं। पर यह ब्रह्मसुख देश, काल और वस्तुसे परिछिन्न नहीं है, सब देश, सब काल और सब बस्तुओंमें है। इसलिये इसका कहीं भी अन्त नहीं होता। इसी कारण भगवान्‌ने इस सुखको अत्यन्त कहा।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, कि योगानुष्ठान करनेवाला योगी ही इस प्रकार सदा अपनेको ब्रह्ममें नियोग करता हुआ सब कल्मषों से रहित होकर ब्रह्म-संस्पर्श सुखको जो अनन्त और उत्तम है प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

पूर्वोक्त ब्रह्म-संस्पर्श-सुख योगियोंको देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सर्वत्र, सब ठौर क्यों व्यापक भासता है? सो भगवान् अगले तीन श्लोकोंमें वर्णन करते हैं—

मू०— सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२६॥

पदच्छेदः— योगयुक्तात्मा (योगेन समाहितान्तःकरणः) सर्वत्र (सर्वस्मिन् स्थाने) समदर्शनः (ब्रह्मादि स्थावरान्तरेषु ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं यस्य सः) आत्मानम (स्वस्वरूपम्) सर्वभूतस्थम् (सर्वेषु भूतेषु स्थितम्) सर्वभूतानि (ब्रह्मादिस्थावरपर्यन्तानि) आत्मनि (स्वस्मिन् स्वरूपे) ईक्षते (पश्यति) ॥ २६ ॥

पदार्थः— (योगयुक्तात्मा) योगानुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरणको जिस योगीने समाहित अर्थात् एक लक्ष्यपर स्थित करलिया है तथा (सर्वत्र समदर्शनः) सब ठौरमें समान दृष्टिसे जो देखरहा है ऐसा योगी (आत्मानम) अपनेको (सर्वभूतस्थम्) सब भूतोंमें स्थित तथा (सर्वभूतानि) सब भूतोंको (आत्मनि) अपनेमें (ईक्षते) देखता है । इसी कारण यह ब्रह्मसंस्पर्शसुख उसे अपरिच्छिन्न और व्यापक भासता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— देश, काल और वस्तुओंसे अपरिच्छिन्न जो सबोंमें उत्तम और अत्यन्त आनन्ददायक ब्रह्मसुख है वह योगियोंको क्यों सर्वत्र सब ठौर व्यापक देख पडता है ? सो श्री आनन्दकन्द व्रजचन्द अर्जुनके प्रति स्पष्ट-रूपसे दिखलाते हुए कहते हैं, कि [सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते] योगी सब भूतोंमें अर्थात् जड चेतनमें अपनेको स्थित देखता है और सब भूतों

को अपनेमें स्थित देखता है। जैसे मानलो, कि किसी काच-निर्मित-शाला (शीशमहल) में जिसकी दीवालोंपर सर्वत्र काच लगाहुआ रहता है, एक स्फटिकका बनाहुआ मनुष्य घुसजावे तो सर्वत्र उन दीवालोंमें वह मनुष्य अपनेको देखेगा और उन दीवालोंको उनमें लटकीहुई वस्तुतस्तुओंके सहित अपनेमें देखेगा। इसी प्रकार योगी सबमें अपनेको और अपनेमें सबको देखता है।

यदि कोई बुद्धिमान् विचारे, कि स्फटिकका मनुष्य शीशमहलको अपनेमें और अपनेको शीशमहलमें क्यों देखता है? तो अवश्य उसकी सूक्ष्मबुद्धि इस बातको बतादेगी, कि इस अद्भुत लीलाका कारण केवल काच तथा स्फटिककी निर्मलता और स्वच्छता है। शीशमहलके काच भी निर्मल हैं और उस मनुष्यके शरीरका स्फटिक भी शुद्ध है।

मुख्य अभिप्राय इस दृष्टान्तसे यह है, कि सर्वत्र सब ठौर सब वस्तुतस्तुओंमें और दशों दिशाओंमें व्यापक ब्रह्म भी निर्मल और स्वच्छ है तथा देखनेवाला योगी भी निर्मल और स्वच्छ है। क्योंकि योगी जिस अन्तःकरणसे देखता है वह शुद्ध स्फटिकके समान ही निर्मल है और जिसको देखता है वह भी शुद्ध और निर्मल है। योगियोंके अन्तःकरणकी स्वच्छता ही योगीको सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म दिखारही है।

अब इस दृष्टान्तसे यह भी सिद्ध होता है, कि जब देखनेवालेने सबमें अपनेको देखा, तो वैर-विरोध किससे करे? सब तो आप ही है इसी कारण ऐसे प्राणीको आत्मभूत कहते हैं और समदर्शी कहते हैं।

एक दिन महात्मा नामदेवने अपने भोजन निमित्त रोटी बनाकर रखदी, इतनेमें कूकर आनकर रोटी लेचला, तब आप घी लेकर पीछेसे दौडे और पूकारने लगे, भाई कूकर ! सूखी रोटी कैसे खाओगे ? लो ! यह घृत भी तो लियेजाओ ! इस दृष्टान्तसे तात्पर्य यह है, कि नामदेवने अपनेको उस कूकरमें देखा और विचारा, कि इस मानुषी-शरीरमें भी मैं ही भोजन करूंगा और कूकरके शरीरमें भी मैं ही भोजन करनेवाला हूं। इसी प्रकार समदर्शी योगी सबमें अपनेको देखता है तथा " सर्वभूतानि आत्मनि ईक्षते " सर्व भूतोंको अपनेमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण विश्वको अपने स्वरूपमें देखता है ।

शंका— भगवान् जो इस श्लोकमें यह कहरहे हैं, कि ब्रह्म-विद् योगी सब भूतोंमें अपनेको और सब भूतोंको अपनेमें देखता है सो कैसे बने ? क्योंकि यह मनुष्य साढे तीन हाथवाला अपनेको खट-मल और मच्छरोंमें और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् महान् विराट्को केवल अपने साढे तीन हाथके शरीरके भीतर कैसे देख सकता है ? इस-लिये भगवान्का वचन असंगत देख पडता है ऐसा क्यों ?

समाधान— ऐसा मत कहो सुनो ! भगवान्का तात्पर्य यहां स्थूल शरीरसे नहीं है। भगवान् यह नहीं कहते हैं, कि अपने इस साढे तीन हाथ शरीरको सब-जीवोंके शरीरमें देखता है अथवा सबको अपने साढेतीन हाथके शरीरमें देखता है। ऐसा तो समझना ही असंगत है। क्योंकि साढेतीन हाथवाला मनुष्य अपने शरीरको एक मशक (मच्छर) के शरीरमें कैसे देखेगा ? तहां तो उसके एक

केशका भी समावेश नहीं होसकता। इसलिये यहां यह तात्पर्य नहीं है, कि योगी अपने स्थूलशरीरको सबमें देखे और सम्पूर्ण स्थूल विराट् को अपने शरीरमें देखे। वरु भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य यहां यह है, कि जो प्राणी अपने आत्माको सब भूतोंमें देखता है अर्थात् आत्मतत्व जो स्वयम् सर्वशक्तिसम्पन्न है अर्थात् जो आत्मा अणुसे भी अणु अर्थात् अत्यन्त छोटेसे भी छोटा है और महत्से भी महत् अर्थात् बडेसे भी बडा है उसमें जितनी अद्भुत शक्तियां हैं वे स्थूलके छोटे बडे होनेपर छोटीबडी नहीं होतीं। वे तो स्वयं स्वभावसिद्ध छोटीसे छोटी और बडीसे बडी वस्तुओंमें हैं। जैसे एक तिमिंगिल नामका मत्स्य जो प्राय: सागरोंमें बडी-बडी नौका अर्थात् स्टीमरोंको चीरडालता है, नाविकों द्वारा देखागया है। अन्यदेशीय नाविकगण भी कहते हैं, कि उन्होंने ४ कोस तकका लम्बा मत्स्य अपनी आंखोंसे देखा है। इस तिमिंगिलको भी निगलजानेवाला बहुत बडा एक दूसरा मत्स्य होता है जिसे + तिमिंगिल-गिल कहते हैं। फिर इस तिमिंगिलगिलसे भी एक बडा मत्स्य होता है जिसे राघवमत्स्यके नामसे पुकारते हैं। अब इस राघवमत्स्यको एक ओर और छोटीसी पिपीलिकाको दूसरी ओर रखकर बिचारिये, कि वह कौनसी वस्तु है जिस कारण इन दोनोंमें समान कार्य होरहा है अर्थात् देखने, सुनने, चलने, फिरने, स्वादलेने, काम इत्यादिकी चेष्टा करनेमें राघव-

* "तिमिंगिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः" इस तिमिंगिलको अंग्रेजीमें ह्वेल Whale कहते हैं।

मछली और पिपीलिका एक समान देखीजाती हैं। अर्थात् दशों इन्द्रियां और चारों अन्तःकरण तथा पांचों प्राणोंके कार्य इन दोनों छोटेबडे जीवोंमें अपने-अपने संस्कारानुसार समानरूपसे होरहे हैं। छोटोसी छोटी चींटीमें भी वे ही १९ शक्तियां हैं जो बडेसे बडे राघव (मत्स्य) में हैं। यदि यह शंका हो, कि छोटी पिपीलिकामें ये *शक्तियां उसके शरीरके छोटा होनेके कारण कम होंगी और तिमिंगिल वा हस्तीमें अधिक होंगी सो ऐसा नहीं। देखो! हाथीका शरीर बहुत ही स्थूल और बडा होता है पर वह अपने आसपासकी बस्तुओंको छोड दस बीस हाथ दूरकी बस्तुको नहीं देख सकता तथा मनुष्य भी दस पांच हाथ दूरवाले मांसके छोटे खंडको नहीं देख सकता। पर चीलकी आंखे जो हाथी और मनुष्यसे बहुत ही छोटी हैं ऐसी दृष्टि-शक्ति रखती हैं जिनके द्वारा चील मीलों ऊपरसे, पृथ्वीपर पडे हुए मांस-खंडको देख उठा लेजाती है। हाथी अपने दातोंसे एक इंच पृथ्वी भी नहीं खोद सकता, पर शूकर जो हस्तीसे बहुत ही छोटा है अपने दातोंसे रात्रि भरमें बडे-बडे गढहे करडालता है। फिर देखिये मूषक (चूहे) जो हाथी तथा शूकरसे भी बहुत ही छोटे होते हैं पृथ्वीमें कोसों खोदकर बिल बना डालते हैं। फिर बया (चोंचा) एक चिडिया होती है जो तालवृक्षोंपर घोंसला ऐसी उत्तम रीतिसे रचती है, कि मनुष्य वैसा बना ही नहीं सकता। मधुमक्षिकाएँ छोटीसी

---

*१९ शक्तियां— ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, ४ अन्तःकरण और ५ प्राण ये १९ शक्तियां सब जीवोंमें हैं।

कीडियां हैं जो वृक्षोंमें तथा घरोंमें अपने मधुका छत्ता इस प्रकार बनाती हैं, कि उसमेंका एक-एक घर गोलाकार एक समान नपानपाया बना रहता है । जिसे मनुष्य बिना यंत्रोंसे नापे नहीं बना सकता । फिर उस छत्तेको बिना किसी रस्सी और डोरके ऊंचे उलटा लटका देती है । बुद्धिमान्को विचारना चाहिये, कि इन छोटी भ्रमरियोंमें कितनी बुद्धि है जिसके द्वारा उस अपने छत्ते की गुरुता (भारीपन) अपनी बुद्धिसे मापकर उतनी ही दृढताके साथ छतोंमें लटका देती हैं । इन रचनाओंके देखनेसे बोध होता है, कि शरीरके छोटे-बडे होनेकी कुछ भी अपेक्षा न करके छोटे-छोटे जन्तुओंमें ऐसी अद्भुत शक्तियां ईश्वरकी ओरसे प्रदान कीहुई हैं, कि मनुष्योंकी बुद्धि उनके व्यवहारोंको देखकर चक्करमें आजाती है । वर्षा होनेसे पहले चींटियोंको बोध होजाता है, कि अब दो चार दिनों में वर्षा होगी । फिर तो सहस्रों चींटियां एक साथ मिलकर बिलोंमें अपने भोजनकी वस्तु लेजाकर भरदेती हैं । जिसे देख लोग कहते हैं, कि अब पानी बरसनेवाला है । बुद्धिमान विचारेंगे, कि बडे-बडे विज्ञानी (Philosopher) तथा वायु-विद्या, नभो-विद्या, अन्तरिक्ष-विद्या (Meterology) के जाननेवाले बहुत दिनों तक सिरकी गूदी उडानेके पश्चात् बडे परिश्रमसे इतना जान सकते हैं, कि अब जल होनेवाला है, पर चींटियोंके मस्तकमें यह विद्या परमात्माने स्वाभाविक प्रदान की है जो अपने स्वभावसे ही वर्षाकालका अनुभव करलेती हैं । इसलिये सिद्ध होता है, कि शरीरोंके बडे छोटे होने पर शक्तिके न्यूनाधिक्य (छोटाई बडाई) का होना निर्भर नहीं है । इससे सिद्ध

होता है, कि इनमें किसी अद्भुत तत्त्वकी शक्ति है जो पांचभौतिक स्थूलके साथ अद्भुत रचनाओंमें उनकी स्थितिका कारण है । सो कौन है? आत्मा है वा ब्रह्म है, जो सबमें व्यापकर अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंको दिखलारहा है । जैसे एक ही आकाश बंसी, बीणा, सहनाई, खंजरी, तबला, पखाबज, हारमोनियम, ग्रॉमोफोन, तम्बूरा, जंजीरा इत्यादि यंत्रोंमें व्यापकरे भिन्न-भिन्न सुरेली ध्वनि प्रकट करता है । इसी प्रकार एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न भूतोंमें व्यापकर अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंको प्रकट कररहा है । श्रुतिः– " ॐ **अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥** (कठ० अ० २ व० ५ मं ९)

अर्थ– जैसे एक ही अग्नि छोटी बडी त्रिकोण चौकोण लकडियोंमें प्रवेश करके छोटी बडी त्रिकोण चौकोण देख पडती है । इसी प्रकार आत्मा सब छोटे बडे रूपोंमें प्रवेश करके तदाकार देखपडता है तथा उन पदार्थोंसे (वहिश्च) बाहर-बाहर भी देखपडता है ।

अब विचारने योग्य है, कि जिसमें छोटेसे छोटा और बड़ेसे बडा होजानेकी शक्ति है वह आत्मा क्यों नहीं सबमें अपनेको और अपनेमें सबको देखेगा ?

शंका– तुमने आत्मसत्ताकी व्यापकताके विषय पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि केवल चेतनजन्तुओंके दृष्टान्त दिखलाये पर भगवान् तो सर्वभूत शब्दका प्रयोग अपने श्लोकमें करते हैं इसलिये सर्वभूतमें तो जड वस्तुओंमें भी आत्मसत्ताकी व्यापकता दिखलानी चाहिये ।

समाधान– सुनो ! मैं तुमको जड पदार्थोंमें भी आत्मसत्ताकी विचित्र व्यापकता दिखलाता हूं देखो ! जड पदार्थ दो प्रकारके हैं उद्भिज (Vegetables) और आकरज (Minerals) इनमें भी आत्मसत्ताकी अद्‌भुत लीलाएँ देखपडती हैं ।

यद्यपि इन दोनोंमें इतना ही अन्तर है, कि उद्भिजोंमें कुछ वैहायस और तैजसका अंश भी पाया जाता है और आकरजोंमें वैहायस वा तैजस अंशका अभाव है। केवल घनमात्र है पर इससे क्या ? आत्मसत्ता तो सर्वत्र अपना कार्य कररही है ।

देखो ! उद्‌भिजोंमें एक बनस्पति है जिसे लजौनी कहते हैं । जिस में प्रत्यक्षरूपसे चेतनाका बोध होता है, कि अँगुलियोंसे स्पर्श करने के साथ ही वह सिकुडजाती है । इसी प्रकार अन्य उद्‌भिजोंमें तथा आकरजोंमें भी आत्माकी व्यापकताके कारण चेतनाशक्ति है । पर उन की संज्ञा अन्तर्मुख है जैसे नींद लेनेवाले मनुष्योंकी संज्ञा सुषुप्तिके समय अन्तर्मुख रहती है पर चोर दूरसे उसे भी चेतन ही समझता है शीघ्र उसके आस-पासके रखेहुए पदार्थोंको स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार आत्मभूत प्राणी इन अन्तर्मुख संज्ञावाली जड वस्तुओंमें अर्थात् उद्‌भिजों और आकरजोंमें भी आत्मसत्ताको व्यापक समझरहा है ।

टिप्पणी= बैहायस आकाशी तेजवाला जिसे अंग्रेजीमें (Etheric matter) कहते हैं ।

चेतना= बोध जिसे अँग्रेजीमें Sansitueness वा Sensibility कहने हैं ।

घनमात्रा= जिसे अंग्रेजीमें (Density) कहते हैं ।

देखो ! किसी दुःखी प्राणीको उसके दुःखसे मुक्तकरदेना चेतन-शक्तिका कार्य्य है सो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जिस समय मनुष्य अथवा कोई जीव ज्वर, अतिसार, काश, स्वास, प्लीहा इत्यादि भयंकर रोगोंसे ग्रस्त होकरे चिल्लाहटें मारता है उस समय एक किसी उद्भिजका रस निचोड उसके मुखमें डालो ! वह उसी द्वारा ज्वरादि रोगोंसे मुक्त होता है अथवा तूतिया, हरताल, संखिया इत्यादि आकरजोंको फूंक-फूंक कर रोगियोंको दो तो वे नाना प्रकारके भयंकर रोगोंसे मुक्त होजाते हैं। इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, कि जड पदर्थोंमें भी आत्म-सत्ता विहार कररही है। जिसे आतमभूत-योगी अपनी दिव्य-दृष्टिसे देखरहा है और उस व्यापक आत्मसत्ताको अपना स्वरूप समझता है।

कहनेका मुख्य तत्पर्य्य यह है, कि वह आत्मा है जो अणोरणीयान् अर्थात् छोटेसे छोटा और महतो महीयान् बडेसे बडा होकर अपनेको सारे ब्रह्माण्डमें और सारे ब्रह्माण्डको अपनेमें देखता है॥

इसी कारण श्यामसुन्दर इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो योगी अपनेको सर्वभूतस्थ तथा सर्व भूतोंको अपनेमें देखता है सो ही पुरुष योगयुक्तात्मा और समदर्शी है। अथवा यों कहलीजिये, कि जो योगी युक्तात्मा और समदर्शन वाला है वह अपनेको सबमें और सबको अपनेमें देखता है।

यदि पूछो, कि वह कौन है? जो उक्त प्रकार देखता है तो भगवान् कहते हैं, कि [**योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः**] जिस योगीने योगानुष्ठान द्वारा अपने अन्तःकरणको समाहित कररखा

है अर्थात् सर्व प्रकारके द्वन्द्वोंसे हटाकर अपने लक्ष्यकी ओर एकाग्र कररखा है तथा रागद्वेष और दुःख-सुखसे जो हर्ष-विषादको प्राप्त नहीं होता वही सबमें अपनेको देखता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे पनिहारी मार्गमें अपनी सखियोंसे बोलती बतराती चली जाती है पर अपने चित्तकी वृत्तिको अपने मस्तक वाले जलके घटसे युक्त रखती है अथवा जैसे नट एक पतले रस्से पर चलता हुआ अपने मनको एक लक्ष्यमें टिकाये, अपने वश किये हुए इधर उधर नहीं हिलने देता । इसी प्रकार जो योगी सर्व कर्म करता हुआ भी अपने मनको आत्मामें टिकाये हुए रहता है सो ही युक्तामा सब भूतोंमें अपनेको देखता है । यथा श्रुतिः— " ॐ यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा । तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ " (काठ० अध्या० १ वल्ली ३ मं० ६)

अर्थ— जो योगी मनको सदा योगमें युक्त करके विज्ञानवान होता है उसीकी इन्द्रियां सदा अपने वश रहती हैं । अर्थात् जो योगी भगवत्स्वरूपकी ओर चित्त लगाये सबके प्रति हां जी हां जी कहता हुआ अपने मनको अपने स्वरूपमें युक्त रखता है उसीकी इन्द्रियां उसके वशीभूत ऐसी रहती हैं जैसे उत्तम सारथीके हाथमें उत्तम जातिके अश्व रहते हैं जिनके द्वारा सारथीको रथ चलानेमें क्लेश नहीं होता । ऐसे ही को योगयुक्तात्मा कहते हैं। भगवान् कहते हैं, कि जो योगी एवम् प्रकार योगयुक्तात्मा है तथा "सर्वत्र समदर्शनः" सर्वत्र समदर्शन है अर्थात् जो दायें, बायें, ऊपर, नीचे, दशों दिशाओं

में कीट पतंगसे लेकर इन्द्रादि देव पर्य्यन्तको तथा अपने शत्रु मित्र को, लोहा और सोनाको, अपने और परायेके शरीरको × ऋतम्भरा नाम प्रज्ञासे एक समान देखता है वही सब भूतोंमें अपनेको और सब भूतोंको अपनेमें देखता है। इसी विषयको भगवान् पहले भी कह आये हैं, कि " **विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे**.... " (देखो अ० ५ श्लो० १८) ॥ २९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! इस अन्तःकरणका स्वभाव है, कि इसमें एक ही समय दो वस्तु नहीं अटक सकतीं। फिर जो तुमने मुझसे थोडी देर पहले श्लोक १४ में कहा है, कि " **मनः संयम्य मच्चितो युक्त आसीत मत्परः** " ॥ अर्थात् मनको संयम करके मेरेमें अपना चित्त लगाये रहे और मेरा ही परायण रहे। पर अब कहते हो, कि " **सर्वभूतानि चात्मनि** " सब भूतोंको अपनेमें देखे। तो यह कैसे सम्भव है? कि प्राणी एक ही समय सब भूतोंको फिर तुमको भी अपनेमें देख सके।

× **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** (योगसूत्र पाद १ सूत्र ४८ में देखो)

व्यासभाष्यः— ' तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था न सा सत्यमेव बिभर्ति न तया विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति '।

अर्थ— ऋत जो सत्यस्वरूप ब्रह्म तिसे छोडकर विपर्यय जो मिथ्यासंस्कार तिसका गन्धमात्र भी जिस प्रज्ञा (बुद्धि) में नहीं अर्थात् जो सत्यहीको भरे, मिथ्याको नहीं उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं।

इतना सुन श्री आनन्दकन्द योगेश्वर भगवान् उत्तर देते हैं—

मू०—यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥
॥ ३० ॥

पदच्छेदः—यः (योगी) सर्वत्र (सर्वेषु भूतेषु) माम् (सर्वस्यात्मानं वासुदेवम्) पश्यति (विवेकचक्षुषाऽपरोक्षी करोति) च (तथा) सर्वम् (ब्रह्मादिभूतजातम् । प्राणिमात्रम्) मयि (सर्वात्मनि वासुदेवे) पश्यति (अवलोकयति) तस्य (योगयुक्तस्य) अहम् (भगवान्) न (नहि) प्रणश्यामि (अदर्शनं गच्छामि । परोक्षो भवामि वा) च (तथा) सः (भक्तः) मे, न, प्रणश्यति (परोक्षोभवति तिरोभवति वा) ॥ ३० ॥

पदार्थः— (यः) जो ध्यानयोगी (सर्वत्र) सब भूतोंमें (माम्) मुझ सर्वात्मा वासुदेवको (पश्यति) विवेकके नेत्रोंसे प्रत्यक्ष कर देखता है (च) और (सर्वम्) ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्य्यन्त प्राणीमात्रको (मयि) मुझ वासुदेवमें (पश्यति) प्रत्यक्षरूपसे देखता है (तस्य) तिस योगीके लिये (अहम) मैं (न प्रणश्यामि) परोक्ष नहीं रहता हूं अर्थात् उसके सामनेसे अलग नहीं जाता (स) वह (च) भी (मे) मेरे लिये (न प्रणश्यति) परोक्ष नहीं होता अर्थात् मेरे सामनेसे विलग नहीं होता ॥ ३० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवानसे यह प्रश्न किया था, कि हे भगवन् ! सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके भूतमात्रको तथा आपको एक ही समय

एक प्राणी कैसे ध्यानमें रख सकता है इसके उत्तरमें भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति**] जो योगी मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है उसके लिये हे अर्जुन! तनक भी क्लेश नहीं है। क्योंकि मैं जो सब भूतमात्र का आत्मा हूं मेरे बिना एक तृणमात्रभी एक क्षण किसी ठौरमें नहीं ठहर सकता, सब मेरे आश्रय ठहरे हुए हैं तथा मैं ही मनुष्य, गन्धर्व, देव, कीट, पतंग, चार खानि और चौरासीलक्ष योनियोंका, तैंतीस-कोट देवताओंका तथा सप्तलोक ऊपर और सप्तलोक नीचेका अधि-ष्ठानरूप हूं तिसे जो भूतमात्रमें देखता है उसे तनक भी क्लेश नहीं है। भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जैसे एक वस्त्रमें नाना प्रकारके चित्र खिंचे रहते हैं पर सब चित्रोंका आधार वह पट रहता है, पटके निकाल देनेसे चित्र कहीं नहीं देख पडते, सब मिथ्या भासते हैं इसी प्रकार उस वासुदेवके विलग करदेनेसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मिथ्या भासता है।

इस विषयको पाठकोंके बोधार्थ स्पष्टरूपसे दिखलायाजाता है—

" यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम । परमात्मनि विज्ञेयं तथावस्थाचतुष्टयम्॥ १ ॥ यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः। चिदन्तर्यामि सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥ २ ॥ स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्यात घट्टितोऽन्नविलेपनात्। भाष्याकारैर्लांछितः स्याद्रंजितो वर्णपूरणात ॥ ३ ॥ स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः। सूत्रात्मास्थूलसृष्टचैव विराडित्युच्यते परः ॥ १ ॥

ब्रह्माद्याः स्तंबपर्यन्ताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि। उत्तमाधमभावेन वर्त्तन्ते पटचित्रवत " ॥ ५ ॥

(वेदान्त पंचदशी चित्रदीपप्रकरण श्लोक १, २, ३, ४, ५)

अर्थ– जैसे किसी **चित्रपट** नाटयशालाकी जवनिका पर अर्थात नाटकके परदे पर नाना प्रकारके चित्र बने देखपडते हैं तिस चित्र-पटकी जैसी चार अवस्थाएँ हैं । इसी प्रकार यद्यपि परमात्मा अवस्थाओंसे रहित है तथापि जिज्ञासुओंके बोध निमित्त परमात्मामें चार अवस्थाएं कल्पित कीजाती हैं। जैसे रेखागणितके पढनेवाले वालकोंको विद्या-भ्यासके लिये एक कल्पित विन्दु बनाली जाती है। इसी प्रकार शिष्यों के बोध अवस्था तक वाचारंभण विकारके कारण परमात्मामें अवस्थाओं को मानलेना पडता है। सृष्टिको चित्तपटसे उपमा देनेके लिये परमात्मा में भी चित्रपटके समान चार अवस्थाएँ मानली जाती हैं। इसलिये स्वामी विद्यारणय कहते हैं, कि जैसे चित्रपटमें १. **धौत**, २. **छट्टित**, ३. **लांछित**, ४. **रंजित** ये चार अवस्थायें हैं। इसी प्रकार परमात्मामें भी **चित्त**, **अन्तर्यामी**, **सूत्रात्मा** और **विराट्** ये चार अवस्थाएं कल्पित कीगई हैं ॥ १, २ ॥ अब पहले चित्रपटकी चारों अवस्थाओंका वर्णन करते हैं–

१. स्वभावतः जो वस्त्र शुद्ध और उज्वल है उसको धौत कहते हैं।

२. उसमें जो चित्रकारने पहले अन्नादिका चूर्ण अथवा खल्ली मिट्टी इत्यादि लगाकर उसे पोता है उसको घटित कहते हैं।

३. चित्रकारने जब उसपर धीमा-धीमा सूक्ष्म आकार बनालिया तब उसे लांछित कहते हैं ।

४. चित्रकारने काले, पीले और नीले रँगोंको लगाकर उस वस्त्रपर नाना प्रकारकी मूर्त्तियां प्रकट करदीं अर्थात् वर्णोंकी पूर्ति करदी तब उस पटकी चौथी अवस्था रंजित कहीजाती है ॥

इसी प्रकार वास्तवमें जब परमात्मा शुद्ध, निर्मल, निर्विकार और मायासे रहित है तब उसकी पहली अवस्थाको चित्त कहते हैं। जब वह शुद्ध-स्वरूप परमात्मा माया-रूप लेपनको स्वीकार करता है तब उसे दूसरी अवस्थामें अन्तर्यामी कहते हैं। जब वह चिदात्मा अपंचीकृत पंच-महाभूतों सहित तथा सूक्ष्म—शरीरोंके समष्टि सहित होता है तब उसे तीसरी अवस्थामें सूत्रात्मा कहते हैं। सो ही शुद्ध परमात्मा जब स्थूलके संग होता है तब उसे विराट् कहते हैं। जैसे चित्रपटमें पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता इत्यादिके चित्र लिखेजाते हैं इसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणधारी तथा जितने जड़-पदार्थ हैं सब उत्तम, मध्यम भावसे ब्रह्म-रूप चित्रपटके समान वर्त्तमान हैं ॥

इस दृष्टान्तसे ऐसा सिद्ध होता है, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अधिष्ठान वह वासुदेव ही है। तो ध्यानयोगका अनुष्ठान करनेवाला योगी जब अपनेको सबमें देखेगा और सबको अपनेमें देखेगा तो उसको अवश्य यह विचार उत्पन्न होगा, कि मैं जो सबमें हूं सो कौन हूं ? और सब भूत जो मुझमें हैं वे क्या हैं ? इन दोनोंका अधिष्ठान तथा महा कारण क्या है ? जब एवम्प्रकार सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार करेगा तो अवश्य उसे यह बोध होजावेगा, कि मेरा तथा सर्व भूत मात्रका

अधिष्ठान केवल एक ही वासुदेव भगवान् है जिससे इतर अन्य कुछ भी नहीं है । फिर तो अरुन्धती-दर्शन-न्यायसे पहले अपनेको सब में और सबको अपनेमें देखते-देखते उसी सर्वान्तरात्मा वासुदेवको सबमें और सबको उसमें देखने लगजावेगा । जैसे चित्रपटकी रंजित-अवस्थामें जब चित्रकारने एक बनका स्वरूप बनाकरे उसपर एक भयंकर व्याघ्रकी मूर्त्ति बनादी तो अज्ञानी छोटे-छोटे बच्चे देखकर भयभीत हो कांपने और रोने लगजाते हैं। पर जो बुद्धिमान प्राणी है उस की दृष्टिमें वहां व्याघ्र है ही नहीं केवल पटमात्र है । इसी प्रकार जो अज्ञानी जीव है वह शुद्ध ब्रह्मके पटपर मायाका लेप न जानकर सम्पूर्ण रचनाको जो विराट्-रूपमें देखरहा है सत्य मानकर दुःखी सुखी होता है,रोता है, तथा हंसता है,पर यथार्थ-दृष्टिसे देखनेवाले समाधिस्थ योगीको मायाका विकार न दीखकर शुद्ध ब्रह्म सर्वान्तर्यामी वासुदेव ही देख पडता है । इसलिये योगीको सर्वत्र वासुदेव ही वासुदेव दीख पडता है। अतएव भगवानने कहा है, कि जो प्राणी मेरेको सर्वत्र देखता है " सर्वं च मयि पश्यति " और सबोंको मुझमें देखता है वही सच्चा देखनेवाला है ।

अब अर्जुनकी जो यह शंका हुई थी, कि एक प्राणी एक अन्तःकरणमें एक ही समय इन सर्व भूतोंको तथा वासुदेव भगवानको कैसे देख सकता है ? अथवा अपनेको फिर भगवानको सबमें कैसे देख सकता है ? इसका समाधान होगया । क्योंकि देखनेवाला योगी और वासुदेव ये दोनों एक ही हैं । तथा सर्व भूत और वासुदेव भी एक ही हैं । इसी कारण जिसने सर्वभूतोंको अपनेमें देखा उसने

मानों वासुदेव ही को अपनेमें देखा तथा जिसने अपनेको सबमें देखा उसने वासुदेव ही को सबमें देखा। पर भिन्नता जो भासती है वह चित्र-पटके व्याघ्रके सदृश अज्ञानी बच्चोंके समान केवल अज्ञानियोंकोभासती है। यह बात वेदके महावाक्योंसे, श्रुतिके वचनोंसे और इस चित्रपटके विचारसे सिद्ध कीहुई है। क्योंकि "तत्त्वमसि" "एकोऽहंवहुस्याम" "तत्स्टष्ट्वा तदेवानुपशाविशत्" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "सोऽय-मात्मा ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंसे आत्मा और ब्रह्ममें कोई भेद नहीं है। इन दोनोंमें एकता है। इसी कारण भगवानने पहले २९ वें श्लोकमें "सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि" कहदिया और इस ३० वें श्लोकमें "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति" कहकर अर्जुनके भ्रमको दूर करदिया और इधर "तत्त्वमसि" महा-वाक्यका अर्थ भी स्पष्ट करदिया।

२९ वें श्लोकमें 'त्वम्' पदका और इस ३० वेंमें 'तत्' पदका व्याख्यान करदिया और साथ-साथ यह भी दिखला दिया, कि हे अर्जुन! जो तू है सो मैं हूं और जो मैं हूं सो तू है॥

शंका— भगवान् तो इस अध्यामें कर्मकाण्डका वर्णन कररहे हैं। ध्यान योगियोंको क्रिया बता रहे हैं, फिर यहां तत्त्वमसि जो ज्ञानकाण्डका बचन है तिसे क्यों वर्णन करने लगगये ? क्योंकि अब ही तो मध्यमें सातवें अध्यायसे बारहवें अध्याय तक उपासनाका वर्णन करना है पश्चात् तेरहवें अध्यायसे १८ वें तक ज्ञानका वर्णन करेंगे। उपासनाके वर्णनसे पहले इस महावाक्य तत्त्वमसिके वर्णन करने की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान— जैसे सूर्य्योदयसे पहले अरुणोदय (आकाशमें लालिमा) और अरुणोदयसे पहले ऊषा (आकाशमें श्वेतताई) देख पड़ती है अर्थात् ऊषाके देखनेसे सोनेवाले परस्पर एक दूसरेको सूर्य्योदयका संकेत करके जगाते हैं और कह पडते हैं, कि उठो! उठो! प्रभात हुआ अब किरणें फूटेंगी। इसी प्रकार भगवान् प्रातः कालकी ऊषाके समान इन दोनों श्लोकोंको कह कर अर्जुनके प्रति ज्ञानका संकेत मात्र करते हैं। क्योंकि कर्मकाण्ड रूप ऊषाके छठवें अध्यायका अन्त होरता है। सातवें अध्यायसे उपासनाकी अरुणाई आरंभ होने वाली है जो १२ वें अध्याय तक प्रफुल्लित होगी। तिसके पश्चात् १३ वें अध्यायसे १८ वें तक ज्ञानका सूर्य्य अवश्य प्रकाश करेगा। इसलिये कर्मकाण्डरूप ऊषाके अन्त होते-होते "मां पश्यति सर्वत्र" कहकर भगवान् उपासनाकी अरुणाईका संकेत कररहे हैं और इन श्लोकों द्वारा तत्त्वमसिका बोध कराते हुए आगे ज्ञानके सूर्य्यका उदय होनेका मानो संकेत कररहे हैं। शंका मतकरो!

अब भगवान् कहते हैं, कि उक्त प्रकार जो प्राणी मुझको सर्वत्र और सबको मुझमें देखता है [तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति] उसके लिये मैं नाश नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं हूं, वरु प्रत्यक्ष हूं, सदा उसके सामने हूं और वह मेरे लिये नाश नहीं होता अर्थात् परोक्ष नहीं है वरु प्रत्यक्ष है अर्थात् सदा वह मेरे सामने है। क्योंकि उसने अपने योगबलसे मुझे साक्षात्कार किया है। श्रुतिः— "तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्" (श्वेता० अ० ६ श्रु० १२ में देखो)

अर्थ— तिस सर्वात्मामें स्थिर वासुदेवको जो धीर देखते हैं अर्थात् साक्षात्कार करते हैं उन्हींको अत्यन्त सुखकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं।

सच है ! जिसके सामने आठों प्रहर भगवान् वर्त्तमान रहें उसके सुखकी सीमा कौन बता सकता है ? भगवान् कहते हैं, कि जैसे मैं उसके सम्मुख सदा वर्त्तमान रहता हूं ऐसे ही वह प्राणी भी मेरे सामनेसे कभी भी विलग नहीं होने पाता। इसीलिये भगवान् चौथे अध्यायके ११ वें श्लोकमें कह आये हैं, कि " **ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्** " अर्थात् जो मेरे सम्मुख है मैं उसके सम्मुख हूं और जो मुझसे विमुख है मैं भी उससे विमुख हूं। श्रुतिः— " **स एनं विदितान् भुनक्ति** " अर्थात् यद्यपि परमात्मा विमुख प्राणीके भी साथ-साथ है तथापि जीवके स्वयं विमुख होनेसे परमात्मा उसको जन्म मरण रूप संसारके क्लेशसे नहीं रक्षा करता है। जैसे किसीके घरमें पुष्कल द्रव्य हीरा रत्न गडा हो और उसीपर बिछावन करके सोरहा हो पर उस द्रव्यको नहीं जानता हो तो उससे उसकी रक्षा नहीं होसकती।

टिप्पणी— गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं, कि " जगसे छत्तिस (३६) हो रहो रामचरण छौ तीन (६३)। यह सिखावन देत है, तुलसी परम प्रवीन "।

अर्थ— जैसे ३६ के अंकमें तीन और छै के अंकोकर पीठसे पीठ मिल रहता है। इसी प्रकार इस माया रचित प्रपंचसे तो तुम पीठसे पीठ मिलाए रहो। और श्री रामके चरणोंमें ६३ तिरसठ अंकके समान मुखसे मुख मिलाये रहो। अर्थात् उनके सम्मुख रहो तो वे भी अवश्य तुम्हारे सम्मुख रहेंगे।

२९ वें श्लोकमें जो अर्जुनको शंका हुई थी, कि एक अन्तःकरणमें सर्वभूत तथा परमात्मा दोनोंका एकबार कैसे समावेश होसकता है ? तिस शंकाकीनिवृत्ति श्यामसुन्दरने फिर यहां इस ३० वें श्लोकमें भी पूर्णरूपसे करदी। क्योंकि जब सब भूतमात्रको अपना स्वरूप ही कह दिया तो मानो भूतमात्रको अपनेमें देखना अथवा उस वासुदेवको अपनेमें देखना एक ही बात है इन दोनोंमें कुछ भेद नहीं ॥ ३० ॥

अब भगवान अगले श्लोकमें यह दिखलाते हैं, कि जो प्राणी भूतमात्रको मेरा स्वरूप जानकर अपनेमें और अपनेको सर्वभूतोंमें वा मुझमें देखता है उसे सर्व प्रकारके व्यवहारोंको करते हुए भी कुछ हानि नहीं होती। वह सदा मुक्त रहता है—

मू०— सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

पदच्छेदः— यः (साम्यदर्शी योगी) सर्वभूतस्थितं (सर्वेषु भूतेष्वधिष्ठानतया स्थितम्) माम् (वासुदेवम्) एकत्वम् (अत्यन्ताभेदम् जीवब्रह्मणोरैक्यम्) आस्थितः (सम्यग् परोक्षी कृत्वा आश्रितः) भजति (निर्विकल्पेन समाधिना सेवते) सः, योगी सर्वथा (सर्वप्रकारेण याज्ञवल्क्यादिवत्कर्मत्यागेन वा वसिष्ठजनकादिवद्विहितकर्मणा वा दत्तात्रेयादिवन्निषिद्धकर्मणा वा) वर्त्तमानः (व्यवहारमानः संसारयात्रामनुवर्त्तनशीलः) अपि मयि (ईश्वरे) वर्त्तते (न मत्तश्च्युतो भवतीत्यर्थः) ॥ ३१ ॥

पदार्थः—(**यः**) जो सम्यग्दर्शी योगी (**सर्वभूतस्थितम्**) सर्वभूतोंमें अधिष्ठान-रूपसे रहनेवाला जो (**माम्**) मैं तिसको (**एकत्वम्**) अभेद-रूपसे (**आस्थितः**) आश्रय करके अर्थात् मुझही में टिककर (**भजति**) मुझहीको सेवन करता है (**सः, योगी**) सो योगी (**सर्वथा**) सर्व प्रकारसे (**वर्त्तमानः, अपि**) संसारी व्यवहारोंमें लिपटा हुआ भी (**मयि**) मेरे ही स्वरूपमें (**वर्तते**) वर्त्तमान रहता है अर्थात् मेरेको सर्वत्र देखनेके कारण सब व्यवहार करता हुआ भी मुझ ही में लगा रहता है। नष्ट होकर दुःखी नहीं होता। मुक्त स्वरूप होजाता है ॥ ३१ ॥

भावार्थः—पूर्व श्लोकमें जो सर्वभूतोंके साथ भगवत्‌ने अपनी एकता दिखाई है अब उसीको दृढ करते हुए तथा उसका फल वर्णन करते हुए कहते हैं, कि [**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः**] अर्थात् मैं जो सर्वभूतोंमें स्थित होकर सबका अधिष्ठानरूप हूं तिसे जो सम्यग्दर्शी योगी सबसे अभेद जानकर सेवन करता है वही नित्य मुक्त होनेका अधिकारी है। जैसे **चित्रपटपर** नाना प्रकारके जो चित्र देखपडते हैं उनका अधिष्ठान चित्रपट ही है। इसी प्रकार सर्वभूतोंका अधिष्ठान मैं ही हूं क्योंकि सब जड चेतन मेरे आश्रय स्थित हैं। मुझसे भिन्न एक तृणमात्र भी कहीं नहीं है। सब भूतोंमें सत्तारूपसे तथा स्फुरणरूपसे मैं ही स्थित हूं। इसलिये सब मेरे ही अंग हैं क्योंकि सबका अन्तरात्मा मैं ही हूं। जैसे प्राणात्माके विलग होनेसे शरीर कुछ भी नहीं करसकता। इसी प्रकार यदि मैं अपनी सत्ताको निगलजाऊं अर्थात् अपनेमें करलूं तो विश्वमात्रका लोप होजा-

वेगा। जैसे अष्टपद (मकरा) अपने ही शरीरसे सूतको निकाल चारों ओर फैलादेता है फिर उसको निगलजाताहै। इसी प्रकार मैं अपनी सत्ताको अपनेसे निकाल विराट् बनाकर फैलादेता हूं फिर अपनेमें उस सम्पूर्ण विराट् (विश्व) को निगलजाता हूं तब प्रलय होजाता है। कुछ भी दृश्य नहीं रहता। इसलिये आकाश, पृथ्वी, सूर्य्य, चन्द्र, वायु इत्यादि सबका कारण, सबका आधार, सबका आश्रय, सबका अधिष्ठान और सर्वान्तरात्मा, मुझहीको कहना चाहिये। यथा श्रुतिः—

" ॐ अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥" (मुण्ड० २ खं० १ श्रु० ४)

अर्थ— यह प्रथम ❀ अग्निकुण्ड जो स्वर्गलोक सो विराट्का मस्तक है, सूर्य्य और चन्द्र नेत्र हैं, दशों दिशाएं कान हैं, वेद जिसके वचन हैं, वायु जिसका प्राण है, सम्पूर्ण विश्व जिसका हृदय है और पृथ्वी जिसके पदोंसे उत्पन्न है अर्थात् पृथ्वी जिसका पद है। एवम्प्रकार यह परमात्मा सर्वान्तर्यामी वासुदेव " सर्वभूतान्तरात्मा " सर्व भूतमात्रका अधिष्ठान है।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि एवम्प्रकार जो योगी मुझको सर्वभूतस्थित जानकर भजता है अर्थात् प्रत्येक डाल

❀ " असौ वा व लोको गौतमाग्निः " इस छान्दोग्योपनिषत्के वचनानुसार प्रथम अग्निकुण्ड यह स्वर्गलोक है। इसलिये यहां अग्निको विराट्का मूर्द्धा अर्थात् मस्तक कहा।

पातमें, नदी नालेमें, छोटे बडेमें, भले बुरेमें, ऊंचे नीचेमें, साधु चोरमें, जड चेतनमें, राक्षस देवतामें, शीत उष्णमें, प्रकाश अन्धकारमें, विद्या अविद्यामें, हानि लाभमें, हर्ष शोकमें और जागृति वा निद्रामें मुझ वासुदेवहीको देखता है । एक सुईकी नोंकमात्र भी मुझसे भिन्न नहीं देखता, सब ठौरमें मेरेहीको भजता है वही नित्य मुक्त है। किस प्रकार भजता है ? सो कहते हैं– " एकत्वमास्थितः " अर्थात् इन सबोंको और मुझको एक जानताहुआ भजता है । अथवा यों अर्थ करलो, कि मुझ एकहीको सर्वत्र सब वस्तुओंमें देखताहुआ मेरेही आश्रय रहता है, मुझ एकको छोड अन्य किसी देव देवीका आश्रय नहीं करता उसीको **एकत्वमास्थित** कहते हैं।

भगवान् कहते हैं, कि जो योगी सम्यग्दर्शी होकर सर्वभूतोंमें मुझको स्थित जानकर एकतामें स्थिर हुआ है, जिसने द्वैतप्रपंचके सब भेदोंको हटादिया है अर्थात् जीव ब्रह्ममें भेद न समझकर अपनेको भी मेराही रूप जाना है, जिसने अपनेको " अहं ब्रह्मास्मि " वाचकका वाच्यरूप समझा है, ऐसे जो विश्वमात्रमें मेरेहीको देखरहा है [**सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते**] सो योगी सर्व अवस्थाओंमें वर्त्तमान रहताहुआ भी मेरेहीमें लगारहता है । अर्थात् प्रपंचका सारा व्यवहार करताहुआ भी मेरेमें स्थित रहता है। भगवान्के कहनेका अभिप्राय यह है, कि चाहे वह शुकदेव और जडभरतके समान सब छोड छाड निर्द्वन्द्व विचरता रहे, चाहे वशिष्ठ और भरद्वाजके समान अथवा जनकके समान अग्नि-होत्रादि कर्मोंको

करता रहे, चाहे ※दत्तात्रेयके समान निषिद्ध कर्मोंमें वर्त्तमान रहे, चाहे संसारके सर्वव्यवहारोंको नीतिपूर्वक करता रहे पर ऐसे करताहुआ भी वह प्राणी सर्वेश्वर वासुदेवके स्वरूप ही में वर्त्तमान रेहता है। ऐसा निश्चय है।

"कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।
वशिष्ठः कर्मकर्त्ता च पंचैते ज्ञानिनः समाः"॥

इस बचनसे सिद्ध होता है, कि कृष्ण भोगीका आचरण, शुकदेव त्यागीका आचरण, जनक और रामचन्द्रजी राजाका आचरण और वशिष्ठ कर्मकाण्डियोंका आचरण दिखलाते हुए ये पांचो एक समान थे अर्थात् मुक्त-स्वरूप थे कुछ नहीं करते थे।

भगवान् इस श्लोकमें एकत्वको दिखला रहे हैं और निश्चय करा रेहे हैं, कि ऐसा भेद रहित होकर एकताका देखने वाला योगी ही मेरे यथार्थ-स्वरूपमें बर्त्तता है। ऐसा योगी कभी मेरेसे च्युत नही होता और ऐसे प्राणीके मोक्षमें देवता, देवी, राक्षस, गन्धर्व इत्यादि कुछ भी बाधा नहीं करसकते। श्रु०— तस्य इन देवाश्च ना भूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति' अर्थात् ऐसे योगीको इन्द्रादि देव कुछ भी बाधा नहीं करते। क्योंकि वह योगी इन देवताओंका आत्मा होजाता

※ दत्तात्रेय रागद्वेषके कारण अथवा विषय भोग वा किसी स्वार्थकी इच्छासे निषिद्ध कर्मोंको नहीं करते थे वे तो केवल जनसमुदायकी भीडभाडसे बचनेकेलिये निषिद्ध कर्मोंको स्वीकार कियेहुये थे।

है। फिर तो यह स्वाभाविक है, कि कोई अपने आत्माको हानि नहीं पहुंचाता। जब इन्द्रादि देव ही उसको बाधा नहीं करते तो और क्षुद्र जीवोंकी क्या गणना है? चाहे वह प्राणी सहस्रों व्याघ्र तथा सर्प इत्यादि क्रूर जीवोंके बीचमें क्यों न बैठा हो, कोई इसे दुःख नहीं देसकता। वरु सब परस्परके बैर बिरोधको छोड उसके सहायक होजाते हैं। क्योंकि व्याघ्र, सर्पादिमें भी उसने सर्वान्तरात्मा वासुदेवहीको देखा है। इसलिये किसी प्रकारका विघ्न उसको नहीं सताता।

प्रमाण— "तथा न ते माधव! तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो!" (श्रीमद्भा० स्कं० १० अ० २ श्लो० ३३)

अर्थ— हे माधव! जो लोग तुम्हारे होकर सर्वत्र तुम्हीको देखते हैं, वे कभी अपने यथार्थ-मार्गसे भ्रष्ट नहीं होते। अर्थात् नीची गतिको प्राप्त नहीं होते वरु इसके प्रतिकूल तुमहीसे सदा रक्षित होकर नाना प्रकारके विघ्न और उपद्रवरूप सेनाके सेनापतिके मस्तकपर पांव रखे हुए निर्भय विचरते हैं।

इसी कारण भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे इस श्लोकमें कहते हैं, कि जो योगी सर्वत्र सब भूतोंमें मुझहीको देखता है और एक मुझहीको जानता है सो सब व्यवहार करता हुआ भी मेरेही स्वरूपमें निर्भय और निर्द्वन्द्व हो अवस्थित रहता है॥ ३१॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! जिन ध्यानयोगियोंकी तुम ऐसी स्तुति कररहे हो उनमें सबसे उत्तम कौन है ? जिसे परमयोगी कह सकते हैं सो कृपा कर कहो !

आन्दकन्द मुसुकुराते हुए बोले—

मू०— आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२

पदच्छेदः— अर्जुन ! (हे धनंजय !) यः (सम्यग्दर्शननिष्ठो योगी) सर्वत्र (सर्वभूतेषु) आत्मौपम्येन (आत्मदृष्टान्तेन) सुखम् (इष्टम्) यदि, वा, दुःखम (अनिष्टम) समम् (स्वपरदुःख-सुखादिषु तुल्यम्) पश्यति (अवलोकयति) सः (रागद्वेषरहितः। प्रशान्तात्मा) योगी (सम्यग्दर्शननिष्ठो योगी) परमः (सर्व योगि-नां मध्ये श्रेष्ठः) मतः (मान्योऽस्ति) ॥ ३२ ॥

पदार्थः— (अर्जुन !) हे अर्जुन ! (यः) जो सम्यग्दर्शी योगी (सर्वत्र) सब भूतोंमें अर्थात् प्राणीमात्रमें (आत्मौपम्येन) अपने आत्माके ऐसा (सुखम्) सुखको (यदि वा) अथवा (दुःखम्) दुःखको (समम) समान (पश्यति) देखता है (सः) सो (योगी) योगी (परमः) सब योगियोंमें श्रेष्ठ (मतः) मानने योग्य है ॥ ३२ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह प्रश्न किया था, कि योगियोंमें कौन योगी श्रेष्ठ है ? इसका उत्तर देतेहुये भगवान् गोलोकविहारी जगत-

हितकारी कहते हैं, कि [आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन! सुखं वा यदि वा दुःखम्] जो योगी अपने आत्माके समान सब प्राणियोंमें सुख वा दुःखको समान भावसे देखता है अर्थात् जैसे नाना प्रकारेके संसृतक्लेशोंको अपने साथ अनिष्टरूपसे देखता है और सुखोंको इष्ट-रूपसे देखता है इसी प्रकार औरोंके दुःख सुखको भी देखता है वही योगी श्रेष्ठ है ।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे अपने किसी अंगके कटजानेसे वा अपने शिरमें चोट लगजानेसे तथा अपने गृहमें आगलग जानेसे वा अपने शरीरमें ज्वरादिकी व्यथा होनेसे अथवा अपने ऊपर किसी दैवी-उत्पातके उपस्थित होनेसे प्राणी दुखी होता है । तथा राज्यके मिलजानेसे, वा पुत्र उत्पन्न होनेसे जैसे सुखका अनुभव करता है । इसी प्रकार जो दूसरोंके भी दुःख सुखको देखता है [स योगी परमो मतः] सो समरूपसे देखनेवाला योगी अन्य सब योगियोंमें श्रेष्ठ मानागया है ।

शंका— पहले तो भगवान् इसी अध्यायके श्लोक २२ में कह आये हैं, कि " न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते " जिस अवस्थामें अत्यन्त असह्य दुःख वा आपत्तिके उपस्थित होनेसे भी योगी अपने स्थानसे चलायमान नहीं होता तिस अवस्थाको सुख-दुःखसे रहित योग-शब्द-वाच्य जानो! और अब कहते हैं, कि " आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति " अर्थात् सुख वा दुःखको जो सर्वत्र सब प्राणियोंमें अपने आत्माके समान देखता है वही योगी है। इससे तो यह अर्थ

निकलता है, कि जैसे दुःखपडनेसे आप दुःखी नहीं होता इसी प्रकार दूसरोंको भी दुखमें पडेहुए देख दुखी न जाने। जब दुखी नहीं जानेगा तो दयादृष्टिसे उनके दुःखके दूर करनेका यत्न क्यों करेगा ? क्योंकि जबतक उस दुःखकी कठोरता प्राणी स्वयं नहीं अनुभव करेगा, तबतक उसे दूसरेपर दया नहीं आवेगी, न किसीका उपकार करेगा । फिर आत्मौपम्येन कहनेसे क्या लाभ ?

समाधान— यद्यपि योगी स्वयं भगवत्के प्रथम उपदेशके अनुसार घोर दुःखसे स्वयं दुःखी नहीं होता पर जिस समय योगप्राप्तिसे पहले अपने गृहस्थाश्रममें अथवा ब्रह्मचर्य्याश्रममें था और साधारण व्यक्ति था उस समय तो बार-बार दुःख सुखका अनुभव करचुका है । इसलिये दुःखकी स्मृति तो उसके अन्तःकरणमें बनीहुई है । जैसे प्रसूतिका स्त्रीके बच्चा जननेके दुःखको देखकर अन्य पुत्रवतीको दुःखकी स्मृति होआती है । इसी प्रकार योगी भी जब जीवोंको नाना प्रकारके संसृत-बन्धनोंमें दुःख पातेहुए देखता है तब अपने दुःखकी पूर्वस्मृतिसे उसे दया आती है और प्राणीके संसृत क्लेशोंके दूरकरनेकी चिन्तामें लगता है । तब जानना चाहिये, कि इस योगीने सबोंको अपने आत्माके समान देखा है । फिर तो उस योगीको ऐसी दया उत्पन्न होगी, कि अपने जीवनभरके योगबलकी कमायीहुई सारी पूंजीको भी उसके उपकारमें लगादे तो आश्चर्य्य नहीं । जैसे विश्वामित्रने राजा त्रिशंकुको स्वर्ग भेजनेमें अपने सैकडों बर्षोंका तपोबल व्यय करदिया। ऐसा योगी अपने शरीरपर कष्ट सहकरे भी परायेका उपकार करता है ।

देखो! श्री दधीचि महाराजने तपकरते समय अपनी जंघाकी हड्डी काट-कर उपकारमें देदी ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यद्यपि योगी आप कठोर एवं दारुण दुःखसे भी चलायमान नहीं होता तथापि दूसरेके दुःखको देखकर अवश्य द्रवता है। क्योंकि उस समय उसको उस क्लेशकी स्मृति होआती है। इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि सब जीवोंके दुःखको जो अपने समान देखता है अर्थात् जैसे दुःखसे अपनेको उद्धार किया था, इसी प्रकार दूसरेको भी उद्धारकरनेमें उद्यत होजाता है। ऐसा योगी (**परमो मतः**) सब योगियोंमें श्रेष्ठ माना जाता है। यहां शंका मतकरो! लो और सुनो—

गोस्वामी तुलसीदासजी भी लिखते हैं, कि " सन्त हृदय नवनीतसमाना। कहा कबिन पै कहे न जाना ॥ निज दुख पायि द्रवै नवनीता। पर दुख दुखी सुसन्त पुनीता " अर्थात् कवियोंने ऐसा कहा, कि सन्तोंका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है पर कहने नहीं जाना क्योंकि नवनीत (मक्खन) तो केवल अपने दुःख को पाकर पिघलता है पर सन्त परायेके दुःखको पाकर पिघलता है। इसलिये ऐसे सन्तको परम श्रेष्ठ मानना चाहिये । यही भगवान्का तात्पर्य्य है। इसी कारण भगवानने **आत्मौपम्येन** कहा और ऐसा जो कहा, कि **स योगी परमो मतः** ऐसा योगी श्रेष्ठ है सो केवल योगियों ही में श्रेष्ठ नहीं है वरु सर्व प्रकार महा पुरुषोंमें श्रेष्ठ है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसीका है। यथा श्रुतिः— " **ॐ स वा एष एवं**

पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्मा मिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति "

अर्थ— सो योगी एवम्प्रकार सर्वत्र आत्मोपमासे देखता हुआ सबको अपने समान अवलोकन करताहुआ तथा मनन करता हुआ, जानता हुआ (आत्मरति) अर्थात् आत्माहीके विषय है रति जिसकी अथवा आत्माहीके साथ है चित्तका अनुसन्धान जिसका तथा (आत्मक्रीड) आत्माहीके साथ है क्रीडा जिसकी अर्थात् जैसे विषयी पुरुष स्त्रीके साथ क्रिडा करता है, रमता है और अहर्निशि उसीमें वृत्तिको बांधता है। इसी प्रकार आत्माहीके साथ जो सर्वत्र, सब कालमें, सबको अपनाही आत्मा देखता हुआ अत्यन्त प्रिय जान विहार करता है, अपनी अत्मसत्ताके साथ संप्रज्ञात वा असंप्रज्ञात समाधि-रूपी अपनी वशवर्तिनी स्त्रियोंके साथ एकान्त स्थानमें विहार करता, है तथा जो आत्म-मिथुनका आनन्द लेता हैं अर्थात् आत्माके संगका सुख अनुभव करता है ऐसा योगी सबोंमें श्रेष्ठ होता है यहां तक कि **स्वराड्भवति** जैसे चक्रवर्त्ती राजाको सर्वत्र सबको अपने अधीन रखनेका सुख होता है इसी प्रकार इस योगीको मानो स्वराड्की पदवी प्राप्त होती है। सप्तलोक ऊपर और सप्तलोक नीचेको आपने अधीन रखनेका आनन्द अनुभव करता है तथा ऐसे प्राणीकी सर्व कामनाएं पूर्ण होजाती हैं, जैसी इच्छा हो करसकता है इसी कारण भगवान् ऐसे योगीको सबोंमें श्रेष्ठ मानते हैं ॥ ३२ ॥

इतना सुन ऐसे योगकी कठिनता तथा मनकी चंचलता अनुभव कर अर्जुन भगवानसे प्रश्न करता है—

अर्जुन उवाच ।

मू०—योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ! ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥
॥ ३३ ॥

पदच्छेदः— मधुसूदन ! (हे कृष्ण ! हे चित्तस्य चंचलत्वरूपस्य मधुनाम्नः दैत्यस्य प्राणनाशनसमर्थ) साम्येन (समत्वलक्षणेन चित्तगतानां रागद्वेषादीनां विषमदृष्टिहेतूनां निराकरणेन) यः, अयम्, योगः (सर्वत्र समदृष्टिलक्षणः परमो योगः लयविक्षेपशून्यतया केवलात्माकारावस्थानरूपो योगः) त्वया (सर्वज्ञेनेश्वरेण) प्रोक्तः (वर्णितः) चंचलत्वात (मनसः चपलत्वात) एतस्य (त्वदुक्तस्य सर्ववृत्तिनिरोधरूपस्य योगस्य) स्थिराम् (निश्चलाम् । दीर्घकालानुवर्त्तिनीम) स्थितिम् (अवस्थानम) अहम्, न (नैव) पश्यामि (अवलोकयामि । संभावयामि । उपलभे) ॥ ३३ ॥

पदार्थः— भगवान्‌ने जो श्लो० १० से श्लोक ३२ पर्यन्त परम योगका वर्णन किया उसे सुन अर्जुन भगवान्‌से कहता है, कि (मधुसूदन !) हे चित्तके चंचलत्वरूप मधुनामा दानवके नाशकरनेवाले (साम्येन) समतासे युक्त सब प्राणियोंपर समान दृष्टि रखने वाले योगीका (यः) जो (अयम् योगः) यह योग

(त्वया) तुम्हारे मुखारविन्दसे (प्रोक्तः) वर्णन हुआ सो (चंचलत्वात्)मनके अत्यन्त चंचल होनेके कारण (एतस्य) इस योग की (स्थिराम) निश्चलरूपा (स्थितिम्) स्थितिको (अहम्) मैं (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूं अर्थात् अपने चित्तकी चंचलताके कारण इसका योगसदा एकरस वर्त्तमान रहना मुझे असंभव जान पडता है ॥ ३३ ॥

भावार्थः— भगवान्ने जो श्लोक १० से श्लो० ३२ तक परम मंगलदायक ध्यानयोग अर्थात् अष्टांग योगका महत्व वर्णन करते हुए अन्तमें कहा, कि सर्व प्राणियोंपर समान दृष्टि रखकर मनको स्थिर रखनेवाला योगी श्रेष्ठ समझा जाता है । इस वचनको सुनकर अर्जुन भगवान्से तिस योगके शीघ्र सिद्ध करनेका उपाय प्राप्त करनेके तात्पर्यसे शंका करता हुआ कहता है, कि [**योऽयं योगस्त्वया-प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन !**] हे चित्तके चंचलत्वरूप मधुदानवके नाश करनेवाले ! अथवा मधु जो साधारण जीवोंके लिये अत्यन्त मीठा जो विषय-रस तिसे दूर करदेने वाले अथवा मधु जो अमृत कैवल्य परमपद तिससे भक्तोंके हृदयको सींचने वाले ! अथवा मधुजो प्रेमरस तिसकी उत्तेजना करनेवाले ! अथवा मधुमती बुद्धिकी प्रेरणा करनेवाले ! हे मधुसूदन ! यह जो तुमने समत्व लक्षणसे युक्त अर्थात् शत्रु, मित्रमें, कीडे मको-

---

टि०—'सूद' इसके अनेक अर्थ हैं जैसे– सींचना, खाना, एकत्र करना, नाश करना, स्वीकार करना, उत्पन्न करना, उत्थापन करना, प्रेरणा करना, उत्तेजना करना इत्यादि ॥

डेमें, पशु पक्षियोंमें, राक्षस देवताओंमें तथा सम्पूर्ण विश्वके जीवोंमें राग द्वेष रहित होकर एक समान दृष्टिसे अपने आत्माके तुल्य दुःख सुखको देखनेवाला जो यह योग तुम्हारे कोमल मुखारविंदसे वर्णन कियागया जिसकी तुमने बारम्बार अपने मुखसे स्तुति की है और यों कहा है, कि ऐसा समदर्शी योगी सर्वोत्तम और सबोंमें श्रेष्ठ होता है तिस तुम्हारे कथनकिये योगमें मुझे अपनी मूर्खताके कारण यह शंका होती है, कि इसका पालन करना मुझ ऐसे मन्दमतियोंसे कदापि नहीं होसकता। क्योंकि

[एतस्याहं न पश्यामि * चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम्]

इस मनके चंचल होनेके कारण इस तुम्हारे कथन कियेहुए योगकी निश्चल-स्थिति अर्थात् पूर्णरूपसे सदा सर्वकालमें इसका प्राणियोंमें स्थिर रहना, चित्तपरे इसके प्रभावका दृढ रेहना तथा सदा एक-रस रहना नहीं देखताहूं। मेरी बुद्धिमें यह बात नहीं समाती, कि इस प्रकारका योग सदा प्राणीके हृदयमें स्थिर रहसकता है। इस कारण हे भगवन् ! जब मैं तुम्हारे उपदेशका मनन करने लगजाताहूं, इस तुम्हारी शिक्षाको ग्रहण करनेका उत्साह करता हूं और चाहता हूं, कि तुम्हारे उपदेशानुकूल आचरण करूं तब उधर यह स्मरण होआता है, कि यह दुष्ट मन अत्यन्त चंचल है, यह कुछ करने नहीं देगा। क्योंकि यह मन कैसा चंचल है? सो मैं तुम्हारी ही शिक्षानुसार तुमसे वर्णन करता हूं सुनो! ॥ ३३ ॥

* चंचलम्—चंचं गतिं लातीति चंचलम्। अस्थिरम्।

मु०— चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवदृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४

पदच्छेदः— कृष्ण ! (भक्तजनपापाकर्षणसमर्थः तस्य सम्बोधने) मनः (अन्तःकरणम्) हि (इति निश्चयेन) चंचलम् (स्वभावेनैव चपलम्) प्रमाथि (प्रकर्षेण मथ्नाति विक्षिपति परवशीकरोति देहेन्द्रियादीनि यत्) बलवत् (विचारेणापि जेतुमशक्यम् । केनाप्युपायेन विषयान्निवारयितुमशक्यम) दृढम (नागपाशवदच्छेद्यम् विषयवासनानुबद्धतया दुर्भेदम्) [तस्मात्] अहम् (मन्दमतिः) तस्य (मनसः) निग्रहम् (निरोधम्) वायोः, इव, सुदुष्करम् (वशीकर्त्तुमशक्यम् । अतिकष्टतरम् वा) मन्ये (स्वबुद्ध्या जानामि) ॥ ३४ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके पापके आकर्षण करने वाले श्री कृष्ण ! (मनः) यह मन (हि) निश्चय करके (चंचलम्) स्वभावसे ही अत्यन्त चंचल है चंचलही नहीं किन्तु (प्रमाथि) देह और इन्द्रियोंको प्रमथन करने वाला अर्थात् विक्षिप्त करदेनेवाला है तथा (बलवत्) अत्यन्त बलवान किसी प्रकार रोकनेसे नहीं रुकता फिर कैसा है, कि (दृढम्) जैसे नागपाशका बन्धन अत्यन्त दृढ होता है ऐसा दृढ है इसलिये (अहम) मैं मन्दमति अर्जुन (तस्य) तिस मनके (निग्रहम) निरोधको (वायोः) बलवान वायुके (इव) निरोध-करनेके समान (सुदुष्करम) अत्यन्त कठिन (मन्ये) मानता हूं ॥ ३४ ॥

भावार्थः— पूर्व श्लोकमें जो अर्जुनने मनकी चंचलताके कारण योगकी स्थितिमें शंका की है उसी तात्पर्य्यको इस श्लोकमें भगवानके सम्मुख विस्तारकर कहता है, कि [**चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम्**] हे कृष्ण! तुम भक्तजनोंके पापको तथा उनके हृदयकी शंकाओंको खींचलेनेमें समर्थ हो इसलिये कृष्ण कहेजाते हो। अतएव मुझे पूर्ण आशा है, कि तुम अवश्य अपने इस परम भक्त अर्जुनके हृदयकी शंकाको भी अपने अमृतमय मधुर बचनों द्वारा खींचलोगे! इस कारण तुम्हारी शरण होकर मैं यह शंका करता हूं, कि हे कृष्ण! स्वभावसे ही यह मन बानरके समान अत्यन्त चंचल है, स्थिर नहीं रहता। फिर यह सिद्धान्त है, कि जबतक कोई द्रव्य वर्त्तमान है तबतक उसके स्वभावका नाश नहीं होता। जैसे अग्निके वर्त्तमान रहते उसकी दाहिका शक्तिका नाश नहीं होसकता इसी प्रकार जबतक शरीरमें मन है तबतक इसके स्वभावका नाश नहीं होसकता। यह मन चंचल ही नहीं वरु **प्रमाथि** है, **बलवत्** है और **दृढ** भी है। अर्थात इनके उक्त चारों अवगुणोंमें तीन अवगुण अधिक क्लेशकारक हैं। प्रथम अवगुण तो यह है, कि **प्रमाथि** है अर्थात् शरीर और इन्द्रियोंको प्रमथन करडालता है। जैसे ग्वाला दूधको मथन करके उसको टुकटे-टुकटे करदेता है, जैसे धुनेरा रुईको धुनकर छिन्नभिन्न करडालता है तथा जैसे गुड बनाने वाले इक्षुदण्ड (गन्ना) को कोल्हूमें पीसडालते हैं। इसी प्रकार यह मन सब इन्द्रियोंको विषयके कोल्हूमें इस प्रकार पीस डालता है, कि कोटि यत्न करते हुए भी इसपर अपना बश कुछ नहीं चलता है।

हे जनार्द्दन ! यदि तुम यह कहो, कि ऐसे प्रमथन करने वाले मनको तू अपने वश करले ! सो मैं कैसे करूं ? क्योंकि इसका दूसरा अवगुण यह है, कि बलवत् है अर्थात् अत्यन्त बलवान् है। जब यह बलपूर्वक विषयकी ओर दौडता है तब यह किसी यत्नसे रोके नहीं रुकता, ब्रह्मासे लेकर चींटीपर्य्यन्त कोई इसके वेगके रोकनेमें समर्थ नहीं है। इसी मनके बलवान वेगने अहिल्याके कारण इन्द्रके शरीरमें सहस्र भगका आकार बनवा दिया, चन्द्रमाको गुरु-पत्नीसे गमन करवा आततायी बना दिया तथा नारदको बानरका मुंह दिलवा दिया। एवम् प्रकार अनेकानेक उपद्रवोंको उपस्थित करने वाला यह मन अत्यन्त बलवान् है, इसलिये इसे कोई जीत नहीं सकता। केवल इतना ही नहीं, कि बलवान् ही है वरु इसका तीसरा अवगुण यह है, कि 'दृढम्' अनेक जन्मोंके संस्कारोंसे बंधाहुआ अपने स्वभावमें परम दृढ है। जैसे कोई वीर अपने शत्रुको युद्धमें नागफांससे बांधलेवे तो वह बन्धन इतना दृढ होता है, कि किसी उपायसे टूट नहीं सकता। इसी प्रकार यह मन बलपूर्वक इतनी दृढताके साथ प्राणीको विषयके फांससे बांध देता है, कि वहांसे कोई अपनेको छुडा नहीं सकता। जैसे इस शरीरके रुधिर और अस्थि (हड्डी) के साथ चिपकेहुए चमडेको खैंचो तो उसके साथ-साथ रुधिर भी खिंच जावेगा इसी प्रकार विषयसे चिपके हुए मनके खैंचनेमें प्राणीको अत्यन्त दुःसह क्लेश होता है।

अर्जुनके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जब यह मन विषयके साथ चिपटता है, तो ऐसी दृढताके साथ सट जाता है, कि फिर

उस विषयको छोडता ही नहीं । इससे यह सिद्ध होता है, कि इसके उक्त तीनों गुण स्वाभाविक हैं ।

अर्जुन कहता है, कि हे भगवन्! इनही कारणोंसे [**तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्**] तिस मनका निरोध करना वायुके निरोधके समान मैं अतिदुष्कर मानता हूं। अर्थात् जैसे वायुका निरोध करना कठिन है, ऐसे ही अत्यन्त कठिनता और बडे प्रबल पुरुषार्थसे भी इस दुष्ट मनका निग्रह करना दुष्कर है । क्योंकि पवन जब अपने वेगमें आता है, तो बिना किसी दूसरे तत्वकी सहायताके ऐसे अन्धर, झक्कर और झंझावातको प्रकट करता है, कि सैंकडों मीलके वृक्षोंको तोडता और जडमूलसे उखाडता चला जाता है, इसका वेग किसी बलवानके रोके नहीं रुकता । इसी प्रकारे जब यह मन अपने पूर्णवेगसे विषयके आकाशमें प्रवाह करता है तब विश्वासके वृक्षोंको, श्रद्धाकी झोंपडियोंको तथा समताकी बडी बडी अटारियोंको गिराता चला जाता है । इसी कारण हे गोविन्द ! समता युक्त योगकी स्थिर स्थितिमें मुझे शंका होती है । अन्य शास्त्रोंमें भी ऐसा ही लिखा है, कि " अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वन्ह्यशनात्साधो! विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ " अर्थ— हे साधो! समुद्रके पान करनेसे, सुमेरुके उखाड देनेसे और अग्निके भक्षण करनेसे भी अधिक कठिन इस मनको वशीभूत करना है ॥ ३४ ॥

अब अर्जुन कहता है, कि हे दयामय! कृपा कर यह बतलाओ, कि इस मनके जो उक्त चार मुख्य अवगुण हैं ये कैसे छूटेंगे ? और इनके छूटनेसे योगमें स्थिति किस प्रकार होवे ?

श्री भगवानुवाच ॥

मू०– असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५

पदच्छेदः– [हे] महाबाहो ! (महान्तौ साक्षान्महादेवेनापि सह कृतप्रहरणौ बाहू यस्य स त्वमर्जुन !) मनः (अन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पात्मिका वृत्तिः) दुर्निग्रहम् (दुःखेनापि निग्रहीतुमशक्यम्) चलम् (चंचलम्) असंशयम् (एतन्निःशंसयमेव । सन्देहरहितम् वा) * तु (किन्तु) [हे] कौन्तेय ! (कुन्तीपुत्राऽर्जुन !) [तत्] अभ्यासेन (चित्तभूमौ कस्यांचित् विजातीयप्रत्ययानन्तरितसमानप्रत्ययावृतिलक्षणेन परमात्माकारप्रत्ययावृत्त्या) च (तथा) वैराग्येण (दृष्टादृष्टेषु भोगेषु दोषदर्शनाभ्यासात् वैतृष्ण्यं तेन) गृह्यते (विक्षिप्तत्वादिकं त्यक्त्वा निरुध्यते सर्ववृत्तिशून्यं क्रियते) ॥ ३५ ॥

पदार्थः– (महाबाहो !) हे प्रचण्ड बलयुक्त विशालभुजा वाला अर्जुन ! तू ने जो यह कहा, कि (मनः) यह मन (दुर्निग्रहम्) बडी कठिनतासे भी निग्रह करने योग्य नहीं है तथा (चलम) अत्यन्त चंचल है सो यह तेरी बात (असंशयम) निःसन्देह सत्य है । इसमें तनक भी संशय नहीं है (तु) पर

* अनिग्रहितुरसंयुक्तात्मनः सकाशात्संयतात्मनो निग्रहीतुर्विशेषद्योतनाय "तु" शब्दः ।

(कौन्तेय) हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! सो मन (अभ्यासेन) बारम्बार निरोधका अभ्यास करनेसे (च) तथा (वैराग्येण) सर्वप्रकार विषय भोगोंको दूषित जानकर त्याग करनेसे (गृह्यते) चंचलत्वको त्याग कर वशीभूत होजाता है ॥ ३५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने मनके निरोधका यथार्थ उपाय जानने के तात्पर्यसे श्यामसुन्दरके प्रति यह शंका की थी, कि हे भगवन्! मनके चंचलत्वके कारण योगमें स्थिरा-स्थिति अर्थात् निश्चलता और दृढताके साथ चित्तका निरोध नहीं होसकता । तिस शंकाके समाधान-निमित्त भगवान् मनके वशीभूत होनेका उपाय वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्**] हे महाबाहो अर्जुन ! इसमें तनक भी सन्देह नहीं, कि यह मन अत्यन्त चंचलत्व इत्यादि अवगुणोंसे दूषित रहनेके कारण किसीके वश नहीं होसकता है । ब्रह्म-लोकसे पाताल पर्यन्त इसकी चरचा है । पृथ्वीमण्डलमें जितने मत-मतान्तर हैं इसके विषय सबोंकी ऐसी ही सम्मति है ।

यहां भगवान्ने अर्जुनको जो **महाबाहो** कहकर पुकारा है तिसका तात्पर्य यह है, कि भगवान्ने यह दिखलाया, कि हे अर्जुन ! तू जो मनको **चंचल, प्रमाथि, बलवत्** और **दृढ** कहकर इसकी जय करनी कठिन समझता है सो तू ऐसा व्याकुल मत हो ! तू महाबाहु है ! तेरी दोनों भुजाएं महान् बलवती हैं । क्योंकि इन भुजाओंसे तूने निवातकवचका निपात किया तथा युद्धमें शिवके साथ तूने अपनी

भुजाओंकी महिमा दिखलायी । इसलिये जैसे तूने ऐसे कठिन-कठिन रण जीते, ऐसे ही तू इस मनको भी अवश्य जीतेगा ! इतना कहकर मानो भगवान्ने अर्जुनके हृदयकी व्याकुलता दूर करनेके तात्पर्यसे उसे पूर्ण सन्तोष दिया । उसके वचनको स्वीकार भी किया और कहदिया, कि हां इसमें सन्देह ही नहीं है, यह मन दुर्निग्रह और चंचल है पर जो पुरुष पराक्रमी है उससे सब कुछ साध्य होसकता है। इसलिये हे अर्जुन ! यद्यपि मन दुर्निग्रह है, पर योगियोंने तथा वेदने भी इसके निग्रह और स्थिर करनेका उपाय कहा है सो मैं तुझसे कहता हूं सुन ! [**अभ्यासेन तु कौन्तेय! वैराग्येण च गृह्यते**] हे (कौन्तेय !) कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! यह मन केवल उन्हीं महानुभावोंसे जीताजाता है जो वैराग्यको प्राप्त कर मोक्षके साधनका अभ्यास करते हैं । तात्पर्य यह है, कि वैराग्य और अभ्यास इन दोनोंके द्वारा यह मन चंचलताको त्याग निग्रहीत होजाता है ।

सत्य है ! जब तक विषयोंसे वैराग्य नहीं प्राप्त हो तब तक अभ्यास सिद्ध नहीं होसकता और जब तक अभ्यासकी सिद्धि न हो तब तक मन वशीभूत नहीं होसकता, जब तक मन वशीभूत न हो तब तक ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होसकती, जब तक ज्ञान न हो तब तक मोक्षकी प्राप्ति नहीं और जब तक मोक्ष न हो तब तक भगवत्स्वरूपका लाभ नहीं होता। इसलिये सबसे पहले विषयोंसे वैराग्यकी आवश्यकता है सो वैराग्य किसे कहते हैं ? सो सुनो ! " दृष्टादृष्टेषु भोगेषु दोषदर्शनाभ्यासात् वैतृष्ण्यम् " अर्थात् जो विषयभोग दृष्ट हैं अथवा

अदृष्ट है दोनोंका त्यागना वैराग्य कहाजाता है। जैसे संसारमें स्त्री, पुत्र, धन, सम्पत्ति, राज-पाट इत्यादिके सुख दृष्ट हैं और स्वर्गकी अप्सरा इत्यादि तथा ब्रह्मलोकादिके सुख अदृष्ट हैं। इन दोनोंमें जिस प्राणीको दोष देख पडता है, वही सच्चा त्यागी और सच्चा अभ्यासी है।

शंका— संसृति-विषय-सुख विनशता नहीं है यह तो जबसे सृष्टि है तबसे है और सृष्टि अनादि है। इसलिये इसके अन्तर्गत जो सुख है वह भी अनादि हुआ, फिर इसे आगमापायी क्यों कहते हैं?

समाधान— यह सृष्टि प्रवाहकरके अनादि है, स्वरूप करके अनादि नहीं है, सदा नश्वर है। लो! उदाहरणसे देखलो! मानलो, कि किसी वाटिकामें एक आम्रका वृक्ष है, जो जडमें चार हाथ मोटा है, और पांचवें हाथकी ऊंचाई पर चार शाखाएं पूरवकी ओर, दो शाखाएँ पश्चिमकी ओर, तीन उत्तरकी ओर तथा आठ शाखायें दक्षिणकी ओर निकल गयी हैं, फिर उसमें पांच सहस्र आम्रके फल लगेहुए हैं। यह उस वृक्षका स्वरूपहुआ। सो स्वरूप अनादि नहीं है। क्योंकि उसी वृक्षके बीजसे जो दूसरा वृक्ष उत्पन्न होगा, उसी रूपका नहीं होगा जैसा, कि पहले था। अर्थात् यह निश्चय नहीं है, कि इसमें भी उतनी ही डाल-पत्तियां हों और पांच हजार ही फल हों। इसलिये इस वृक्षको रूपकरके अनादि कहना नहीं बनता, प्रवाहकरके तो अनादि ही है। क्योंकि वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष, फिर वृक्षसे बीज बनना तो अनादि है।

इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति और नाश प्रवाह करके अनादि है स्वरूपकरके अनादि नहीं । इसी कारण विषय-सुख भी प्रवाहकरके अनादि है स्वरूपकरके अनादि नहीं इसीलिये एक व्यक्तिमें वह सुख आगमापायी ही कहाजावेगा । अथवा यों कह लीजिये, कि इस सृष्टिके अन्तर्गत किसी एक व्यक्तिका शरीर आगमापायी है । क्योंकि तिस शरीरके साथ जो इन्द्रियां प्राणकरके बंधीहुई हैं, उस प्राणके विनश जानेसे शरीर और इन्द्रियोंका नाश होजाता है। इसलिये विषय-सुख जो इनही शरीर और इन्द्रियोंसे भोगेजाते हैं वे भी नाश होजाते हैं । अतएव विषय-सुखकी ओर मनको लेकर दौडना जो इन इन्द्रियोंका स्वभाव था सो नष्ट होगया ।

अब ये इन्द्रियां न जाने किस शरीरके साथ फिर उत्पन्न होंगी इनका पता कौन कहे ? क्योंकि यह संभव नहीं है, कि जो सुख वर्त्तमान शरीरमें उन इन्द्रियोंके सन्मुख था फिर वही सुख उनके साथ दूसरे शरीरमें भी जावे । इसीलिये विषय-सुख आगमापायी कहागया और त्यागने योग्य है ।

दूसरा दूषण इन विषय-सुखोंमें यह है, कि जितने विषय-सुख हैं सबके अन्तर्गत दुःख अवश्य हैं। जैसे स्त्री-सुखमें बल, वीर्य्य, रूप और पराक्रमकी हानिका दुःख, पुत्रसुखमें पुत्रशोकका दुःख, धनसुखमें चौर और राजदण्डादिका दुःख, रूप और यौवन-सुखमें वृद्धता प्राप्त होनेका दुःख है । इन दुःखोंको सब ही प्रत्यक्ष देखरहे हैं । इसलिये जैसे विष-मिश्रित मिष्टान्न त्यागने योग्य है, इसी प्रकार दुःख-मिश्रित विषय-सुख भी त्यागने योग्य हैं । शंका मतकरो ।

उक्तप्रकार जब मन विषय-सुखका त्याग करके वैराग्य द्वारा मोक्षप्राप्तिकी अभिलाषा करेगा तब झट विषय-सुखके द्वार पर कपाट देकर मोक्ष-सुखका द्वार खोलदेगा। " यथा कैदारिकः केदारेषु कुल्याजलं संचारयन्नेकस्य द्वारं पिधाय परस्योद्घाटयति तद्वद्वैराग्येण विषयश्रोतः खिली क्रियते अभ्यासेन कल्याण-स्रोत उद्घाटयतीति " जैसे किसान अपने अनाजके खेतमें नहरके जलको सींचताहुआ एक द्वार बन्दकरके दूसरा द्वार खोलदेता है। इसी प्रकार योगी वैराग्य द्वारा विषय-स्रोतके मुखको रूँधकरके अभ्यास द्वारा कल्याण-स्रोतको खोलदेता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि जबतक वैराग्यसे विषय नहीं रोका जावेगा तबतक अभ्यास द्वारा मन वशीभूत होकर मोक्षकी ओर नहीं लगसक्ता। इसी कारण भगवानने वैराग्य और अभ्यास दोनोंको मनोनिग्रहके कारण बताये। इन दोनोंका समुच्चय दिखलानेके कारण " च " शब्दका प्रयोग किया है। इस मनको कोई चाहे, कि मैं एकाएक वश करलूं तो कदापि नहीं होसक्ता वरु धीरे-धीरे वशीभूत होता है। इसलिये इसको धीरे-धीरे क्रमशः वश करनेका यत्न करना चाहिये। शीघ्रता करनेसे वशीभूत न होकर अधिक विकार उत्पन्न करता है " यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः " अर्थात् जैसे सिंह, हाथी और व्याघ्र इत्यादि क्रूर जीव धीरे-धीरे बडी युक्तियोंसे वशीभूत होते हैं, शीघ्रता करनेसे फाड खाते हैं। इसी प्रकार इस मनकी भी दशा जाननी चाहिये।

अब इस मनको क्रमशः निग्रह करनेके लिये चार प्रकारके विशेष साधन हैं, जिनका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। ये चार कौन हैं ? वर्णन कियेजाते हैं— "उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः। न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिंदिताम्॥ अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतंगजः। अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च॥ वासना संपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्। एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल" (वशिष्ठः)

अर्थ— जो चित्तज्ञ है अर्थात् चित्त कितना चंचल है इस बातको पूर्ण प्रकार अनुभव द्वारा जानचुका है वह भली भांति समझता है, कि जब तक उत्तम युक्तियां न कीजावें तबतक केवल आसनोंपर स्थिर होकर बारंबार बैठनेहीसे कोई प्राणी मनको नहीं जीत सकता। जैसे बिना अंकुश मत्त हस्ती वशीभूत नहीं होता, ऐसेही विना युक्तियोंके यह मन स्थिर नहीं होसकता। इसलिये इस मतवाले मनरूप गजराजके वश करनेके लिये जो अंकुशरूप मुख्य चार युक्तियां हैं उनका वर्णन किया जाताहै— १. अध्यात्मविद्याधिगम। २. साधुसंगम। ३. वासनासंपरित्याग। ४. प्राणस्पन्दनिरोध।

१. अध्यात्मविद्याधिगम— जो चारों वेद, चारों उपवेद, छवों वेदांग, षट्शास्त्र, अष्टादश स्मृतियां, अष्टादश उपस्मृतियां, अष्टादश पुराण, अष्टादश उपपुराण, इतिहास इत्यादि जो अपरा विद्या हैं इनको अध्ययन करनेके पश्चात् श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठकी शरण जाकर परा विद्या जो आत्मविद्या तिसका अभ्यास करना।

२. साधुसंगम— पूर्वोक्त विद्याके मनन और निदिध्यासन करनेके तात्पर्य्यसे साधु-संगममें प्रवृत्त होना, अर्थात् महापुरुषोंकी संगति करनी। क्योंकि साधुसंगमका फल अमोघ है। इस अभ्याससे वहुत ही शीघ्र 'मन' वशीभूत होता है। नारदका बचन है, कि "सत्संगो दुर्लभोऽमोघश्च" (नारदभक्तिसूत्र) अर्थात् सत्संग मिलना दुर्लभ है और यदि मिलजावे तो उसका फल भी अमोघ है। फिर उसी नारदका वचन है, कि "कस्मात्तरति, कस्मात्तरति, कस्मात्तरति" किससे तरता है? किससे तरता है?? किससे तरता है??? यह तीन बार प्रश्न करनेके पश्चात् तीनों बार उत्तर देते हैं "सत्संगात्तरति, सत्संगात्तरति, सत्संगात्तरति" सत्संगसे तरता है! सत्संगसे तरता है!! सत्संगसे तरता है!!! जिसके लिये भगवान् पहले कहचुके हैं, कि तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" (देखो अ० ४ श्लो० ३४) महात्माओंकी शरण जाकेर दण्डके समान गिरकर उनको सेवासे प्रसन्न कर! और प्रसन्न करके ब्रह्मज्ञान इत्यादिकी प्राप्तिका उपाय जानले।

३. वासनासंगपरित्याग—अर्थात् यह मन शुद्ध और मलिन-वासनाओंमें ऐसा मारा फिरता है जैसे शाखामृग (वानर) इस डालसे उस डालपर उछला फिरता है, सो वासना वैराग्य द्वारा छूटती है। अर्थात् जब सर्व प्रकारके विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है तब धीरे-धीरे वासनाके संगका परित्याग होता है। इसके त्यागकी रीति यह है, कि कुछ काल मलिन-वासनाओंके त्यागका अभ्यास करे, जब एवम् प्रकार अभ्यास करते-करते मलिन-वासनाओंसे मन रहित होजावे तब शुद्ध वासनाओंके त्यागका भी आरम्भ करे, जब धीरे-धीरे शुद्ध वासनाओंका

त्याग होजावेगा तब मन स्फटिक वा हीरेकी निर्म्मलता और स्वच्छताके समान प्रस्फुरित और उज्ज्वल होजावेगा। एवम् प्रकार उज्ज्वल होजानेसे उसमें आपसे आप स्थिरता प्रवेश करेगी। क्योंकि निर्म्मल मन स्थिर और अशुद्ध मन चंचल हुआ करता है। क्योंकि वासनाका संपरित्याग ही इसकी निर्म्मलताका कारण है। जैसे शरीरमें जबतक ब्रण (फोडा) रहता है तबतक प्राणी मारे व्यथाके रोता पीटता रहता है। पर जब वैद्य उसे चीरकर शरीरसे निकाल-देता है और स्वच्छ होजाता है तब व्यथा निकल जानेसे चित्त स्थिर और शान्त होकर एक ठौर ठहर जाता है और सुखी होकर शान्ति पूर्वक शयन करजाता है। इसलिये सदा वासनाओंके संगके परित्या-गका अभ्यास करते रहना चाहिये।

४. **प्राणस्पन्दनिरोध**— इसको प्राणायामके नामसे भी पुकारते हैं। इस प्राणायामकी रीतिका अ० ४ श्लो० २९ में वर्णन होचुका है, तहां यह भी दिखलाया जाचुका है, कि प्राणायामसे मनका निरोध क्यों होता है?

तात्पर्य्य यह है, कि जबतक प्राणी माताके गर्भमें रहता है तबतक उसका प्राण उसके शरीरके भीतर ही भीतर प्रवाह करता है। पर जब गर्भसे बाहर आता है तब वही प्राण मुख और नासिकाके छिद्रोंमें होकर बाहर प्रवाह करने लगजाता है। एवम्प्रकार प्रवाह करनेसे स्पन्दत्वको प्राप्त होता है! तिस प्राणके स्पन्द होनेसे इन्द्रियां विषयकी ओर मुख करती हैं और मनको चंचल करती हैं। ये सब उपद्रव

केवल प्राणके स्पन्द होनेसे अर्थात् चंचल होनेसे उपस्थित होते हैं। क्योंकि प्राण और मन दोनोंकी चाल एक समान मानीगयी है।

इसलिये जब प्राणका स्पन्दत्व रुकजावेगा तब मन भी रुक जावेगा। सो जिज्ञासुओंको चाहिये, कि इस चौथी युक्तिका भी अभ्यास करें। प्राणायाम जानने वालोंकी शरण जा यह क्रिया सीखें।

इस प्राणायाम-क्रियाका अभ्यास करते-करते प्रत्याहारकी उत्पत्ति होगी अर्थात् इन्द्रियां आपसे आप विषयोंकी ओरसे खिंचकर एकही होजावेंगी, विषयकी ओर जानेकी इच्छा नहीं करेंगी और तिनके साथ साथ मन भी चुप साध बैठेगा। क्योंकि जब सेना युद्ध करनेको स्वीकार नहीं करेगी तो वह सेनापति क्या करसकता है? उसे अवश्य सेनाके साथ रहकर चुप रहना पडेगा। इसी कारण मनके स्थिरकरनेका उत्तमोत्तम अभ्यास यह **प्राणस्पन्दनिरोध** अर्थात् **प्राणायाम** है।

उक्त चारों युक्तियां परस्पर सम्बन्ध रखती हैं, इसलिये इनका अभ्यास एकसाथ करना उचित है। इन चारोंमें सबसे मुख्य और प्रथम अभ्यास **साधु-संगम** है। जो प्राणी प्रतिदिन साधुओंके संगमें जा बैठता है उसे अवश्य अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति होती है। क्योंकि महापुरुष अहर्निश इन आत्म-विचारोंकी शिक्षा देते रहते हैं। जिसे श्रवण करते-करते अध्यात्मविद्यामें प्रवेश होजाता है। तिसमें प्रवेश होतेही ऐसा बोध होता है, कि "**ब्रह्मैव नित्यं तद्व्यतिरिक्तं सर्वमनित्यम्**" केवल ब्रह्म नित्य है और तिससे अतिरिक्त जो कुछ कहा सुनाजाता है सब अनित्य है।

एवम्प्रकार सम्पूर्ण विश्वमात्रको अनित्य और मिथ्या जाननेपर विषयोंसे उदासीनता होती है। जब उदासीनता आई तो धीरे-धीरे उन विषयोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है। जब विषयोंसे एव-म्प्रकार वैराग्य होने लगता है तब वासनासंपरित्याग जो अभ्यासका तीसरा अंग है आपसे आप प्राणीके हृदयमें उत्पन्न होता है। यह वासनासंपरित्याग और चौथी युक्ति जो प्राणस्पन्दनिरोध है ये दोनों चित्तके वशीभूत करनेके मुख्य यत्न हैं। अर्थात् वासनायास और प्राणायाम ये दोनों यत्नविशेष मनके वशीभूतकरनेके हैं। प्रमाण— "द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वेऽपि विनश्यतः॥ प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया। आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ असंगव्यवहारित्वाद्भवभावनवर्जनात्। शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते॥ वासनासंपरित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्। प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु"॥ (वशिष्ठः)।

अर्थ— श्री वसिष्ठजी श्री रामचन्द्रसे कहते हैं, कि चित्तरूप-वृक्षके दो ही बीज हैं— १. प्राणस्पन्द (प्राणोंका प्रवाह) और दूसरा वासना (विषयोंकी स्मृतिमात्रका संस्कार) इनमेंसे एकके नाश होनेसे दूसरेका भी नाश होजाता है। इनमें गुरुके उपदेश द्वारा युक्तियोंके साथ आसन और भोजन इत्यादिका नियम प्रतिपालन करतेहुए प्राणायामका दृढ अभ्यास करनेसे प्राणका स्पन्द अर्थात् श्वासोच्छ्वासका प्रवाह रुकजाता है और व्यवहारोंसे संग रहित होजानेसे अर्थात् सांसारिक चिन्ताके वर्जित होनेसे तथा इस शरीरको नाशवान्

जाननेसे वासना का त्याग होजाता है। तिस बासनाके त्यागसे यह चित्त अचित्तताको प्राप्त होता है। अर्थात् मन, संकल्प, विकल्पको तथा प्रमाण, विपर्य्यय इत्यादि पांचों वृत्तियोंको त्याग देता है। एवम्प्रकार जब प्राणका निरोध होगया तो हे रामचन्द्र! जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसी ही करो! क्योंकि फिर तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके किसी कार्य्यमें रुकावट नहीं।

इसी विषयको भगवान् अर्जुनके प्रति पहले ही कहआये हैं, कि " **कुर्वन्नपि न लिप्यते** " जिसका मन वशीभूत है वह सबकुछ करताहुआ भी किसी कर्मसे लिप्त नहीं होता। इन बचनोंसे सिद्ध होता है, कि प्राणके रोकनेमें अभ्यास और वासनाके रोकनेमें **वैराग्य** की सहायताकी आवश्यकता है। इसी कारण भगवान्ने अर्जुनके प्रति मनको वशीभूत करनेके दो ही यत्न (अभ्यास और वैराग्य) कहे हैं। तहां योगसूत्रकार पतंजलिने भी ऐसा ही कहा है, कि " **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः** " (पतं० अ० १ सू० १२) अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्त-वृत्ति का निरोध होता है।

अभ्यासमें वह शक्ति है, कि प्राणी जो चाहे करसकता है। रात्रिके समय बाण द्वारा एक छोटी चींटीके पांवको बेधसकता है, अभ्यास द्वारा नट (बाजीगर) मस्तकपर चार घडोंको लेकर एक बांसके ऊपर चढ जाता है और उस बांसका ऊपर वाला छोर हाथसे पकड वहां अधरमें मस्तकपर घडोंको लिये हुए चारों ओर आकाशमें

नृत्य करता है। अभ्याससे अर्जुनने मत्स्य-वेध किया था और अभ्याससे मोती निकालने वाला अत्यन्त गहरे समुद्रके जलमें डूबकर मोती निकाल लाता है। इसलिये यह सिद्धान्त है, कि अभ्यास द्वारा प्राणस्पन्दनिरोध अर्थात प्राणायामकी भी सिद्धि अवश्य होती है। जिससे चित्तवृत्तिका निरोध होजाता है। बहुतेरे प्राणियोंके चित्तमें ऐसी शंका बनी रहती है, कि प्राणायामका अभ्यास सबसे नहीं होसकता। वृद्ध वा अतिवृद्धसे होना कठिन है। क्योंकि आसनोंके लगानेमें तथा श्वासको चढाने, उतारने और रोकनेमें अधिक परिश्रम होता है। पर ऐसी शंका बिना सिर पैरकी है।

स्वामी सहजानन्द कहते हैं, कि " युवावृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा। अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः। अर्थात् कोई प्राणी वृद्ध हो, अत्यन्त वृद्ध हो, रोगी हो तथा दुर्बल हो, सबको अभ्याससे सिद्धिकी प्राप्ति होसकती है। इसी कारण आचार्य्योंने सन्ध्या-कर्ममें प्राणायामकी ही शिक्षा दी है। जिसे सब छोटे-बडोंको अभ्यास करनेका अधिकार है।

अब अभ्यास और वैराग्यके स्वरूप दिखलाये जाते हैं— तहां " तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः " (पतं० पा० १ सू० १३)

अर्थ—वृत्तियोंके निरोध करनेमें जो अन्तःकरणकी स्थिति है तिस स्थितिमें यम नियमादिके जो जो यत्न हों उन सब यत्नोंको बारम्बार साधन करनेका नाम अभ्यास है। अर्थात पूर्ण पुरुषार्थके साथ मनके वशीभूत करनेमें उत्साह वा श्रद्धाकी बारम्बार आवृत्ति करते रहनेको अभ्यास

कहते हैं। मुख्य तात्पर्य यह है, कि जब साधक मनको वशीभूत करनेके यत्नमें पूर्ण उत्साहसे लग पडता है और बारम्बार पुरुषार्थ करता चला जाता है तब वह अभ्यासी कहलाता है। जबतक बहुत काल तक यह अभ्यास नहीं किया जावेगा, तब तक दृढता नहीं होगी। जैसे दूधसे दधि बनानेके पात्रमें थोडासा यावनका दधि मिलाकर रात्रिभर स्थिर न छोडकर घंटे दो घंटेके पश्चात् ही पात्रको हिला दिया करो तो दधि नहीं जम सकता, दूधका दूध ही रह जाता है। इसी प्रकार दीर्घकाल पर्य्यन्त निरन्तर अभ्यास नहीं करनेसे दृढता अर्थात् पूर्ण प्रकार स्थिरता नहीं होसकती। तहां सूत्रकारका प्रमाण है— "स तु दीर्घकालनैरन्तर्य्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः" (प० पाद १ सूत्र १४)

अर्थ—सो अभ्यास अनिर्विण्णचित्त तथा स्थिराबुद्धिसे बहुकाल पर्य्यन्त निरन्तर अत्यन्त श्रद्धासे सेवन किया हुआ दृढभूमिको प्रकट करता है। जब एवम् प्रकार दृढभूमिकी प्राप्ति होती है तब चाहे सहस्रों विषय-भोग एकत्र होकर उस प्राणीके मनको डोलाया चाहें तो कदापि नहीं डोल सकता।

इस सूत्रमें भगवान् पतंजलिने अभ्यासकी दृढता निमित्त तीन मुख्य बातें दिखलाई हैं। अब इन तीनोंका वर्णन किया जाता है।

१. दीर्घकाल— अभ्यास करनेवालेको दीर्घकाल तक अभ्यास करना चाहिये। यदि शंका हो, कि अल्प-आयुके कारण किसी साधकको दीर्घकालकी प्राप्ति नहीं हुई तब तो उसका अभ्यास करना निरर्थक हुआ। इसी शंकाका उत्तर भगवान् आगे इसी अध्यायके

४१ वें श्लोकमें देखेंगे, कि किसी ज्ञानवान योगीके कुलमें उत्पन्न हो। इसलिये अभ्यासी दृढता पूर्वक अभ्यासको जितना समय पावे करता ही चलाजावे। मरनेसे डरकर अभ्यासको न छोडे और अभ्यासकी सिद्धिसे निराश न होवे।

२. नैरन्तर्य्य— जिस अभ्यासको आरंभकरे उसे निरन्तर बिना त्रुटिके करता चलाजावे। ऐसा न करे, कि चार दिन साधन करनेके पश्चात् व्यवहारोंमें फंसकर त्याग देवे फिर अवकाश पा कुछ करे, फिर छोड देवे। ऐसा करनेसे अभ्यासकी सिद्धि कदापि नहीं होसकती। इसलिये सूत्रकारने नैरन्तर्य-साधनका उपदेश किया है।

३. सत्कार— जैसे घरमें आयेहुएका सत्कार बडे उत्साह और श्रद्धासे कियाजाता है। जबतक वह अतिथि रहता है उसीके समीप बैठता है, उसीके साथ बातें करता है। इसी प्रकार प्राणी अभ्यासका भी सत्कार करें अर्थात् सदा इसी उत्साहमें रहे, कि मेरा अभ्यास बढे तो मैं अभ्यास द्वारा अवश्य ही अपने मनको वशीभूत करलूंगा। ऐसे उत्साहको बनाए रखे। निर्वेद रहित होकर ब्रह्मचर्य्य, विद्या और श्रद्धारूप सत्कारसे अभ्यासकी सेवाकर दृढभूमिमें स्थित हो।

इन ही तीनों बातोंपर ध्यान रखनेसे अभ्यासकी सिद्धि और दृढ भूमि प्राप्त होती है। प्रमाण श्रु०— "ॐ अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विषेति"।

अर्थ— तप, ब्रह्मचर्य्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा आत्माको खोजो!

यहाँ तक अभ्यासका कथन हुआ अब वैराग्यका वर्णन कियाजाता है। इस वैराग्यका वर्णन स्वल्प-रीतिसे पिछले पृष्ठमें करआये हैं पर अब योगसूत्रसे उसके स्वरूपकी सिद्धि करते हैं " **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्** " अर्थात् जितने प्रकारके विषय-भोग दृष्ट हैं जैसे पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति, बल, वीर्य्य, रूप, यौवन इत्यादि और जो विषय-भोग ×आनुश्रविक (अदृष्ट) हैं केवल सुने जाते हैं पर देखे नहीं जाते इसलिये अदृष्ट कहलाते हैं। जैसे स्वर्गादिके सुख। इन दोनोंप्रकारके विषय-भोगोंसे तृष्णारहित होजानेको " **वशीकारसंज्ञावैराग्य** " कहते हैं। तहाँ इस सूत्रसे सूत्रकारका तात्पर्य्य यह है, कि वैराग्य चार प्रकारका होता है **१. यतमान, २. व्यतिरेक, ३. एकेन्द्रिय और ४. वशीकारसंज्ञा** ।

१. यतमान— विषय-भोगोंको भोगते-भोगते जो प्राणीके मनमें प्रारब्धानुसार किसी उग्र पुण्यके उदय होनेसे सन्तोषकी उत्पत्ति होती है और वह शनैः-शनैः विषयोंके त्यागनेका यत्न करने लगजाता है। अर्थात् गुरुदेवकी शरण जाकर यह निश्चय करने लगता है, कि कौन वस्तु सार है ? और क्या असार है ? ऐसी अवस्थाको **यतमानसंज्ञा** वैराग्य कहते हैं।

× **आनुश्रविक**— इसीको **अदृष्ट** भी कहते हैं। जैसे इन्द्रलोकादि लोकोंमें अप्सराओंके संगका सुख, नन्दनवनका सुख, देवादिकोंसे मिलनेका सुख तथा क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा, मृत्यु इत्यादिसे रहित होनेका सुख, जो वेद पुराण द्वारा सुने जाते हैं। इसलिये ये सब **आनुश्रविकसुख** कहलाते हैं।

२. व्यतिरेक— कुछ थोडा सन्तुष्ट होकर त्यागनेकी इच्छा करनेको और ऐसा विचार करते रहनेको, कि कितने दोषोंका त्याग होगया और अब कितने दोष शेष हैं इसे **व्यतिरेकसंज्ञा वैराग्य** कहते हैं।

३. एकेन्द्रिय— त्यागकी इच्छा करते-करते जब विषय-भोगोंसे उदासीनता प्राप्त होने लगती है, तिस उदासीनताके प्रभावसे इन्द्रियोंको उन विषय भोगोंसे रोकतेरहनेको **एकेन्द्रियवैराग्य** कहते हैं।

४. आनुश्रविक— इन्हीं तीनों प्रकारके वैराग्योंको क्रमशः अभ्यास करते-करते दृष्ट और आनुश्रविक (अदृष्ट) दोनों प्रकारके भोगोंसे मनको वशीभूत करलेनेका नाम **वशीकारसंज्ञा वैराग्य** है और यही वैराग्य उक्त चारों प्रकारके वैराग्योंमें श्रेष्ठ है। इसी कारण पतंजलि भगवान्ने इस चौथे वैराग्यको (जिसे शुद्ध वैराग्य और यथार्थ वैराग्य कहते हैं) वर्णन किया है । इन चारोंका दूसरा नाम **अपरवैराग्य** भी है।

इस अपर वैराग्यसे भी परे एक परवैराग्य है जो इन चारोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि **अपरवैराग्यमें** केवल **राजस,** तथा **तामस** सुखोंका त्याग होता है और **परवैराग्यमें** सात्विक भोगोंका भी त्याग होजाता है अर्थात् राजस, तामस और सात्विक तीनों प्रकारकी तृष्णाओंसे जब रहित होजाता है तब उसे परवैराग्य कहते हैं। परवैराग्यकी प्राप्तिसे अष्ट-सिद्धियोंकी प्राप्तिके सुखोंका भी त्याग होजाता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मनको वश करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ये ही दोनों मुख्य साधन हैं ॥ ३५ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! जिसने अभ्यास और वैराग्य दोनोंका साधन करलिया और जिसने इन दोनोंमें एक भी प्राप्त नहीं किया, उन दोनों प्रकारके मनुष्योंमें क्या अन्तर है ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०—असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६

पदच्छेदः— असंयतात्मना (तत्त्वसाक्षात्कारेण वेदान्त व्याख्यानादिव्यासंगादालस्यादिदोषाद्वाऽभ्यासवैराग्याभ्याम् न निरुद्धमन्तःकरणं यस्य तेन अजितचित्तेन) योगः (मनोवृत्तिनिरोधः) दुष्प्रापः (दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यः) इति (एतादृशी) मे, मतिः (संमतिः । निश्चयः) [किन्तु] यतता (भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता । विषयस्रोतः खिलीकरणेऽप्यात्मस्रोतउद्घाटनार्थमभ्यासं कुर्वता) वश्यात्मना (वैराग्यपरिपाकेन वासनाक्षये सति वश्यत्वमापादितं मनो यस्य तेन) तु, उपायतः (अभ्यासवैराग्यरूपोपायात्) अवाप्तुम् (प्राप्तुम्) शक्यः (समर्थः) ॥ ३६ ॥

पदार्थः— भगवान् बोले (असंयतात्मना) अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने अन्तःकरणको वशीभूत नहीं करने वालेसे (योगः) यह योग (दुष्प्रापः) अत्यन्तक्लेश करनेपर भी प्राप्तहोने योग्य नहीं है (इति) ऐसी (मे) मेरी (मतिः) सम्मति है अर्थात् मैं ऐसा-

ही मानताहूं। किन्तु (यतता) जो योगी बारंबार यत्न करनेवाला है तिससे तथा (वश्यात्मना) अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मन को वशमें रखनेवाला है तिससे (तु) तो (उपायतः) उसी अभ्यास और वैराग्यरूप उपाय द्वारा यह योग (आप्तुम्) प्राप्त कियेजाने (शक्यः) योग्य है ॥ ३६ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो अभ्यास-वैराग्य युक्त तथा अभ्यास वैराग्य रहित दोनों प्रकारके प्राणियोंका अन्तर पूछा है, तिसे भगवान् भिन्न-भिन्न वर्णन करतेहुए कहते हैं, कि [**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः**] जिस योगानुष्ठान करनेवाले योगीने योग-क्रियामें प्रवेश तो करलिया और सिद्धियोंकी प्राप्तिकी अभिलाषासे योगमें हाथ लगादिया, योगियोंके समान स्वांग बनालिया, पर अभ्यास और वैराग्यसे शून्य होनेके कारण संयतात्मा न होसका अर्थात् अपने मनको अपने वशीभूत नहीं करसका। चंचलचित्त होनेके कारण कामादि विकारोंके फंदेमें फँसारहा । केवल पूज्यपाद होनेके तात्पर्यसे योगमें प्रवृत्त हुआ । पर यथार्थमें वृषली-स्वामी होनेके कारण पापाचरणमें समयको बिताता रहा । ऐसा मूर्ख चाहे सहस्रों वर्ष क्यों न योगानुष्ठान करता रहे उसके योगकी सिद्धि कदापि नहीं होसकती, चाहे कितना भी क्लेश क्यों न करे पर वह योगको कदापि प्राप्त नहीं करसकता । क्योंकि ऐसा प्राणी प्रबल पुरुषार्थको त्याग अभ्यास वैराग्यसे रहित हो आलसी बन केवल खाने और पीनेके यत्नमें रहता है, ऐसे ढोंगी योगीको कदापि योगकी प्राप्ति नहीं होसकती । यही मेरी सम्मति है । इस कारण वह कौन पुरुष है ? जो योगको प्राप्त

करसकता है सो हे अर्जुन सुन ! [**वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः**] अपने आत्मा अर्थात् अन्तःकरणको अपने वश करलिया है जिसने तिस यत्न करनेवालेके द्वारा यह मन वशीभूत होसकता है अर्थात् योगको प्राप्त कर सकता है। यहां भगवानने वश्यात्मना और यतता इन दो विशेषणोंका प्रयोग किया है तिसका कारण यह है, कि पूर्ण अपरवैराग्य द्वारा सर्व प्रकारके लौकिक, पारलौकिक-वासनाओंको क्षय करके वश करलिया है अपने अन्तःकरणको जिसने उसे कहिये वश्यात्मा। और विषयके सम्मुख होनेपर भी चित्तको रोकनेमें सदा यत्न करता रहता है उसे कहिये यतता। सो भगवान कहते हैं, कि ऐसे वश्यात्मा और यतता अर्थात् यत्न करतेरहनेवालेसे यह मन उपाय द्वारा वशीभूत होसकता है।

जैसे बाजीगर बनमें जा निर्भय हो प्रवल पुरुषार्थ अर्थात् पूर्ण यत्नके साथ व्याघ्र और गजको वश करलाता है। इसी प्रकार जिस योगीने अभ्यास और वैराग्यसे मनको वशीभूत करलिया है और बारंबार अहर्निश यत्न करताहुआ जो स्थिरचित्त होगया है वही योगी (शक्योऽवाप्तुमुपायतः) उपाय करके अर्थात् प्रवल पुरुषार्थ करके उस योगको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। यहां (उपायतः) कहनेका तात्पर्य यही है, कि यदि उस प्रवल पुरुषार्थमें किसी मन्द प्रारब्धके कारण किसी प्रकारका उपद्रव उपस्थित होजावे, तो योगी उपाय करके अर्थात् यत्न करके उस उपद्रवको ध्वस्त कर फिर अपने लक्ष्यकी ओर चले प्रारब्धपर नहीं बैठरहे

शंका— बहुतेरे प्राणी प्रारब्धकी प्रबलता अर्थात् मन्द-प्रारब्धको जीतनेका उद्योग करते हैं पर प्रारब्ध बलवान् होनेके कारण उनसे जीता नहीं जाता फिर उनका पुरुषार्थ (यत्न) क्या काम कर सकता है ?

समाधान— पुरुषप्रयत्न (पुरुषार्थ) दो प्रकारका है । १. उच्छास्त्र और २. शास्त्रित शास्त्रोंसे रहित यत्नोंमें परिश्रम करनेको उच्छशास्त्र और शास्त्रोंकी आज्ञानुकूल यत्नोंको शास्त्रित कहते हैं । इन्हीं दोनोंको दूसरे शब्दोंमें उन्मत्तयत्न और यथार्थयत्नके नामसे भी पुकारते हैं । तहां जो प्राणी उच्छास्त्र (उन्मत्त-यत्न) करता है उसका यत्न सिद्ध नहीं होता, प्रारब्ध उसपरे प्रबल ही रहता है । और जो शास्त्रित-यत्न (यथार्थयत्न) करता है वह सिद्धि प्राप्त करता है अर्थात पुरुषार्थ द्वारा प्रारब्धको दाबलेता है । तहां वशिष्ठजी श्री रामचन्द्रजीसे कहते हैं, कि “ सर्वमेवेह हि सदा संसारे रघुनन्दन! । सम्यक्प्रयुक्तात्सर्वेण पौरुषात्समवाप्यते ॥ उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं स्मृतम् । तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥ शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित । पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय ! । स्वं मनः पुरुषार्थेन बलेन बलिनाम्वर! ॥ प्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम् । तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन! ॥ सन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाहर । अस्यान्तु वासनावृद्धौ शुभाद्दोषो न कश्चन ॥ अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः । गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ! । ततः पक्वकषायेण नूनं

विज्ञातवस्तुना । शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना ॥"

अर्थ— हे रघुनन्दन ! इस संसारमें जितने पदार्थ हैं सबोंको सब प्राणी सम्यक् प्रकारसे पुरुषप्रयत्न अर्थात पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त करलेते हैं । सो पुरुषार्थ दो प्रकारका है-उच्छास्त्र और शास्त्रित अर्थात शास्त्रप्रतिकूलयत्न और शास्त्रानुकूल यत्न । तहां उच्छास्त्र (उन्मत्त) यत्नसे अनर्थोंकी प्राप्ति होती है और शास्त्रित (यथार्थ) यत्नसे परमार्थकी प्राप्ति होती है । वासनाकी नदी शुभ और अशुभ तटोंके मध्य प्रवाह कररही है अर्थात बासना-रूप नदीके शुभ और अशुभ दो तट हैं । इसलिये पुरुषप्रयत्न (प्रवलपुरुषार्थ) करके शास्त्रितयत्न द्वारा शुभतट (किनारे) की ओर जाना चाहिये । हे वीरोंमें श्रेष्ठ श्री रामचंद्र ! जो कदापि तुम्हारा मन अशुभमें प्रवेश करजावे तो उसी क्षण तुम अपने पुरुषार्थके वलसे उस अशुभसे मनको निकालकर शुभ पथकी ओर लगाओ ! पूर्व अभ्यासके वलसे जब तुम्हारे मनमें शुभ वासना उदय होने लगजावें तब हे शत्रुओंके नाश करनेवाले श्री रामचंद्र तुमको ऐसा जानना चाहिये, कि अब अभ्यासकी सफलता प्राप्त हुई है । यदि शुभ वासनामें कभी किसी कारणसे किसी समय किसी प्रकारका सन्देह भी उत्पन्न होआवे तो भी तुम उसी शुभ वासनाका अभ्यास करो ! क्योंकि शुभ वासनाओंकी वृद्धि होनेसे हे तात ! किसी प्रकारकी हानि नहीं होती । हे रामचंद्र ! जबतक तुम अव्युत्पन्न मनवाले हो अर्थात् जबतक अन्तःकरणकी शुद्धि होकर आत्मज्ञानकी प्राप्ति तुमको नहीं हुई है तबतक गुरु और शास्त्रोंकी आज्ञानुकूल जो कुछ निर्णय होगया हो आचरण करो ! एवम्प्रकार आचरण करते-

करते जब तुम्हारा कषाय परिपक्व होजावे और आत्मज्ञानकी प्राप्ति तथा मनका निरोध होजावे तब तुम उन शुभ वासनाओंके समूहोंका भी त्याग करदीजो।

इन वचनोंसे भी सिद्धान्त होता है, कि " पुरुषप्रयत्न " ही बलवान् है। पर वह पुरुषप्रयत्न शास्त्रित होना चाहिये उच्छास्त्र नहीं होना चाहिये। जैसे घरमें आग लगजावे तो उस समय जलके लिये कूप खोदना उच्छास्त्रयत्न है और बनेहुए कूपसे जल निकालकर अग्निको बुझादेना शास्त्रितयत्न है। इसी प्रकार इस योगमें भी प्राणी * शास्त्रित-पुरुषार्थकर विषयके स्रोतको रोक, अभ्यासके स्रोतको खोल अपने लक्ष्यपर पहुंचनेका यत्नकरे, प्रारब्धके भरोसे न बैठारहे। यहां शंका मतकरो!

अर्जुनने जो संयतात्मा और असंयतात्माका अन्तर पूछा था सो भगवानने स्पष्टकर कहदिया, कि संयतात्मा योगको लाभ करता है जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है और असंयतात्मा पतित होकर नरकोंकी यात्रा करता है ॥ ३६ ॥

---

* पुरुषार्थः= " अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः "

(सांख्यसूत्र १)

अर्थ— जिसके द्वारा तीनों प्रकारके दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होजावे उसे अत्यन्त अर्थात् प्रबल पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ और प्रारब्धका सम्बन्ध अन्योन्य है। जिस किसी कर्ममें ये दोनों एकसंग पहुंचजाते हैं तहां इन दोनोंमें घोर युद्ध होता है। अर्थात् प्रारब्धानुकूल दुःखका अवश्य भोगना और पुरुषार्थानुकूल दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति। इन

इतना सुन अर्जुन बोला—

मू०— अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण! गच्छति ॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥
एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥
॥ ३७, ३८, ३९ ॥

पदच्छेदः—कृष्ण ! (हे भक्तजनपापाकर्षणसमर्थ वासुदेव !) श्रद्धया (मोक्षे ईश्वरे चास्तिक्य बुद्ध्या) उपेतः (योगे प्रवृत्तः) अयतिः (आयुषोऽल्पत्वाद्वा वैराग्यदौर्बल्याद्वा योगमार्गेऽल्पप्रयत्नतया शिथिलाऽभ्यासः) योगात् (योगक्रियाऽनुष्ठानात्) चलितमानसः (मरणकाले चेन्द्रियाणां व्याकुलत्वेन योगाद्भ्रष्टस्मृतिः) योगसंसिद्धिम् (योगनिष्पत्त्यवस्थाम् । सम्यग्दर्शनम् । योगफलम् । मोक्षम्) अप्राप्य (अलब्ध्वा) काम् (कीदृशीम्) गतिम् (दशाम् । सुदशाम् दुर्दशाम् वा) गच्छति (प्राप्नोति) [अधुना स्वाशयं स्फुटयति]

दोनोंमें एककी हार और दूसरेकी जीत होती रहती है । इन दोनोंमें किसी एककी विशेष मुख्यता नहीं है । कोई प्रारब्धको और कोई पुरुषार्थको प्रबल कहता है । " उच्छास्त्र " यत्नसे पुरुषार्थकी असिद्धि और प्रारब्धकी प्रबलता बढी रहती है और " शास्त्रित " यत्नसे पुरुषार्थकी प्रबलता और प्रारब्धके भोगोंकी हानि हो जाती है ।

महाबाहो (भक्तोद्धारणसमर्थौ महान्तौ बाहू यस्य तत्सम्बुद्धौ) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिमार्गे) विमूढः (विक्षिप्तः अनुत्पन्नब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः) अप्रतिष्ठः (निराश्रयः देवयानपितृयानमार्गगमनहेतुभ्यामुपासनाकर्मभ्यां प्रतिष्ठाभ्यां साधनाभ्यां रहितः) उभयविभ्रष्टः (कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टः) छिन्नाभ्रम् (पूर्वस्मादभ्राद्विश्लिष्टमभ्रान्तरम्) इव (सदृशम्) कच्चित् (किम्) न (नैव) नश्यति (नष्टो भवति । विलीयते) कृष्ण ! (हे वासुदेव !) मे (मम) एतत् (एवं पूर्वदर्शितम्) संशयम् (संदेहम्) अशेषतः (सर्वतः) छेत्तुम् (निराकर्त्तुम् । अपनेतुम्) अर्हसि (समर्थोऽसि) हि (यस्मात्) त्वदन्यः (त्वत्परमेश्वरात्सर्वज्ञाच्छास्त्रकृतः परमगुरोः कारुणिकादन्यः कश्चित् ऋषिर्वा देवो वा) अस्य (योगभ्रष्टपरलोकगतिविषयस्य) संशयस्य (संदेहस्य) छेत्ता (उत्तरदानेन नाशयिता) नहि (नैव) उपपद्यते (संभवति) ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

पदार्थः— (कृष्ण !) हे भक्तोंके पापोंको खींचलेनेवाले कृष्ण ! जो प्राणी (श्रद्धया) मोक्ष तथा ईश्वरकी प्राप्तिकी श्रद्धासे (उपेतः) योगमें प्रवृत्त होकर (अयतिः) थोडी आयुके कारण अथवा पूर्णवैराग्य न प्राप्त होनेके कारण, योगका यत्न पूर्ण नहीं करसका इसी कारण (योगात्) योगसे (चलितमानसः) जिसका मन चलायमान होकर (योगसंसिद्धिम्) योगकी सिद्धिको (अप्राप्य) नहीं प्राप्त करके मृत्युको प्राप्त होगया सो पुरुष (कां गतिम्) किस-गतिको (गच्छति) प्राप्त होता है ? अब दूसरे श्लोकमें इसी तात्पर्य्यको पूर्णप्रकारसे स्पष्ट करके अर्जुन कहता है (महाबाहो !)

हे विशाल पराक्रम युक्त भुजावाले भक्त-रक्षक श्री गोविन्द! जो प्राणी (ब्रह्मणः पथि) ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें (विमूढः) मूढ है तथा (अप्रतिष्ठः) कर्म अथवा उपासना किसी प्रकारका भी आश्रय जिसको नहीं, अर्थात् किसी पथपर जिसकी प्रतिष्ठा नहीं है इसी कारण (उभयविभ्रष्टः) कर्म और ज्ञान दोनों मार्गोंमे भ्रष्ट होरहा है सो (छिन्नाभ्रमिव) छिन्न-भिन्न बादलोंके समान (कच्चित्) क्या (न, नश्यति) नाश नहीं होजाता है ?

इतना कहकर अर्जुन इस तीसरे श्लोकमें अपने मनकी सच्ची दशा प्रकटकर भगवानसे अपने संशयका नाश करनेकी प्रार्थना करता हुआ कहता है (कृष्ण!) हे कृष्ण ! (मे) मेरे (एतत् संशयम्) इस संशयको (अशेषतः) पूर्णप्रकार (छेत्तुम्) तुम नाश करनेके (अर्हसि) योग्यहो और (हि) यह निश्चय है, कि (त्वदन्यः) तुह्मारेको छोड और कोई दूसरा ऋषि वा देवता (अस्य) इस मेरे (संशयस्य) सन्देहका (छेत्ता) उत्तर देकर नाश करने वाला (न) नहीं (उपपद्यते) मिलसकता है ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

भावार्थः— भगवानने जो ३६वें श्लोकमें संयतात्मा और असंयतात्माका अन्तर दिखलाते हुए अर्जुनसे यह कहा था, कि असंयतात्मा योगको लाभ नहीं करता केवल संयतात्मा ही पुरुष प्रयत्नसे अर्थात् शास्त्रित-यत्न द्वारा योगको प्राप्त करसकता है। इस सिद्धान्तको सुनकर अर्जुन अपने मनमें विचारने लगा, कि मुझसे पुनः पुनः भगवान् कहते चले आरहे हैं, कि पूर्ण यत्न करके अभ्यास और वैराग्यकी पूर्त्तिसे

योगकी सिद्धि प्राप्त करलेनी चाहिये। पर जो स्वल्पायु है वह अपनी थोडी आयुमें इसकी पूर्त्ति कैसे कर सकता है ? यदि उसने इस योगमें प्रवेश किया पर योग पूर्ण होनेके पहले ही उसकी आयु खुटागई तो न जाने वह किस गतिको प्राप्त होगा ? इसलिये भगवान्‌से अपने इस संशयके निवारणार्थ पूछता है, कि [**अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः**] जो प्राणी योगकी प्राप्तिकी पूरी श्रद्धा रखता है, मनसे सदा उत्साह पूर्वक उस योग-पथमें प्रवेश करचुका है, गुरु द्वारा थोडा बहुत आसन प्राणायाम इत्यादि क्रियाओंको जान चुका है, केवल इतना ही नहीं वरु + साधनचतुष्टयकी भी श्रद्धा कर चुका है, मोक्षकी इच्छा करचुका है साधुसंग द्वारा जो नित्य अनित्य वस्तुका विवेक करचुका है, इस लोकसे परलोक पर्य्यन्तके सुखको अनित्य जानकर अपना मन उनसे विरक्त करनेकी श्रद्धा करचुका है, शम, दम, इत्यादि षट्-सम्पत्तियोंको प्राप्त कर मुमुक्षु होचुका है। एवम्प्रकार वह प्राणी यदि श्रद्धासे युक्त होनेपर भी आयु अल्प होनेके कारण अयति रहा और यत्नको पूर्ण न करसका वरु सामने मृत्युको खडी देखकर " **योगाच्चलितमानसः** " योग-साधनसे संयोगवशात् ऐसे चञ्चल मन होगया जैसें कोई बुद्धिमान् किसी बनमें चलते—चलते किसी

+ साधनचतुष्टय— १. नित्यानित्यवस्तुविवेक २. इहामुत्रफलभोगविराग, ३. शमदमोपरमतितिक्षाश्रद्धादि सम्पत् और ४. मुमुक्षुता। ये ही चारों साधनचतुष्टय कहलाते हैं।

व्याघ्रसे घेरा जाकर व्याकुलचित्त होजाता है । उसकी विद्या और बुद्धि सब लुप्त होजाती हैं । इसी प्रकार वह श्रद्धावान् साधक भी औचट् मृत्युको सन्मुख देख व्याकुलचित्त हो योगसे चलायमान होगया तो

[अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति]

योगके फलकी प्राप्ति न करके हे भक्तोंके संशयके आकर्षण करनेवाले श्री कृष्ण ! ऐसा प्राणी किस गतिको प्राप्त होता है ? अर्थात् सुगतिको प्राप्त होता है या दुर्गतिको ? सो मुझे समझाकर कहो । क्योंकि यदि उसकी श्रद्धाकी ओर दृष्टि कीजाती है, तो वही सुगतिका अधिकारी समझा जाता है । पर उसके भ्रष्ट योगकी ओर दृष्टि करनेसे वही कुगतिका अधिकारी समझाजाता है इसलिये हे भगवन् ! **[कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति]** ऐसा प्राणी उभयभ्रष्ट होकर अर्थात् कर्म, उपासना दोनोंमें किसी साधनको पूर्ण न करके, छिन्न-भिन्न होकर बादलोंके बिलाजानेके समान क्या नहीं बिलाजाता है ? अर्थात् जो साधक न तो कर्मकाण्डहीकी समाप्ति करसका, न मोक्षका मार्ग बनासका, न × देवयान होकर जानेका अधिकारी बनसका और न पितृयान होकर पितृलोक जानेका अधिकारी होसका। इसलिये हे गोविन्द ! "उभयविभ्रष्टः" दोनों ओरसे भ्रष्ट रहा न इधरका रहा न उधरका हुआ और इसी कारण "अप्रतिष्ठः" निराश्रय होरहा, किसी उच्चस्थानमें प्रतिष्ठा नहीं पासका अर्थात् इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक आदि लोकोंमें भी नहीं स्थिर होसका ।

× देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गोंका वर्णन आगे अध्याय श्लोक में किया हुआ है देखलेना ।

अथवा किसी देव देवीमें जिसका आश्रय भी नहीं होसका और योगकी सिद्धि न प्राप्त होनेसे चंचलचित्त होनेके कारण उपासनाकी भी पूर्त्ति न करसका। इसलिये मरणकालमें किसी प्रकारका सहारा न पाकर व्यग्र होगया तो ऐसा प्राणी क्या नष्ट नहीं होजाता है ? क्योंकि [अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि] हे महाबाहो ! भक्तजनोंके उद्धार करनेके निमित्त पराक्रम युक्त विशाल भुजावाले श्री वासुदेव ! वह प्राणी अप्रतिष्ठ रहा और ब्रह्मतत्त्वसे विमूढ रहा अर्थात् न तो किसी लोकमें प्रतिष्ठा पासका और न ब्रह्माकार होसका तो क्या उसकी दुर्गति नहीं समझी जायगी ? अर्जुनके पूछनेका यह तात्पर्य्य है, कि जो प्राणी उक्त प्रकार उभयभ्रष्ट है, अप्रतिष्ठ है और ब्रह्मतत्त्वसे विमूढ है पर योगकी श्रद्धा करचुका है और योगमें हाथ लगाचुका है तो क्या उस प्राणीको सुगति प्राप्त नहीं होगी ? क्या उस प्राणीको कहीं कुछभी आश्रय न मिलसकेगा ?

इतनी वार्त्ता कहकर अर्जुन श्यामसुन्दरसे प्रार्थना करता है, कि [एतन्मे संशयं कृष्ण ! छेत्तुमर्हस्यशेषतः] हे कृष्ण ! भक्तोंके हृदयकी शंकाओंको शीघ्र अपने मधुर और मृदु वचनों द्वारा खींच लेनेवाले ! यह जो इतना मेरा संशय है उसे तुम्हीं पूर्णप्रकार छेदन करनेके योग्य हो सो नाश करो !

यहाँ अर्जुन युद्धके समय रणमें उपस्थित वीरोंको देख और श्यामसुन्दरसे बार-बार युद्ध करनेकेलिये प्रेरित हो मनमें यों विचाररहा है, कि श्यामसुन्दर जिस आत्मज्ञान-प्राप्तिका मार्ग बतारहे हैं वह

अवश्य साधन करने योग्य है । भगवान् यह कहचुके हैं, कि तुझको **कर्मयोग** और **ज्ञानयोग** जिनसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है लाभ होंगे । अर्जुन अपने मनकी ऐसी दशा और अपनी अवस्थाका विचार कररहा है, कि अभी तो मैं रथपर युद्धकेलिये उपस्थित हूं इस रणभूमिसे कादरोंके समान भाग भी नहीं सकता और इधर श्यामसुन्दर भी युद्ध करवानेकेलिये मेरे पीछे पडेहुए हैं इनकी प्रबल प्रेरणा मुझसे अवश्य युद्ध करवावेगी । इधर इस गीता-शास्त्रका उपदेश सुनकर मैं ऐसा मोहित होरहा हूं, कि मेरे चित्तमें कर्मयोगकी पूर्त्तिकर उपासनाका साधन करतेहुए ज्ञानयोगकी प्राप्तिकी श्रद्धा उपज रही है । पर इस समय यदि मैं भीष्म और द्रोण इत्यादिके बाणोंसे रणमें मारागया तो मैं **उभयभ्रष्ट** होजाऊंगा । यदि युद्धमें मारेजानेसे स्वर्ग भी लाभ हो तो भी भगवान्के वचनानुसार उसके सुखमें फँसजानेसे वैराग्यकी सिद्धि न होगी और जब ऐसे वैराग्यकी ही सिद्धि न हुई तो मैं दोनों ओरसे गया । क्योंकि नश्वर होनेसे स्वर्ग सुखमें मेरी प्रवृत्ति ही न होगी और इधर ज्ञानयोग साधन न होनेसे ब्रह्मकी प्राप्ति भी न होगी तो पहले मैं ही एक पुरुष ऐसा हूं, कि रणमें मारेजानेसे **उभयभ्रष्ट** होजाऊंगा । फिर न जाने मेरी क्या दुर्गति होगी ? इसलिये सन्देहके मिससे मानो अपनी दशा भगवान्के सम्मुख प्रकट करताहुआ कहरहा है, कि [**त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते**] तुमको छोड दूसरा कोई भी मेरे इस संशयका नाश करनेवाला नहीं है। क्योंकि तुममें अतिशयज्ञान है ।

निरतिशय उसे कहते हैं जिससे बढकर कोई ऋषि वा देवता

अतिशय-ज्ञानवाला नहीं है। प्रमाण— "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (पतं० अ० १ सू० २५) अर्थात् (तत्र) तिस ईश्वरमें जो निरतिशय ज्ञान है वही उस ईश्वरके सर्वज्ञ होनेका बीज है । मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिसमें निरतिशयज्ञान है वही सर्वज्ञ है ।

शंका— क्या ब्रह्मादि देव सर्वज्ञ नहीं हैं ?

समाधान— नहीं है क्योंकि " स एव सर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० अ० २ सू० २६) अर्थ— वही महापुरुष कालसे अवच्छिन्न नहीं होनेके काल, ब्रह्मादि देवोंका भी गुरु है । क्योंकि वे कालसे अवच्छिन्न हैं । इसलिये ईश्वर नहीं होसकते । शंका मतकरो !

इसी तात्पर्यसे अर्जुन प्रार्थना करता है, कि हे कृष्ण ! तुम सब के गुरु हो । तुमसे बढकर कोई दूसरा मेरे इस संशयका निवारण करनेवाला मुझे तीनकालमें भी प्राप्त नहीं होसकता । हे दयासागर ! जो तुम ब्रह्मादिको भी शीघ्र प्राप्त नहीं होते सो न जाने मेरी किस प्रबल तपस्यासे हे जगद्गुरो ! जगदभिराम आज तुम मुझको ऐसे सस्ते मिल गये हो ! फिर ऐसा कौन होगा ? जो अमृतसागरको छोड मृगतृष्णाके हाथ लग जलके पीछे दौडेगा ? हे भगवन ! कृपा कर तुम ही मेरे संशयका नाश करो ! ॥ ३७, ३८, ३९ ॥

अर्जुनके इस गंभीर आशयको श्रवण कर भगवान अगले श्लोकोंमें उत्तर देतेहुए कर्मकाण्डका विषय समाप्त करते हैं ।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मू०—पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्र !) न (नहि) इह (अस्मिन् मनुष्यलोके) न (नैव) अमुत्र (परस्मिन्लोके) एव (निश्चयेन) तस्य (श्रद्धयोपेतस्य योगभ्रष्टस्य) विनाशः (विध्वंसः । प्रणाशः । क्षयः । उच्छेदः) विद्यते (संभवति) हि (यस्मात् कारणात्) [हे] तात ! (लोकरीत्या लालने सम्बोधनम्) कश्चित् (कोऽपि नरः) कल्याणकृत् (शुभकारी परमपुरुषार्थसाधकः) दुर्गतिम् (कुत्सितां गतिम् । इह अकीर्त्तिम् परत्र कीटादि नारकी-योनिम) न (नैव) गच्छति (प्राप्नोति) ॥ ४० ॥

पदार्थः— हे (पार्थ !) पृथाका पुत्र अर्जुन ! (न) न तो (इह) इस लोकमें (न) न (अमुत्र) परलोकमें (एव) निश्चय करके (तस्य) तिस श्रद्धासे युक्त योगभ्रष्टवालेका (विनाशः) किसी प्रकार भी नाश (विद्यते) संभव होता है । अर्थात् योगभ्रष्ट प्राणीका कहीं भी नाश नहीं होता (हि) क्योंकि (तात !) मेरे प्राणप्रिय अर्जुन ! तू निश्चय जानले, कि (कश्चित्) कोई प्राणी (कल्याणकृत्) शुभ कर्म करनेवाला (दुर्गतिम्) किसी प्रकारकी दुर्गतिको (न) नहीं (गच्छति) प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो संसारके कल्याणके निमित्त तथा अपनी सुगतिके निमित्त भगवानसे प्रश्न किया है, कि जो श्रद्धावान् पुरुष अपने

कल्याण निमित्त योगसाधनमें प्रवृत्त हुआ, पर पूर्ण न करसका, मृत्युके वश होगया तो ऐसे प्राणीकी क्या दशा होगी ? तिसका उत्तर देते हुए श्यामसुन्दर कहते हैं, कि [**पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते**] हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! कि जो प्राणी मोक्षकी इच्छा से तथा भगवत्स्वरूप-प्राप्तिकी अभिलाषासे अभ्यास और वैराग्यमें हाथ लगावे पर प्रारब्धवश मृत्यु उपस्थित होजानेसे अपने योगकी पूर्त्ति न करसके, तो ऐसा कदापि नहीं होसकता, कि वह आकाशके बादलोंके समान देखते-देखते नष्ट होजावे अथवा किसी दुर्गतिको प्राप्त हो । अर्थात ऐसा पुरुष जिसने तनक भी योगमार्गकी ओर श्रद्धा की है चाहे उसका अभ्यास पूर्ण हो वा न हो कदापि नाशको नहीं प्राप्त होसक्ता। न तो इस लोकमें वह किसी नीच-योनिको जासकता है, न परलोकमें नरकको प्राप्त होसकता है । क्योंकि उसके आचरण ऐसे भ्रष्ट नहीं हैं, कि उसे नीच-गतिकी ओर लेजावें ।

इसी विषयको भगवान् अर्जुनके प्रति समझारहे हैं, कि [**न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात! गच्छति**] हे *तात

* तात शब्द कहकर वही पुकारा जाता है जो अपना परम प्रिय होता है, जिसपर बड़ी अनुकम्पा होती है । " तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तात उच्यते, पितेव पुत्र पुत्रोऽपि तात उच्यते, शिष्योऽपि पुत्रतुल्य उच्यते " अर्थात् पुत्र-रूपसे पिता अपनेको विस्तार करता है, इसलिये पिता तात कहाजाता है तथा पुत्र भी पिता ही का रूप है इसलिये पुत्र भी तात कहलाता है और शिष्य भी पुत्र ही के तुल्य होता है इसलिये उसे भी तात कहसकते हैं ।

अर्जुन ! कोई शुभाचरण करनेवाला प्राणी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होसकता। अर्थात् जिस प्राणीने भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषासे पापाचरणोंको छोड योगमें श्रद्धा की, पर अल्पायु होनेके कारण उस योगकी पूर्त्ति न करसका तो मरणके पश्चात् उसकी * तीसरी गति नहीं होगी। अर्थात् यहां वहां कहीं भी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होगा, न किसी नीच-योनिमें जावेगा और न नरकमें जावेगा। भगवान् अर्जुनके हृदयकी बात समझगये हैं, कि अर्जुन भीष्म और द्रोणके बाणोंका भय करके अपनेको मृत्युके मुखमें समझ रहा है और इधर मेरे वचनोंसे इसको ब्रह्मपथमें श्रद्धा उपज रही है अतएव व्याकुल होरहा है। इसलिये पहले अर्जुनको सन्तोष देनेके तात्पर्यसे भगवान् कहते हैं, कि हे तात अर्जुन ! तू किसीसे भय मत कर ! तू मेरा प्रिय है, तुझपर मेरी पूरी कृपा है, तुझको इस रणमें मैं कभी नहीं मरनेदूंगा। यह वचन स्पष्ट-रूपसे न कहकर तात शब्दसे सम्बोधन करतेहुए कहते हैं, कि हे मेरा परम प्रिय अर्जुन ! जिसने श्रद्धापूर्वक योगमें चित्त लगादिया है, जो

---

* श्रु० — "अथैतयोः पथो नर्कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्य स कृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेतत्तृतीयꣳ स्थानम्........"

अर्थ— पूर्वोक्त देवयान और पितृयान इन दोनों मार्गोंके जो अधिकारी नहीं होते हैं वे अति तुच्छ कीट मशकादि योनियोंको सदा प्राप्त करते हैं। क्योंकि भगवान् उनके अशुभ कर्मोंके कारण उनसे यों कहते हैं, कि बार-बार जन्मते और मरते रहो यही तीसरा स्थान अर्थात् तीसरी गति है।

कल्याणकृत् है अर्थात् शोभन कर्मोंका करनेवाला है उसकी दुर्गति कदापि नहीं होसकती। यद्यपि वह योगी सिद्धि प्राप्त नहीं करसका तथापि योगकी भावना तो उसके हृदयमें बनीहुई है। इसलिये वह दुर्गतिके क्लेशोंसे बच ही जाता है। भगवान् पतंजलि भी ऐसा ही कहते हैं, कि—

" विशेषदर्शिनं आत्मभावभावना विनिवृत्तिः " (प० अ० ४ सू० २५)

अर्थ— विशेषदर्शी अर्थात् ज्ञानीको आत्मभावकी भावना होनी ही उसके संसारकी निवृत्तिका कारण है। जैसे वर्षाकालके समय पृथ्वी पर तृण और अंकुरोंके जमनेसे अनुमान होता है, कि इनमें जो बीज-शक्ति है अब तिसकी वृद्धि होगी। इसी प्रकार जो प्राणी मायासे तथा अशुद्ध आचरणोंसे रहित होकर कुछ विशेषदर्शी हुआ है, जिसने यह जाना है, कि इस सृष्टिका महाकारण कोई ईश्वर है उसकी ओर चलना चाहिये तथा गुरुदेवोंकी शरण जा मोक्षमार्गको पूछना चाहिये वही प्राणी विशेष-दर्शी कहाजाता है। ऐसे प्राणीकी पहचान यह है, कि मोक्षमार्गकी बातोंको सुनकर उसे आनन्द होता है, आंखोंमें आंसू तथा रोमांचसे गद्गद होजाता है। ऐसेको देखकर अनुमान होता है, कि इसमें अब संसृतिकर्मोंसे निवृत्तिकी सत्ता उत्पन्न होरही है। इसीलिये विशेपदर्शी जो आत्मभावकी भावना करनेवाला है "कल्याणकृत" कहा जाता है। इसीके विषय भगवान् कहते हैं, कि हे तात अर्जुन ! " न हि-कल्याणकृत कश्चित " कोई शुभाचारी पुरुष दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। जब ही प्राणीमें आत्मभावकी श्रद्धा उत्पन्न होती है तब ही वह ऐसे विचारने लगजाता है, कि मैं कौन हूं ? कौन था ? क्या था ?

यह जो संसार दृश्य होरहा है क्या है ? कैसे है ? आगे क्या होगा ? मैं क्या होजाऊंगा ? मेरी क्या दशा होगी ? एवम् प्रकार विचारते-विचारते जो मृत्युको प्राप्त होजाता है वह यद्यपि देवयान और पितृयान दोनों मार्गोंमें किसीको प्राप्त न करसके तथापि उसकी दुर्गति नहीं होती, सुगति होती है ॥ ४० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! यदि उस प्राणीकी दुर्गति नहीं होती है, तो उसकी सुगति अर्थात् मोक्षमार्गकी ओर बढनेकी चाल किस प्रकार बनती है ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन ! सुन —

मू०—प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

पदच्छेद:—* योगभ्रष्टः (योगमार्गे प्रवृत्तस्त्यक्तसर्वकर्मा भगवत्स्वरूपमलब्ध्वैव मृतः) पुण्यकृताम् (शोभनकर्मानुष्ठातॄणाम् अश्वमेधादियाजिनाम्) लोकान् (स्वर्लोकादीन्) प्राप्य (गत्वा । लब्ध्वा) [तत्र] शाश्वतीः (असंख्याताः) समाः (सम्वत्सरान्) उषित्वा (वासं कृत्वा । दिव्यान् भोगान् अनुभूय) शुचीनाम् (स्वधर्माचरणेन पवित्राणाम् । सदाचाराणाम्) श्रीमताम् (महदैश्वर्यसम्पन्नानाम्) गेहे (गृहे । कुले) अभिजायते (उत्पद्यते) ॥ ४१ ॥

* योगभ्रष्टोऽपि द्विविधः— एको मन्दाभ्यासवान् मृतः । द्वितीयः चिरकालाभ्यस्तयोगः आसन्नफलकाले मृतः ।

पदार्थः— (योगभ्रष्टः) योगमार्गमें प्रवृत्त होकर जो पूर्ण न करसका मध्यमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ ऐसा जो योगभ्रष्ट प्राणी है वह (पुण्यकृताम्) नाना प्रकारके पुण्यकर्म करनेवालों के प्राप्त होने योग्य (लोकान्) स्वर्गादि लोकोंको (प्राप्य) प्राप्त करके तहां (शाश्वतीः) बहुत (समाः) वर्षोंतक (उषित्वा) निवास करके फिर (शुचीनाम्) पवित्र आचरण करनेवाले (श्रीमताम) धनवानोंके (गेहे) घरमें अर्थात् कुलमें (अभिजायते) उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥

भावार्थः— श्यामसुन्दर आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र बोले हे अर्जुन ! तूने जो योगभ्रष्टकी गतिके विषय प्रश्न किया तिसका उत्तर सुन ! (योगभ्रष्टः) योगसे भ्रष्ट प्राणियोंके दो भेद हैं— प्रथम मन्दाभ्यासी अर्थात् वह जिसने योगका आरम्भ तो करदिया पर मन्द अभ्यासके कारण शीघ्र मृत्युको प्राप्त होगया अर्थात् अन्तःकरणकी स्वच्छता प्राप्त न होनेके कारण मृत्युके समय विषयमें उसकी थोडी बहुत प्रवृत्ति बनी रही। दूसरा चिरकालाभ्यासी अर्थात् वह जिसने अन्तःकरण की शुद्धि लाभ करतेहुए विषयोंकी कामना त्याग, योगकी पूर्ति करते-करते फल लाभ होनेके समय मृत्युके वश पडगया। अब मैं तुझे पहले मन्दाभ्यासी योगभ्रष्टकी गति सुनाता हूं सुन !

[प्राप्य पुण्यकृताल्लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः]

जो मन्दाभ्यासी योगभ्रष्ट अपने मन्द अभ्यासके कारण योगकी पूर्ति न करसका वह वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक इत्यादि लोकोंको

प्राप्त होकर तहां सहस्रों वर्षों तक निवास करता है और नाना प्रकार के सुखोंको भोगता है ।

तहां कौन-कौनसे सुख भोगनेमें आते हैं ? पद्मपुराण भू खण्ड अध्याय ६ में जैमिनि सुबाहुसे कहते हैं सुनो ! पाठकोंके बोधार्थ वर्णन किये जाते हैं ।

"नन्दनादीनि दिव्यानि रम्याणि विविधानि च ।
तत्रोद्यानानि पुण्यानि सर्वकामशुभानि च ॥
सर्वकामफलैर्वृक्षैः शोभितानि समन्ततः ।
विमानानि सुदिव्यानि परीतान्यप्सरो गणैः ॥
सर्वत्रैव विचित्राणि कामगानि रसानि च ।
तरुणादित्यवर्णानि मुक्ताजालान्तराणि च ॥
चन्द्रमण्डलशुभ्राणि हेमशय्यासनानि च ।
सर्वकामसमृद्धाश्च सुखदुःखविवर्जिताः ॥
नराः सुकृतिनस्ते तु विचरन्ति यथासुखम् ।
न तत्र नास्तिका यान्ति न स्तेया नाजितेन्द्रियाः ॥
न नृशंसा न पिशुनाः कृतघ्ना न च मानिनः ।
सत्यास्तपःस्थिताः शूरा दयावन्तः क्षमापराः ॥
यज्वानो दानशीलाश्च तत्र गच्छन्ति ते नराः ।
न रोगो न जरामृत्युर्न शोको न हिमादयः ॥
न तत्र क्षुत्पिपासा च कस्य ग्लानिर्न दृश्यते ।
एते चान्ये च बहवो गुणाः सन्ति तु भूपते ! ॥"

अर्थ— तहां तिस इन्द्रलोकमें नाना प्रकारके नन्दनादि बन बड़े रमणीय और दिव्य हैं जहां भांति-भांतिके परम पवित्र उद्यान

अर्थात् पुष्प-बाटिकाएँ लगी हैं। जिनके देखनेसे मानो सर्व प्रकारके मनमांगे आनन्दोंकी पूर्त्ति होती है। जिनके चारों ओर यथेष्ट फलोंसे लदेहुए सुन्दर-सुन्दर वृक्ष लगे हैं। जहां बडी-बडी सुन्दर अप्सराओंसे भरेहुए दिव्य विमान सवारीके लिये मिलते हैं। जहां देखिये तहां ही विचित्र प्रकारके मनमाने रसभरे पदार्थ सुशोभित हैं। बालरविकी ज्योतिके समान मुक्तासे गुथीहुई जालियां पडीहुई हैं। चन्द्रमण्डलकी किरणोंके समान उज्वल वस्त्रोंसे अलंकृत शय्याएँ और आसन बनेहुए हैं। जो कुछ मनोवांच्छित हो उसी प्रकारकी विभूतियोंके साथ दुःखसे वर्जित पुरुष सुख पूर्वक विहार करते हैं। ऐसे स्वर्गलोकमें नास्तिक, चोर, अजितेंद्रिय (कामी) निर्लज्ज, निन्दक, कृतघ्न (उपकारके बदले अपकार करने वाले) अहंकारी इत्यादि नहीं जासकते हैं। वरु सत्यवादी, तपस्वी, शूर, दयावान्, क्षमाशील, विविध प्रकार यज्ञोंके करनेवाले और दानी जाकर प्रवेश करते हैं। वहां न रोग है, न जरा (बूढापन) है, न मृत्यु है, न शोक है, न हिमादिका कष्ट है, न भूख है, न प्यास है और न किसी प्रकारकी ग्लानि है। इनसे अतिरिक्त हे भूपते! और भी अनेक प्रकारके गुण स्वर्गमें हैं।

एवम्प्रकार जो योगभ्रष्ट इन्द्रलोकका अधिकारी होता है वह उक्त सुखोंको भोगता है। जो अधिकारी इससे भी अधिक परिश्रम करगया है उसको इन्द्र भी स्वयं बडे आदर और सत्कार-पूर्वक अपने साथ विमानपर चढा प्रजापतिलोकको पहुंचाता है। तहां सो प्राणी प्रजापतिलोकके आनन्दको जो इन्द्रलोकसे (१००००) दस सहस्रगुण

अधिक है बहुतकालतक भोगता है। इन योगभ्रष्टोंमें जिसने योगमार्गमें कुछ और अधिक प्रवेश करलिया है उसे तो प्रजापति भी आदरऔर सत्कारपूर्वक ब्रह्मलोकको पहुंचाता है। सो ब्रह्मलोकके सुखको (शाश्वतीः समाः) बहुतकालतक भोगता है। प्रमाण— श्रु० "स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारोहृदो मुहूर्त्ता येष्टिहा विजरा नदी तिल्यो वृक्षः सायुज्यं संस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ विभुं प्रमितं विचक्षणाऽसन्ध्यमितौजाः पर्यंकः प्रिया च मानसी ...."

(कौषीतक्यु० अ० १ मं ३ में देखो)

अर्थ— सो योगभ्रष्ट-पुरुष प्रथम अन्य लोकोंसे होताहुआ वरुणलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक इत्यादिका आनन्द लेताहुआ ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है । अर्थात् जिस योगीने मरनेसे पहले इस संसारमें जितना अधिक योग साधनकिया तदनुसार अधिकसे अधिक लोकोंके सुखोंको प्राप्त होता है । इनमें जो सबसे अधिक श्रद्धावान् योगकी संप्रज्ञात-समाधि तक साधन करचुका परं असंप्रज्ञातसमाधि तक नहीं पहुंचसका मध्यमें मृत्युको प्राप्त होगया तो वह प्राणी यद्यपि योगभ्रष्ट है तथापि वह ब्रह्मलोकके सुखको प्राप्त होता है । सो श्रुति कहती है, कि (आरोहृदः) तिस ब्रह्मलोकके मार्गमें एक आर नामका हृद (तालाब) है जो अत्यन्त गम्भीर है जो ब्रह्मलोक पहुंचनेवालेको मध्य मार्गमें मिलता है अर्थात् इसका नाम × आरोहृद

× आरोहृदः— " अरिभिः कामक्रोधादिभिर्विरचितत्वेनाऽरेति नाम हृदः "

(शंकरानंदः)

इसी कारण है, कि काम क्रोधादि जो योगियोंके शत्रु हैं उनके द्वारा रचागया है इसलिये ब्रह्मलोकके मार्गमें बाधा डालनेवाला है। पर जो साधक प्रबल है वह तैरेकर निकलजाता है। इस आरोहृदके अभिमानी देवता भी हैं जो येष्टिहा कहलाते हैं। जो ब्रह्मलोक जानेवालेको बरवस रोक टोक करके हृदयमें क्रोधका उत्पादन करते हैं जिससे कच्चा अधिकारी तो व्याकुल हो उपासनाका ध्यान छोडदेता है। पर जो पक्का अधिकारी है वह इनकी एक भी नहीं मानता। इनका मानभंग करके आगे बढता है। जब आगे निकलजाता है तो एक विजरानदी और (इल्वबृक्ष) इल्वनामका वृक्ष मिलता है इसीको सोमवसन भी कहते हैं। यह विजरानदी जगको नाश करनेवाली है और उसके किनारे जो इल्वनामा वृक्ष है सो ऐसा सघन है, कि उसके नीचे जातेही उस श्रमका नाश होजाता है जो आरोहृदके तैरनेमें अधिकारीको होता है। क्योंकि इसके नीचे शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु वह रही है और इस विजरा नदीमें स्नान करनेसे सर्वप्रकारके श्रमोंका नाश होकर दिव्यमूर्त्ति अर्थात् ब्रह्मलोक निवासियोंके ऐसा स्वरूप मिलजाता है। इसी नदीके किनारे-किनारे थोडा आगे बढनेसे " **सायुज्यं संस्थानम्** " सालके बृक्षोंकी छाया अर्थात् शाखाएँ जो झुककर धनुषाकार बनगई हैं फैलीहुई हैं। जिनके नीचे अनेक प्रकारकी वाटिकाएँ कूप तडागादि वर्त्तमान हैं। तहां ब्रह्मलोक निवासियोंका संस्थान है। सो स्थान कैसा है ? कि " **अपराजितमायतनम्** " किसी अन्य देवता देवीके स्थानोंके सामने पराजित होने योग्य नहीं है। अत्यन्त सुन्दर विस्तृत ब्रह्माका निवासस्थान है, जिसके इन्द्र

और प्रजापति (द्वारगोपौ) द्वारपाल हैं। फिर वह स्थान कैसा है, कि " विभुप्रमितम् " अधिकसे अधिक ऐश्वर्य्यसे भरा है फिर " विचक्षणाऽसन्दी " जहां सभा मन्दिरके मध्य अत्यन्त कुशल तथा विलक्षण आसन्दी (वेदी) बनीहुई है जिसमें नानाप्रकारके मणि, माणिक, लाल, पिरोजा, हीरे इत्यादि जडेहुए हैं। इसीको बुद्धि और महत्तत्त्वकी वेदीके नामसे पुकारते हैं। तिस वेदीके ऊपर " अमितौजाः पर्य्यंकः " अमित पराक्रमवाली एक शय्या है जहां ब्रह्मा विराजमान होते हैं और उनके साथ मानसी प्रिया जो ब्रह्माणी है वहां विराजमान है। तहां अधिकारीजन पहुंचकर नानाप्रकारके अमितसुखका लाभ करता है। पर यहांके सुखोंको भी भोगकर फिर संसारमें लौटता है। यहां श्रुतिने जो सुख दिखलाया वह सब मानुषी सुखके स्वरूपमें दिखलाया अर्थात् उद्यान, वाटिका, स्वर्णपुष्पकी डालियां, वेदी, पर्य्यंक और प्रिया इत्यादि सब मानुषी सुखके स्वरूप हैं। पर श्रुति क्या करे मनुष्यको मानुषी सुख छोड अन्य किसी प्रकारके सुखका अनुभव नहीं होसकता। इसलिये उन विलक्षण सुखोंको मानुषी सुखके स्वरूपमें दिखलाना पडा नहीं तो यथार्थमें इन लोक लोकान्तरोंके सुख मानुषी सुखसे विलक्षण और कई सहस्रगुण अधिक हैं। विलक्षण सुखका स्वरूप भिन्न-भिन्न लोकान्तरोंमें उनके अपने शरीर इन्द्रियां और अन्तःकरणके अनुसार हैं जिन्हें वेही जानते हैं जो वहां पहुंचते हैं। अन्य नहीं जान सकते।

प्रश्न— जब योगभ्रष्ट ब्रह्मलोक तकके सुखको प्राप्त होता है

तो जो योगी सर्वप्रकार योगमें कुशल है वह किस महान् सुखको प्राप्त होता है ?

उत्तर— योगकुशल प्राणीने तो पूर्णप्रकार वैराग्यको साधनकर इस लोकसे ब्रह्मलोक तकके सुखका तिरस्कार करदिया है । वह तो केवल भगवत्स्वरूपका सुख चाहता है जिसके सम्मुख ब्रह्मलोकादिके सुख ऐसे हैं जैसे महान् समुद्रके सामने जलका एक छोटा कण । इसलिये जो परम योगी है वह ब्रह्मलोकके सुखकी ओर तो आंख उठाकर देखता भी नहीं वह तो केवल भगवत्स्वरूपको ही चाहता है । इस विषयको भगवान् पहले ही कह आये हैं, कि जो योगी सर्वप्रकारके कल्मषोंसे रहित होकर केवल आत्मामें मग्न है वही अतिशय सुखको लाभ करता है " सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते " (देखो श्लो० २८)

अब भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो अपक्वयोगी कुछ कामना लियेहुए योगभ्रष्ट होगया है वह चिरकाल पर्य्यन्त भिन्न-भिन्न लोकोंके सुखोंको भोगकर फिर इस संसारमें लौटता है तहां [शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते] सो योगभ्रष्ट पवित्र धनवान् कुलमें उत्पन्न होता है ।

शंका— पवित्र धनवान् कुल क्यों कहा ? केवल धनवान् कुल क्यों नहीं कहा ?

समाधान— धनवान् तो यवन, राक्षस, म्लेच्छादि भी होते हैं

जैसे रावण जरासन्ध इत्यादि । बहुतेरे नास्तिक भी धनवान् होते हैं बहुतेरे कसाई (चाण्डाल) भीं धनवान् होते हैं । पर ऐसे धनवान्के कुलमें योगी जन्म नहीं लेता । क्योंकि ऐसोंके कुलमें जन्म-लेनेसे बुरे सत्संगवश उसके योगकी हानि होनेकी शंका है । पर धनवान् ब्राह्मण क्षत्रिय इत्यादि उत्तम द्विजाति कुलमें जन्म लेनेसे धन द्वारा कूप, बावली, तडाग, धर्म्मशाला, यज्ञशाला, पाठशाला, देवमन्दिर, साधुओंका उत्तरणस्थान इत्यादि बनवाता रहता है । तहां कोई महात्मा विचरतेहुए पहुंचगये तो उनकी संगति होनेसे उस योगभ्रष्ट प्राणीको योगसाधनमें उन्नति करनेका अवकाश मिलता है । अर्थात् जहांसे भ्रष्ट होगयाथा तहांसे फिर उसे अपने योगके संभाल-नेका मार्ग मिलजाता है ।

शंका— क्या योगभ्रष्ट अपवित्र धनवान् कुलमें भी जन्म लेकर पराक्रम और तेजसे उस अपवित्र कुलको पवित्र नहीं करसकता ?

समाधान— हां यदि उस योगके साथ भगवद्भक्ति मिली हो तो अवश्य अपवित्रको पवित्र करसकता है । जैसे प्रह्लादभक्तने हिरण्यकश्यपके गृहमें जन्म लेकर राक्षस कुलको पवित्र करदिया और हिरण्यकश्यपको भगवान्के हाथसे बध करवाकर मुक्ति और भगवच्चरणोंकी भक्ति प्रदान करवायी । पर ऐसा संयोग बहुतही कम होता है । इसलिये यह सिद्धान्त है, कि जो योगभ्रष्ट कुछ विषयसुखकी वासना लियेहुए शरीर परित्याग करता है वह अवश्य

भिन्न-भिन्न लोक लोकान्तरोंके सुखोंको भोगताहुआ फिर लौटकर पवित्र धनवान कुलमें जन्म लेता है जहां उसे अपने योगके पूर्ण करनेका अवकाश मिलता है। प्रमाण—श्रुति० " तद्य इह रमणीयाचरणाअभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा " । (छांदो० उ० प्र० ५ श्रु० ७) अर्थ—जो इस लोकमें शुभ आचरणोंका अभ्यास करनेवाला है सो अवश्य रमणीय योनियोंको प्राप्त होता है । अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वा वैश्य योनिको प्राप्त होता है यद्यपि पवित्र धनवान-कुलमें जन्म लेनेसे प्रकारके प्रतिबन्ध (रुकावटें) योगभ्रष्टकी क्रियाकी उन्नतिमें उत्पन्न होते हैं तथापि उन प्रतिबन्धकोंको नाश करके अपने योग-पथपर आरूढ होजानेका अवकाश भी मिलता है । अर्थात् प्रतिबन्ध और अवकाश इन दोनोंमें जिसकी प्रबलता होती है वही अपनी ओर खींचलेता है इसलिये श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न होनेवाले भ्रष्ट योगियोंको स्मरण रखना चाहिये, कि किसी भी संगतिमें अपनेको न डाले । यदि ऐसी संगति सम्मुख आ भी जावे तो उसे अपने प्रबल पुरुषार्थ द्वारा हटा दिया करें ॥ ४१ ॥

यहां तक तो मंदाभ्यास वाले योगियोंकी गति कहकर अब भगवान् दूसरी श्रेणी अर्थात् चिरकालके अभ्यासवाले योगभ्रष्टोंकी गति कहते हैं जिनके हृदयसे मरणसे पहले विषयोंकी अभिलाषा छूटगई है और साधुसंगससे अभ्यास और वैराग्यकी सीढीपर चढकर योगकी पूर्त्तितक पहुँचते-पहुँचते मृत्युको प्राप्त होगये हैं ।

मू०— अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥

पदच्छेदः— अथवा (अथेत्यन्तरम् । पूर्वोक्तगति कथनान्तरम् वा) धीमताम् (तत्त्वविचारयोग्यबुद्धिमताम् । ब्रह्मविद्यावताम) योगिनाम् (ईश्वराराधन लक्षण योगवताम) कुले (वंशे) एव (निश्चयेन) भवति (जायते) हि (यत) [इह] लोके (संसारे) ईदृशम् (एतादृशम् । एवतुल्यम्) यत् जन्म (उत्पत्तिः) एतत् (एवं विधम्) दुर्लभतरम् (दुर्लभादपि दुर्लभम् । सर्व प्रमादकारण भोगवासना शून्यत्त्वेन केनचित् पुण्यातिशयेन दुर्लभम्) ॥ ४२ ॥

पदार्थः— (अथवा) अथवा वह चिरकालाभ्यासी योग भ्रष्ट प्राणी (धीमताम्) ब्रह्मतत्त्वके विचारकरने योग्य बुद्धिमान् (योगिनां) योगियोंके (कुले) कुलमें (एव) निश्चयकरके (भवति) जन्म लेता है । (हि) वस्तुतः तो (लोके) इस संसारमें (ईदृशम्) इस प्रकारका (यत् जन्म) जो जन्म है सो (एतत्) इस लोकमें (दुर्लभतरम्) दुर्लभसे भी अधिक दुर्लभ है । क्योंकि धनवानोंके कुलमें तो नाना प्रकारके विषयोंके उपद्रव बनेरहते हैं जो आगे उत्तम गतिकी उन्नतिमें प्रतिबन्धक हैं पर योगियोंके कुलमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं रहता इस कारण भगवान् कहते हैं, कि ऐसा जन्म दुर्लभतर है ॥४२॥

भावार्थः— श्री गोलोक विहारी जगत्-हितकारीने जो पूर्व श्लोकमें गति कही है वह उन योगभ्रष्टोंकी कही है जो मन्दाभ्यासके कारण कुछ विषय बासनाको लियेहुए मृत्युको प्राप्त होते हैं । इसी-कारण उनको धनवान्के कुलमें जहां नानाप्रकारके विषयोंका संग्रह रहता है जन्म लेना पडता है । पर अब इस श्लोकमें उन योगभ्रष्टों की गति कहरहे हैं जो चिरकाल योगाभ्यास करनेके कारण सर्व प्रकार की विषयबासनाओंसे रहित होजाते हैं । जिनका अन्तःकरण शुद्ध स्फटिकके समान निर्मल होजाता है । पर वे क्या करें योगकी पूर्त्ति होते-होते कालके गालमें चलेजाते हैं । इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्**] अथवा उच्च श्रेणीके योगभ्रष्टोंका जन्म उन योगियोंके कुलमें होता है जो ब्रह्म-विद्यासे सम्पन्न होनेके कारण बडे बुद्धिमान् कहलाते हैं । अर्थात् महापुरुषोंके वंशमें परम्परासे योगियों ही की उत्पत्ति होती चली आयी है ।

शंका— योगियोंका तो कुल नहीं होता है क्योंकि योगी सब प्रकारके उपद्रवोंको त्यागकर एकाकी हो ब्रह्म-पथमें समय बिताते हैं उनका कुल वा वंश कैसे बन सकता है ?

समाधान— ऐसी शंका निर्मूल है । क्योंकि योगतत्त्वके साधनकी आज्ञा केवल सन्न्यासियोंको ही नहीं है गृहस्थोंको भी पूर्ण योग करनेकी आज्ञा है । धर्मपत्नीके संग रहनेसे योगमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होसकती । देखो योगी याज्ञवल्क्यकी गार्गी और

मैत्रेयी दो धर्मपत्नियां थीं। आत्रेयीके साथ उनकी स्त्री अनसूया सदा निवास करती थी। योगके आचार्य श्री वशिष्ठजी महाराजकी अरुन्धती नामकी पत्नी सदा संगमें रहती थी। तात्पर्य यह है, कि योगियोंका धर्मपत्नियोंके संग रहना प्रसिद्ध है। इसलिये उनके वंश परम्परा होनेमें तनक भी शंका मतकरो!

शंका— भगवान्‌ने यहां योगियोंके साथ "**धीमताम्**" पदका प्रयोग क्यों किया? क्या योगी बुद्धि रहित भी होते हैं?

समाधान— भगवान्‌ने पिछले अध्यायोंमें अर्जुनके प्रति कर्मयोग और ज्ञानयोगका कथन करते चले आये हैं। जैसे अध्याय २ श्लोक ३९में कहा है, कि "**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु**" फिर अध्याय ३ के श्लो० ३ में कहा है, कि "**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्**" (इन श्लोकोंका अर्थ इन श्लोकोंकी व्याख्या में देखलो) इन श्लोकोंके अर्थके देखनेसे ज्ञात होगा, कि दो प्रकार के योगी होते हैं। एक कर्म-योगी दूसरे ज्ञान-योगी। इन दोनोंमें ज्ञानयोगियोंको बुद्धिसे सम्बन्ध है इसी कारण इस ज्ञानयोगको बुद्धि योग भी कहते हैं। पहले अधिकारी कर्मयोगका साधन करता है जब कर्मयोगका साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होजाती है तब सर्व ओरसे निष्काम होकर ब्रह्मानन्दमें मग्न होजाता है और उसकी प्रज्ञाकी स्थिरता होजाती है। इसी कारण वह स्थितप्रज्ञ कहाजाता है।

इसलिये यहां "धीमताम्" शब्द कहनेसे मूर्ख वा बुद्धिमान्का तात्पर्य्य नहीं है वरु धी शब्दसे तात्पर्य्य बुद्धियोग जो ज्ञानयोग है। इसलिये भगवानका तात्पर्य्य यह है, कि जिस योगीने कर्मयोग समाप्त करके ज्ञानयोगको भी प्राप्त करलिया है अर्थात कर्म और सांख्य दोनोंमें पूर्ण होरहा है और कैवल्य परम पदका अधिकारी होरहा है (ऐसेको ही धीमान् कहते हैं) और ऐसेहीके कुलमें चिरकालाभ्यासी निष्काम योगभ्रष्ट उत्पन्न होता है। शंकामतकरो।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म-यदीदृशम्**] इसप्रकार जो योगियोंके कुलमें जन्मलेता है सो अतिशय दुर्लभ है। अर्थात पहले जो पवित्र धनवानके कुलमें जन्म लेना कह आये तिससे अधिक श्रेष्ठ बुद्धि युक्त योगियोंके कुलमें जन्म लेनेसे योग साधनका अवकाशतो अवश्य मिलेगा। पर धनवानके कुलमें नाना-प्रकारके विषयोंका संग रहता है। इसलिये संभव है, कि विषयोंके संगसे उस प्राणीका चित्त चलायमान होजावे और बुद्धि भ्रष्ट होजावे

"मनोहराणां भोज्यानां युवतीनाञ्च वाससाम्।
वित्तस्यापि च सान्निध्याच्चलेच्चित्तं सतामपि ॥"

अर्थ— मनोहर भोजनके पदार्थ मनोहर स्त्रियों तथा मनोहर वस्त्रोंकी समीपताके कारण बडे-बडे श्रेष्ठ बुद्धिमानोंका भी चित्त चलयमान होजाता हैं इसीलिये योगियोंके लिये आज्ञा है, कि "तत्सान्निध्यं ततस्त्यक्त्वा मुमुक्षुर्दूरतो वसेत्" मुमुक्षु इनकी समीपतासे दूर रहे। सो यह बात योगियोंहीके कुलमें होसकती है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि इस प्रकारका जन्म अर्थात् योगियोंके कुलमें जन्म लेना दुर्लभ तर है। वरु दुर्लभसे भी दुर्लभ है। योगियोंके कुलमें जन्म लेना दुर्लभतर क्यों कहा? सो सुनो! योगियोंके कुलमें किसी प्रकारका उपद्रव नहीं केवल भिक्षासे पेटभर लेना, पृथ्वीपर शयन करजाना और निरुपद्रव रहकर दिनरात अपने योगकी उन्नतिमें लगे रहना है। इसलिये इस प्रकारका जन्म दुर्लभतर कहा गया है ॥ ४२ ॥

श्रीमानोंके अथवा धीमान् योगियोंके कुलमें जन्म लेनेसे योगभ्रष्टोंको योगमें उन्नति करनेका क्यों अवकाश मिलता है? सो भगवान् अगले श्लोकमें कहते हैं—

मू०— तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ! ॥ ४३ ॥

टिप्प० शंका— योगियोंको तो इच्छामरणकी प्राप्ति होती है फिर मृत्युके वश होकर योगभ्रष्ट होना क्यों कहा?

समाधान— ये दोनों बातें इच्छामृत्यु प्राप्त करनी और योगभ्रष्ट होना एक दूसरेके प्रतिकूल हैं क्योंकि जबतक योगीने पूर्ण परिश्रम करके इतना योगबल नहीं प्राप्त करलिया, कि मृत्युको जय करे तबतक वह इच्छामरणवाला नहीं कहा जासकता योगभ्रष्ट ही कहा जावेगा। ऐसेही योगभ्रष्ट योगीके लिये भगवान्ने इस श्लोकमें कहा है, कि पवित्र श्रीमान्के कुलमें अथवा धीमान् योगीके कुलमें जन्मलेगा। क्योंकि इच्छामरण प्राप्त करनेवाला तो मुक्त ही होजायगा उसे कभी किसी कुलमें जन्मलेना नहीं पड़ेगा।

पदच्छेदः—कुरुनन्दन ! (हे कुरुकुलानन्दवर्द्धन अर्जुन !) तत्र (द्विविधेऽपि जन्मनि) पौर्वदेहिकम् (पूर्वस्मिन् देहे भवम्) तम्, बुद्धिसंयोगम् (ज्ञानसंस्कारम् । यावती च योगभूमिः पूर्वजन्मनि जिता तत्र च यावान्बुद्धिलाभो जातस्तावन्तम् । गुरूपदेशश्रवणमनन-निदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्य्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्य्यन्तमेव ब्रह्मात्मैक्य विषयबुद्ध्या संयोगम्) लभते (प्राप्नोति) च (तथा) ततः (तल्लाभानन्तरम् तस्मात्पूर्वकृतात्संस्काराद्वा) भूयः (बहुतरम्) संसिद्धौ (ऊर्द्धभूमिकालाभार्थमविलम्बेन साक्षात्कैवल्यप्राप्तौ) यतते (प्रयत्नंकरोति) ॥ ४३ ॥

पदार्थः-- (कुरुनन्दन!) हे कुरुकुलके आनन्दकी वृद्धि करनेवाला अर्जुन ! सो योगभ्रष्ट (तत्र) श्रीमानोंके अथवा योगियोंके कुलमें जन्मलेकर (तम्) तिस (पौर्वदेहिकम्) पिछले शरीरवाले (बुद्धिसं-योगम) बुद्धि—संयोगको (लभते) प्राप्त करता है अर्थात् जहां-तक मोक्ष साधनकी बुद्धि पूर्वदेहमें प्राप्त करचुका था वहांतक इस दूसरे शरीरमें बिना किसी यत्नके अनायास ही लाभ करता है (ततः) तत्प-श्चात् (भूयः) फिर अधिकतर (संसिद्धौ) अर्थात् पिछली बुद्धि लाभकरनेके पीछे अगली भूमिकाकी सिद्धिकेलिये अर्थात् मोक्षतक पहुंच जानेके लिये (यतते) यत्न करता है ॥ ४३ ॥

भावार्थः—योगभ्रष्ट प्राणियोंको श्रीमानोंके तथा धीमान योगियोंके कुलमें जन्मलेने और योगमें उन्नति करनेका अवकाश क्यों मिलता है ? उसे भगवान कहते हैं, कि [तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्व-

देहिकम्] दोनों प्रकारके कुलोंमेंसे किसी एक कुलमें जन्म लेकर योगभ्रष्ट पुरुषने अपने पूर्वशरीरमें योगसाधनसे जहांतक बुद्धिका संयोग लाभ कियाथा दूसरे जन्ममें भी अनायास उसी भूमिका तककी बुद्धिका संयोग लाभ करता है। अर्थात् विना किसी परिश्रमके, विना किसी शास्त्रके अध्यन किये, विना किसीसे कुछ पूछे, आपसे आप एकवारगी उसकी बुद्धिका संयोग उसी पूर्वदेहार्ज्जित भूमिकातक पहुंचजाता है। जैसे महाराज उत्तानपादके घरमें जन्मलेकर बचपन ही से ध्रुवके हृदयमें त्यागका अंकुर उत्पन्न हुआ। कारण यह है, कि पूर्व-जन्ममें सो ध्रुव वैराग्यका साधन करचुका था इसी कारण फिर इस जन्ममें उसकी बुद्धिका वैराग्यके साथ संयोग होगया। इसी प्रकार व्यासके घरमें जन्म लेतेही शुकदेवजीकी बुद्धिका संयोग पूर्वजन्मार्जित परमहंस तत्त्वके साथ होगया इसी कारण जन्मलेतेही घरसे बाहर निकलगये।

अब भगवान् कहते हैं, कि [यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन !] हे कुरुनन्दन ! पौर्वदेहिक भूमिकाको लाभ कर इस वर्त्तमान देहमें फिर उसी भूमिकासे साधनका आरम्भ करता है और वैसेही गुरुकी शरण जापहुंचता है जो उसकी बुद्धिसंयोगसे अधिक बुद्धि-संयोग वाला हो। क्योंकि जबतक शिष्यकी अपेक्षा * गुरु अधिक भूमिकाको सिद्ध किये हुए नहीं होगा, तब तक वह गुरु उपदेश करनेका अधिकारी नहीं होसकता।

* जबसे यह गुरुप्रणाली भ्रष्ट हुई तबसे अधिकारीको उसके सन्तोषके योग्य गुरु नहीं मिलता इसलिये व्याकुल हो विना गुरु रहना पड़ता है। इसी कारण बहुतेरे जिज्ञासु सनातनधर्मसे निकल दूसरे मतमें चलेजाते हैं।

इसी कारण अधिकारीको चाहिये, कि जहां जिस गुरुसे सन्तोष हो, अपनेसे अधिक बुद्धिमान, विद्वान, योगी जो चाहे गृहस्थ हो अथवा सन्यासी हो गुरु करलेवे जिससे भगवत्स्वरूपके लाभमें सहायता मिले। क्योंकि गुरु शब्दका अर्थ ही यह है, कि " गृणाति उपदिशति वेदादि शास्त्राणि शिष्येभ्यः यद्वा गीर्यते स्तूयते शिष्यादिभिरिति गुरुः " फिर कहा है, कि " गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य हारकः। उकारो विष्णुरव्यक्तस्त्रितयात्मा गुरुः परः। अर्थ स्पष्ट है। " गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानाम्ब्राह्मणो गुरुः॥ पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राभ्यागतो गुरुः॥

अर्थ— द्विजोंका गुरु अग्नि है, वर्णोंका गुरु ब्राह्मण है। स्त्रियोंके लिये पति ही गुरु है और इन सबोंका सब देश और सब कालमें सन्न्यासी ही गुरु है। " युक्तिकल्पतरु " ग्रन्थमें लिखा है, कि " सदाचारः कुशलधीः सर्वशास्त्रार्थपारगः। नित्य नैमित्तिकानां च कार्याणां कारकः शुचिः। " अर्थ— जो सदाचारसे पूर्ण हो अर्थात सत्त्वगुण विशिष्ट जिसके आचरण हों, बुद्धिमान् हो, सर्वशास्त्रवेत्ता हो और नित्यनैमित्तिक कर्मोंका सम्पादन करनेवाला हो ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठको गुरु करना चाहिये। फिर " तंत्रसार " ग्रन्थका वचन है, कि " शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेषवान्। शुद्धाचारः सुप्रतिष्ठः शुचिर्दक्षः सुबुद्धिमान्। अर्थ— स्वभावसे सदा शान्त हो, दांत अर्थात तपक्लेशका सहनेवाला हो, इन्द्रियोंका दमन करनेवाला हो, विनय सम्पन्न और शुद्ध वेषवाला हो। यदि गृहस्थ हो तो जैसा गुरुओंकेलिये

शास्त्रने शुद्ध वेष रखना लिखा है वैसे ही वेषवाला हो, शुद्धाचार हो, व्यभिचार, कपट, छल, प्रपंच इत्यादि दुष्कर्मोंमें फंसा न हो, सुप्रतिष्ठ हो अर्थात् विद्वान् तथा बडे-बडे राजा महाराजा जिसकी प्रतिष्ठा करनेवाले हों। शुचि अर्थात् स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखता हो। दक्ष अर्थात् ज्ञानी हो और सुन्दर बुद्धिवाला हो ऐसा पुरुष गुरु होनेका अधिकार रखता है।

अब देखाजाता है, कि इन सब प्रमाणोंमें बुद्धिमान् शब्दका प्रयोग कियागया है। इसी कारण सिद्धान्त होता है, कि शिष्यकी बुद्धिका संयोग योगकी जिस भूमिका तक पहुंचगया हो उससे अधिक भूमिका तक पहुचीहुई बुद्धिवालेको गुरु करना चाहिए।

इसलिये भगवान कहते हैं, कि हे अर्जुन! योगभ्रष्ट प्राणीका ऐसे ही कुलोंमें जन्मलेना दुर्लभतर है। क्योंकि ऐसे ही कुलोंमें उससे अधिक बुद्धिमान् गुरुद्वारा उसकी अगली भूमिकाकी प्राप्तिका संयोग होता है। इसी विषयको श्री रघुकुल-नायक जन-सुखदायक भक्तवत्सल भगवान श्री कौशलकिशोर भक्तचितचोर श्री रामचन्द्रजीने संसारके कल्याण निमित्त श्री वशिष्ठजीसे पूछा है, कि— " + एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत। आरूढस्य मृतस्यास्य कीदृशी भगवन्! गतिः ॥ "

+ बुद्धिसंयोगका वर्णन जो इस श्लोकमें कररहे हैं उनका सम्बन्ध जिन भूमिकाओंके साथ होता है उन सप्तभूमिकाओंकी व्याख्या अ० २ श्लो० १८ में देखो

अर्थ— हे भगवन ! प्रथम द्वितीय और तृतीय भूमिकातक चढकर जो योगी मृत्युको प्राप्त होगया हो तो उसकी कैसी गति होती है ?

भगवान वशिष्ठ उत्तरदेते हैं, कि हे महाबाहो ! " योगभूमिकयोत्क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः । भूमिकांशानुसारेण क्षीयते सर्वदुष्कृतम् ॥

अर्थ— जिस प्राणीने योगकी सातों भूमिकाओंकी समाप्ति न करके केवल एक दो वा तीन ही भूमिकातक पहुंच शरीको छोडदिया तो ऐसे योगभ्रष्टका उसकी भूमिकाके अंशके अनुसार उसके सर्व पाप नाश होजाते हैं ।

इस वशिष्ठ वचनानुसार भी योगभ्रष्ट प्राणीको चाहिये, कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ भूमिकाओंतक पहुंचेहुए गुरुकी शरण जाकर क्रिया लाभ करे ।

शंका— श्री भगवान रामचन्द्रने तीसरी ही भूमिकातक पहुंचेहुएका प्रश्न क्यों किया ? चौथीसे सातवीं भूमिकातक जाने वालेके विषयभी क्यों नहीं पूछा ?

समाधान—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी और तुरीया इन सातों भूमिकाओंमें प्रथम तीन ही भूमिकाओंका प्राप्त करनेवाला योगी योगभ्रष्ट कहलाता है और उच्चलोकोंसे पतन होकर फिर इस संसारमें आता है । पर जिस

साधककी चौथी भूमिका समाप्त होजाती है वह तो आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करही लेता है। फिर जिसने जीते-जीते आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करलिया, संभव है, कि वह प्राणी मरणके पश्चात् मुक्त होजावे। कदाचित् चतुर्थ-भूमिकामें कुछ न्यूनताके कारण भी लौटना संभव हो तो हो पर जिस साधकने पांचवीं, छठवीं और सातवीं भूमिकाओंकी भी प्राप्ति करली वह तो अवश्य ही जीवन्मुक्ति लाभ करताहुआ विदेहमुक्त हो परमपदको लाभ ही करलेवेगा। उसका लौटना संसारमें नहीं होसकता। इसलिये भगवान श्री रामचन्द्रजीने अन्य भूमिकावालोंकी मुक्तिका अनुमान करके केवल तीन ही भूमिकावालोंके पुनरागमनके विषय वशिष्ठजीसे पूछा है। यहां शंका मत करो!

इस श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको 'कुरुनन्दन' कहकर जो पुकारा है इसका तात्पर्य्य यह है, कि भगवान्ने गुप्तरूपसे अर्जुनको यह बताया, कि तू भी पवित्र श्रीमान् कुलमें उत्पन्न है इसलिये तुझे भी योगभूमिकाकी प्राप्ति है। तू भी अवश्य अपनी योगभूमिकाकी उन्नतिकेलिये यत्न कर! ॥ ४२ ॥

अब अर्जुन भगवानसे पूछता है, कि जो योगभ्रष्ट योगीके कुलमें उत्पन्न हुआ है उसे तो सर्वप्रकारके प्रतिबन्धोंसे रहित होनेके कारण अवश्य अपनी योगभूमिकाका उद्बोध आपसे आप होजावेगा। पर जिस योगभ्रष्टने श्रीमान् कुलमें जन्मलिया उसे तो नाना प्रकारके विषय-भोगोंके कारण कठिन प्रतिबन्ध सम्मुख उपस्थित हैं इसलिये संभव है, कि ऐसे योगभ्रष्टको इस गडबडझालेमें पडकर पूर्व भूमिकाकी

विस्मृति होजावे और तहां बुद्धिका संयोग नष्ट होजावे। जब एवम्प्रकार संयोग नष्ट हुआ तो श्रीमान्कुलमें उत्पन्न प्राणीका पूर्व परिश्रम व्यर्थ गया। इसलिये हे भगवन्! ऐसे श्रीमान् कुलमें जन्मलेनेवाले पूर्वस्मृति-भ्रष्ट प्राणीकी क्या × दशा होगी ? सो कृपाकर कहो !

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

पदच्छेदः— सः (श्रीमत्कुलोत्पन्नयोगभ्रष्टः) अवशः बहूनां ज्ञानप्रतिबन्धकानां मध्ये विद्यमानतया विषयादिभिरन्यथा नियतमानः) अपि, तेन पूर्वाभ्यासेन (योगभूमिकायां पूर्वदेहे कृताभ्यासेन। प्रागर्जितयोगसंस्कारेण) एव (निश्चयेन) + ह्रियते (सर्वविरोध्यपमर्द्दनं क्रियते। सर्वान् प्रतिबन्धकानभिभूयानिच्छन्नपि योगं प्रत्याकृष्टो भवति। अकस्मादेव भोगवासनां स्ववशीकृत्य मोक्षसाधनाभिमुखो भवति) हि (यस्मात्) योगस्य (योगभूमिकायाः) जिज्ञासुः (स्वरूपम् ज्ञातुमिच्छुः) अपि, शब्दब्रह्म (कर्मप्रतिपादितं वेदांशम। वेदोक्तकर्मानुष्ठानफलम्) अतिवर्त्तते (अतिक्रम्य वर्त्तते अपाकरिष्यति) ॥ ४४ ॥

× इस शंकामें गुप्तरूपसे अर्जुनने अपनी दशा दिखलायी, कि मैं श्रीमत् कुलमें उत्पन्न हुआ हूं इसलिये यह महाभारतादि युद्ध मेरेलिये प्रतिबन्ध (रुकावट) का कारण है। सो मुझे कैसे योगतत्त्व लाभ होगा ?

+ ह्लग्नः प्रयोगेण सूचयति।

पदार्थः— (सः) श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न जो योगभ्रष्ट प्राणी है वह (अवशः) ज्ञानके प्रतिबन्धकों (रुकावटों) के वशीभूत होनेपर (अपि) भी (तेन, पूर्वाभ्यासेन) अपने पूर्व देहमें किये-हुए योगाभ्यासके संस्कारसे (एव) निश्चयकरके (ह्रियते) सब उपद्रवोंको जीतकर अर्थात् समेटकर अनायास ही अपनी योगभूमिकामें वर्त्तमान होता है (हि) क्योंकि (योगस्य) योगभूमिकाका (जिज्ञासुः) ढूंढनेवाला (अपि) भी (शब्दब्रह्म) कर्मोंके फलके कहनेवाले वेदके प्रथमभाग कर्मकाण्डको (अतिवर्त्तते) पारकर अपने योगहीमें वर्त्तमान होता है ॥ ४४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह पूछा है, कि श्रीमान् कुलमें उत्पन्न योगभ्रष्टको नाना प्रकारके विषयभोगोंके सम्बन्धसे नाना प्रकारकी रुकावटोंके कारण पूर्वजन्मार्ज्जित योगसंस्कारके नष्ट होनेका भय है वा नहीं? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए श्री आनन्दकन्द कृष्णचन्द कहते हैं, कि [पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः] जो योगभ्रष्ट प्राणी श्रीमानोंके कुलमें जन्म ले नाना प्रकारके विषयभोगोंके वश होजानेपर भी पूर्वजन्मार्ज्जित योगाभ्यासके बलसे योगकी जिस भूमिका तक पहुंच गया था वही भूमिका उसके वर्त्तमान शरीरमें विना किसी प्रयत्नके आपसे आप उत्पन्न होजाती है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। अर्थात पूर्वजन्मका योगबल स्वयं उसको अपनी ओर खींच लेता है। जैसे किसी तूँबीको उलटकर कितना भी जलके भीतर दाब लेजाओ पर वह छूटतेके साथ अवश्य पानीके ऊपर आ ही जाती है। इसी प्रकार योगभ्रष्ट भी श्रीमानोंके घरमें जन्मलेकर चाहे कितना भी विषयोंके

बोझसे दबाया क्योंन जावे तथापि पूर्वजन्मके किये हुए योगकी प्रब-लता उसे आपसे आप विना किसी यत्नके विषयोंसे निकाल उसकी ऊर्ध्वगति करदेती है। इसीसे उसकी बुद्धिका संयोग ज्ञान और योगके साथ अवश्य ही होजाता है। अर्थात् किसी न किसी समय वह विषयसे उदासीन हो योगकी ओर दृष्टि करेहीगा और योगी हो ही जावेगा।

जैसे इस वर्त्तमानकालमें भी भर्तृहरि, गोपीचन्द इत्यादि अनेक योगभ्रष्ट श्रीमानोंके घर उत्पन्न होकर भी योगी हो ही गये। विषयभोग उनको नहीं रोक सकता।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि "अवशोऽपि" विषयाधीन होनेपर भी पूर्वाभ्यासके द्वारा ह्रियते योगकी ओर खिंच जाता है। देखो! जिस समय नचिकेताके चित्तको पूर्वजन्मार्ज्जित योगबलने योगकी ओर खींचा है, वह अपने पिता यमके पास जाकर योगभूमिकाके विषय जिज्ञासा करने लगा, यद्यपि पिताने उसको योगकी ओर न जानेदेनेकी इच्छासे नाना प्रकारके विषयोंका प्रलोभन दिखलाया और कहा बेटा! योग रोगका कारण है इसलिये तू मुझसे योग छोडकर भोगके पदार्थोंको मांग! मैं तुझे देनेको तयारहूं। पर उसने कुछ न मानी योगहीकी जिज्ञासामें लगगया। प्रमाण— श्रुतिः— "शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्। भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ एततुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च। महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामांश्छन्दतः

प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः"
(कठोप० अ० १ बल्ली १ श्रुति २३ से २५ तक)

अर्थ—यम अपने पुत्र नचिकेतासे कहता है, कि हे पुत्र ! सौ वर्षकी आयुवाले बेटे पोतेको मांगले ! बहुतसी गऊ, महिषी इत्यादि पशुओंको तथा हाथी, घोडे और सोना चांदी मांगले ! पृथ्वीका बहुत बडा राज्य मांगले ! स्वयं जबतक तेरी जीनेकी इच्छा हो तबतक जीवन मांगले ! इनसे इतर भी जो कामनाएँ मनुष्योंको दुर्लभ हैं सो सब तू मुझसे यथेष्ट मांगले ! सुन्दर रमणी अप्सराओंको रथ और बाजेगाजेसमेत मुझसे मांगले ! और जो मनुष्योंके मिलने योग्य भोग नहीं हैं उनको भी मुझसे मांगले ! एवम्प्रकार मेरी दीहुई मत्प्रत्ताओं (दासियों) से तू अपनी सेवा करा ! पर केवल एक मृत्युके लिये मुझसे मत पूछ !

जब एवम्प्रकार यमने प्रलोभन देकर नचिकेताकी विरक्त बुद्धि विषयकी ओर खींचनी चाही तब नचिकेताने जो अपने पूर्वजन्मके योगबलसे विरक्त होरहा था, जिसकी बुद्धिका संयोग बलात्कार योगकी ओर खिंच रहा था, अपने पिताको यों उत्तर दिया श्रुतिः— "श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः। अपि सर्वं जीवित मल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते" (कठो० अ० १ व० १ श्रु० २६)

अर्थ— नचिकेता कहता है, कि हे मनुष्योंके अन्त करनेवाले मेरे पिता यम ! ये जो नाना प्रकारके विषय—भोगोंके सुख दिखलाये गये

कर्मकाण्डकी समाप्ति करली है । अर्थात् सन्ध्या, हवन, तर्पण, इष्टापूर्त्त, अग्निष्टोम, वाजपेय इत्यादि कर्मोंको करताहुआ उनके फलोंको भगवान्में अर्पण करताहुआ आप निष्काम हो अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करचुका है, उसे फिर लौटकर कर्मकाण्डमें फँसनेकी आवश्यकता नहीं है । जैसे धुलेहुए वस्त्रको रीठे इत्यादि लगाकर धोनेकी आवश्यकता नहीं होती । ऐसा करना समयको व्यर्थ भ्रष्ट-करना है इसलिये भगवानने ऐसा कहा, कि "शब्दब्रह्मातिवर्त्तते" योगभ्रष्टप्राणी वेदके कर्मकाण्डभागका अतिक्रमण करके आगे बढता है । जिसको अष्टांगयोगके अंगोंका छठवां अंग × धारणा भी कहते हैं और ज्ञानकी सातों भूमिकाओंमें जिसे + सत्त्वापत्तिनामा चतुर्थ भूमिका कहते हैं ।

यहां शब्दब्रह्म कहनेसे भगवान्का तात्पर्य्य वेदके कर्मकाण्डवाले प्रथम भागसे है ।

इस शब्दब्रह्मके अतिक्रमण कहनेसे भगवान्का दूसरा अभिप्राय यहभी है, कि योगशास्त्रमें शब्दब्रह्म अनाहतध्वनिको भी कहते हैं, योगी इस अनाहतध्वनिको श्रवण करते-करते परब्रह्मको प्राप्त होजाता है । अर्थात् जब इस ध्वनिको सुनते-सुनते निःशब्द ब्रह्मको प्राप्त होता है तब ऐसा कहा जाता है, कि इसने शब्दब्रह्मका अतिक्रमण किया

× धारणाका वर्णन अध्या० ४ श्लो० २६ में देखो ।

+ सत्त्वापत्तिका वर्णन अध्याय ३ श्लो० १८ में देखो ।

अर्थात् शब्दब्रह्मके पार चलागया। प्रमाण—श्रुतिः "अनाहतं च-यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्। तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः" । (अर्थ स्पष्ट हैं)

तात्पर्य्य यह है, कि शब्दब्रह्मको अतिक्रमण करके जो आगे बढता है वही पूर्ण योगी है इस अनाहतध्वनि-श्रवणको राजयोग वा शून्यसमाधि भी कहते हैं। तहां सब उपायोंमें यह उत्तम उपाय है प्रमाण— "श्री आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति। नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्।"

अर्थ—श्रीआदिनाथने उस ब्रह्ममें लयहोनेके एक करोड पच्चीस लाख उपाय कथन किये तिनमें सबसे उत्तम उपाय हम इसी नादानुसन्धानको मानते हैं।

पाठकोंके कल्याण निमित्त इस शब्दब्रह्मके अतिक्रमण अर्थात् नादश्रवणसे पार होकर ब्रह्ममें लय होनेका उपाय बतलाया जाता है सुनो! "मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शाम्भवीम्। शृणु-याद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः" ॥

अर्थ—मुक्तासन जिसे सिद्धासन भी कहते हैं (जिसके लगानेकी रीति इसी अध्यायके श्लो० ११ में बतायी जाचुकी है) तिसमें बैठकर तथा ÷ शांभवीमुद्रा लगा दोनों कर्णपुटोंके भीतर अंगुली डाल दृढता

÷ दोनों नेत्रोंको उलटकर भउहोंके भीतर लेजाकर ज्योतिदर्शन करनेको शांभवीमुद्रा कहते हैं। जिसे भगवान् अ०५ श्लो २७ में कहआये हैं "चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः" (गुरु द्वारा जानना)

पूर्वक दबाकरे एकाग्रचित्त हो, दाहिने कानकी ओर नादका श्रवण करता जावे। यह नाद + दश प्रकारेका है। श्रुतिः— स च दशविध उपजायते चिणीति प्रथमश्चिंचिणीति द्वितीयो घण्टानादस्तृतीयः शंखनादश्चतुर्थः पंचमस्तन्त्रीनादः षष्ठस्तालनादः सप्तमो वेणुनादोऽष्टमो भेरीनादो नवमोमृदंगनादो दशमो मेघनादः"

(हंसोप० श्रु० ३ में देखो)

ये दश प्रकारके नाद सुने जाते हैं इनको सुनते-सुनते जब इन दशों प्रकारके नादोंकी समाप्ति होजाती है तब केवल ॐकार प्रणव सुना जाता है। जिसको सुनते-सुनते योगी परब्रह्ममें लीन होजाता है।

इसीके विषय भगवान् यों कहते हैं, कि जिज्ञासु इस नादरूपमें शब्दब्रह्मको अतिक्रमण करके निर्जीव समाधिकी सीढी पर चढ जावे। इसी अवस्थाको शब्दब्रह्मका अतिक्रमण करना कहते हैं।

इस श्लोकमें शब्दब्रह्मसे दोनों अर्थ लेने योग्य हैं— वेदका कर्मकाण्डभाग और योगके साधनका चौथा अंग अनाहतध्वनि। जिज्ञासु इन दोनों को अतिक्रमणकर अगली भूमिकातक बढ जावे। भगवान्का यही अभिप्राय है ॥ ४४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह योगभ्रष्ट एक भूमिकाको समाप्तकर दूसरे जन्ममें दूसरी योगभूमिकाको प्राप्त करताहुआ चलाही जावेगा अथवा कहीं जाकर उसकी परमगतिका ठिकाना भी लगेगा?

+ १. चिणि, २, चिंचिणि; ३. घंटा, ४. शंख, ५. तन्त्री, ६. ताल, ७. वंशी, ८. भेरी, ९. मृदंग, और १०. मेघ ये ही दश प्रकारके नाद हैं जो कानोंके बन्द करनेसे अपने शरीरमें अनुभव होते हैं।

इतना सुन भगवान् बोले !

मू०— प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५

पदच्छेदः— योगी (श्रीमत्कुलजन्मा योगिकुलजन्मा वा योगभ्रष्टः) प्रयत्नात् (प्रकृष्टाद्धठाद्वायुनिरोधादिरूपात् खेचर्यादिमुद्राऽभ्यासाद्वा) तु, यतमानः (प्रयत्नातिरेकं कुर्वन्) संशुद्धकिल्विषः (धौतं ज्ञानप्रतिबन्धकं पूर्वजन्मोपचितयोगसंस्कारेण पापं यस्य सः) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेकेषु जन्मसु किंचित्किंचित् जातं यत् संस्कारजातं तेन संसिद्धः । अनेकैर्जन्मभिः संस्कारातिरेकेण प्राप्तचरमजन्मा) ततः (साधनपरिपाकात्) पराम्, गतिम् (मुक्तिम्) याति (प्राप्नोति) ॥ ४५ ॥

पदार्थः— (योगी) श्रीमान् अथवा योगीके कुलमें जन्म-लेनेवाला पूर्वजन्मका योगभ्रष्ट (प्रयत्नात्) बड़े उपायोंसे (तु) निश्चयकर (यतमानः) यत्नको करनेवाला (संशुद्धकिल्विषः) सर्वप्रकारके पाप, पुण्य तथा सुख दुःखादिसे शुद्ध हुआ (अनेकजन्मसंसिद्धः) अनेक जन्मोंमें थोडा-थोडा योगाभ्यासकर सिद्धिको प्राप्त होताहुआ (ततः) तिन साधनोंके परिपक्व होजानेपर (परां गतिम्) परमगति अर्थात् मुक्तिको (याति) प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पूछा था, कि योगभ्रष्ट बार-बार जन्म लेकर योगभूमिकाओंको साधन करता ही चलाजावेगा अथवा कहीं

उसका ठिकाना भी लगेगा ? तिस प्रश्नका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः] जो योगी नाना प्रकारके उपायों द्वारा यत्न करताहुआ सर्वप्रकारके उपद्रवोंसे शुद्ध होचुका है अर्थात् यम नियमके जो अंग हैं उनको बडी सावधानतासे पालन करताहुआ चलाआया है वही परमगतिका प्राप्त करनेवाला है ।

अब पाठकोंके कल्याणार्थ उन यत्नोंका वर्णन करदियाजाता है जिन्हें योगीजन अनेक जन्मोंमें थोडा-थोडा साधन करते चलेआते हैं—

अंग—१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय (चोरी नहीं करनी) ४. ब्रह्मचर्य्य (उपस्थ इन्द्रियको वशमें रखना, स्त्रियोंके रूप देखनेमें चित्त न लगाना, स्त्रियोंसे वार्त्तालाप हंसी ठट्ठेकी बातें न करनी) ५. अपरिग्रह (जो निन्दित धन, सम्पत्ति इत्यादि विषय हैं उनको अंगीकार न करना) ६. शौच (पवित्र रहना) ७. सन्तोष (आवश्यकतासे अधिक अन्न, वस्त्र, इत्यादिके संग्रहके पीछे न पचमरना) ८. तप (भूख, प्यास, शीतोष्ण इत्यादि सहना, कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत करना । जो प्राप्त हो उसीमें आनन्दित रहना तथा अन्य प्रकारके पवित्र आचरणोंका करना, सर्वसुख परित्यगकर एकान्तस्थानमें घर्म्म, वात इत्यादिके कठिन दुःखोंको सहन करतेहुए भी मन और इन्द्रियोंको एकाग्रकर भगवत्प्राप्तिके विचारमें रत रहना) ९. स्वाध्याय (अपनी शाखाके अनुसार वेदादि अध्ययनकर गायत्री वा केवल प्रणवका जप करते रहना) १०. ईश्वरप्रणिधान (अपने सब

कर्मोंको, प्राण तथा आत्माको ईश्वरमें लगादेना) ११. आसन सिद्धासन वा पद्मासन लगा स्थिरतासे सुखपूर्वक बैठना) १२. प्राणायाम (पूरक, कुम्भक, रेचक द्वारा श्वासका चढाना रोकना और उतारना) १३. प्रत्याहार (विषयोंसे चित्तके रुकनेमें जब इन्द्रियां भी उस चित्तके साथ-साथ रुकजाती हैं उसे प्रत्याहार कहते हैं तिस प्रत्याहारका अभ्यास करना) १४. धारणा (किसी एकस्थानमें वा किसी एक साकार-मूर्त्तिमें चित्तको लगादेना) १५. ध्यान (जिसमें धारणा कीगई है उसमें चित्तका डूबजाना अर्थात् उसे छोड अपनी मनोवृत्तिको अन्य किसी स्थानमें न जानेदेना) १६. समाधि (जिसका ध्यान करते हैं तिसके स्वरूपमें वृत्तियोंका लय होजाना अर्थात् ध्यान, ध्याता और ध्येयका एक होजाना) इतने अंगोंका जो साधन करता है उसीको आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने "प्रयत्नात् यतमानः" कहकर पुकारा है ।

यहां प्रयत्नात् शब्दका प्रयोग जो भगवानने यत्नकरनेवालोंके साथ किया है इसका यही तात्पर्य्य है, कि योगी अभ्यास करते-करते दृढभूमिको प्राप्त होजावे। सो केवल थोडे कालतक इन अंगोंके स्पर्श-मात्रसे हो नहीं सक्ता । इसलिये बहुत कालतक बडी दृढताके साथ इन अंगोंके अभ्यासकी आवश्यकता है । प्रमाण— "स तु दीर्घकाल-नैरन्तर्य्यसात्कारसेवितो दृढभूमिः" (पतं० पा० १ सू० १४)

अर्थ— किसी अंगके अभ्यासको दीर्घकालतक निरन्तर सत्कार पूर्वक सेवनेसे दृढभूमिकी प्राप्ति होती है अर्थात् वह क्रिया हृदयमें

जमजाती है । इस प्रकार क्रियाके साधनेवाले चार प्रकारके होते हैं, जिनका वर्णन साधकोंके हितार्थ यहां करदिया जाता है ।

"चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदुर्मध्याधिमात्रकः। अधिमात्रतमः श्रेष्ठो भवाब्धौ लंघने क्षमः॥" शिव भगवान् कहते हैं, कि साधकों में चार प्रकारके साधक होते हैं— १. मृदु, २. मध्य, ३. अधिमात्रक और ४. अधिमात्रतम। इनमें अधिमात्रतम सबोंमें श्रेष्ठ है जो संसार-सागरके लांघजानेमें समर्थ होजाता है। अब इन चारोंके लक्षण दिखलाये जाते हैं —

१. मृदुअधिकारी-- "चपलः कातरो रोगी पराधीनोऽतिनिष्ठुरः। मन्दाचारी मन्दवीर्यो ज्ञातव्यो मृदुना नरः॥ द्वादशाब्दे भवेत्सिद्धिरेतस्य यत्नतः परम्। मंत्रयोगाधिकारी स ज्ञातव्यो गुरुणा ध्रुवम्"

अर्थ— जो साधक साधनोंमें पूर्ण उत्साह नहीं रखता है, मूढ है, रोगोंसे ग्रसाहुआ है, गुरुमें दोष निकालनेवाला है, लोभी है, पापमति है बहुत खानेवाला और स्त्रीके अधीन रहनेवाला है, चंचल है, कादर है, रोगी है, पराधीन है, अत्यन्त निठुर है, मन्द आचरण करनेवाला है और मन्द वीर्य है । ऐसेको मृदुअधिकारी कहते हैं । ऐसेकी सिद्धि १२ वर्षमें बडी कठिनतासे होती है । गुरुको चाहिये, कि ऐसेको आरम्भ कालमें केवल मंत्रयोगका अधिकारी समझे । मंत्रयोगसे उसके प्रत्यवाय भी दूर होते रहेंगे और साधनमें भी कुछ कठिनता न होगी ।

२. मध्य अधिकारी— "समबुद्धिः क्षमायुक्तः पुण्याकांक्षी प्रियम्वदः । मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्यः स्यान्न संशयः ॥ एतं ज्ञात्वैव गुरुभिर्दीयते युक्तितो लयः"॥

अर्थ— जो साधक समबुद्धिवाला है अर्थात् सबके दुःख सुख को अपने आत्माके तुल्य जाननेवाला है, क्षमाशील है, सदा पुण्य-कर्मकी अभिलाषा करनेवाला है और सर्व कार्योंमें सामान्य है। वह मध्यस्थ अर्थात् मध्यसाधक कहा जाता है। गुरुको चाहिये, कि ऐसे साधकको पहचानकर लययोगका उपदेश करे।

३. अधिमात्रक अधिकारी— "स्थिरबुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि। महाशयो दयायुक्तः क्षमावान्वीर्यवानपि॥ शूरो लये च श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः। योगाभ्यासरतश्चैव ज्ञातश्चैवाऽधिमात्रकः॥ एतस्य सिद्धिः षड्वर्षैर्भवेदभ्यासयोगतः। एतस्मै दीयते धीरैर्हठयोगस्य साधनम् ॥

अर्थ— जिसकी बुद्धि स्थिर हो, लय-योगमें लगी हो, स्वाधीन हो, जिसका अपना समय अपने हाथमें रहे, वीर्यवान् हो, अर्थात् जिसका वीर्य पुष्ट हो, पराक्रमी हो, महाशय हो, दयायुक्त हो, क्षमाशील और वीर हो, ईश्वरमें लय होनेकी जिसमें श्रद्धा बनी हो, गुरुचरणोंका पूजनेवाला हो तथा योगाभ्यासमें रत हो तो ऐसेको अधिमात्रक-साधक जानना चाहिये। ऐसे साधकके योगकी सिद्धि ६ वर्षोंमें होती है। इसलिये ऐसेको हठयोगका साधन देना चाहिये।

४. अधिमात्रतम अधिकारी—

" महावीर्यान्वितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि ।
शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्ममश्च निराकुलः ॥
नवयौवनसम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः ।
निर्भयश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः ॥
अधिकारी स्थिरो धीमान् यथेच्छावस्थितः क्षमी ।
सुशीलो धर्मचारी च गुप्तचेष्टः प्रियम्वदः ॥
शास्त्रविश्वाससम्पन्नो देवतागुरुपूजकः ॥
जनसंगविरक्तश्च महाव्याधिविवर्जितः ।
अधिमात्रतयोगश्च सर्वयोगस्य साधकः ॥
त्रिभिः सम्वत्सरैः सिद्धिरेतस्य स्यान्न संशयः ।
सर्वयोगाधिकारी च नात्र कार्या विचारणा ॥ "

अर्थ— महा पराक्रमी हो, उत्साह युक्त हो, मनोज्ञ अर्थात् सबके मनको प्रिय लगे, वीर हो, शास्त्रोंका अभ्यास करनेवाला हो, ममता रहित हो, निराकुल अर्थात् सर्व गुणोंसे पूर्ण हो, नया युवा हो; मिताहारी हो, जितेन्द्रिय हो, निर्भय हो, पवित्रात्मा हो, दक्ष (ज्ञानी) हो, दाता हो सबलोग जिसका आश्रय लें, योगका अधिकारी हो, स्थिरचित्त हो, बुद्धिमान् हो, अपने कार्यमें यथेष्ट दृढ हो, धैर्यवान् तथा क्षमा करनेवाला हो, सुशील हो, धार्मिक आचरण वाला हो, गुप्तरूपसे साधन करनेवाला हो, अपना भेद किसीपर प्रकट न करनेवाला हो, प्रियवादी हो, शास्त्रोंमें पूर्ण विश्वास रखता हो, देवता

और गुरुकी पूजा करनेवाला हो, अधिक मनुष्योंका संग नहीं करने वाला हो, अर्थात् एकाकी रहनेवाला (एकान्तवासी) हो, महा रोगोंसे वर्जित हो, अणिमा सिद्धिके प्राप्त करने योग्य हो तथा जो सर्व प्रकार योगोंका साधन करनेवाला हो तो ऐसे साधकके योगकी सिद्धि तीन सालमें होजाती है इसमें संशय नहीं करना चाहिये। ऐसा पुरुष सर्व प्रकारके योगोंका अधिकारी है। गुरुको चाहिये, कि ऐसेको योग प्रदान करनेमें किसी प्रकारका विचार न करे।

शिव संहिता नाम ग्रन्थमें शिव भगवान्‌ने इस विषयको कथन किया है।

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति इसी विषयको यों कह-रहे हैं, कि प्रयत्न पूर्वक अर्थात् पूर्ण परिश्रम करके जो जहां जिस प्रकार का अधिकारी है अपने-अपने योगमें यत्न-पूर्वक स्थिर रहे। एवम्प्रकार यत्न करनेवाला अपने साधनके प्रभावसे संशुद्धकिल्विष होजाता है अर्थात् उसके शरीरमें जितने प्रकारके किल्विष रहते हैं सब ऐसे धुल जाते हैं जैसे वर्षासे धुलकर निर्मल और विमल आकाश।

अब श्री आनन्दकन्द कहते हैं, कि एवम् प्रकार निर्म्मल और निर्विकार होकर [**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**] अनेक जन्मोमें योगका साधन करते-करते अर्थात् एक-एक जन्ममें योगकी अगली भूमिकाको धीरे-धीरे साधन करते-करते जब सिद्ध होता है तब अन्तिम जन्ममें "ततः" उन साधनोंके परिपक्व होजानेसे वह प्राणी परा गति जो मुक्ति उसे लाभ करता है तथा भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति कर-

लेता है । अथवा उन चरणोंकी सेवामें लगजाता है जहांसे फिर लौट-कर असार-संसारमें जन्म नहीं लेनापडता। श्रु०— "यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते" (कठो० अ० १ वल्ली ३ श्रु० ८)

अर्थ— जो प्राणी अनेक जन्मोंमें प्रयत्न करते-करते जिस जन्ममें विज्ञानवान् होजाता है और मनोयोग देकर एकाग्र होजाता है तथा (सदा शुचिः) अर्थात् सदाके लिये पवित्र होजाता है सो प्राणी निश्चयकरके (तत्पदमाप्नोति) उस परमपदको लाभ करता है जहांसे फिर लौटकर जन्म नहीं पाता। क्योंकि अनेक जन्मोंकी सिद्धियोंके बलसे वह परमगति पाजाता है अर्थात् भगवत्की प्राप्ति करलेता है ॥ ४५ ॥

अब भगवान ऐसे अनेक जन्मोंके प्रयत्न द्वारा परमगतिको प्राप्त करनेवाले योगीकी स्तुति अगले दो श्लोकोंमें करते हुए तथा अर्जुनको

टिप्पणी— बडे शोककी वार्ता है, कि वर्तमान कालमें बहुतसे आलसी मन्दोत्साही विषय-सुखमें अपना समय बिताते हुए अपनेको ज्ञानी समझते हैं और कह उठते हैं, कि कर्म करना निरर्थक है। कर्मकाण्डसे कुछ भी लाभ नहीं होसकता। मैं ज्ञानी हूं, सर्वत्र सब ठौर पाप-पुण्यमें ब्रह्मको व्यापक जानकर समान रूपसे देखता हूं पर यदि उनके हृदयको यथार्थ-रूपसे टटोला जाय तो उनके हृदयमें कहीं भी ज्ञानका लेश नहीं पायाजाता ऐसेको 'वाचक-ज्ञानीके' नामसे पुकारते हैं। यह सिद्धान्त है, कि ज्ञानकी बातें करनेसे कोई ज्ञानी नहीं होसकता। 'निशि गृहमध्य दीपकी बातनि तम निवृत्त नहिं होई' (तुलसी) अर्थात् रातको अंधेरे घरमें रात्रिभर दीप-दीप चिल्लाते रहनेसे उजियाली नहीं होसकती।

युद्धमें तत्पर रहते हुए भी योगी ही बने रहनेकी आज्ञा देते हुए इस कर्म-विषयके वर्णन करने वाले कर्मकाण्डाख्य प्रथमषट्कको समाप्त करते हैं—

मू०—तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन!
॥ ४६ ॥

पदच्छेदः— योगी (ध्यानयोगी । अष्टांगयोगी वा) तपस्विभ्यः (कृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासादिदुःसहव्रतपरायणेभ्यः) अधिकः (श्रेष्ठः) अपि, ज्ञानिभ्यः (शास्त्रीयपरोक्षज्ञानवद्भ्यः) अधिकः (श्रेष्ठः) च (तथा) कर्मिभ्यः (अग्निहोत्रादि कर्मवद्भ्यः) अधिकः (श्रेष्ठतमः) [इति मम] मतः (अभिमतः) तस्मात (अस्मात् कारणात) [हे] अर्जुन ! [त्वमपि] योगी (योगानुष्ठायी) भव ॥ ४६ ॥

पदार्थः— (योगी) ध्यानयोगी अथवा अष्टांगयोगी (तपस्विभ्यः) तपस्वियोंसे (अधिकः) उत्कृष्ट होता है फिर (ज्ञानिभ्यः) ज्ञानियोंसे (अपि) भी (अधिकः) श्रेष्ठ होता है (च) तथा (कर्मिभ्यः) कर्म करनेवालोंसे भी (अधिकः) अत्यन्त श्रेष्ठ होता है ऐसी मेरी (मतः) सम्मति है अर्थात् ऐसा ही मैं मानता हूं (तस्मात्) इसी कारण (अर्जुन !) हे अर्जुन ! तू भी (योगी) योगहीका अनुष्ठान करनेवाला (भव) होजा ॥ ४६ ॥

भावार्थः—अब भगवान् इस अध्यायमें पूर्ण प्रकार ध्यानयोगका वर्णन कर तिसके साधन करनेवालोंकी उत्कृष्टता दिखलाते हुए कहते हैं, कि [तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः] वनमें जाकर सहस्रों वर्षोंकी तपस्या करनेवाले तपस्वियोंसे और ज्ञानियोंसे भी ध्यानयोग साधन करनेवाला योगी श्रेष्ठ होता है। अर्थात् जिसने अनेक जन्मोंमें परिश्रम कर निष्कामकर्मोके साधन और गुरुचरणसेवा द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करली है, गुरुचरण सेवा द्वारा अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करलिया है, सुख दुःखमें समबुद्धि किये हुए निस्त्रैगुण्य होरहा है, निर्द्वन्द्व है, आत्मवान् है, निःसंग है, स्थितप्रज्ञ है, निस्पृह है, निर्मम है, निरहंकार है, आत्मरत है, आत्मतृप्त है, आत्मसन्तुष्ट है, निराशी है, यतचित्तात्मा है, त्यक्तसर्वपरिग्रह है, तत्त्वदर्शी है, नैष्ठिकी शान्ति युक्त है, मोक्षपरायण है, एकाकी है, विगतभी है, मत्परायण है, नियतमानस है, अनिर्विण्णचेतस है, धृतिगृहीत बुद्धि है, आत्मभूत है, ब्रह्मभूत है, विगतकल्मष है, समदर्शी है, अभ्यास और वैराग्य साधन किये हुए ब्रह्मलोकसे पाताललोकतकके विषयोंको कूकरके उवान्तके तुल्य जानने वाला है और ब्रह्मसंस्पर्शसुखको प्राप्त करता हुआ जो भगवत्स्वरूपमें मग्न है, वही यथार्थ योगी है। इस श्लोकमें योगी शब्द कहनेसे इसी प्रकारके योगीका तात्पर्य्य है जो उपर्य्युक्त सब गुणोंसे सम्पन्न हो। अर्थात् यमनियमादिसे आरंभकर समाधितक पहुंचा हुआ हो।

भगवान् कहते हैं, कि ऐसा योगी उन तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है जो तपकरके इन्द्रलोकादि सुखोंकी वासना, अणिमादि अष्ट सिद्धियोंकी आकांक्षा, राज्य सुखकी अभिलाषा तथा किसी शत्रुके नाशकी उत्कण्ठा वनोंमें जा, सूखी पत्ति खा घोर तप करते हैं अथवा कृच्छ्र-चान्द्रायण, मासोपवासादि व्रतोंका सम्पादन करते हैं।

शंका— तैतिरीयोपनिषद्के तीसरे अध्यायमें लिखा है, कि जिस समय भृगुने अपने पिता वरुणकी शरण जाकर ब्रह्मके विषय जिज्ञासा की है और कहा है, कि " अधीहि भगवो ब्रह्मेति " हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोधकराओ, कि ब्रह्म क्या है ? तब वरुणने उत्तर दिया है, कि " तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ! तपो ब्रह्मेति " (तैत्तिरी० अ० ६ श्रु० ३६, ४०)

अर्थ— हे बेटा ! तू तप करके उस ब्रह्मको ढूंढ ! तप ही ब्रह्म है। यह श्रुति तपकी प्रशंसा करती है और तपको ब्रह्मस्वरूप कहती है। पर इस श्लोकमें भगवान् अपने मुखारविन्दसे तपकी न्यूनता और योगकी श्रेष्ठता दिखला रहे हैं ऐसा क्यों ?

समाधान— श्रुतिने जो " तपो ब्रह्मेति " कहा तहां तपका अर्थ विचार है सूखी पत्ती खाना अर्थ नहीं है सुनो ! मैं तुमको श्रुतिहीके प्रमाणसे " तप " शब्दका अर्थ सुनाता हूं। श्रु०— " मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं परमं तपः " अर्थात् मनके साथ इन्द्रियोंकी जो एकाग्रता है उसीका नाम तप है। तात्पर्य्य यह है, कि मनके साथ जब इन्द्रियां मिलकर किसी एक तत्वके पूर्ण विचारमें लगजाती हैं और

उस विचारसे उस तत्त्वका पूर्ण बोध होजाता है तब उसे तप कहते हैं। इसी विचारमें संभव है, कि शरीरकी सुधि न रहे भूख प्यास भूल जावे। सो तो योगके अन्तर्गत ही है और उसीको 'विचारणा' नामकी भूमिका भी कहते हैं, जिसे योगी पूर्व कई जन्मोंमें योगद्वारा कर चुकता है। श्रुतिने जो तप कहा उस विचाररूप तपसे और इस भगवान्के कहे "तप" का बहुत अन्तर है। शंका मतकरो सुनो!

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द जिस तपसे योगको श्रेष्ठ बतला रहे हैं उस तपके तीन भेद हैं— शारीरिक, वाचिक, और मानसिक। फिर इन तीनोंके भी तीन भेद हैं। सात्त्विक, राजस, और तामस इनमें सात्त्विक तपको तो योगी अपने पिछले ही जन्ममें अभ्यास करलेता है अर्थात् नियमपूर्वक शरीर, वचन और मनको अपने अधीन रखकर इन तीनोंको दमन कर लेता है। इसलिये यह सात्त्विक तप तो योगके अन्तर्गत ही है। अष्टांगयोगका अंग ही है। पर राजस और तामस जो दो प्रकारके तप हैं वे योगसे अत्यन्त न्यून हैं। क्योंकि वे दोनों तप सत्कार, मान और संसारमें पूजनीय होनेके लिये किये

टिप्पणी— इन तीनोंके विषय श्री कृष्णचन्द आनन्दकन्दने इस गीताके अध्या० १७ में श्लोक १४ से १६ तक विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इन ही तीनोंको दमन करनेवाले अर्थात् दण्ड देनेवालोंको सच्चा त्रिदण्डी कहते हैं। वर्षा, आतप और वातके दुःखोंको सहन करना राजसतप है और अज्ञानता पूर्वक अपने आत्माको नाना प्रकारकी की पीडा देकर तप करना अथवा पराएके नाश निमित्त तप करना तामसतप कहा जाता है।

जाते हैं । अथवा शत्रु इत्यादिके नाश करनेके लिये किये जाते हैं । इन दोनों प्रकारके तपोंके समीप तो बुद्धिमान योगी कभी जाता ही नहीं।

भगवान्‌ने जिन तपस्वियोंसे योगीको अधिक कहा है वे ये ही दो प्रकारके राजस और तामस तप करने वाले तपस्वी समझे जाते हैं । शंका मतकरो !

तपस्वियोंसे योगीको श्रेष्ठ कहकर अब भगवान् कहते हैं, कि 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' ज्ञानियोंसे भी योगियोंको मैं अधिक मानता हूं अर्थात् जो परिश्रम करके बहुत दिनों तक साधनचतुष्टयका साधन करते हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासनादिके अभ्याससे ज्ञान प्राप्तकर ज्ञानी कहलाते हैं उनसे भी योगी श्रेष्ठ है ।

शंका— पहले तो भगवान् निज मुखारविन्दसे कह आये हैं, कि "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (अ० ४ श्लो० ३८) अर्थात् ज्ञानके समान इस संसारमें अन्य कुछ भी पवित्र नहीं है और अब कहते हैं, कि ज्ञानीसे भी योगी श्रेष्ठ है । इन दोनों वचनोंमें पूर्वापर विरोध देखाजाता है जो एक प्रकारका प्रमाद है। भगवान्‌के वचनोंमें ऐसा क्यों ?

टिप्पणी— योगके दूसरे अंग नियमके भेदमें तपको रखा है । प्रमाण— "शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (पतं० पाद २ सूत्र ३२) अर्थात् योगके आठ अंगोंमें जो दूसरा अंग "नियम" है तिस नियमके जो शौच सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान पांच भेद हैं उनमें तीसरा तप है । इसलिये यह तप योगका अंग ही है ।

समाधान— साक्षात् सर्वेश्वर सर्वज्ञके वचनोंमें पूर्वापर विरोधका प्रमाद कदापि नहीं होसकता । मुख्य तात्पर्य भगवान्‌के कहनेका यह है; कि ज्ञानकी दो अवस्थाएँ हैं— परोक्ष और अपरोक्ष । इनमें वेद-शास्त्रादिके अध्ययन करनेसे तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन इत्यादिके अभ्याससे जो ज्ञानकी उत्पत्ति होती है वह **परोक्षज्ञान** कहलाता है अर्थात् केवल विद्या पढकर आत्मतत्वके विषय जो एक प्रकारका बोध होजाता है तथा सृष्टि, कर्म, प्रकृति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, विराट् इत्यादि सब मुख्य-मुख्य पदार्थोंका जो सामान्य ज्ञानमात्र होजाता है इसीको **अपराविद्या** कहते हैं। इसके द्वारा ब्रह्माण्डका परोक्षज्ञान होता है। क्योंकि केवल वेदादिके अध्ययन करनेसे यदि संसार-शोकसागरसे प्राणी तरजाता, तो सनत्कुमारके प्रति नारद ऐसा नहीं कहते, कि मैं **अपराविद्या अर्थात् वेद, वेदांग, उपवेद, इतिहास, पुराण, षट्शास्त्र, श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, दैवीउत्पातशास्त्र, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, गारुडीविद्या, गन्धर्व-विद्या, शिल्पविद्या**

टिप्पणी— अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश: । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या ह्यष्टादशैव तु ।

विद्याकी चौंसठ कलाएँ— १. गीतम् । २. वाद्यम् । ३. नृत्यम् । ४. नाट्यम् । ५. आलेख्यम् । ६. विशेषकच्छेद्यम् । ७, तण्डुलकुसुमावलिविकाराः । ८. पुष्पास्तरणम् । ९. दशनवसनांगरागाः । १०. मणिभूमिकाकर्म । ११. शयनरचनम् । १२. उदकवाद्यम् । १३. उदकघातः । १४. चित्रयोगाः । १५. माल्यग्रन्थनविकल्पाः ।

तथा विद्याकी जो ६४ कलाएँ हैं उन सबमें परिपूर्ण हूं पर शोक-सागरसे मैं तर नहीं सकता । प्रमाण श्रु०— सोऽहं भगवो मंत्र विदेवास्मि नात्मविन् श्रुतथं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्म-विदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारय-त्विति" (छां० प्र० ७ खं०१ श्रु० ३)

अर्थ— नारद सनत्कुमारसे विनयपूर्वक कहते हैं, कि हे भगवन्! मैंने सर्व विद्याओंको अध्ययन कर लिया है पर हे भगवन्! मैं केवल

---

१६. केशशेखरापीडयोजनम् । १७ नेपथ्ययोगाः । १८. कर्णपत्रभंगा । १९. गन्धयुक्तिः । २०. भूषणयोजनम् । २१. इन्द्रजालम् । २२. कौचुमारयोगाः । २३. हस्तलाघवम् । २४. चित्रशाकापूपभक्ष्यविकारक्रियाः । २५. पानकरसरागासवयोजनम् । २६. सूचीकर्म । २७. सूत्रकर्म । २८. प्रहेलिका । २९. प्रतिमाला । ३०. दुर्वाचकयोगाः । ३१. पुस्तकवाचनम् । ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शनम । ३३. काव्यसमस्यापूर्तिः । ३४. पट्टिका-वेत्रवाणविकल्पाः । ३५. तर्ककर्म । ३६. तक्षणम् । ३७. वास्तुविद्या । ३८. रूप्यरत्नपरीक्षा । ३९. धातुवादः । ४०. मणिरागज्ञानं । ४१. आकर-ज्ञानं । ४२. वृक्षायुर्वेदयोगः । ४३, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः । ४४. शुक-सारिका प्रलापनम् । ४५. उत्सादनं । ४६. केशमार्जनकौशलम् । ४७, अक्षरमुष्टिका कथनं । ४८. म्लेच्छितकलाविकल्पाः । ४९. देशभाषाज्ञानम् । ५०. पुष्पशकु-टिकानिमित्तज्ञानं । ५१. यन्त्रमातृका । ५२. धारणमातृका । ५३. सम्पाठ्यम् । ५४. मानसीकाव्यक्रिया । ५५. क्रियाविकल्पाः । ५६. छलितकयोगः । ५७. अभिधानकोषछन्दोज्ञानम् । ५८. वस्त्रगोपनम् । ५९. द्यूतविशेषः । ६० आकर्षक्रीडा । ६१. बालक्रीडाकर्म । ६२. वैनायिकीनां विद्यानां ज्ञानम् । ६३. वैजयिकीनां विद्यानां ज्ञानं । ६४. वैतालिकीनां विद्यानां ज्ञानम् ॥

वेदादिके मन्त्रोंका वेत्ता हूं आत्मवेत्ता नहीं हूं। भगवन्! मैंने आपके सदृश आत्मवेत्ताओंसे ऐसा श्रवण किया है, कि आत्माका जाननेवाला शोकसे तर जाता है। सो हे भगवन्! मैं शोकातुर होरहा हूं मुझको आप इस शोकसे पार कीजिये।

इस श्रुतिसे ही ऐसा बोध होता है, कि वेदशास्त्रमात्र पढनेवाले ज्ञानी तो हैं पर परोक्षज्ञानी कहेजाते हैं। क्योंकि वे मन्त्रमात्रसे केवल ज्ञानका अनुभव करते हैं इसलिये परोक्षज्ञानमात्र होता है। अपरोक्ष अर्थात् आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे किसी मृत्यलोक निवासीने सुना, कि इन्द्र और वरुणमें युद्ध होरहा है। वरुणकी पराजय होगई है। और इन्द्रने जय पाई है। अब विचारने योग्य है, कि सुननेवालेने न इन्द्रको देखा और न वरुणको। न उनके शस्त्र देखे, कि कैसे होते हैं? न उनकी युद्धकला देखी, कि कैसे लडते हैं? इसलिये केवल सुनने-मात्र जानते हैं। अपने युद्धके समान उनके युद्धका भी अनुमान कररहे हैं। ऐसे ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। इसी प्रकार अमृत कल्पवृक्ष, नन्दनवन इत्यादिके नाम और गुण पत्रोंमें पढने-वाले उक्त वस्तुओंका परोक्षज्ञान तो प्राप्त कर लेते हैं पर वास्तवमें वे नहीं जानते, कि इनका यथार्थ स्वरूप कैसा है? पर जिन देवता-ओंने इन पदार्थोंका प्रत्यक्ष करलिया है वे ही इनके यथार्थ स्वरूपके जानने वाले हैं।

जिस ब्रह्मचारीने बचपनसे वृद्धावस्थातक यथार्थ नैष्ठिक-ब्रह्मचारी रहकर स्त्रीसंगका सुख एकवारगी नहीं जाना है वह केवल सुनसुनाकर

कामसुखका परोक्षज्ञान रखता है पर यथार्थ कामसुखका बोध उसे नहीं है । इसीलिये कहना पड़ता है, कि केवल वेदशास्त्र अध्ययन कर शास्त्र—जनित—ज्ञान, सामान्य ज्ञान है । पर जिसने आत्म-ज्ञानका साक्षात्कार किया है अर्थात् जो आत्मज्ञानकी चौथी भूमिका तक पहुंचगया है वही यथार्थ ज्ञानी है । क्योंकि उसे अपरोक्षज्ञान प्राप्त है। जिस ज्ञानके विषय श्रुति कहती है, कि श्रु०— "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" ।

आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रने इस गीताके अध्याय १८ में श्लोक २० से २२ तक तीन प्रकारके ज्ञान बताये— १. सात्विक, २. राजस और ३. तामस इनमें सम्पूर्ण विश्वमात्रके भूतोंमें जो अभिन्न एक निर्विकार आत्मभाव देखपडता है वही सात्विकज्ञान है । और जिस ज्ञानसे इन भूतोंमें नाना प्रकारके भिन्न-भिन्न भाव देखपडते हैं वह राजसज्ञान है । फिर जो ज्ञान एक ही कार्य्यमें परिपूर्णतासे अनुरक्त है, विना प्रमाणके है तथा परमार्थका विरोधी है वह तामसज्ञान कहाजाता है ।

अब जो यहां भगवान्‌ने कहा, कि ज्ञानीसे भी योगी अधिक है इसका तात्पर्य्य यही है, कि सामान्य प्रवृत्तिवाले ज्ञानीसे अर्थात् शास्त्र-जन्य साधारण घट, पटादिके ज्ञानसे तथा राजस और तामस-ज्ञानयुक्त ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ है । पर जो ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान है तथा सात्विक-ज्ञान है वह तो योगके अन्तर्गत ही है वरु योगका अंग ही है । योगशास्त्रके कर्त्ता महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगसूत्रमें लिखते

हैं, कि " विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः " (पतं० पाद २ सूत्र २६)

अर्थ— अविप्लवा अर्थात् मिथ्याज्ञानरहित जो (विवेक-ख्याति) यथार्थज्ञान है वही सर्व प्रकारके दुःखोंकी हानिका उपाय है। दृक् और दृश्य इनका जो भेद, उसे कहिये विवेक तिस विवेकका जो ज्ञान उसे कहिये ख्याति। तहां प्रत्येक प्राणीके अन्तःकरणमें विप्लवसहित साधारण सविकल्प ख्यातिका उदय होता है अर्थात् सब वस्तुओंका साधारण ज्ञान उदय होता है इसीको परोक्षज्ञान कहते हैं। जैसे शास्त्रोंको पढकर जो शास्त्रीके अन्तःकरणमें अमृत, चिन्ता-मणि, और कल्पतरु इत्यादिका ज्ञान हुआ है वह परोक्षज्ञान है और विप्लव सहित है। पर जिसने स्वर्गमें जाकर इन वस्तुओंको अपने नेत्रोंसे प्रत्यक्ष करलिया है उसका ज्ञान अपरोक्षज्ञान कहाजाता है, और वह विप्लवसहित नहीं है। इसी प्रकार जब प्राणीका मन दृसब विषयोंसे विरक्त होकर पुरुषाभिमुख अर्थात् भगवत्सम्मुख होनेका अभ्यास करता है तिस अभ्यास द्वारा जब ध्यानसे अन्तःकरण शुद्ध और निर्म्मल होता है तब उस शुद्ध अन्तःकरणमें (अपरोक्ष) साक्षा-त्काररूप आत्मज्ञानका उदय होता है। ऐसे ज्ञानको विप्लव रहित विवेकख्याति कहते हैं। विवेकख्याति अर्थात् आत्माका अपरोक्ष-ज्ञान प्राणीको स्थिर करदेता है इसीको जीवन्मुक्त पुरुषोंका ज्ञान-वैभव भी कहते हैं। यही "हानोपायः" अर्थात् सर्वदुःखोंके नाश होजा-नेका उपाय है। अब महर्षि पतंजलि कहते हैं, कि " तस्य सप्तधा-

प्रान्तभूमिः प्रज्ञा " (पतं० पाद २ सू० ३७) इस विवेकख्याति वालेको सात प्रकारकी अन्तिम अवस्थावाला ज्ञान होता है ।

१. शान्ति— जो कुछ जानना था सब जानकर कृतकृत्य होजाना अर्थात् सर्वप्रकारकी जिज्ञासाओंकी निवृत्ति होजानी ।

२. सब प्रकारके बन्धनोंके कारण राग-द्वेषादिको त्याग देना ।

३. कैवल्यपरमपदके लाभनिमित्त जिन तत्वोंकी प्राप्तिकी आवश्यकता रहती है उन सबोंका प्राप्त होजाना अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधिसे उन्नति करते-करते असम्प्रज्ञातसमाधितक पहुँचजाना ।

४. विवेकख्यातिकी प्राप्ति-निमित्त किसी प्रकारके कर्तव्यका शेष न रहजाना अर्थात् होने न होनेके उपायोंको दृढ करलेना । इन चारों अवस्थाओंको कार्यविमुक्तिअवस्था कहते हैं ।

५. भोगोंसे उदासीन होकर ऐसा दृढ निश्चय करलेना, कि मेरी बुद्धि कृतार्थ होगयी है ।

६. बुद्धिका अपने आत्यन्तिक-स्थानको पाजाना । जैसे किसी पर्वतके शिखरसे पत्थरका एक खण्ड टूटकर चलता है तो वह बीचमें कहीं भी न अटक कर एकबारगी पर्वतके मूलमें जा पहुंचता है । इसी प्रकार बुद्धिका प्रकृतिसे चलकर अपने मूल-कारणमें लय होजाना ॥ अथवा भूने चनेके समान चित्तसे अविद्याका इस प्रकार भस्म होजाना, कि फिर कभी उसका अंकुर हृदयमें न उपजने पावे ।

७. गुणातीतस्वरूपमात्रमें स्थिर होजाना अर्थात् अपने मूलमें स्थिर होकर रहजाना। ये तीनों "चित्तविमुक्तिकी" अवस्थायें कही जाती हैं। ये ही सातों विवेकख्यातिकी सात प्रान्त-भूमि अर्थात् अन्तिम अवस्थायें कहीजाती हैं।

श्री वसिष्ठजीने भी योगवासिष्ठ-ग्रन्थमें ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कथन की हैं। इन सातोंका वर्णन इस गीताके अ० २ श्लो० १८ में देखो।

मुख्य तात्पर्य्य भगवान्‌के कहनेका यह है, कि परोक्षज्ञानवाले ज्ञानियोंसे योगी श्रेष्ठ है पर अपरोक्ष-ज्ञान तो योगीका परम धन ही है वरु योगका फल ही है। इसका कहना ही क्या है?

अब उक्त प्रकारके तपस्वियों और ज्ञानियोंसे योगीको श्रेष्ठ कहकर कर्मियोंसे भी श्रेष्ठ बतलातेहुए भगवान् अर्जुनको योगमें श्रद्धा उत्पन्न करानेके तात्पर्य्यसे कहते हैं, कि [**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवाऽर्जुन !**] कर्म करनेवाले कर्मकाण्डियोंसे भी योगी अधिक है इस कारण हे अर्जुन! तू भी योगी होजा।

तहां कर्म करनेवाले दो प्रकारके हैं प्रथम (सकाम) फलकी प्राप्तिकी अभिलाषासे कर्म करनेवाला। दूसरा (निष्काम) फलकी अभिलाषासे रहित होकर कर्म करनेवाला। इनमें प्रथम सकामवाला तो अत्यन्त ही नीच है क्योंकि श्रुतिके वचनानुसार वह दुःखका भागी होता है। श्रु०— "दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढाः। अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः।"

अर्थ— सकाम-कर्मोंके करनेवाले कर्मके फलकी इच्छा करके दन्द्रम्यमाण होकर अर्थात नाना प्रकारके कुटिल-मार्गोंमें पडकर दुःखके झोकोंसे ऐसे व्याकुल होते हैं जैसे वे अन्धे जिनका मार्ग दिखानेवाला भी अन्धा ही हो । क्योंकि अन्धा मार्गदिखानेवाला आप भी गढेमें गिरेगा और पीछे चलनेवालोंको भी गढेमें डालदेवेगा ।

तात्पर्य्य यह है, कि सकाम-कर्मोंके करनेवाले यजमान और कराने वाले उनके आचार्य्य दोनों गडहेमें गिरते हैं और कुम्भीपाकादिमें ऊब डूब करते हैं । ऐसे कर्मियोंसे तो योगी श्रेष्ठ है ही पर जो लोग निष्काम-कर्मके सम्पादन करनेवाले हैं उनसे भी योगी श्रेष्ठ है। क्योंकि निष्काम-कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है सो योगकी भूमिकाओंमें सबसे पहली भूमिका है। अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त न होनेसे आगे योगकी किसी भूमिकाका कोई भी अधिकारी नहीं होसकता । जो योगी अनेक जन्मोंमें परिश्रमकर सिद्धिको प्राप्त होता है वह मानो भगवत्स्वरूपको प्राप्त होचुका । क्योंकि जबतक भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति न हो तबतक योगकी सिद्धि नहीं समझीजाती है । इसलिये सिद्ध-योगी अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त करनेवालोंसे निस्सन्देह श्रेष्ठ है। जैसे किसी एक कृषिकारने नाज बोनेकेलिये अपने क्षेत्रको हलोंसे जोतकर जितने निरर्थक और दूषित घास पात थे सबोंको बाहर निकालकर फेंकदिया । अब उसका क्षेत्र स्वच्छ पडाहुआ है जिसमें वह बीज बोवेगा । दूसरे कृषिकारने अपने स्वच्छ क्षेत्रमें बीज बोदिया है। तीसरेके खेतमें अंकुर निकल आये हैं। चौथेके पककर तयार हैं । पांचवां किसान नाज काटरहा है । छठा नाजकी रोटी पकाकर भोजन

कररहा है । सातवां भरपेट भोजनकर खाटपर सुखकीनींद लेरहा है । तो जितना अन्तर पहले और सातवें किसानमें है इतना ही अन्तर पहली और सातवीं भूमिकावाले योगियोंमें है। इसलिये योगकी सातवीं भूमिकावाला, जो योगसंसिद्ध कहाजाता है, कर्मियोंसे अत्यन्त श्रेष्ठ समझाजाता है ।

शंका— जब भगवान् योगीको ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ कहचुके तो फिर कर्मियोंसे श्रेष्ठ कहनेकी क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि कर्मीसे ज्ञानी तो सदा श्रेष्ठ ही है तो फिर तिस ज्ञानीसे योगी क्यों नहीं श्रेष्ठ हेगा ?

समाधान— बहुतेरे विद्वान् कर्म और ज्ञानका समुच्चय मानते हैं इस समुच्चयको दूर करनेके तात्पर्य्यसे भगवान्ने कर्मी और ज्ञानी दोनोंको विलग-विलग कहा है, नहीं तो दोनोंके कहनेकी आवश्यकता नहीं थी केवल ज्ञानीसे श्रेष्ठ कहना ही मुख्य तात्पर्य्यको सिद्ध करदेता । शंका मतकरो !

अब भगवान् योगीकी श्रेष्ठता दिखलातेहुए अर्जुनसे कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू भी योगी होजा ।

भगवान्के कहनेका आन्तरिक तात्पर्य्य यह है, कि हे अर्जुन ! तू भी पूर्वजन्मका योगी है, जिससे तू श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न हुआ है और इसी कारण त्यागकी भूमिका तुझमें अपना प्रभाव दिखला रही है, जिससे तू मुझसे बार-बार युद्ध छोडकर सन्यासी होजानेकी

बातें कररहा है। पर मैं तुझे पहले भी कह आया हूं, कि श्रीमानोंके कुलमें उत्पन्न होनेसे बहुतेरी बातें योगकी प्रतिबन्धक होजाती हैं। तेरेलिये भी यह युद्ध योगका प्रतिबन्धक है। तू बुद्धिमान् है, तुझको चाहिये, कि अपने यथार्थ ब्रह्मपथमें चलतेहुए जहांतक संभव हो शीघ्र युद्धरूप प्रतिबन्धको समाप्तकर अपने योगका मार्ग ले! और श्रद्धापूर्वक मेरे स्वरूपमें आमिल! ॥ ४६ ॥

क्योंकि—

मू०— योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
॥ ४७ ॥

पदच्छेदः— यः (योगी) श्रद्धावान् (वासुदेवान्न परं किंचिदिति श्रद्दधानः) मद्गतेन (मयि वासुदेवे समाहितेन) अन्तरात्मना (अन्तःकरणेन) माम् (नारायणमीश्वरं सगुणं निर्गुणं वा) भजते (सेवते। सततं चिन्तयति वा) सः (योगी) सर्वेषां (अन्यदेवताध्यानपराणाम्) योगिनाम् (ध्यानयोगयुक्तानाम्) अपि, युक्ततमः (सर्वेभ्यः समाहितचित्तेभ्यः श्रेष्ठः) [इति] मे (मम) मतः (संमतः। अभिप्रेतो वा) ॥ ४७ ॥

पदार्थः— (यः) जो योगी (श्रद्धावान्) श्रद्धायुक्त है (मद्गतेन) मुझ वासुदेवमें समाहित (अन्तरात्मना) अन्तःकरणसे (माम्) मुझको (भजते) भजता है (सः) सो योगी

(सर्वेषां योगिनाम्) सर्व प्रकारके अन्य देवताओंके भजनेवाले योगियोंसे (अपि) भी (युक्ततमः) श्रेष्ठतम है यही (मे) मेरी (मतः) सम्मति है ॥ ४७ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इस छठे अध्यायको समाप्त करते हैं। कर्मकाण्डके विषय जो कुछ कहना था सब इन छवों अध्यायोंमें वर्णन करचुके। जन्मसे मरण तक तथा इस लोकसे परलोक तक कर्मसे क्या लाभ है ? कर्म कितने प्रकारके हैं ? किस प्राणीको किस कर्मके करनेका अधिकार है ? सब बताचुके अर्थात् भगवान्ने अर्जुनपर कृपा कर उदारताके साथ कर्मोंके विषय १२ प्रकारके यज्ञोंका वर्णन प्रारब्ध, आगामी और संचित कर्मोंके भेद, निष्काम सकाम कर्मोंका परिणाम तथा कर्मसे बढते-बढते ज्ञान तक पहुंचनेकी रीति सब कुछ बतला दिया।

अब भगवान् उपासनाका आरम्भ करेंगे जो बिना कर्मके परिपक्व हुए (अभिव्यक्त) प्रकट नहीं होसकता। इसलिये यह ४७ वां श्लोक कर्म और उपासना दोनोंके मध्यमें ऐसे सुशोभित है जैसे सन्ध्या दिवा और रात्रि दोनोंके मध्यमें सुशोभित होती है। तात्पर्य यह है, कि इस श्लोकसे कर्मकाण्डकी समाप्ति और उपासनाका आरम्भ समझना चाहिये।

कर्म करनेवालोंमें उत्तम और श्रेष्ठ वही समझा जाता है जिसके हृदयमें कर्म करते-करते उपासनाका अंकुर उदय होजाता है उपासनाके आनन्दसे जो प्राणी वंचित रहा तो उसका सारा कर्मकाण्ड

तथा सारी योगक्रिया निरर्थक है । इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना**] जितने प्रकारके योगी हैं उनमें जो अन्तरात्मासे मुझमें लगाहुआ है वही मेरे जानते श्रेष्ठ है। अभिप्राय यह है, कि सर्व प्रकारके योगोंका साधन करते हुए तथा सर्व व्यवहार करते हुए अर्थात् खाते, पीते, सोते, जागते, उठते, बैठते, चलते, फिरते और बोलते चालते सब दशाओंमें जो मुझहीको हृदयमें रक्खेहुए रहता है और तहां भीतर, बाहर, जड, चैतन्य सबमें मुझहीको अन्तरात्मासे देखता है। चाहें किसी भी कार्यमें क्यों न रत हो पर तहांभी मुझहीको स्मरण रखता है, तो ऐसा भक्तियोगयुक्तयोगी अन्य सब योगियोंमें श्रेष्ठ है। क्योंकि अन्य सर्व प्रकारके योग इस भक्तियोगके साधन-स्वरूप हैं । सब योगोंका फल यह भक्तियोग ही है। प्रमाण— "सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽधिकतरा" (नारदभक्तिसूत्र) सो जो भक्तियोग है वह कर्म, ज्ञान और योगसे अधिकतर है । अथवा यों भी अर्थ करलो, कि सो भक्तियोग कर्म, ज्ञान और अन्य नाना प्रकारके योगोंसे श्रेष्ठ है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**] जो उक्त प्रकारकी श्रद्धा करताहुआ सदा मेरी ही सेवा करता है और मुझहीको स्मरण रखता है अर्थात घर-बार, बाल-बच्चे धन, सम्पत्ति इत्यादिके मध्य रहताहुआ भी जनक और अम्बरीषके समान मेरी ही स्मृतिमें लगा रहता है वही योगी मेरे जानते अन्य सब योगियोंमें अधिक युक्त है अर्थात् अन्य सब योगियोंमें श्रेष्ठ है। क्योंकि मेरे स्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके चरणोंमें देव दवी सभी शिर

झुकाते हैं। अथवा यों समझलीजिये, कि अन्य देव देवीकी उपासना करनेवाले योगियोंमें मेरे जानते वही योगी श्रेष्ठ है जो मुझ वासुदेवके निराकार वा साकार स्वरूपकी उपासना करता है। क्योंकि ब्रह्मलोकमें ब्रह्मासे लेकर पातालमें शेष पर्यन्त जितने नायक हैं उन सबोंका भी मैं ही नायक हूं। इसलिये मुझे सभी ईश्वरेश्वर, सर्वेश्वर, महेश्वर और जगद्गुरु इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। फिर जिसने मूलको पकडलिया उसकी सर्वोत्तम और श्रेष्ठ योगी होनेमें क्या सन्देह रहा? कुछ भी नहीं! भक्तवत्सल, दीनबन्धु, जगतहितकारी, गोलोक-विहारीका मुख्य अभिप्राय यह है, कि भक्तियोग-युक्त मेरा भक्त ही सबोंसे श्रेष्ठ है। इसमें तनिक भी शंका नहीं करनी चाहिये। इसी विषयको भगवान उद्धवसे कहते हैं—

" ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः।
जुषमाणश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन्॥
प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो माऽसकृन्मुने!।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि॥
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥

सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद्यदि वाञ्छति ॥
न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥
(श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० २० श्लोक २८ से ३४)

अर्थ— जब विषय-भोगोंके दुःखदायी फलोंकी ओर दृष्टि जाती है और प्राणीको ऐसा अनुभव होता है, कि मायाकी प्रबलताको जयकरेना सर्वप्रकार कठिन है (ततो·······) तब उन दुःखरूप नाना प्रकारके विषयोंको परिणाममें निन्दनीय समझता हुआ और तिरस्कार करताहुआ केवल शरीरयात्राके निर्वाहमात्र उनको सेवन करता हुआ मेरी भक्तिमें आपहुँचता है और ऐसा निश्चय करलेता है, कि भक्तिसे ही मेरे सब मनोरथ पूरे होजावेंगे । मैंने पहले जो भक्तियोगका कथन किया उससे युक्त, नित्य मेरा भजन करनेवाले पुरुषके हृदयमें मेरी स्थिति होनेसे सर्वप्रकारके विषयोंकी कामनाएँ नष्ट होजाती हैं । मेरे सर्वान्तर्यामी स्वरूपका साक्षात्कार जब भक्तके हृदयमें होता है तब उसके हृदयमें जो नाना प्रकारकी मलीन वासनाओंकी गांठे हैं वे सबकीसब कटजाती हैं तथा असंभावना इत्यादि सर्व सन्देह हट जाते हैं । बन्धनके मुख्य कारण जो शुभाशुभ-कर्म हैं वे विला जाते हैं । इसी कारण मेरी भक्तिसे युक्त, मुझहीमें तनमन लगानेवाले योगीको ज्ञान, वैराग्य वा किसी अन्य साधनकी आवश्यकता शेष नहीं रहती । क्योंकि विना भक्ति प्राप्त हुए ये कल्याणकारक नहीं हैं । कारण यह है, कि कर्म,

तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म्म और तीर्थयात्रादि साधनोंसे जो फल मिलता है वह मेरी भक्तिसे मेरे भक्तको विना परिश्रम प्राप्त हो जाता है। यदि मेरा भक्त स्वर्ग, मोक्ष वा मेरे निजधामकी इच्छा करे तो ये सब भी उसे मिलसकते हैं। पर हे उद्धव! मेरा भक्त तो मुझको छोड अन्य वस्तुओंकी इच्छा ही नहीं करता। क्योंकि जो धीर-पुरुष मेरे एकान्त भक्त अर्थात् अनन्य भक्त हैं वे मेरे आग्रहसे दियेहुए मोक्ष-पदको भी ग्रहण नहीं करते फिर अन्य प्रकारकी कामनाओंका तो कहना ही क्या है?

एवम् प्रकारे भगवान्‌ने जो उद्धवके प्रति भक्तियोगका उपदेश किया, उसी भक्तियोगको सब योगोंमें श्रेष्ठ जनानेके तात्पर्य्यसे भगवान् अब गीताके इस ४७ वें श्लोकमें अर्जुनसे भी कहते हैं, कि [**श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**] मुझमें श्रद्धायुक्त होकर जो अहर्निश मुझहीमें लगाहुआ है उसी योगीको मैं युक्ततम मानता हूं।

देखो! भगवान् स्वयं आगे इस सम्पूर्ण गीतामें अपने स्वरूपकी श्रेष्ठता दिखलाते हुए अपने साकार वा निराकार स्वरूपमें भक्तियुक्त होनेका उपदेश करते चलेगये हैं। जैसे अध्याय ७, श्लो० ७ "मत्तः परतरन्नान्यत्" अर्थात् हे धनंजय! मुझसे परे अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे सूतमें मणि पिरोयी हुई हैं ऐसे यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें पिरोया हुआ है।

अ० ८ श्लो० १५ "मामुपेत्य पुनर्जन्म"

अर्थ— महात्मा लोग मुझको प्राप्त होकर फिर दुःखका भांडार रूप जो अनित्य जन्म सो नहीं पाते । क्योंकि वे लोग परम सिद्धिको अर्थात् मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए हैं ।

अ० ९ श्लो० ३४ "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी……"

अर्थ— तू मेरी ओर अपना मन लगा! मेरा भक्त होजा! मेरे स्वरूपका यजन करनेवाला अर्थात् आराधना करनेवाला होजा! मुझहीको नमस्कार कर! इसी प्रकार मत्परायण होकर मुझमें अपने अन्तःकरणको युक्त करनेसे मुझहीको प्राप्त होजावेगा ।

अध्याय १० श्लो० ९ "मच्चित्ता मद्गतप्राणा……"

अर्थ—जिनका चित्त केवल मुझहीमें लगा है और जिनका प्राण केवल मुझहीमें अर्पण कियाहुआ है ऐसे मेरे भक्तजन परस्पर एक दूसरेको मेरा ही विषय समझाते हुए और सर्वदा मेरी ही कथाका कथन करतेहुए सन्तोषको प्राप्त होते हैं और मेरेहीमें रमण करते हैं ।

अध्याय ११ श्लो० ५४ "भक्त्या त्वनन्यया शक्य……"

अर्थ—हे परन्तप अर्जुन! मेरी अनन्य भक्तिहीसे मेरे भक्त मुझको जानसकते हैं, देखसकते हैं और समझसकते हैं ।

अध्याय १२ श्लो० २ और ८ "मय्यावेश्य मनो ये माम्……"

अर्थ— मुझमें मन एकाग्र कियेहुए सर्वदा मुझहीमें युक्त रहकर उत्कृष्ट श्रद्धासे जो लोग मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें युक्ततम योगी हैं ।

फिर कहते हैं, कि " मय्येव मन आधत्स्व······" श्लो० ८ अर्थ— मुझहीमें मनको स्थिरकर ! मुझहीमें अपनी बुद्धिको प्रवेश कर ! तब इसके उपरान्त ऊर्द्ध-देशमें तू मुझहीमें निवास करेगा ! इसमें तनिक भी संशय नहीं है ।

अध्याय १३ श्लो० १० "मयि चानन्ययोगेन भक्ति········" अर्थ—मुझमें अनन्य योगसे अर्थात् अन्य सब आश्रयोंको त्याग मेरे ही आश्रयसे युक्तहोकर अव्यभिचारिणी भक्तिसे पूर्ण होना, निर्जनस्थानमें अवस्थिति और मनुष्य-समाजसे अप्रीति इत्यादिका होना ही परम-ज्ञान है।

अध्याय १४ श्लो० २६ " माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्ति-योगेन····" अर्थ—जो मुझको अनन्यभक्तिसे सेवन करता है वह इन सब गुणोंसे परे होकर ब्रह्मभावके योग्य होजाता है अर्थात् मेरा ही स्वरूप बनजानेका अधिकारी होजाता है ।

अध्याय १८ श्लो० ६५ "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी····" अर्थ— तू मुझसे मन लगा ! मेरा भक्त हो ! मेरा उपासक हो ! मेरेहीको नमस्कार कर ! तो तू मुझहीको प्राप्त होगा ! यह मैं तुझे सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूं । क्योंकि तू मेरा प्यारा है ।

उक्त प्रकार श्री सच्चिदानन्द आनन्दकन्द अर्जुनको सब योगियोंमें प्रेमयोगीकी श्रेष्ठता दिखातेहुए अगले अध्यायसे उपासनाकी शिक्षा देनेको तत्पर हुए । क्योंकि कर्म्म समाप्त होनेके पश्चात् प्रेमयोग

अर्थात् भक्तियोगकी प्राप्तिके निमित्त उपासनाहीकी आवश्यकता होती है ।

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाऽऽभात्,
पीताम्बरादरुणाविम्बफलाऽधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्,
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहन्नजाने ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां आत्मसंयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु त्रिंशोऽध्यायः ॥

इति षष्ठोऽध्यायः



इति कर्मकाण्डाख्यः प्रथमषट्कः

शुद्धाशुद्ध-पत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
सूर्य्यनमा	सूर्य्यनामा	११८२	१६
पुंसस्तुवन	पुंपवन	१२८३	८
नामकर्णं	नामकरण	,,	६
प्रायश्चित	प्रायश्चित्त	,,	१३
पगडव	पाण्डव	१२६०	१८
रजत्त	रजतत्व	१२६५	१
समः	शमः	१३००	१७
प्रतिसिद्धेषु	प्रतिविद्धेषु	१३०२	१२
नरं	वरं	१३०३	१४
तथैव	तवैव	,,	,,
परीत्याग	परित्याग	१३०७	१
पाये	पापे	,,	२
योगाडढताम्	योगार्ढताम्	१३०८	६
भेदास्ति	भेदोऽस्ति	१३१४	५
स्थाणौ	स्थाणो	१३१४	१६
फललागिनः	फलभागिनः	१३२२	६
रागद्वेषे	रागद्वेष	१३२३	११
विशिष्य्यंते	विशिष्यते	१३३५	४
नवनीति	नवनीत	१३४०	२
तत्रैकाग्रयम्	तत्रैकाग्रम्	१३५७	१२
दिशांश्चा	दिशाश्चा	१३६६	५
नासिका-याऽमग्र	नासिका-या अग्र	,,	६
अहार	आहार	१३८६	१
योग	योगं	१३६५	११
भूतेयन्द्र	भूतेन्द्रिय	१४०१	१८
ज्योति	ज्योतिः	१४०३	१४
सिद्धति	सिध्यति	१४०४	२१
धृति	वृत्ति	१४०६	१२
अतिन्द्रिय	अतीन्द्रिय	१४११	११
सम्पुनक्तु	संयुनक्तु	१४२१	५
विपर्य	विपर्य्यय	१४४६	१
व्यवहारमानः	व्यवहरमाणः	१४८२	१६
दृड	दृढ	१४८३	११
श्रोतः	स्रोतः	१५०५	५
विषयस्त्रोतः	विषयस्रोतः	१५१७	१३

पृष्ठांक १५३३ से १५३६ तक छपनेमें रहगये हैं अतः शुद्ध करलेने चाहियें।

अशुद्ध	शुद्ध	पृ०	पं०
क्षुद्राण्य स वृदा	क्षुद्राण्यसर्वदा	१५३७	१६
अरभिः	आरभिः	१५४३	टि०
अथेत्यन्तरम्	अथेत्यनन्तरम्	१५४६	२
न्न्यथा	रन्यथा	१५६०	६
मन्तस्थ	मन्तःस्थ	१५६७	१५
क्षमा	क्षमी	१५७४	६
अथाव	अथवा	१५७७	१२
विशेपक	विशेषक	१५८२	१६



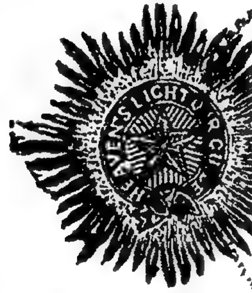



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य

श्री १०८ स्वामिहंसस्वरूपकृत

हंसनादिन्याख्यटीकया समेता

श्रीमद्भगवद्गीता



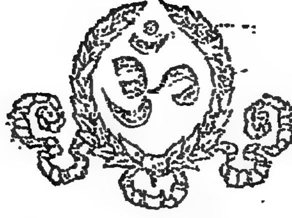
उपसनाख्ये द्वितीय

सप्तमोऽध्याय

प्रथम वार
१०००

अलवरराजधान्याम
श्रीहंसाश्रमयन्त्रालये
मुद्रितः

सम्वत् १९८५
विक्रमी ।
सन १९२८ ई०



❀ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ❀

श्री भक्तजनमानसहंसाय नमः

श्री वृष्णिवंशावतंसाय नमः

अथ

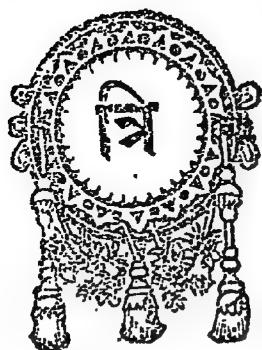


उपासनाख्ये द्वितीयषट्के

* सप्तमोऽध्यायः *

ॐ अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाऽभिमर्शनः ॥ ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(ऋ० मं० १० अ० ५ व० २५ मं० १२)



त्रिभुवनकमनं तमालवर्णं रविकरगौरवराम्बरं दधाने । वपुरलककुलावृताननाब्जं विजयसखे रतिरस्तु मेऽनवद्या ॥ सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य । स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु ॥

अहा ! सखे ! आज वायुमें इतनी प्रसन्नताकी लहलहातीहुई लहरें क्यों पडरही हैं? जिनके स्पर्शसे अशोक, अश्वत्थ, आम्रादि वृक्षों की टहनियां जो शिशिर-ऋतुके कारण पत्र और पुष्पोंके झडजाने से उदासीनताको प्राप्त होगई थीं फिर प्रफुल्लित होने चाहती हैं । इससे अनुमान होता है, कि किसी हरिभक्तका मुर्झायाहुआ हृदय आज कहीं आनन्दसे मत्त होरहा है ।

मेरा अनुमान सत्य है ! वह देखो ! महाभारतकी रणभूमिमें भगवत्के परम प्रिय सखा दृढव्रत भक्त अर्जुनकी ओर देखो ! जिसका मुख सरोज जो सम्बन्धियोंके बधमें उद्यत होनेके तापसे मुर्झागया था श्यामसुन्दरके मुखारविन्दसे टपकतेहुए उपदेशामृतसे संतृप्त होकर अब प्रफुल्लित होचला है । जिसने शोक-संविग्न-मानस होकर गांडीवका परित्याग करदिया था, अब अपने हाथोंसे फिर उसका स्पर्श किया है और बाणसे मिलाकर ऐसी टंकार भरी है, जिसे सुन वीरोंके हृदयमें

वीररस उमड आया है और कायर रण छोड, जिधर-तिधर भागनेकेलिये मार्ग ताकरहे हैं। ऐसा बोध होता है, मानो! मन्दराचलके आघातसे समुद्र खलबला रहा हो, युगान्तमें पंचभूतोंके परस्पर टकरानेसे भू-मण्डल थर्रारहा हो, प्रलयकालकी गर्जना करतीहुई मेघमालाओंसे वारंवार ह्रादुनियोंका पतन होरहा हो, शेषनाग पातालमें व्याकुल हो अपने सहस्रों फणोंसे बारम्बार फूत्कार छोडरहे हों, दिग्गजगण भी घबराकर अपने दाँतोंसे पृथ्वीका बोझ पटक कहीं भागजानेकी इच्छा कररहे हों। यमलोकमें यमका महिष रोषमें भरकर अपने सींगोंको उठा लाल-लाल नेत्रोंसे घुडक-घुडककर महाभारतके वीरोंकी ओर देखरहा हो ऐसा अनुमान होता है, कि इस ध्वनिने चौदहों भुवनमें मानो ऐसी सूचना देदी है, कि चलो देखो! अब अर्जुन महाभारतका युद्ध सम्पादन किया चाहता है।

क्यों न हो? त्रैलोक्यविजयी स्वयं श्री वासुदेव भगवान जिस रथपर रथवान् होकर विराजमान हों तिसकी विजय होनेमें क्या सन्देह है? कुछ भी नहीं! तनक भी नहीं!!

ऐसे सदश्वोंके हांकनेवाले सारथीसे हमलोगोंकी भी यही प्रार्थना है, कि हमारे शरीर-रूप रथके अन्तःकरणरूप चारों घोडोंको हांकता हुआ दुष्कर्मरूपी शत्रुओंके कठोर बाणोंसे बचाताहुआ मोक्ष-रूप विजय का डंका बजवादेवें।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मू०— मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (अर्जुन !) मयि (सर्वेश्वरे) आसक्तमनाः (अनुरक्तम् मनो यस्य वा विषयान्तरपरिहारेण सर्वदा निविष्टं मनो यस्य) मदाश्रयः (हित्वाऽन्यसाधनः । अहमेव परमेश्वर आश्रयो यस्य) योगम् (ध्यानयोगं भक्तियोगं वा) युञ्जन् (पूर्वोक्त प्रकारेण समादधानः) [सन्] असंशयम् (सकलसन्देहरहितम्) समग्रम (समस्तविभूतिबलैश्वर्यादि गुणसम्पन्नम) माम् (वासुदेवम) यथा (येन प्रकारेण) ज्ञास्यसि, तत् (तत्प्रकारम्) शृणु ॥ १ ॥

पदार्थः— (श्रीभगवानुवाच) सकलगुणनिधान भगवान् श्री कृष्णचन्द्र बोले (पार्थ !) हे पृथाके पुत्र अर्जुन ! (मयि) मुझ सर्वेश्वरमें (आसक्तमनाः) मनको आसक्त अर्थात् अनुरक्त कियेहुए (मदाश्रयः) अन्य सब प्रकारके आश्रयोंको छोड केवल मुझहीमें आश्रय लगायेहुए (योगं युञ्जन्) ध्यान-योग तथा भक्तियोगको चित्तमें समाधान कियेहुए (असंशयम) सर्व संशयोंसे रहित (समग्रं माम्) सर्व प्रकारके ऐश्वर्योंके सहित मेरे सम्पूर्ण स्वरूप को (यथा) जिस प्रकारसे (ज्ञास्यसि) तू जानजावेगा (तत्) सो उपाय (शृणु) सुन ! ॥ १ ॥

भावार्थः— अब आनन्द-कन्द श्री ब्रजचन्द उपासनाकाण्ड का आरम्भ करते हैं। यद्यपि अर्जुनने उपासनाके विषय कुछ भी नहीं पूछा है तथापि दयासागर स्वयं कृपा करके अर्जुनको उपासनाका अधिकारी जानकर उपासनाभेदको दिखलाना चाहते हैं। क्योंकि वे साक्षात् कृपाके समुद्र हैं और यथार्थ कृपा भी वही है जो बिना मांगे बिना याचना किये आपसे आप दाता दरिद्रोंको दान देवे। यह उदारचरित्र केवल उसी महा प्रभुमें है। क्योंकि ब्रह्मलोकसे लेकर पाताल पर्यन्त जितने देव और देवी हैं उनमें ऐसी निरपेक्ष उदारता होती ही नहीं। क्योंकि ये तो सेवा शुश्रूषासे प्रसन्न हो मांगनेपर कुछ देते हैं पर वह महाप्रभु आनन्दकन्द तो बिना सेवा ही सदा सबकुछ बिना मांगे देने को तैयार रहता है। इसलिये अर्जुन तथा संसारी जीवोंपर दया करके उपासनाके भिन्न भेदरूप अमूल्य रत्नोंको इस गीता-शास्त्र द्वारा इस मर्त्यलोकमें इस प्रकार बखेरदेना चाहते हैं जैसे कोई दयावान् छोटे-छोटे पक्षियोंपर दया कर उनके चुगनेके लिये स्वच्छ भूमिपर नाजका ढेर बखेर जाता है।

शंका— भगवान् केवल निष्काम-कर्मकी सिद्धि द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धिका लाभ पिछले छौ अध्यायोंमें दिखलाचुके हैं और तिस शुद्धिसे ज्ञानकी प्राप्ति हो ही जाती है फिर मध्यमें उपासनाकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान— अन्तःकरणकी शुद्धिमात्र ही से ज्ञान नहीं प्राप्त होसकता है, जबतक वह अन्तःकरण एकाग्र न हो। किसी तेजसपात्रको

अथवा किसी काचको वा दर्पणको पूर्ण रीतिसे भस्म मल-मलकर स्वच्छ करलीजिये तो उसमें अपना मुंह अवश्य देखपडेगा। पर यदि उस दर्पणको हिलाते रहिये तो मुख स्वच्छ नहीं देखपडेगा। जैसे मूर्त्ति खींचनेवाले आलोक्य-लेखक-यंत्र (CAMERA) को हिलाते रहें तो मूर्त्ति स्वच्छ नहीं खिंचेगी, विकृत होजावेगी। तथा किसी पात्रमें जलभरकर उस पात्रको हिला दीजिये फिर उसमें अपना मुख देखिये तो वह मुख विकृत देखपडेगा पर यथार्थ मुखका बोध नहीं होगा।

इसी प्रकार निष्कामकर्मरूप भस्मके मलने से अन्तःकरणरूप दर्पण स्वच्छ तो अवश्य होजाता है पर जबतक एकाग्र होकर स्थिर न होवे तबतक उसमें ब्रह्मज्ञानका स्वरूप अर्थात् भगवत्स्वरूप स्वच्छरूपसे नहीं देखा जासकता। इसी एकाग्रताके लाभ-निमित्त उपासनाकी अत्यन्त ही आवश्यकता है।

सो उपासना क्या है वर्णन की जाती है— (उप+आस+युच+टापि) इस शब्दमें दो टुकडे हैं, उप और आसना। उपका अर्थ है समीप और आसनाका अर्थ है स्थिति अर्थात् किसीके समीपमें किसी व्यक्तिकी स्थितिको उपासना कहते हैं। सो यहां ब्रह्मके समीप जीवकी स्थितिको उपासना कहते हैं। तात्पर्य्य यह है, कि इष्टदेवके समीप स्थितहोकर प्रेम और भक्तिपूर्वक उनकी शुश्रूषा और परिचर्य्या करनेको उपासना कहते हैं। क्योंकि + वरिवस्या, शुश्रूषा और परिचर्य्या ये उपासना के ही पर्य्याय शब्द हैं।

+ "वरिवस्या तु शुश्रूषा, परिचर्य्या ह्युपासना" (अमरकोश ब्रह्मवर्ग श्लो० ३५)

" यद्यपि तस्मिन् नित्यानन्दस्वरूपे भगवति परमेश्वरे एकान्तमेव प्रीतिकरणमेव तदुपासनं तथापि सर्वलोकमोहप्रदायिन्यां ज्ञानावरणकारिण्यामविद्यायां सत्यां कुतः सा सर्वसुखप्रदा तापत्रयच्छेत्री परमाप्रीतिरनुभवनीया ? अतस्तया आत्माज्ञानविलोपिन्या मलिनसत्त्वगुणाया रजस्तमःप्रधानाया अविद्यायाः प्रणाशनार्थमेवावश्यमुपासनाकरणीयेति सर्वेषामपि शास्त्राणां सारमिति बोध्यम् । परन्तु सबलदुर्बलाधिकारिभेदेन उपासनाया अपि प्रभेदौ उपदिष्टौ तत्त्वदर्शिभिः " ॥ १ ॥

अर्थ— यद्यपि उस नित्यानन्द-स्वरूप-भगवान् परमेश्वरमें एकान्त प्रीति करनेको अर्थात् अन्य सब आश्रयोंको त्यागकर केवल उसीके चरणोंमें प्रेम लगानेको उपासना कहते हैं, तथापि सर्वलोक-लोकान्तर निवासी देव, दनुज, गन्धर्व और मनुष्यादिको महामोहमें डालनेवाली तथा ज्ञानको आच्छादन करनेवाली भगवन्मायाकी अत्यन्त प्रबलताके झकझोडमें अर्थात् द्वन्द्वोंके बीच उन भगवच्चरणारविन्दोंसे लगनका लगना कठिन देखपडता है । इसलिये आत्मज्ञान लोप करनेवाली मलिन सत्त्वगुण और तमोगुण तीनों गुणोंकी प्रधानता लियेहुई इस दुरत्यया, दुर्जया मायाके नाश करनेके निमित्त उपासनाकी अत्यन्त ही आवश्यकता है यही सर्व-शास्त्रोंकी मुख्य सम्मति जाननी चाहिये। परन्तु सबल और निर्बल अधिकारियोंके भेदसे तत्त्वदर्शियोंने इस उपासनाके दो भेद वर्णन किये— निराकार और साकार । जो योगी अनेक जन्मोंमें साकार उपासना करके उपासनाका यथार्थ मर्म समझ जाता है और योगकी ऊंची श्रेणीपर चढजाता है तब उस सर्वेश्वर

चराचरके नायक, सर्वव्यापक, अव्यक्त और अनादिकी निराकार-उपासनाका अधिकारी होता है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जबतक योगी ब्रह्मविद्याकी पाठशालामें नीचेकी श्रेणियोंको समाप्त न करले तबतक उच्च-श्रेणी जो निराकार-उपासना तिसका अधिकारी नहीं होता।

यदि शंका हो, कि भगवान्का स्वरूप तो निराकारही है साकार नहीं है? सो ऐसा नहीं! भगवत्के दोनों स्वरूप हैं **निराकार** और साकार "**द्वावेव ब्रह्मणो रूपे यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं चेति**" यह ब्राह्मणभाग वेदका वचन है, कि उस ब्रह्मके दो स्वरूप हैं— **मूर्त्तिमान् और अमूर्त्तिमान**। भगवत् पहले निराकार-स्वरूपमें शान्त और स्थिर रहता है जब उसे सृष्टिकी इच्छा होती है तब वह अपने साकार ऐश्वर्य्य और विभूतियोंको अंगीकार कर पहले विराट्रूप धारण करता है। जिसके विषय वेद यों कहता है— "**ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात**" अर्थ— वह परमेश्वर अनन्त मस्तक, अनन्त नेत्र और सहस्रों पांववाला है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पातालपर्य्यन्तकी एक अद्भुत विराट्मूर्त्ति, जो प्रकट होकर सर्वत्र फैलजाती है वही साकार-ब्रह्म है। इसलिये वेदने उसकी साकारमूर्त्ति अर्थात् वैश्वानर-मूर्त्तिका भी वर्णन करदिया है। तात्पर्य्य यह है, कि इस विराट्में जितनी वस्तु देखीजाती हैं सब उसी निराकार ब्रह्मकी भिन्न-भिन्न शक्तियों और भिन्न-भिन्न ऐश्वर्य्योंकी साकार मूर्तियां अभिव्यक्त होकर फैलगई हैं। जैसे "**ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्योऽजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत**॥" (शु० यजु० अ० ३० मंत्र १२) अर्थ— मनसे चन्द्रमा, नेत्रसे सूर्य्य, श्रोत्रसे वायु और प्राण

तथा मुखसे अग्निदेव उत्पन्न हुए। तात्पर्य्य यह है, कि उसी नित्याकार ब्रह्मसे ये भिन्न-भिन्न वस्तु प्रकट होकर ब्रह्माण्डमें फैलगयीं। वह ऐसा कहना चाहिये, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ही उस ब्रह्मके निराकार ऐश्वर्य्यका साकार स्वरूप है। अतएव निराकार और साकार दोनों प्रकारकी उपासनाकी आवश्यकता हुई।

जो निर्बल अधिकारी है वह निराकार ऐश्वर्य्योंकी उपासना करनेमें असमर्थ है। क्योंकि उसके पूर्व-शरीरके संस्कारानुसार उसकी बुद्धिका संयोग निराकारके साथ नहीं होसकता। इसलिये इसका अधिकारी लाखोंमें कोई एक पुरुष होता है, जो परमात्माके निराकार-तत्त्वका साक्षात्कार करसके। सो भगवान् आगे तीसरे श्लोकमें स्वयं कहेंगे, कि "मनुष्याणां सहस्रेषु"।

आत्माके अपरोक्षज्ञानवाले जिन्होंने आत्माका साक्षात्कार किया है, वे निराकार-उपासक हैं अर्थात् उस ब्रह्मदेवका निराकार-स्वरूप आत्मा है जिसका कुछ आकार नहीं है, पर सर्वत्र फैलाहुआ है और आश्चर्य्यवत् देखाजाता है। इस निराकार आत्माकी ही उपासनाके विषय याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं—

श्रुतिः— "ॐ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥" (बृहदारण्य० अ० ४ ब्रा० ५ श्रुति ६)

अर्थ— अरी मैत्रेयी! आत्मा ही देखने, सुनने, मननकरने और निदिध्यासन करने योग्य है। सो हे मैत्रेयी! आत्माहीके देखने, सुनने,

मानने और जाननेसे सारे ब्रह्माण्डकी निराकार और साकार विभूतियोंका बोध होजाता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि आत्माकी उपासना करनेसे उपासक सर्वज्ञ होजाता है । स्वयं आनन्दकन्द अपने मुखारविन्दसे इस आत्माके विषय इसी गीताके तीसरे अध्यायमें पूर्ण रीतिसे कह आये हैं । इस- लिये फिर यहां कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इस निराकार उपा- सनाका जो अधिकारी हो वह करे ।

अब साकार उपासनाका विषय वर्णन कियाजाता है सो सुनो ! सम्पूर्ण विराट्की उपासना साकार उपासना है । फिर विराट्के भिन्न२ अवयवोंकी यथा सूर्य्य, चन्द्र, आकाश, वायु, अग्नि, जल इत्या- दिकी उपासना भी साकार ही उपासना कही जाती है । क्योंकि ये सब उस ब्रह्मदेवहीकी साकार मूर्त्तियां हैं । तहां प्रमाण— " तदेवा- ग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा । तदेव शुक्रन्तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः " (शुक्ल यजु०)

अर्थ— वही ब्रह्मदेव अग्नि है, आदित्य (सूर्य्य) है, वायु है, चन्द्र है शुक्र है: ब्रह्म है, जल है और वही प्रजापति है ।

अब विचार करने योग्य है, कि वेदोंकी आज्ञानुसार जब वही सर्वेश्वर अग्नि, सूर्य्य, वायु, चन्द्र, जल इत्यादि होकर प्रकट होरहा है तो इनकी उपासना करनेसे क्या हानि है ? इसलिये इनकी उपासना साकार उपासना कही जाती है ।

फिर शास्त्रकी यह भी आज्ञा है, कि " महाजनो येन गतः स पन्थाः " बड़े २ महा पुरुष जिधर होकर गये उसी मार्गसे जाना

चाहिये । इसलिये यदि शंका हो, कि क्या किसी महा पुरुषने इन तत्त्वोंकी उपासनाकी है ? तो उत्तर यह है, कि अवश्य की है । तहां प्रमाण— जिस समय सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष, बुडिल और उपमन्यु ये पांचों महात्मा उद्दालकके साथ राजा अश्वपतिके समीप उपासनाका वृत्तान्त पूछने गये हैं उस समय राजाने एक-एकसे पूछा है, कि आप लोग किसकी उपासना पहलेसे कररहे हो ? तब इन महात्माओंने विलग विलग उत्तर दिया है । तहां श्रुतिः—

" अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति ॥ अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति ॥ अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति ॥ अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैय्याघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति " (छां॰ प्रपा॰ ५ खं॰ १३, १४, १५, १६)

अर्थ— राजाने पुलुषिके पुत्र सत्ययज्ञसे पूछा, कि तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया, कि हे पूजन करने योग्य राजन ! मैं आदित्य (सूर्य्य) की उपासना करता हूं ।

तब राजाने दूसरे महत्मा भालवीके पुत्र इन्द्रद्युम्नसे पूछा, कि हे वैयाघ्रपद्य अर्थात पुरुषोंमें व्याघ्रके समान वीर ! तुम किस आत्माकी

उपासना करते हो ? उसने उत्तरदिया, भगवन ! मैं वायुकी उपासना करता हूं ।

फिर राजाने शर्कराक्ष्यके पुत्र जनसे पूछा, कि तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया, भगवन ! मैं आकाशकी उपासना करता हूं ।

तब राजाने अश्वतराश्वके पुत्र वुडिलसे पूछा, कि हे वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ? उसने उत्तर दिया भगवन् ! मैं जलकी उपासना करता हूं। एवम् प्रकार इन महा पुरुषोंने आदित्य, वायु, आकाश तथा जल इन चार साकार-ब्रह्मकी विभूतियोंकी उपासना बतलायी। इसी प्रकार गणेश, महेश, सुरेश इत्यादि जो उस महाप्रभुके साकार-स्वरूप हैं। इनकी भी उपासना कीजाती है ।

इतना तो अवश्य कहना ही होगा, कि ये साकार विभूतियां भी दो प्रकारकी हैं जड और चेतन । उपासना करने वाले इन दोनों प्रकारकी साकार विभूतियोंकी उपासना करते हैं । जैसे गंगा, यमुना, ज्वाला-मुखी-पर्वत, अग्नि, वायु इत्यादि जो भगवान्की जड विभूतियां हैं तथा गणेश, महेश वा अपने गुरुदेव जो उसकी चेतन विभूतियां हैं तिनकी उपसना करते हैं ॥

इसी प्रकार इस समय भी जितने मत मतान्तर वाले इस पृथ्वी-मण्डलपर वर्त्तमान हैं सब अपने-अपने धर्मकी मर्य्यादानुसार जड और चेतन दोनों प्रकारकी भगवद्विभूतियोंकी उपासना करते हैं ।

इसी कारण श्री योगेश्वर भगवान् अर्जुनके प्रति कहचुके हैं, कि " योगिनामपि सर्वेषाम्.... " (अ० ६ श्लोक ४७) सब प्रकारके योगियोंमें जो मेरी उपासना करता है उसे मैं **युक्ततम** मानता हूं। क्योंकि ब्रह्म-लोकसे पाताल पर्यन्त जितने जड चेतन देवता और देवी हैं सब मेरे ही अंश और कलासे हैं। सब मेरे ही आधीन हैं। यद्यपि अन्य देवता देवीकी उपासना करनेवाले भी जो अपने-अपने इष्टदेवको नमस्कार पूजन करते हैं सब मुझहीको आपहुंचते हैं। इसी कारण मेरी उपासना करनेवाले सहजमें मेरे सगुण वा निर्गुण स्वरूप की उपासना कर मुझमें ही प्राप्त होते हैं।

इसी तात्पर्यसे भगवान उपासनाका आरम्भ करतेहुए कहते हैं, कि [**मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः**] हे पार्थ ! मेरेहीमें आसक्त मन होकर मेरे ही आश्रय रहकर योग-क्रियाका

टिप्पणी— मुसलमान अपने धर्ममें जड " संगे असवद " की जो एक काला पत्थर मक्केमें रखा है उसको चूमते हैं जिसे हजरत मुहम्मद साहबका सिंहासन बताते हैं। फिर "चेतन" स्वयं मुहम्मद साहबकी उपासना ईश्वरके समान ही करते हैं। क्योंकि जब वे चार वक्त नमाज पढ़ेंगे तो दो ईश्वरके लिये और दो मुहम्मदसाहबके लिये।

इसी प्रकार ईसाई अपने धर्मानुसार जड 'सलीब' की जिसके आगे टोपी उतारते हैं। और चेतन हजरत ईसा, हजरत सेंटपीटर, सेंटपाल इत्यादि जिनकी मूर्त्तियां उनके देशमें बनी हैं, उपासना करते हैं। इसी प्रकार सैकडों प्रकारकी नदी पर्वत इत्यादिकी भिन्न-भिन्न देशोंमें उपासना कीजाती है।

सम्पादन करतेहुए मेरी ही उपासना द्वारा मुझको जैसे जानेगा सो सुन! मुख्य तात्पर्य भगवान‍्के कहनेका यह है, कि हे पृथाके पुत्र अर्जुन! तू यदि मय्यासक्तमन होजावे अर्थात् मेरे स्वरूपमें यदि तेरा अन्तःकरण अपनी इन्द्रियों सहित आसक्त होजावे, मेरे स्वरूपको छोड अन्य किसी विषयसुखकी चाह न करे तो फिर तेरा कहना ही क्या है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि जैसे भ्रमर कमलके मकरन्दको पानकर उस कमलमें प्रेमपूर्वक लिपटजाता है अन्य किसी पुष्पके गन्धकी इच्छा नहीं करता। इसी प्रकार श्यामसुन्दरमें लीन होनेसे प्राणी जब किसी अन्य सुखको नहीं चाहता अपना तन, मन, धन सब श्यामसुन्दरमें अर्पण कररखता है, अपनी माता, पिता, गुरु, सखा, सुहृद जो कुछ समझता है श्यामसुन्दर ही को समझता है और जिधर दृष्टि जाती है सर्वत्र उनहीकी शोभा देखता है वही भगवान‍्का परम प्यारा होजाता है।

" ॐ यथा व्रजगोपिकानाम् " (नारदभक्तिसूत्र) अर्थात् जिस प्रकार व्रजकी गोपियोंने भगवत्स्वरूपमें आसक्ति प्राप्त की थी जहां देखती थीं तहां श्याम ही श्याम देखती थीं। इन गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा भगवान‍्ने अपने मुखारविन्दसे उद्धवके प्रति यों की है—

" ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग! विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥"

(श्रीमद्भागवत स्कन्ध १० अ० ४६ श्लो० ४, ५, ६)

अर्थ—सो गोपिकाएँ जो मन्मनस्क (मुझमें मन लगानेवाली) हैं तथा मत्प्राणाः हैं अर्थात् मेरेहीमें अपने प्राणको अर्पण करनेवाली अथवा मेरे दर्शनके लियेही प्राणको धारण करनेवाली हैं और केवल मेरी प्राप्तिके निमित्त अपने दैहिकोंको अर्थात् माता, पिता, पति, पुत्र इत्यादिकों त्यागकर केवल मुझमें प्राप्त होरही हैं सो धन्य हैं। क्योंकि जो प्राणी मेरे लिये सब लौकिक-धर्म्म अर्थात् पुत, स्त्री इत्यादिसे मिलनेका सुख जो लौकिक-धर्मानुसार विदित हैं त्यागदेते हैं उनको मैं अपने प्रेमसे भरदेताहूं। हे उद्धव! मैं जो उन गोपियोंको उनके प्यारेसे भी अधिक प्यारा हूं सो मैं दूर रहताहूं। इस कारण वे सब गोकुलनिवासी स्त्रियां मेरा स्मरण करके मेरे विरहमें व्याकुलहो विह्वल होकर मोहित होजाती हैं। और वे गोपिकाएँ जो मेरी परम प्यारी हैं, मेरी उस बातको जो मैंने चलते समय उनसे कही थीं, कि मैं शीघ्र लौटकर आऊंगा इस मेरे लौट आनेकी आशा पर अपने प्राणोंको बडी कठिनतासे धारण करती हैं। तात्पर्य्य यह है, कि वे मेरे विरहमें अवश्य प्राणोंको खोदेतीं पर मेरे लौट आनेकी आशापर केवल जीरही हैं ऐसी गोपिकाएँ धन्य हैं। भगवानके कहनेका तात्पर्य इस श्लोकमें यही है, कि व्रजगोपिकाओंके समान जो मुझमें मन आसक्त किये हो वही यथार्थ मय्यासक्तमनाः कहलाता है।

शंका— क्या गोपिकाओंका प्रेम व्यभिचारमय प्रेम नहीं कहा जावेगा ? जैसे सुन्दर स्त्रियां सुन्दर पुरुषके कटाक्ष तथा हाव-भावको देखकर कामातुर हो, केवल अपनी इन्द्रियोंके सुख निमित्त प्रेम करती हैं इसी प्रकार गोपिकाओंने भी कृष्णके संग किया होगा। तो ऐसे व्यभिचारभरे प्रेमकी प्रशंसा भगवान् क्यों करते हैं ?

समाधान— गोपिकाओंका प्रेम जारबुद्धि करके व्यभिचारमय नहीं था। गोपिकाएँ भगवानको अपना जार नहीं समझती थीं न उनके हृदयमें किसी प्रकारके इन्द्रिय—सुखके साधनका प्रयोजन था। इनका प्रेम तो स्थायी था। ये तो भगवानको जगत्कर्त्ता समझती थीं, अखिलान्तरात्मा समझती थीं और पूर्ण परब्रह्म जगदीश्वर समझकर अपने उद्धार निमित्त अर्थात् भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति निमित्त प्रेम करती थीं।

देखो ! जब श्यामसुन्दर रासबिलासके समय गोपिकाओंके प्रेमकी परीक्षा निमित्त अन्तर्द्धान होगये हैं, उस समय गोपिकाओंने प्रेममें विह्वल हो, जो गीत गाया है उससे सिद्ध होता है, कि वे भगवान् कृष्णचन्द्रमें ब्रह्माकार बुद्धि रखती थीं और चराचर-नायक समझती थीं। वह गीत यों है सुनो ! "न खलुगोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्। विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख ! उदेयिवान सात्वतां कुले" (श्रीमद्भा० स्क० १० अ० ३१ श्लो० ४)

गोपिकाएँ कहती हैं, कि हे श्यामसुन्दर तुम गोपिकानन्दन ही नहीं हो अर्थात् यशोदाके पुत्र नहीं हो वरु तुम तो निस्सन्देह सब

देहधारियोंके अन्तरात्माके देखने वाले हो! सो तुम-जो अखिलब्रह्मा-ण्डनायक परमात्मा हो, केवल ब्रह्माजीकी प्रार्थना करनेसे संसारकी रक्षा निमित्त यादवकुलमें अवतरे हो! हम भक्तोंकी रक्षा करो! और हमें दर्शन दो।

इस गोपिका गीतसे यह पूर्ण प्रकार सिद्ध होता है, कि गोपिकाओंने श्यामसुन्दरको परब्रह्म, जगदीश्वर और अखिल ब्रह्माण्डनायक जानकर प्रीति की थी जार बुद्धिसे नहीं की थी। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! तू भी इन ही गोपिका-ओंके समान मय्यासक्तमन (योगं युञ्जन् मदाश्रयः) और मदाश्रय होकर ध्यान-योग तथा भक्तियोगमें समाहित-चित्त होताहुआ [असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु] निस्सन्देह जिस प्रकार तू समग्र मुझको सांगोपांग ज्योंका त्यों सर्वगुणोंसे सम्पन्न अर्थात् मेरे चारों पाद सहित जान लेगा सो सुन!

शंका— भगवान्ने इस श्लोकमें ऐसा क्यों कहा? कि तू मुझको समग्र जानलेगा क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद तो यों कहता है, कि +ॐ पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (शु० यजु० पुरुषसूक्त ऋचा ३)

+ सायनाचार्यने इस मंत्रका भाष्य करके अन्तमें लिखा है, कि "यद्यपि सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यादिना तस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात्पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षयाऽल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः"

अर्थ— भूत, वर्त्तमान और भविष्यमें जितनी अद्भुत रचनाएँ बन गई थीं, बनती हैं और आगे बनती रहेंगी सब उस महाप्रभुकी महिमामात्र है सो उसके महत्वका एक पाद अर्थात् चौथा भाग है। इससे अतिरिक्त जो उस महाप्रभुकी महिमाके शेष तीन पाद हैं वे तो स्वयम् उसके दिव्य स्वरूपमें वर्त्तमान हैं जिसे कोई देवता देवी जाननेको समर्थ नहीं। फिर अर्जुनमें इतनी शक्ति कहांसे आयी, कि वह समग्र जानलेवे ?

समाधान— भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य यह है, कि मेरेको समग्र कोई नहीं जानता है, अल्प जानता है पर हे अर्जुन! यदि तू सच्चा सकमन और मदाश्रय हो मेरे भक्तियोगमें समाहित-चित्त होगा तो तू मुझे समग्र जानलेगा इसमें तनक भी सन्देह नहीं है। जैसे बडे-बडे बुद्धिमानोंको नटकी माया मोहित करलेती है पर नटके सेवकको उसकी माया मोहित नहीं करती। इसी प्रकार मेरे भक्तोंसे मैं छिपा नहीं रहता, मैं समग्र उसको बोध होता हूं और मेरे समग्र ऐश्वर्योंको मेरी उपासना करनेवाला पूर्ण प्रकारसे जानजाता है। शंका मतकरो!

इसलिये भगवान अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि मैं अपने समग्र स्वरूपका भेद तुझ ऐसे अनन्य भक्तको सुनाताहूं एकाग्रचित्त हो सुन!॥ १ ॥

मू०— ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
॥ २ ॥

पदच्छेदः— अहम्, ते (तुभ्यम) इदम् (मद्विषयकम्) सविज्ञानम् (विचारपरिपाकनिष्पन्नत्वादनुभवसहितम्) ज्ञानम् शास्त्रजन्यमपरोक्षमेव ज्ञानम् तथा शुद्धप्रज्ञानम्) अशेषतः (साकल्येन साधनफलादि सहितत्वेन निरवशेषम्) वक्ष्यामि (कथयिष्यामि) यत्, ज्ञात्वा (वेदान्तजन्यमनोवृत्तिविषयीकृत्य) इह (अस्मिन् व्यवहारलोके) भूयः, अन्यत, ज्ञातव्यम् (ज्ञातुं योग्यम) न, अवशिष्यते (अवशिष्टम्भवति) ॥ २ ॥

पदार्थः— (अहम्) मैं सर्वेश्वर (ते) तुझ अर्जुनके लिये (इदम्) यह जो मेरे परमानन्द-स्वरूपके विषय (सविज्ञानम्) विज्ञान-सहित (ज्ञानम्) अपरोक्ष ज्ञान है सो (अशेषतः) पूर्णरूपसे (वक्ष्यामि) कथन करूँगा (यज्ज्ञात्वा) जिसको जानकर (इह) इस संसारमें (भूयः) फिर (अन्यत्) अन्य कोई विषय (ज्ञातव्यम्) तेरे जाननेके योग्य (न, अवशिष्यते) शेष नहीं रहेगा ॥ २ ॥

भावार्थः— अब श्री नटनागर दयासागरने अपने परम प्रिय शिष्य और सखा अर्जुनके हृदयके उस तापको अर्थात उस शोकको जिसके विषय अर्जुन अपने मुंहसे बार-बार कहचुका है, कि हे भगवन्!

जो मेरे स्वजन लोग मुझसे युद्ध करने आये हैं उनको देखकर " सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति " मेरे अंग-अंग छीज रहे हैं और मुख सूखरहा है फिर कहा, कि " वेपथुश्च शरीरे मे " मेरा शरीर कांपरहा है। फिर कहा, कि " त्वक्चैव परिदह्यते " मेरी त्वचा जलती है। इन सब प्रकारके शोकोंसे संतप्त अर्जुनको भगवान् अपनी पूर्ण कृपा-रूप जलकी वृष्टि कर सन्तुष्ट किया चाहते हैं। इसलिये बिना पूछे कहते हैं, कि [ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः] हे अर्जुन ! मैं तेरे लिये इस विज्ञान सहित ज्ञान को अर्थात् उपासनाभेदको समग्ररूपसे कथन करूंगा। भगवान्का मुख्य तात्पर्य यह है, कि विज्ञान सहित जो यह उपासना—रूप ज्ञान है अर्थात् शास्त्रोंने जिस प्रकार विविध भांतिकी उपासनाका ज्ञान-विज्ञान सहित भेद उपदेश किया है सो कहूँगा। यह भी कहूँगा, कि इस प्रकार विज्ञान सहित उपासनाका ज्ञान किस पुरुषको लाभ होता है? और कैसे लाभ होता है ? इस सृष्टिकी रचनाका भेद जो विज्ञान-शास्त्रके अन्तर्गत है सो कहूंगा। फिर यह सृष्टि कहांसे उत्पन्न होती है ? कहां लय होजाती है ? और यह उस ब्रह्मसे कैसे है ? यह सब कहूंगा। फिर सर्वत्र सब वस्तुओंमें अपनी व्यापकता दिखलाऊंगा। और जिस प्रकार यह संसार मायासे मोहित होकर भगवान्को नहीं जानता सो भी कहूंगा। अपनी मायाकी प्रबलता कथन करूंगा। फिर उससे छूटनेका उपाय बताऊंगा। फिर जितने प्रकारके भक्त होते हैं उनका भेद बतलाऊंगा। तहां भक्तिकी श्रेष्ठता कथन करूंगा। पश्चात् संक्षिप्तमें ज्ञानका स्वरूप बताऊंगा। फिर जो दूसरे—दूसरे देवताओंको

भजते हैं उनका परिणाम बताऊंगा। अपने स्वरूपकी उपासनाका फल बताऊंगा। फिर ब्रह्मका स्वरूप बतातेहुए अध्यात्म, अधिभूत और अधियज्ञको बताऊंगा। सृष्टि और प्रलयका भेद तथा अपने परमधामका महत्व दिखलाऊंगा। पुनरावृत्ति और अपुनरावृत्तिका कथन करूंगा। उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गका वर्णन करूंगा। अपने ऐश्वर्य्योंको दिखलाऊंगा। कर्मबन्धन छूटनेका उपाय बताऊंगा। अपने चरणोंमें भक्ति करनेकी युक्ति बताऊंगा। फिर अपने भक्तोंको बुद्धियोगका उपदेश करूंगा। फिर अपनी दिव्य विभूतियोंका वर्णन करूगा फिर अभ्यासयोगका उपदेश करूंगा।

एवम्प्रकार उपर्य्युक्त विषयोंका भण्डार खोलकर तेरे आगे रखदूंगा। तात्पर्य्य यह है, कि जो कुछ जानना चाहिये सब सांगोपांग जनादूंगा।

इसीलिये भगवान् इस श्लोकमें अशेषतः शब्दका प्रयोग करते हैं।

अब कहते हैं, कि [यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते] जिसको जानकर अन्य किसी वस्तुका जानना शेष नहीं रहता अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितनी रचनाएँ वा विभूतियां हैं सब जानली जाती हैं। क्योंकि जब साक्षात् भगवान् पूर्ण विभव सहित अपने स्वरूपका ही बोध करादेवेंगे तब शेष ही क्या रहजावेगा? तहां प्रमाण श्रुतिः— "येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥"

(बृहदा० अ० २ ब्रा० ४ श्रुति १४)

अर्थ— जिस प्राणीसे ये सब जाने जाते हैं अरे! तिस विज्ञानीको दूसरा कौन जाने ?

फिर श्वेताश्वतरकी श्रुति कहती है—" **यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति** " (श्वेताश्वतर० अ० ४ श्रुति १५ में देखो) अर्थ— जिस भगवत्स्वरूप, आत्मानन्द तथा ब्रह्मानन्दमें ब्रह्मर्षि और देवता गण युक्त होरहे हैं अर्थात् दिन रात अपनी मनो वृत्तिको लगायेहुए हैं तिसको जानकर प्राणी मृत्युकी फांस काटकर निकलजाता है। ऐसे समग्र तत्त्वको आज भगवान् अर्जुनके प्रति उपदेश करेंगे। तथा " **तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** " (श्वेताश्व० अ० ३ श्रुति ८)

अर्थ— तिसको जानकर मृत्युसे पार होजाता है इससे दूसरा कोई मार्ग जाननेका नहीं है! नहीं है!!

इसी तात्पर्य्यको भगवान् अर्जुनके हृदयमें दृढ करते हैं, कि जिसको जानकर फिर इस संसारमें और कुछ भी जानने योग्य नहीं रहता।

इसका कारण यह है, कि जैसे रज्जुसे सर्पका भ्रम उठजानेपर जब रज्जुका यथार्थ ज्ञान होजाता है, तब प्राणी निर्भय होजाता है। इसी प्रकार ज्ञानका अधिष्ठानरूप जो ब्रह्म तिसके बोध होजानेपर फिर इस मनगढित प्रपंचका नाश होजानेसे प्राणी निर्भय होजाता है॥ २॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! यह जो तुम्हारे समग्र स्वरूपका अशेष विज्ञान है इसके जाननेके अधिकारी बहुत प्राणी हैं वा अल्प हैं? सो कृपा कर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३

पदच्छेदः— मनुष्याणाम् (अनेकजन्मार्जितपुण्यपुंजवशाल्लब्धमानवशरीराणाम्) सहस्रेषु (असंख्यातेषु) कश्चित् (कश्चनैकः) सिद्धये (ब्रह्मज्ञानोत्पत्तये) यतति (यत्नं करोति) यतताम् (ब्रह्मज्ञानाय यतमानानाम् । प्रयत्नं कुर्वतां वा) सिद्धानां (प्रयत्नफलप्राप्तानाम् । मुमुक्षूणाम् । प्रागर्जितसुकृतानां वा)- अपि, कश्चित्, माम (महेश्वरम्) तत्त्वतः (यथावत) वेत्ति (साक्षात् करोति) ॥ ३ ॥

पदार्थः— (सहस्रेषु) असंख्यात अर्थात् अनगणित (मनुष्याणाम) मनुष्योंके मध्य (कश्चित्) कोई मनुष्य (सिद्धये) अपनी क्रियाकी सिद्धि ब्रह्मज्ञान प्राप्तिके लिये (यतति) यत्न करता है (यतताम्) ऐसे-ऐसे यत्नकरने वाले (सिद्धानाम) सिद्धोंमें (अपि) भी (कश्चित) कोई (माम) मुझको (तत्त्वतः) अर्थात् ठीक-ठीक जैसा जानना चाहिये वैसा (वेत्ति) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो पहले भगवान्से पूछा है, कि यह जो विज्ञान सहित ज्ञान अशेषरूपसे तुम उपदेश करने को तत्पर हो इसके अधिकारी अनेक हैं वा अल्प हैं ? तिसके उत्तरमें भगवान कहते हैं, कि [मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये] + सहस्रों मनुष्योंमें कोई २ सिद्धिके लिये यत्नकरता है। अर्थात् जिन्होंने अनेक योनियोंमें फिरते—फिरते किसी उच्च संचितकी प्रेरणासे तथा बडे पुण्य-पुंजके फलोंके एकत्र होनेसे मनुष्य योनिको प्राप्त किया है। जिस योनिके गुणोंको देखकर देवतादि भी इस योनिकी प्राप्तिकी अभिलाषा रखते हैं। क्योंकि यह योनि ही मुक्तिका कारण है।

प्रमाण— "विमुक्ति हेतुकान्या तु नरयोनिः कृतात्मनाम्। नाप्नुवन्ति हि संसारे विभ्रान्तमनसो गताः। जीवा मनुष्यतां मन्ये जन्मनामयुतैरपि। तदीदृग् दुर्लभं प्राप्य मुक्तिद्वारमचेतसः" (वह्नि पुराण शुद्धिव्रतनाम अध्यायमें देखो)॥ अर्थ स्पष्ट है॥

इसलिये यहां मनुष्य शब्दसे तात्पर्य्य यह है, कि जो मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होकर यथार्थ मनुष्य है। क्योंकि केवल शरीरमात्र मनुष्य होनेसे उसकी गणना मनुष्यमें नहीं होसकती। बहुतेरे मनुष्य देखने

+ "शतं सहस्रं लक्षं च सर्वमसंख्यवाचकम्" इत्युक्तेः॥ अर्थात् शत, सहस्र और लक्ष ये अनन्तके वाचक हैं। जहां अनन्त और असंख्य कहनेका प्रयोजन होता है वहां इन शब्दोंका प्रयोग कियाजाता है।

मात्र मनुष्य हैं पर वे यथार्थमें मनुष्य नहीं हैं। यदि पूर्ण बिचारसे देखा जावेगा तो कोई-कोई गधा, बैल, शूकर, कूकरे इत्यादिसे भी अधिक नीच हैं। जैसे चाण्डाल, राक्षस-स्वभाववाले, कुविचारी जिनको तनिक भी शुद्ध विचार नहीं है। न किसी प्रकारके भले बुरेका बोध है। केवल पशुओंके समान वे अपना पेट भरना और मल-मूत्र परित्याग करना तथा निद्रा लेना जानते हैं। उनको मनुष्यके रूपमें पशु समझना चाहिये। ऐसे मनुष्यको छोडकर, जिनमें कुछ मानुषत्व है तथा जिनमें कुछ सात्विक-बुद्धि है वे ही यथार्थ मनुष्य हैं।

इस मनुष्यके विषय भगवान १७ वें अध्यायमें कहेंगे सो देख-लेना। तहां यह दिखलावेंगे, कि सात्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकाके मनुष्य हैं। इनमें जो तामसी हैं वे भूत प्रेतकी पूजा करनेवाले हैं और जो राजसी हैं वे यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं। पर जो इनमें सात्विकी हैं वे देवताओंकी पूजा करते हैं। सो यहां "मनुष्याणाम्" कहनेसे भगवान्का तात्पर्य्य सात्त्विक मनुष्योंसे है अर्थात् अनेक अनगणित सात्त्विक मनुष्योंमें कोई एक मनुष्य सिद्धिके लिये (भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिके लिये) यत्न करता है। एवम् पहले निष्काम-कर्मोंका अभ्यास करता है, जब निष्काम कर्मोंसे अन्तः-करणकी शुद्धि प्राप्त होती है तब ऐसे २ सहस्रों शुद्ध अन्तः-करणवाले मनुष्योंमें कोई स्थिर बुद्धि होकर ब्रह्मज्ञानकी सिद्धिके लिये यत्न करता है अर्थात् ज्ञानकी भूमिकाओंपर चढता और श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि प्रयत्नोंमें परिश्रम करता है। इनमें कितने तो ज्ञानकी भूमिका तथा योगके पथपर चढकर योग—भ्रष्ट

होजाते हैं जिनको फिर किसी श्रीमान् वा योगीके कुलमें जन्म लेना पडता है। इनमें कितने बार २ जन्म लेकर एक भूमिकासे दूसरी भूमिकापर चढते हैं। ऐसे अनेक चढने वालोंमें किसी—किसीकी गति सिद्ध होती है। ऐसे—ऐसे अनेकोंमें कोई एक ज्ञानकी भूमिकाओंको और योगको पूर्ण करता है। तहां सिद्ध होनेपर कितनोंको अहंकारका उदय होआता है। जिसके कारण उनको अपनी परमगतिमें विलम्ब होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः**] ऐसे—ऐसे सहस्रों यत्न करनेवाले और ज्ञानकी प्राप्ति करनेवालोंमें कोई-कोई मुझको तत्त्वतः अर्थात् ठीक-ठीक मेरे यथार्थ स्वरूपको जानता है।

शंका—श्रुतिः— "न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यात्" (केनो० खं० १ श्रुति ३ में देखो) अर्थात् श्रुति कहती है कि मैं उस ब्रह्मको नहीं जानती तथा (यथा एतत्) जैसा यह है तैसा तत्त्वतः शिष्योंको नहीं जना सकती। जब श्रुतिही उस ब्रह्मको तत्त्वतः नहीं जानती तो अन्य पुरुष तत्त्वतः कैसे जानेगा? तब भगवान्ने ऐसा क्यों कहा, कि कोई-कोई मुझको तत्त्वतः जानता है?

समाधान— इसी ग्रन्थमें पहले बार-बार कहागया है, कि श्रुति, स्मृति इत्यादि सब पराविद्या हैं इनमें तत्त्वतः जाननेकी शक्ति नहीं है अर्थात् श्रुतियोंको पढकर कोई प्राणी उस महाप्रभुको तत्त्वतः नहीं जानसकता। सो नारदने बार-बार सनत्कुमारसे कहा है, कि भगवन्! मैंने सब श्रुति स्मृतियोंको पढकर भी उस आत्मज्ञानको नहीं जाना हैं

जिससे शोकसागरेको तरसकूं और भगवान् भी अपने मुखारविन्दसे अर्जुन से कहचुके हैं, कि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!" हे अर्जुन! ये वेद त्रिगुणात्मक कर्मोंके ही सम्पादन करनेवाले हैं इस लिये तू "निस्त्रैगुण्य" होजा! इस वचनसे भी सिद्ध होता है, कि श्रुतियोंसे परे ब्रह्म-ज्ञान है जो केवल महात्माओंकी सेवासे प्राप्त होता है। जैसा कि श्रुति कहती है— "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत" (कठो० वल्ली ३ श्रुति १४ में देखो) अर्थात् उठो! जागो! और (वरान्) आचार्य्योंको प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानको सीखो! भगवान् भी कहआये हैं, कि "परिप्रश्नेन सेवया" महात्माओंकी सेवासे और उनसे पूछनेसे तिस ब्रह्मको जानो!। क्योंकि जबतक महानुभाव इसको न बतावें तबतक केवल वेदादि अध्ययनसे यह परमतत्त्व लाभ नहीं होसकता।

श्रुतिः- "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः" (कठो० अ० १ वल्ली २ श्रुति २३) अर्थात् इस आत्माका वेदोंसे लाभ नहीं होता। मुख्य तात्पर्य्य कहनेका यह है, कि महानुभावोंके द्वारा ही वह तत्त्वतः जाना जाता है और यहां तो स्वयं वासुदेव ही ऐसे महानुभाव इस ब्रह्मतत्त्वकोसमग्र और अशेषरूपसे अर्जुनके प्रति बतानेवाले हैं फिर क्या कहना ह ?

अब दूसरी शंका यह है, कि कृष्ण भगवानको तो सब गोकुल-वासी, मथुरानिवासी, द्वारकावासी तथा सम्पूर्ण भारतके मूर्ख, विद्वान्, दरिद्र, नरेश तथा महात्मा सभी जानते हैं फिर भगवान्ने ऐसा क्यों

कहा ! कि सहस्रोंमें कोई एक मुझको जानता है ।

उत्तर यह है, कि ये जितने जानने वाले हैं सब यही जानते हैं, कि भगवान्ने नन्द-यशोदाके गृहमें अवतार लेकर कंसको मारा, महाभारतमें अर्जुनकी रथवानी की, गोपिकाओंके संग रासक्रीडाकी, ग्वालबालोंका जूठन (माखन-रोटी) खाया । गोवर्धन-पर्वतको कनिष्ठिकापर उठाया, अग्निपान करगये, कालीनाग नाथा तथा कुब्जाको गति प्रदान की, अर्जुनको गीताशास्त्रका उपदेश किया इत्यादि २ । पर इतना जानना तो एक साधारण ज्ञान है इतनी बातोंके जाननेमें कोई विशेष वार्त्ता सिद्ध नहीं होती । इसलिये इतना ही जानना तत्त्वतः जानना नहीं है । यह तो उस महाप्रभुकी केवल साकार तथा प्रकट विभूतियोंका जानना हुआ, हां ! जो प्राणी इसी साकार द्वारा उस महाप्रभुके निराकार-स्वरूप और विभूतियोंको जानता है तथा निराकार और साकार दोनोंसे विलक्षण विभूतियोंको जानता है वही तत्त्वतः जाननेवाला कहा जावेगा । सो भगवान् रथपर बैठे २ अर्जुनको साकार, निराकार तथा दोनोंसे विलक्षण अपने तीनों प्रकार के स्वरूपको जनावेंगे । इसी कारण भगवान्ने इस अध्यायके प्रथम ही श्लोकमें अर्जुनके प्रति यह कहा, कि " असंशयं समग्रं माम् यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु " आनन्दकन्द योगेश्वर भगवान्के इन बचनोंसे ऐसा सिद्ध होता है, कि अर्जुनपर कृपाकर सबकुछ बतावेंगे। जिसके जाननेका फल श्रुति कहती है, कि—" तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति .... " जिसके जाननेसे प्राणी मृत्युके पार होजाता है, अमर होजाता है ॥ ३ ॥

अब भगवान् अपने समग्र स्वरूपको कहना आरम्भ करते हैं, और सबसे पहले क्या जानना चाहिये ? सो दिखलाते हैं। क्योंकि जो ज्ञान अनुक्रमके साथ न बतलाया जावे वह शीघ्र फलदायक नहीं होता।

मू०— भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

पदच्छेदः— भूमिः (गंधतन्मात्रम्) आपः (रसतन्मात्रम्) अनलः (रूपतन्मात्रम्) वायुः (स्पर्शतन्मात्रम्) खम् (शब्दतन्मात्रम्) मनः (तत्कारणमहंकारः) बुद्धिः (महत्तत्त्वम्) एव, च, अहंकारः (सर्ववासनावासितमविद्यात्मकमव्यक्तम्) इति, मे (मम) इयम्, प्रकृतिः (ममेश्वरीमायाशक्तिः) अष्टधा (अष्टभिः प्रकारैः) भिन्ना (भेदमागता) ॥ ४ ॥

पदार्थः— (भूमिः) जो गन्धतन्मात्रा (आपः) जो रसतन्मात्रा (अनलः) जो रूपतन्मात्रा (वायुः) जो स्पर्शतन्मात्रा (खम्) जो शब्दतन्मात्रा (मनः) जो संकल्पविकल्पात्मक अहंकार (बुद्धिः) जो तिस अहंकारको स्थिर और एकत्र रखनेवाला महत्तत्व (अहंकारः) जो सब वासनाओंसे भरा हुआ अविद्यात्मक अव्यक्त (इति) यही इतनी (मम) मेरी (इयम्) यह (प्रकृतिः) ईश्वरी मायाशक्ति (अष्टधा) आठ प्रकारसे (भिन्ना) भेदभावको प्राप्त हुई है अर्थात् मेरी प्रकृति आठ प्रकारकी है ॥ ४ ॥

भावार्थः— भगवान् श्री कृष्णचन्द्रने अर्जुनसे मानो बिना पूछे यह प्रतिज्ञा करली है, कि मैं तुझको अशेष-रूपसे विज्ञान सहित ज्ञानको बतलाऊंगा। इसी कारण प्रथम सृष्टिकी रचनाका कारण बतलानेके तात्पर्य्यसे भगवान् कहते हैं, कि यह मेरी आठ प्रकारकी प्रकृति है। सो कौन-कौन हैं ? [**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकारः**] भूमि, आप, अनल, वायु, खम, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकृतियां हैं। इनमें प्रथमके पांचभूत जो हैं अर्थात् जो पांचों भूतोंकी तन्मात्रा हैं ये एकवारगी जड हैं। क्योंकि इनमें क्रिया-शक्ति तो है पर ज्ञान-शक्ति नहीं है। जैसे किसी पाक करनेके लिये चूल्हेपरे एक हांडी वा पतीली रखकर नीचे अग्नि बालदो और उसमें चांवल छोडदो तो इसमें सन्देह नहीं, कि वह आग चावल पका देवेगी पर थोडी देर उसी प्रकार छोडदेनेसे सबको जलाकरे भस्म भी कर देवेगी। क्योंकि उस आगमें पका देने तथा जला देनेकी शक्ति तो है पर यह ज्ञान नहीं है, कि अब चावल पक गया होगा, अब इसे मत पकाओ, अपनी ज्वालाको रोकलो। ऐसा तीनकालमें भी स्वयं आग नहीं करसकती जबतक एक चेतन मनुष्य चावल पकानेवाला पाचक वहां बैठकर देखता न रहे। तात्पर्य्य यह है कि जड पंचभूतोंमें क्रिया करनेकी शक्ति है पर चेतनता जो ज्ञान-शक्ति सो नहीं है। इसी कारण इनको अपरा प्रकृति कहते हैं। अब आठों प्रकृतियोंमें मन, बुद्धि तथा अहंकार जो तीन रहे ये भी चैतन्य अर्थात् ज्ञानशक्तिवाले तो नहीं हैं पर इनपर चैतन्यका बिम्ब पडरहा है इसलिये चेतनके समान भासते हैं। जैसे सूर्यका बिम्ब घटपर पडनेसे घटका जल प्रकाशयुक्त देखपडता है।

इसलिये मन, बुद्धि और अहंकार चेतनके समान भासते हैं पर चेतन नहीं हैं । जैसे कलका बनाहुआ पक्षी पर भी मारता है, चीखता, चिल्लाता और गाता भी है पर यथार्थमें वह गानेवाला नहीं है । जैसे इन दिनों फोनोग्राफ (Phonograph) जो नाना प्रकारके गीतोंको गाता है, सुरीली मधुरध्वनिसे सुननेवालोंको प्रसन्न भी करता है पर चेतन नहीं । इसीलिये जबतक चेतन प्रकृति इनकी सहायता न करे तबतक इन आठों प्रकृतियोंसे कोई कार्य्य सिद्ध नहीं होता।

इतना तो अवश्य है, कि इन पंचभूतोंके द्वारा इस शरीरमें सारी रचनाएँ बन रही हैं, जो यहां दिखलायी जाती है- " सदद्वैतं श्रुतं यत्तत् पंचभूतविवेकतः । बोद्धुं शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ॥" (पंचदशी. प्रक २ श्लो० १) सत्यरूप एक अद्वितीय ब्रह्म इस ब्रह्माण्डका कारण है, सो मन, बुद्धि और वाणीसे परे है, अर्थात् इनसे जाना नहीं जाता इसलिये उसके कार्य्यों द्वारा अर्थात् पंचभूतोंके विवेक द्वारा उसको अनुभवमें लासकते हैं ।अतएव उसके कार्य्य (पंचभूतों) की विवेचना कीजाती है-" शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे । एकद्वित्रिचतुः पंच गुणा व्योमादिषु क्रमात ॥ प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ वीसीति शब्दनम। अनुष्णाशीतसंस्पर्शौ वह्नौ भुगभुगुध्वनिः। उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः। शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्य्यमीरितम ॥ भूमौ कडक्कडा शब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते । नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥ सुरेभीतर गन्धौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः । श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा

घ्राणं चेन्द्रियपंचकम् ॥" (पंचद० प्रक० २ श्लो० २, ३, ४, ५, ६)

अर्थ— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये ही पंचभूतोंके पांच गुण हैं। अब इन गुणोंकी पंचभूतोंमें किस प्रकार स्थिति है? सो कहते हैं— आकाशमें केवल एक शब्द गुण है। पवनमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। अग्निमें शब्द, स्पर्श और रूप तीन गुण हैं। जलमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण हैं। पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांचों गुण वर्त्तमान हैं। आकाशमें जो शब्द है वह ध्वनिरूप है।

इसी प्रकार वायुमें शब्द और स्पर्श दो गुण हैं तहां शब्द तो ध्वन्यात्मक नहीं है, वीसी, सीसी, ऐसे शब्द जानपडते हैं और स्पर्श इसका अपना गुण है सो अनुष्णाशीतरूप है अर्थात् न उष्ण है न शीत है। पवनके विषय जो उष्णता (गर्मी) प्रतीत होती है सो अग्निके सम्बन्धसे और जो शीतलता प्रतीत होती है वह जलके सम्बन्धसे होती है। वायु स्वयं न उष्ण है न शीतल है। अब अग्निके विषय जो शब्द है सो भुगु २ शब्द है और अग्निमें स्पर्श जो है वह उष्ण है और तिस अग्निका स्वयं *शुक्लरूप है। जलमें चुलु—चुलु वा वुलु—वुलु शब्द है, शीत-

* जलका शुक्ल रूप परायी किसी वस्तुको प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं है। पर तेज जो अग्निका शुक्ल रूप है वह परायी वस्तुको प्रकाश करनेमें समर्थ है। इस जल और अग्निके शुक्ल रूपमें इतना ही भेद है।

स्पर्श है, शुक्ल रूप है, और मीठा रस है। पृथ्वीमें कड-कड शब्द है, कठिनता-स्पर्श है तथा अरुण, कृष्ण, पीत इत्यादि अनेक प्रकारके रूप हैं और खट्टे मीठे इत्यादि अनेक प्रकारके रस हैं। सुगन्ध और दुर्गन्ध दो प्रकारके गन्ध हैं, पवन और जलमें जो कभी २ गंधकी प्रतीति होती है सो पृथ्वीके सम्बन्धकरके होती है वास्तवमें जल और पवनमें गन्ध नहीं है। इस प्रकार पंचभूतोंके गुणकी विवेचना करनी चाहिये।

अब इनके गुणोंका वर्णन करके इनके कार्य्योंका वर्णन कियाजाता है— श्रोत्र (कान) त्वचा, चक्षु, जिह्वा और नाक ये पांचों इन्द्रियां इन पंचभूतोंके कार्य्य हैं। आकाशसे श्रोत इन्द्रिय (कान) वायुसे स्पर्श अर्थात त्वचा, अग्निसे नेत्र, जलसे जिह्वा इन्द्रिय और पृथ्वीसे घ्राण इन्द्रिय (नाक) उत्पन्न होती है। ये पांचों ज्ञानेन्द्रिय कहलाती हैं। फिर इन ही पांचों भूतोंके कार्य्य कर्मेन्द्रियां भी हैं अर्थात वाक् ,हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा ये पांच कर्मेन्द्रियां कहलाती हैं। तहां आकाशसे वाक्, वायुसे हाथ, अग्निसे पांव, जलसे उपस्थ (लिंग) और पृथ्वीसे गुदा (मलपरित्याग० करनेकी इन्द्रिय) एवम्प्रकार इन पांचों भूतोंके गुण और कार्य्य फैलेहुए हैं।

अब रहे तीन मन, बुद्धि और अहंकार इनका भी वर्णन किया जाता है—

मनः— " **मनो दशेन्द्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम्। तच्चान्तःकरणं बाह्येष्वस्वातन्त्र्याद्विनेन्द्रियैः** " (पंच० प्र० २ श्लोक १२)

अर्थ—मन दशों इन्द्रियोंका अध्यक्ष अर्थात इंद्रियोंका राजा है। इसलिये इंद्रियोंका प्रेरक है। इस मनका नाम अन्तःकरण है क्योंकि बिना ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियके किसी पदार्थके जानने वा किसी क्रियाके करनेको समर्थ नहीं है। इसीलिये दशों इंद्रियोंको बाह्य करण कहते हैं और मनको अन्तःकरण कहते हैं। ऐसे ही बुद्धि और अहंकार भी अन्तःकरण ही हैं। मनका कार्य है, कि इंद्रियोंके एकत्र कियेहुए विषयोंको जाने। जैसे राजा अपने भृत्योंके द्वारा अपने सम्पूर्ण राज्यका वृत्तान्त महलमें बैठे-बैठे जानलेता है। इसी प्रकार मन-रूप राजा सम्पूर्ण शरीरके वृत्तान्तको हृदयके महलमें बैठाहुआ जानलेता है। तहां बुद्धि रूप अन्तःकरण जो मनके साथ बैठा हुआ है सो मनका मंत्री है भले बुरे दोनोंको यह मन इंद्रियोंके द्वारा इकट्ठा करलेता है। तहां बुद्धि उनके करने न करनेकी विवेचना कर समझा देती है, कि अमुक कार्य करने योग्य है वा नहीं है। अहंकार मन और बुद्धिसे एकत्र करवाये हुए इन सब कार्योंको स्मरण रखता है। अर्थात सौ वर्ष पहिले जो किसी प्राणीकी जान मारी थी वह मारनेवालेके अन्तःकरणमें स्मरण है, तिस स्मृतिका कारण अहंकार है। यदि अहंकार न हो तो कोई बात प्राणीको स्मरण न रहे, सब करता जावे और भूलता चला जावे। सो ऐसा नहीं होसकता। विद्यार्थीने जो विद्या गुरु द्वारा उपार्जन की है और सैकडों ग्रन्थोंके श्लोक और उनके अर्थ फिर सहस्रों श्रुति स्मृतियोंके उपदेश जो स्मृतिमें रखे हैं उनका कारण अहंकार ही है। परमात्माने भी जब सृष्टि करनेकी इच्छा की तब पहले अहंकार ही को स्वीकार किया। अर्थात अपनी शक्तियोंकी

स्मृतिको आगे रखलिया जिससे मनका स्वरूप तयार होगया । तिस मनके द्वारा ईक्षण करके " तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम " ऐसे कहा, कि एक मैं हूँ बहुत होजाऊं क्योंकि " एकाकी न रमते " इस बृहदारण्यककी श्रुतिके अनुसार अकेले रमण नहीं होसकता । इसी कारण उस महाप्रभुने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की। तिसकी इच्छामात्रसे ही महत्तत्व, अहंकार, मन तथा पाँचों भूतोंकी तन्मात्रा इत्यादि सब उत्पन्न होगयीं । तहां श्रुतिका प्रमाण है " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी " (तैत्ति० बं० २ अनु० १) अर्थ— तिस आत्मासे उसके ईक्षण द्वारा पहले आकाश उत्पन्न हुआ आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई ।

मनुने भी कहा है, कि " मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया। आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः। आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः । बलवाञ्जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥ वायोरपि विकुर्वाणाद्विरोचिष्णु तमोनुदम् । ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत्तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः। अद्भ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥ " (मनु० अ० १ श्लो० ७५ से ७८ तक)

अर्थ—सृष्टिकी इच्छासे जो प्रेरित तत्त्व उसीको महत्तत्त्व कहते हैं— सो तिससे आकाश उत्पन्न हुआ तिसका शब्द गुण हुआ अब

उस आकाशके विकारवान् होनेसे सर्व प्रकारके सुगन्ध दुर्गन्धका लेचलने वाला पवित्र तथा वृक्षादिकोंको उखाड डालनेवाला बलवान् वायु देव उत्पन्न हुआ। जिसका गुण स्पर्श माना गया है। फिर वायुके भी विकारवान् होनेसे परप्रकाशक तथा तमका नाशक और स्वयं प्रकाशस्वरूप तेज (अग्नि) उत्पन्न हुआ। उसका गुण रूप कहा जाता है। फिर तिस तेज (अग्नि) के विकारवान् होनेसे रस गुण वाला जल उत्पन्न होता है। और उस जलसे गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। एवम् प्रकार आदिसे लेकर अन्ततक भूतोंकी सृष्टि समाप्त होती है।

अब यहां मनुके वचनसे देखा जाता है, कि प्रत्येक तत्त्वोंमें विकारेके होनेसे अगला तत्त्व तयार हुआ है, सो विकार कैसे होता ? और क्या होता है ? वर्णन किया जाता है—

यह सिद्धान्त—वचन है, कि ब्रह्माण्डमें जितनी वस्तुकी सृष्टि होती है बिना किसी प्रकारके विकारके नहीं होती। विकार कहते हैं वस्तुके स्वरूपके आविर्भाव और तिरोभावको अर्थात् जब कुछ बनता वा बिनशता है सो ही विकार है। सो दो वस्तुओंकी रगडसे एक तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है। जैसे दो काष्ठोंकी रगडसे आग उत्पन्न होती है। यहां दो लकडियोंकी रगडसे ही विकार होता है। आदिमें परमात्माने भी रगडहीसे सृष्टि उत्पन्न की है प्रमाण— "स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपात-

यसंतः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्वः"
(वृहदा० अ० १ ब्राह्म० ४ श्रु० ३ में देखो)

अर्थ— जब एकाकी परमात्माको अपनी विभूतियोंके साथ रमनेकी इच्छा हुई, जैसे प्रत्येक चक्रवर्त्ती राजा महाराजा सायं प्रातः रमनेकी इच्छा कर बडे—बडे बनोंमें तथा नदियोंके तटपर बिहार करने जाते हैं अर्थात् अपने ऐश्वर्यमें आप रमते हैं। इस प्रकार जब परमात्माने रमनेकी इच्छा की तब दूसरेकी आवश्यकता पडी क्योंकि अकेला कोई रमण करें नहीं सकता, इसीसे रमनेवाला सदा दूसरेकी इच्छा करता है इसलिये परमात्माने दूसरेकी इच्छाकी। पर दूसरा आवे कहांसे- ब्रह्म तो एकही है। दो का तो कहीं नाम भी नहीं है 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' "नेह नानास्ति कश्चन" अर्थात् एक ही ब्रह्म अद्वितीय है दूसरा कहीं कुछ नहीं है। तब उस महाप्रभुने "द्वितीयमैच्छत" दूसरेकी इच्छा की जैसे स्त्री-पुरुष दो स्वरूप हैं एक साथ मिले होते हैं। इसी प्रकार उस महाप्रभुने दो प्रकारके स्वरूप उत्पन्न किये। अर्थात् अपनेको आपमें रगडनेसे पति और पत्नी दो स्वरूप प्रकट हुए। जैसे एक किसी नाजका बीज पृथ्वीमें डालनेसे उसमें फूटकर दो दाल होजाते हैं। इसी प्रकार पुरुष और पत्नी दो स्वरूप होगये अर्थात पुरुष और प्रकृति दो स्वरूप हुए अतएव इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इसी कारण सृष्टिको ब्रह्मसे कहो अथवा अव्याकृत प्रकृतिसे कहो दोनोंका एक ही तात्पर्य्य है इसलिये यह सर्व-सिद्धान्त है, कि प्रकृतिसे सृष्टि होती है सो दो प्रकारकी है। इन दोनोंको भगवान् दो श्लोकोंमें कथन करते हैं।

इस श्लोकमें अपरा प्रकृति कहरहे हैं और अगले श्लोकमें परा प्रकृतिका कथन करेंगे ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन, बुद्धि, अहंकार ये आठ प्रकृतियां अपरा हैं, जड हैं, सो पहले कहआये हैं । मन, बुद्धि, अहंकार भी जो स्वयं जड स्वरूप हैं इनपर चैतन्य आत्माका बिम्ब पड़ता है। इसलिये चैतन्यके समान देखेजाते हैं। इसलिये इनकी चेष्टा अपनी चेष्टा नहीं है इन सबोंको केवल एक आत्मासे चेष्टा करने की शक्ति मिलती है ।

अब यहां शंका यह है, कि भगवानने तो अर्जुनसे उपासना-काण्ड आरम्भ करतेहुए यह प्रतिज्ञा की है, कि " असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु " निस्सन्देह मेरे समग्र स्वरूपको जिस प्रकार जान सकेगा हे अर्जुन ! सो सुन ! पर अपना स्वरूप न कहकर सब से पहले प्रकृतिका वर्णन करने लगगये । ऐसा क्यों ?

उत्तर इसका यह है, कि जब कोई किसीको समग्र जानना चाहता है तो उसके ऐश्वर्य्य, नाम, रूप, गुण, कर्म, स्वभाव इत्यादि को विलग-विलग जाननेकी इच्छा करता है । जैसे देवदत्तने यज्ञदत्त से पूछा, कि तुम्हारा नाम क्या है ? कहांके निवासी हो ? कौन-कौन विद्या तुमने सीखी हैं ? आज कल कौन व्यवसाय करते हो ? इत्यादि, इसके उत्तरमें उसने सब कुछ अपना वृत्तान्त बतादिया तो जानने वाला उसको समग्र रूपसे जानगया । इसी प्रकार भगवान् अपनेको समग्र जनानेके तात्पर्यसे अपने ऐश्वर्योंको वर्णन करतेहुए प्रथम अपनी प्रकृतियोंका वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

अब भगवान् अपनी अपरा (जड) प्रकृतिका वर्णन समासकर परा (चैतन्य) प्रकृति का वर्णन करते हैं—

मू०— अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महावाहो ययेदं धार्य्यते जगत् ॥ ५ ॥

पदच्छेदः [हे] महावाहो ! इयम (अष्टधोक्ता या प्रकृतिः) तु, अपरा (निकृष्टाऽशुद्धाऽनर्थकरी संसारबन्धनात्मिका) इतः, अन्याम (विलक्षणाम) जीवभूताम् (क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूताम् चेतनात्मिकां वा) मे (मम) प्रकृतिम, पराम् (प्रकृष्टाम् । विशुद्धाम) विद्धि (जानीहि) यया (जीवभूतयाऽन्तरानुप्रविष्टया) इदम्, जगत् (स्थावरजंगमशरीरात्मिका सृष्टिः) धार्यते (स्वतो विशीर्यज्जगदचेतनवर्गो विष्टभ्यते) ॥ ५ ॥

पदार्थः— [हे] (महाबाहो) विशालभुजावाला अर्जुन ! (इयम्) ये जो मेरी आठ प्रकारकी पूर्वोक्त प्रकृतियां हैं (तु) वे तो (अपरा) निकृष्ट हैं (इतः, अन्याम) इनसे दूसरी (जीवभूताम्) जीव स्वरूप (मे, प्रकृतिम्) मेरी प्रकृतिको (पराम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (विद्धि) जान (यया) जिसके द्वारा (इदम, जगत यह जगत् (धार्यते) स्थिर है ॥ ५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपनी परा प्रकृतिका वर्णनकरते हुए कहते हैं, कि [महावाहो !] हे विशाल भुजावाला अर्जुन ! मैंने तुझसे जो पहले आठ प्रकृतियोंका वर्णन किया [अपरेयम्]

यह मेरी अपरा प्रकृति है अर्थात् अत्यन्त निकृष्ट, अशुद्ध, अनर्थकी करनेवाली और संसारके बन्धनमें डालने वाली प्रकृति है । यदि शंका हो, कि भगवान् ऐसा कहते हैं, कि यह मेरी प्रकृति है फिर अपनी प्रकृतिको अशुद्ध तथा अनर्थकरी और बन्धनमें डालनेवाली क्यों कहते हैं? निकृष्ट क्यों कहते हैं ? क्योंकि मीठासे मीठा, अमृतकुण्ड से अमृत, विषके कुण्डसे विष निकलता है । फिर जो स्वयम् शुद्ध निर्मल और सर्व प्रकार श्रेष्ठ है उससे निकृष्ट, अशुद्ध और दुःखदायी वस्तु कैसे उत्पन्न होंगी ? इसलिये इन तत्त्वोंको निकृष्ट अशुद्ध कहना नहीं बनता । क्योंकि ये तो परम पवित्र देख पडते हैं । आकाशकी ओर देखो! यह कैसा निर्मल और स्वच्छ है, जब वायु इस आकाशमें नीले, श्याम, श्वेत, हरे, काले और लाल बादलोंको लेकर चलती है तो चित्तको कैसा सुख और प्रसन्नता प्राप्त होती है ? इसी प्रकार वायु जिस समय शीतल, मन्द, सुगन्ध होकर किसी मार्गके थकेहुए पथिकके शरीरमें लगे तो कैसी सुखदायी होगी ? एवम् प्रकार शीतकालमें आग किस प्रकार आनन्द-दायक है ? फिर नाना प्रकारके पक्वान्नोंको पकाकर भोजनमें कैसी प्रसन्नता प्राप्त कराती है ? पिपासाके समय एक स्वच्छ पात्रमें निर्मल गंगाजल वा शीतल यमुनाजल तथा किसी अन्य सर, सरिता, वापी, कूप, तडागका जल पीनेको मिलजावे तो वह कैसा शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ और सुखदायी होता है ? पृथ्वीकी ओर देखो! नाना प्रकारसे मल-मूत्रत्यागके पश्चात् केवल वह मिट्टी ही है, जिससे अंगोंको निर्मल करते हैं। फिर वही पृथ्वी है जो नाना प्रकारके नाजोंको उत्पन्न कर खिलाती है, फिर यही पृथ्वी जिसके

आधीन रहती है वह भूपति वा नरेश कहलाता है। इन सुखदायी तत्वोंको निकृष्ट और अशुद्ध कहना बनता नहीं ?

उत्तर इसका यह है, कि वस्तुतस्तुकी स्वच्छताकी अपेक्षा इनको अशुद्ध नहीं कहाजाता। शरीरकी ओर अपने स्वार्थवश प्रपंचकी अपेक्षा अशुद्ध और दुःखदायी हैं। क्योंकि इन पाचों भूतोंके मेलसे जो यह शरीर रचागया पहले उसकी ओर देखो! कैसा निकृष्ट, अशुद्ध और दुःखदायी है ? इन्हीं पंचभूतोंके कारण कफ, पित्त, वायु इत्यादि का संयोग इस शरीरको हुआ है जिनके द्वारा आध्यात्मिकतापकी वृद्धि होती है। ज्वर, खांसी, जलोदर, गुल्म, कुष्ट, उन्माद इत्यादि सहस्रों प्रकारके भयंकर रोग इन्हीं तत्त्वोंके द्वारा उत्पन्न होते हैं। पानीमें गलजाना, अग्निमें जलजाना, वायुसे सूखजाना इत्यादि कैसे भयंकर और दुःखदायी कार्य हैं ?

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि ये जडतत्त्व अपने जडत्वके कारण यह विचार नहीं करसकते, कि यह ब्राह्मणकी पोथी है वा वेदका ग्रन्थ है इसको न गलाऊं वा न जलाऊं वा न उडाऊं। क्योंकि इनमें जो शक्ति है वह निरपेक्ष है, सापेक्ष नहीं अर्थात् ये पांचों अपनी शक्तिके प्रवाहमें किसीकी अपेक्षा नहीं रखते सो चौरासीलक्ष योनिमात्र इन तत्त्वोंके कारण नाना प्रकारके दुःख झेल रहे हैं। देखो! पुत्र, कलत्र इत्यादि जो इन ही आठ प्रकृतियोंके मेलके पुतला पुतली हैं। जिनके बिछुड जानेसे प्राणी कितना रोता और कराहता है।

मुख्य अभिप्राय कहनेका यह है, कि शरीरकी अपेक्षा तो ये प्रकृतियां सुखदायी और दुःखदायी दोनों हैं पर आत्मानन्द तथा ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें तो ये दुःखदायी ही हैं। क्योंकि बन्धनके कारण हैं और प्राणी शुभा-शुभ कर्मोंके फलोंको इनहीके द्वारा भोगता है।

जैसे कोई चक्रवर्त्ती नरेश दूषितकर्म करनेवाली प्रजाओंके दण्डकेलिये निगड, शृंखला (हाथ पांवकी बेडी) शूली फांसीके बल्ले, वेत्र (वेत) इत्यादि बनाकर कारागारमें रखदेता है। इसी प्रकार संसाररूप कारागारमें दूषितकर्म करनेवाले प्राणियोंको बांधनेकेलिये ये आठों प्रकृतियां निगड (बेडी) शूलीके बल्ले इत्यादिके समान हैं। इसी कारण मायाग्रस्त प्रपंचमें मग्न प्राणियोंकेलिये ये अवश्य दुःखदायी हैं, इसलिये इनको निकृष्ट, अशुद्ध और बन्धनका कारण कहा। नहीं तो ये शुद्धब्रह्मके विभव हैं, ये कदापि अशुद्ध और निकृष्ट नहीं होसकते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**इतरस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्**] इन आठोंसे विलक्षण तू मेरी परा प्रकृतिको जान! अर्थात मेरी दूसरी प्रकृति परा नामसे पुकारी जाती है। जो श्रेष्ठ है और निर्म्मल है। जिसमें किसी प्रकारका दुःख नहीं न किसी प्रकारका संसार-बन्धन है वरु वे जो मेरी आठ प्रकृतियां हैं उनको भी अपने संगसे शुद्ध और निर्म्मल करनेवाली है अर्थात जो अपनी ज्ञानशक्ति द्वारा इन आठों जड प्रकृतियोंसे जहां जैसी उचित चाहिये कामलेती है। किसीको तितर-बितर नहीं होने देती। जैसे एक ग्लास पानीमें अमृतकी

एकबूंद डालदो तो सारा ग्लास अमृत होजावेगा । इसी प्रकार आठ अपरा प्रकृतियोंमें परा प्रकृतिके मिलजानेसे ज्ञानशक्तिके कार्य होने लगते हैं। सूर्य, चन्द्र प्रकाश करने लगजाते हैं। और वे केवल १२ घण्टे अर्थात् चार प्रहर पृथ्वीके एक ओर और चार प्रहर दूसरी ओर प्रकाश करते हैं। यदि इनमें किसी इनसे श्रेष्ठ प्रकृतिकी मात्रा नहीं मिलीहोती तो ये जहां ऊगते वहां ही ठहरे रहते अथवा बच्चोंकी गेंदके समान इधर-उधर लुढकते फिरते। पृथ्वी-मण्डलमें अन्धकार और प्रकाशका अनियम होजाता। इसी कारण भगवानने अपनी दूसरी प्रकृतिको परा कहा है अर्थात् सबोंसे उत्कृष्ट कहा है।

अब वह परा प्रकृति कैसी है ? सो कहते हैं, कि [**जीवभूताम् महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्**] जीवात्मिका है और इसीके द्वारा यह सारा जगत् धारण कियाजाता है अर्थात् जिसके द्वारा इन पंचभूतोंसे जो चौरासी लक्ष प्रकारके पिण्ड बनते हैं वे चलने फिरने लगते हैं, इसी कारण इसको जीवभूता कहा । क्योंकि यह जीवभूता प्रकृति जबतक गर्भस्थित पंच-भूतके पिण्डमें नहीं प्रवेश करती तबतक प्राणोंका स्फुरण गर्भपिण्डमें नहीं होता। जभी यह जीवभूता प्रकृति प्रवेश करती है, प्राणोंके साथ पांचों कर्मेन्द्रियां और पांचों ज्ञानेन्द्रियां, मन, बुद्धि और अहंकार सब अपना-अपना कार्य्य करने लगजाते हैं और जबतक यह जीवभूता प्रकृति इस पिण्डके साथ वर्त्तमान रहती है तबतक यह जीवित रहता है। इसके छोडदेनेसे मृतक होजाता है। इसी मेरी परा प्रकृतिको मेरी आत्मभूत प्रकृति जानो ! तहां श्रुतिका भी वचन है, कि

" अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि "

अर्थ— इसी जीवात्मभूत-रूप प्रकृतिसे जगत्‌के भीतर प्रवेश करके मैं नाम रूपको विस्तार पूर्वक प्रकट करूं ऐसा संकल्प करके इसी जीवभूता प्रकृतिसे ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तकी सृष्टिमें देव, किन्नर, गन्धर्व, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, नदी, नद, वन, पर्वत इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंको जो मेरेमें स्थित हैं वहिर्मुख करे प्रकट करता हूं इसीको सृष्टिकी रचना कहते हैं। इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि " ययेदं धार्य्यते जगत् " जिस प्रकृतिसे यह सारा जगत् अपने नाम रूपमें वर्त्तमान है। तात्पर्य्य यह है, कि भगवानकी जो दो प्रकारकी अपरा और परा प्रकृतियां हैं इन दोनोंमें एकसे तो सारी पांच-भौतिक सृष्टि आकाशसे पाताल पर्य्यन्त प्रकट रूपसे देखी जाती है क्योंकि सूर्य्य, चन्द्र, तारा गणसे लेकर सागर और पर्वत पर्य्यन्त जो प्रकट दृश्य आते हैं सब अपरा प्रकृतिके कार्य्य हैं। और परा प्रकृति प्रकट रूपसे देखी नहीं जाती पर गुप्त रूपसे सबके अन्तर प्राण होकर प्रवेश किये हुई है। इसी कारण एक प्रकट और एक गुप्त है। सो इस अपरा प्रकृतिने प्रकट होकर बडे २ बुद्धिमानोंकी बुद्धिको अपनी ओर इतना खींच रखा है, कि वे परा प्रकृतिको न मानकर इस चलने, फिरने, बोलने, हँसने, रोने, उठने, बैठने, जागने, तथा सोनेके व्यवहारको इस अपराका ही कार्य्य अर्थात् इन पंच-भूतोंहीके मेलका परिणाम बताते हैं। अर्थात् यों कह पडते हैं, कि जीव अथवा आत्मा कहीं कुछ नहीं है। केवल पांचों तत्त्वोंके मेलसे एक शक्ति प्रकट होती है जो हँसने, बोलने, उछलने और कूदने लगती है

पर ये पांच बातें हैं।

इसी जीवभूता प्रकृतिको क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं (जिसका वर्णन भगवान् १३ वें अध्यायमें करेंगे) अर्थात् क्षेत्र जो यह शरीर जिसमें पाप पुण्य रूप बीजकी खेती होती है, तिस क्षेत्रका जाननेवाला प्रधान यह जीव है। पर बुद्धिमानोंको चाहिये, कि जीवात्मा और आत्मा को एक सामान न समझें। दोनोंमें इतना भेद है, कि इस क्षेत्रमें आत्मा केवल साक्षीरूप है और जीवात्मा कर्मोंको करनेवाला और भोगनेवाला है। जिसके विषय श्रुति कहती है, कि "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ········) अर्थात् जीव और आत्मा (ब्रह्म) दोनों सखा रूप दो पक्षी एक शरीररूप वृक्षपर मिलेहुए हैं इनमें एक करता और भोगता है तथा दूसरा केवल साक्षी-रूप है। फिर ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्डमें लिखते हैं— "जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते आत्मा निर्लिप्त एव च" अर्थात् यह जीव कर्मफलका भोगनेवाला है पर आत्मा निर्लेप है। क्योंकि "आत्मनः प्रतिविम्बश्च देही जीवः स एव च। प्राणदेहादिभृद्देही स जीवः परिकीर्त्तितः" अर्थात् आत्माका जो प्रतिविम्ब इस अपरा प्रकृतिमें पडरहा है वह देही और जीव कहलाता है, सो प्राण और देह सहित इन्द्रियोंका धारण करने वाला है इसी कारण उसको जीव कहते हैं। "वेदान्तमते घटावच्छिन्नाकाशवत् शरीरत्रितयावच्छिन्न चैतन्यम। केषाञ्चिन्मते दर्पणस्थमुखप्रतिबिम्बवद् बुद्धिस्थचैतन्यप्रतिबिम्बम्" अर्थात् वेदान्तके मतमें जैसे घटसे अवच्छिन्न अर्थात घडेमें घिराहुआ आकाश रहता है। इसी प्रकार

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीनों शरीरोंसे अवच्छिन्न जो चैतन्य उसे जीव कहते हैं। किसी २ के मतमें ऐसा है, कि जैसे दर्पणमें मुखकी छाया पडती है इसी प्रकार बुद्धिमें जो चैतन्यकी छाया पडती है वही जीव है।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यह जो जीवभूता प्रकृति है यही दुःख सुखको भोगनेवाली है। सब पाप पुण्यको करते रेहना और भोगते जाना इसीका काम है पर इसको शुद्ध और उत्कृष्ट कहनेका कारण यह है, कि जब ज्ञानका प्रकाश होता है तो यही चैतन्य-बिम्ब अपने यथार्थ स्वरूप अर्थात् आत्माकार-वृत्तिको स्वीकार कर मोक्षके प्राप्त करलेनेको समर्थ होजाता है ॥ ५ ॥

अब अगले श्लोकमें भगवान् अपनी इन ही दो प्रकृतियों द्वारा अपनेको सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और संहारका कारण बतावेंगे—

मू०— एतद्योनीनि भूतानि सर्व्वाणीत्युपधारय !।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

पदच्छेदः— सर्व्वाणि (निखिलानि) भूतानि (चेतनाचेतनात्मकानि चतुर्विधानि भवनधर्मकाणि) एतद्योनीनि (एते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृतियोनिकारणभूते येषां सर्वेषां जरायुजाण्डज-स्वेदजादीनां भूतानां तानि) इति, उपधारय (जानीहि) अहम् (वासुदेवः) कृत्स्नस्य (समस्तस्य) जगतः (जडाजडरूपस्य) प्रभवः (उत्पत्तिकारणम्) तथा, प्रलयः (विनाशकारणम् लयस्थानम् वा) [अस्मि] ॥ ६ ॥

पदार्थः— (सर्वाणि) सब (भूतानि) जडचेतन पदार्थ जो जगत्में देखपडते हैं (एतद्योनीनि) इनही दोनों अपरा और परा प्रकृतिसे उत्पन्न हैं (इति, उपधारय) ऐसा जान! क्योंकि (अहम्) मैं सर्वेश्वर वासुदेव (कृत्स्नस्य) सम्पूर्ण (जगतः) जगतका (प्रभवः) उत्पत्तिका कारण तथा (प्रलयः) नाशका कारण हूँ ॥ ६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् यह दिखलाते हैं, कि मैं अपनी इनही दोनों प्रकृतियों द्वारा समस्त जगत्की उत्पत्ति और नाशका कारण होताहूँ। इसलिये कहते हैं, कि [**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणी त्युपधारय!**] जगत्के सभी जड वा चेतन पदार्थ इनही परा और अपरा प्रकृतियोंसे उत्पन्न हैं। अर्थात ये जितने स्थावरजंगमात्मक द्रव्य हैं। सब इनही दो प्रकृतियों द्वारा स्थिर हैं। इन प्रकृति-जन्य द्रव्योंके विस्तारकी ओर यदि कोई बुद्धिमान् अपनी बुद्धिको इनका थाह लानेको भेजदेवे तो वह बुद्धि सहस्रों युग पर्य्यन्त ऊब डूब करती रहजावेगी पर इन द्रव्योंके बिस्तारका पता लगाना कठिन है। इसमें तनक भी सन्देह नहीं, कि यह कहावत चरितार्थ होजावेगी, कि " **गयी पूतली लवणकी थाह सिन्धुको लैन। गलत २ पानी भयी लौटि कहै को बैन** " तात्पर्य्य यह है, कि जिस किसी एक रचनाकी ओर बुद्धि जावेगी, जाते २ वहाँ तन्मय होकर रहजावेगी, लौटकर इनके प्रमाणके कहनेको समर्थ नहीं होगी। देखो! केवल एक तारागणकी रेचनाकी ओर यदि दृष्टि दीजावे और कोई चाहे, कि मैं इनकी गणना करके बतादूं, कि कितने तारा

हैं तो कदापि संभव नहीं है, कि इनका कुछ भी प्रमाण मिलसके। इसी प्रकार अन्य सर्वप्रकारके द्रव्योंके विस्तारके विषय भी जानना चाहिये। देखो! चौरासीलक्ष योनियोंकी जो गणना है सो बुद्धिमानोंने एक विशेष अंकको केवल सर्व साधारणके बोधमात्रकेलिये रखदिया है नहीं तो चौरासीलक्षसे शास्त्रका तात्पर्य्य अनगिनत योनियोंके कहनेका है।

शंका— चौरासीलक्ष योनियोंसे अनगिनत योनियोंके कहनेका तात्पर्य्य होता तो शास्त्रने ऐसा क्यों किया ? कि प्रत्येक योनियोंकी गणनाका प्रमाण अलग २ देकर कहा। जैसे गरुडपुराण प्रेतकल्प अ० २ में लिखा है, कि " एकविंशतिलक्षाणि ह्यण्डजाः परिकीर्त्तिताः। स्वेदजाश्च तथैवोक्ता उद्भिज्जास्तत् प्रमाणतः॥ जरायुजाश्च तावन्तो मनुष्याद्याश्च जन्तवः। सर्वेषामेव जन्तूनां मानुषत्वं सुदुर्लभम्॥" अर्थात् २१ लक्ष अण्डज हैं और उतने ही स्वेदज (ऊष्मज) हैं तथा उतने ही उद्भिज्ज (स्थावर) हैं तथा उतने ही जरायुज (पिंडज) हैं।

फिर बृहद्विष्णु पुराणके मतानुसार कहते हैं—

" जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः।
कृमयो रुद्रसंख्याकाः पक्षिणां दशलक्षकम्॥
त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानुषाः "

अर्थ— नव लक्ष तो जलके जीव हैं, बीस लक्ष स्थावर हैं तथा स्वेदज जो कीडे हैं वे ग्यारह लक्ष हैं, पक्षी दश लक्ष हैं, तीस लक्ष पशु हैं और चार लक्ष मनुष्य हैं।

फिर कर्म्मविपाकके मतानुसार—

"स्थावरास्त्रिंशल्लक्षाश्च जलजो नवलक्षकः। कृमिजा दश लक्षाश्च रुद्रलक्षाश्च पक्षिणः॥ पशवो विंशलक्षाश्च चतुर्लक्षाश्च मानवाः।" (अर्थ स्पष्ट है)

उत्तर— ये जो प्रमाण दियेहुए हैं इनमें भिन्न २ ग्रन्थोंके मतसे भेद पाया जाता है। इनकी संख्यामें बुद्धिमानोंकी एक सम्मति नहीं देखी जाती। इसी कारण अनुमान होता है, कि किसीको ठीक २ यथार्थ रूपसे इन योनियोंका पता नहीं लगा। इसीलिये इनमें भेद होता है।

यदि कोई बुद्धिमान चाहे, कि मैं इनकी संख्या ठीक २ लिखूं, तो ऐसा कदापि नहीं होसकता, सो पहलेही कहागया है। पर एक बात इसमें अवश्य ध्यान देने योग्य है, कि यद्यपि चार खानिके जीवोंकी गणनामें भेद है, पर सब मिलकर चौरासी ही होते हैं, न ८३ हैं न पचासी हैं।

शंका— यदि केवल बहुत संख्या कहनेका ही तात्पर्य्य होता तो सर्वशास्त्रकारे चौरासी ही क्यों कहते ८५ वा ८८ वा ९० वा ९४ वा ५० इत्यादि संख्याओंको भी तो कह सकते थे।

समाधान— चारे खानिके जीवोंकी उत्पत्तिमें तीनों गुणोंका प्रवेशहै क्योंकि जिन प्रकृतियोंकी ये रचनाएँ हैं वे रज, सत्व और तम तीन गुणवाली हैं। फिर प्रत्येक खानिमें तीन २ प्रकारकी रचनाएँ बनी हैं— जैसे जरायुजोंमें पशुओंकी ओर विचार करनेसे यह बोध होगा, कि

बहुतेरे पशु सात्त्विक हैं, बहुतेरे राजस हैं और बहुतेरे तामस हैं । इसी प्रकार बुद्धिमान् चारों खानिके जीवोंमें समझ लेवें । मनुष्योंमें जो सुन्दर स्वरूपवान् और देवताओंके सदृश स्वभाव वाले हैं, वे सात्त्विक हैं और जो राक्षसी स्वभाव वाले तथा कुरूप और अधिकांग हैं, वे सब तामसी हैं । शेष सब रजोगुणी हैं ।

इसलिये चारों खानिके जीवोंको जब तीन गुणोंसे गुणा करदेते हैं तो बारह होता है, फिर प्रत्येक खानिके जीवोंके साथ उनके सप्तधातु (रोम, चर्म, रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि और शुक्र)में भेद है, इसलिये उन बारहोंको फिर सातसे गुणा करनेसे ८४ प्रकारकी योनियां सिद्ध कीगयी हैं । पर लक्ष शब्दका प्रयोग जो इस ८४ के साथ है सो वह असंख्य प्रमाणका बोध कराता है । क्योंकि " शतं सहस्रं लक्षं च सर्व-मसंख्यवाचकम् " इस प्रसिद्ध वचनके अनुसार शत, सहस्र और लक्ष ये असंख्यके वाचक हैं । इसलिये सिद्ध होता है, कि ८४ लक्ष योनियोंके कहनेका यही तात्पर्य्य है, कि अनगिनत और असंख्य जीव हैं । शंका मतकरो !

इसी प्रकार इन प्रकृतियोंकी जिस रचनाकी ओर बुद्धि जावेगी वहां ही तन्मय होजावेगी और थोडी देरमें थक कर लौट आवेगी । क्योंकि उस महेश्वरकी शक्तियां मन, बुद्धि और वाणीसे परे हैं । अतएव इन दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंको ही सबकी उत्पत्तिका कारण कह कर भगवान् इन भूतोंका नाम एतद्योनीनि रखते हैं । और अर्जुनसे कहते हैं, कि सर्वाणीत्युपधारय ! इन सब भूतोंको एत-

योनि जान ! अर्थात् मेरी इन परा अपरा प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुआ जान ! पर हे अर्जुन ! ऐसा मत जान! कि इन दोनों प्रकारकी प्रकृतियोंमें किसी प्रकारकी इनकी अपनी शक्ति है अथवा ये भूत इन प्रकृतियोंके आधीन हैं। वरु इनमें केवल मेरी आज्ञा है। तू ऐसा मत समझ, कि ये वायु, अग्नि इत्यादि जो पंचभूत हैं इनमें उडाने जलाने वा गलानेकी अपनी शक्ति है !

"एतद्योनीनि" जो मैंने तुझसे कहा इसका केवल इतना ही अर्थ जानना चाहिये, कि मैं ही स्वयम् अपनी इन दो प्रकृतियोंके द्वारा सब भूतोंको रचता हूँ। पर ऐसा कदापि मत समझना, कि इनमें तनक भी अपनी शक्ति है। यदि मैं चाहूँ तो इनमें जो उडाने, जलाने और गलानेकी शक्ति है सब निकाल लूं और इन सबोंको शक्तिहीन करदूं। सो इतना भगवान्ने अर्जुनके प्रति यथार्थ वचन कहा।

बहुतेरे विद्वान और बुद्धिमान प्रकृतिको ही सृष्टिका कारण बताते हैं पर ऐसा समझना उनकी एकबारगी भूल है। उनकी इस भूलको मिटानेके तात्पर्यसे भगवान् इसी श्लोकके आधेमें कहते हैं, कि [**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**] मैं ही इस सम्पूर्ण जगतका प्रभव अर्थात् उत्पत्तिका कारण और प्रलय (नाश) करदेनेका कारण हूं। तात्पर्य्य यह है, कि ये मेरी दोनों प्रकृतियां मेरे अधीन हैं, जब चाहूं इनसे काम लूँ। तहां वेदान्तके सूत्रकारव्यास देव भी कहते हैं, कि "जन्माद्यस्य यतः" इस

सृष्टिका जन्म, पालन और संहार जहांसे होता है सो ही ब्रह्म है। इस अर्थको श्रुति भी प्रतिपादन करती है, कि "ॐ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति ॥" (तैत्ति० ब० ३ श्रु० १) अर्थ—जिसके द्वारा ये भूतमात्र उत्पन्न होते हैं, पाले जाते हैं तथा जिसमें जाकर फिर प्रवेश करजाते हैं उसीको ढूँढ ! वही ब्रह्म है।

इन वचनोंसे प्रकृतिको कारण कहने वाले सांख्यवादियोंका मत खंडन होता है। व्यासदेव भी इस प्रकृतिको नहीं मानते हुए कहते हैं, कि "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० १ सू० ५) इसका भाष्य श्री शंकराचार्य्य यों करते हैं, कि "न सांख्यपरिकल्पितमचेतनं प्रधानं जगतः कारणं शक्यम्" अर्थात् सांख्य द्वारा परिकल्पित जो अचेतन प्रधान (प्रकृति) वह जगत्का कारण होनेमें शक्य नहीं है। अर्थात् प्रकृति स्वयं जगत्का कारण नहीं होसकती। इसलिये वह ब्रह्म ही जगत्का कारण है। तहां प्रमाण— "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति ॥ स इमांल्लोकानसृजत" (ऐतरे० अ० १ खं० १ श्रु० १, २) अर्थ— सृष्टिसे पहले केवल एक आत्मा (ब्रह्म) ही था अन्य कुछ नहीं था, तिस ब्रह्मने अपनी ओर ईक्षण किया, ईक्षण करते ही अपनी शोभापर आप प्रसन्न हुआ और विचारा, कि अपनी विभूतियोंसे लोकलोकान्तरोंको रचकर उनके साथ रमण करूं। ऐसे विचारसे लोकोंकी रचना करदी। केवल

इतना कहते ही, कि "एकोऽहं बहुस्याम" एक हूं और बहुत होजाऊं बस एक निमिषमात्रमें सारे ब्रह्माण्डकी रचना होगयी।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि यद्यपि यह सृष्टि "एतद्योनीनि" है पर यथार्थमें उन प्रकृतियोंपर मेरी सदा आज्ञा बनी रहती है। इसलिये इनके प्रभव (उत्पत्ति) और प्रलय (नाश) का कारण मैं ही हूं ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी, कि भगवन्! आप तो वासुदेवस्वरूप महेश्वर सदा निर्विकार और निर्लेप हो, फिर आपके शान्तस्वरूपमें यह इच्छारूप विकार क्यों उत्पन्न हुआ ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय !
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

पदच्छेदः— [हे] धनञ्जय ! (अर्जुन !) मत्तः (परमेश्वरात्) परतरम् (श्रेष्ठं सृष्टिसंहारयोः स्वतन्त्रं कारणम् तदुपादानकम्) अन्यत् (इतरत् । भिन्नम्) किंचित्, न, अस्ति सूत्रे (तन्तौ) मणिगणाः (मुक्ताविद्रुमवैदूर्यस्फटिकादयः) इव, मयि (ब्रह्मणि । वासुदेवे) इदम्, सर्वम्, प्रोतम् (अनुस्यूतम् । अनुगतम् । अनुविद्धम्) ॥ ७ ॥

पदार्थः— [हे] (धनंजय !) अर्जुन ! (मत्तः) मुझसे (परतरम्) श्रेष्ठ सृष्टिसंहारका कारण (अन्यत्, किंचित्) दूसरा

कुछ भी (न, अस्ति) नहीं है जैसे (सूत्रे) धागामें (मणिगणाः, इव) मणियोंकी माला पिरोयी रहती हैं इसी प्रकार (मयि) मुझमें (इदम् सर्वम्) ये सम्पूर्ण जगत्के पदार्थ पिरोये हुए हैं ॥७॥

भावार्थः— अर्जुनने जो शंका की है, कि ब्रह्मका स्वरूप निर्मल और निर्विकार सुनाजाता है फिर ब्रह्ममें ईक्षण, रमण और संकल्प इत्यादिके विकार क्यों उत्पन्न हुए ? इस शंकाका समाधान करतेहुए श्री भगवान् कहते हैं, कि [**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय !**] हे अर्जुन ! मुझसे परे अर्थात् श्रेष्ठ इस सृष्टिके प्रभव (उत्पत्ति) और प्रलय (संहार) का कारण दूसरा कुछ भी नहीं है। तात्पर्य यह है, कि ब्रह्मादि देव जो सबोंसे श्रेष्ठ हैं उनसे भी मैं श्रेष्ठ हूं। वे भी मेरे आश्रय होकर सृष्टि-संहारका कार्य सम्पादन किया करते हैं। सृष्टिके संहार, पालनमें वे भी स्वतन्त्र नहीं हैं, मेरे आधीन कार्य करते हैं ।

भगवानके कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि वह स्वयं सर्वज्ञ है और सब अल्पज्ञ हैं। इसलिये उस महेश्वरसे श्रेष्ठ अन्य कोई भी नहीं है। प्रमाण— " तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्" (पतं० साधनपाद १ सु० २५) "स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० साधनपाद सु० २६) अर्थात् निरतिशय ज्ञान जो सर्वज्ञ होनेका बीज है सो उसी महेश्वरमें स्थित है। जिससे अधिक दूसरा न हो उसीको निरतिशय कहते हैं। सो ईश्वरमें जो निरतिशय है वही उसकी सर्वज्ञताका कारण है। इसी

कारण सो महेश्वर कालके परिमाणसे रहित होनेके कारण अर्थात् त्रिकाला-तीत होनेसे पूर्ववालोंका भी गुरु है तात्पर्य्य यह है, कि सबसे पूर्ववाले जो ब्रह्मादि देव हैं वे सब कालके आधीन हैं और वह सर्वज्ञ महेश्वर कालसे परे है। इसलिये उससे परे कोई दूसरा इस सृष्टिके उत्पत्ति, पालन और संहारका कारण नहीं होसकता। समुद्रमें नदियोंके मिलजानेसे किसी प्रकारका विकार नहीं होसकता। देखो! जबसे यह सृष्टि है तबसे सहस्रों नदियां चारों ओरसे सिमिट कर, पर्वतोंसे चलकर समुद्रमें मिलती हैं; पर इतना जल मिलनेपर भी समुद्रमें कुछ विकार नहीं होता क्योंकि स्वजातियोंके मेलमें विकार नहीं होता। हां! जब वायुका मेल उस समुद्रके जलसे होता है तब उसमें लहरें बुद-बुद इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार उस महेश्वरसे परे विकार उत्पन्न करनेवाली कुछ वस्तु हो तो अवश्य उसमें विकार होसकता है सो उससे इतर कोई वस्तु ही नहीं।

शंका—बहुतेरे विद्वान् यहां यों शंका करेंगे, कि "**परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः**" (ब्रह्मसू० अ० ३ पा० २ सू० ३०) अर्थात् ब्रह्म जिसको जो सबसे परे कहते हैं सो ऐसा नहीं। ब्रह्मसे भी परे अन्य कोई वस्तु है। क्योंकि **सेतु, उन्मान और भेद**। ये चार जिसमें हों उससे परे दूसरी वस्तुका होना संभव है। सो ब्रह्ममें चारों बातें पायी जाती हैं। पहले तो यह जानना अतिही आवश्यक है, कि ये चारों हैं क्या? फिर ये ब्रह्ममें हैं वा नहीं? इसलिये यहां पहले **१. सेतु** का वर्णन करते हैं।

सेतुके पारजाने वाला सेतुपर खडा नहीं रहता, उसके मनमें अवश्य यह सिद्धान्त बना रहता है, कि यह पुल यात्रियोंको एक ओरसे दूसरी ओर पहुंचानेकेलिये बना है। सो श्रुति भी कहती है " अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः ····" (छां० ८-४-१)

अर्थ— यह जो आत्मा है सो सबको धारण करने वाला सेतु है अर्थात् आधार है और सारा जगत् आधेय है। (सेतुं तीर्त्वा) तिस सेतुको पारकर प्राणी अनात्म-देशमें प्रवेश करता है। तात्पर्य्य यह है, कि श्रुतिने सेतुका उदाहरण देकर आत्माको एक-दैशिक सिद्ध करदिया और यह दिखलाया, कि आत्मा सेतुके समान सबको धारण किये हुए है। इसलिये इससे परे भी दूसरी वस्तु है। क्योंकि विना आधेयके आधार नहीं कहा जासकता। सो आधार (सेतु) आत्मा है और आधेय जगत् है इसलिये दो वस्तुओंका होना सिद्ध हुआ। फिर निरसन्देह उस ब्रह्मसे इतर दूसरी वस्तुका होना सिद्ध होजाता है।

फिर २. उन्मान कहते हैं प्रमाणको सो जो वस्तु प्रमाणसे विच्छेदको प्राप्त होगी उससे परे दूसरी वस्तु भी अवश्य होगी। सो श्रुति कहती है, कि "सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्" (मां० श्रु० २)

अर्थ— यह सब ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है सो यह आत्मा (ब्रह्म) चार पांव वाला है अर्थात जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय ये ही इसके चार पाद हैं। फिर जब चार पाद रूप प्रमाणसे यह आत्मा घेरागया तो प्रमाणसे विच्छेद प्राप्त होनेके कारण यह

संभव है, कि इससे इतर वस्तु भी कुछ हो । क्योंकि परिमित होगया अपरिमित नहीं रहा ।

अब ३ सम्बन्ध दिखलाया जाता है— श्रु०— "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनोंका परस्पर सम्बन्ध होनेसे दोनों परस्पर सखा हैं। और ये दोनों पक्षी एक वृक्षपर ठहरते हैं । यहां जीवसे और वृक्षसे उस ब्रह्मको सम्बन्ध है । इसलिये ब्रह्मसे भी परे वस्तुका होना संभव होता है । अथवा "सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति" (छां० ६-८-१) यह छान्दोग्योपनिषद्का वचन कहता है, कि हे सौम्य ! यह जीव सुषुप्तिकालमें सत् ब्रह्मके साथ सम्बन्धको पाता है । "प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः" (बृह० ४-३-२१)

अर्थ— यह आत्मा प्राज्ञके साथ सम्बन्ध रखता है । इन श्रुतियोंसे ब्रह्मका सम्बन्ध जीवके साथ सिद्ध होता है । इससे यह अवश्य सिद्ध होगया, कि ब्रह्मसे इतर भी कुछ है ।

अब रहा ४ भेद सो कहते हैं—

श्रु०— "अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते····" (छां० १-६-६) तथा " अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम " (छां० १-७-५)

अर्थ— यह जो आदित्यमण्डलके भीतर हिरण्मय पुरुष देखा जाता है सो ब्रह्म है । फिर कहा, कि यह जो नेत्रमें पुरुष देखा जाता है

सो ब्रह्म है । इसलिये ब्रह्ममें भेद हुआ। क्योंकि (तदेवरूपं यदमुष्य रूपम्) किसीका जिस रूपके साथ सम्बन्ध रहता है वह उसी रूपका होता है । तथा जिस प्रकार उसके गुण होते है वे गुण भी उसमें रहते हैं । जो नाम होता है वही उसमें रहने वालेका भी नाम होता है । इसलिये इन वचनोंसे ब्रह्ममें भेद भी देखा जाता है ।

अब उक्त ब्रह्मसूत्रमें जो व्यासदेवने पूर्वपक्ष किया, कि सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद ये चारों जिसमें पाये जावें उससे परे भी वस्तुका होना सिद्ध होता है । सो इस ब्रह्ममें चारों पाये जानेके कारण ब्रह्मसे इतर भी वस्तु का होना सिद्ध होता है । पर भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि " मत्तः परतरं नास्ति " मुझसे परे इतर कुछ नहीं सो यह कैसे बने ?

समाधान— " तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः " (ब्रह्म० अ० २ पा० १ सू० १५) अर्थात् उस ब्रह्मसे परे दूसरा कुछ भी नहीं है । यह जो अनन्यत्व है सो यथार्थ है । क्योंकि ये जो सेतु उन्मानादि चार प्रकारके विकार ब्रह्ममें कहेगये सो विकार यथार्थ नहीं हैं । केवल वाचारंभण विकार मात्र हैं, सो असत्य हैं, सत्य नहीं हैं । क्योंकि यथार्थमें कुछ विकार हो तो ब्रह्मसे इतर वस्तु हो । पहले दिखलाया जाचुका है, कि यथार्थमें जब अन्य वस्तु होती है तबही विकार होजाता है । जहां अन्य नहीं तहां विकार भी नहीं । यदि है तो परायेके बोध करानेके निमित्त वाचारंभणके कारण विकारका नामधेय होता है ।

जैसे श्रुति—यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारंभणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम् " (छां० ६-१—४)

अर्थ— श्वेतकेतुसे उसका पिता कहता है, कि हे सोम्य ! जैसे एक मृत्पिण्ड (मिट्टीका गोला) के जाननेसे तिससे बनेहुए जो घट (घडा) सरावा (प्याला) इत्यादि उसके कार्य हैं सो सब जाने जाते हैं, अर्थात् कारणके जाननेसे उसके सर्व कार्य बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें आपसे आप चलेआते हैं। क्योंकि कारणसे कार्यकी पृथक् सत्ताका अभाव है, अर्थात् कारणके हटालेनेसे कार्य रहता ही नहीं। जैसे वस्त्रसे सूतको निकाललो तो फिर वस्त्रका अभाव होजावेगा। इसी प्रकार यदि घटादि मृत्तिकासे पृथक् देखेजाते हैं तो यह भूल है यथार्थमें पृथक् नहीं हैं, न वहां कोई विकार है और यदि विकार है तो केवल वाचारम्भणमात्र ही विकार है। उनसे कामलेनेके लिये अर्थात् जिज्ञासुओंको समझानेके लिये वाणीसे आरम्भ कियाहुआ विकार है, सो केवल कहने ही मात्र है नहीं तो यथार्थमें मृत्तिकासे पृथक् घटादि कुछ भी नहीं हैं। इसलिये यदि सच पूछाजावे तो परमार्थतः सत्य केवल मृत्तिकामात्र है। क्योंकि कार्यका उपादान कारण तो उस कार्यके आरम्भसे अन्त तक उस कार्यमें अनुगत (मिलाहुआ) रहता है। जैसे जबसे घट बनना आरम्भ हुआ और जब तक वह घट स्थिर रहा तब तक उपादान कारण मृत्तिका उस घटमें अनुगत रही। इसलिये आरम्भ और अन्तमें केवल मृत्तिका ही सत्य है। मृत्तिकासे इतर कुछभी नहीं है। हां! जल, दण्ड और कुलाल इत्यादि

उस घटके निमित्त कारण हैं। इसलिये उस घटमें अनुगत नहीं हैं। सो कारणसे भिन्न करके जो कार्यका असत्यपना है सो ही तिस कारणके अद्वैतपनेको सिद्ध करता है।

इसी प्रकार उस महेश्वरसे बनेहुए जो सृष्टिके कार्य हैं सो उस महेश्वरसे भिन्न नहीं हैं। सृष्टिके आरम्भसे अन्ततक केवल ब्रह्म ही सृष्टिमें अनुगत है अतएव घटकी मृत्तिकाके समान सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म सृष्टिका कारण है। फिर कारणके हटालेनेसे कार्यकी सत्ताका अभाव होजावेगा। इसी कारण ब्रह्मसे भिन्न अन्य कहीं कुछ भी सृष्टि नहीं है। सो सृष्टिरूप कार्यकी असत्यता ही कारणरूप ब्रह्मके अद्वैत होनेको सिद्ध करती है। इससे सिद्ध होता है, कि आरंभमें भी ब्रह्म ही रहा और अन्तमें भी ब्रह्म ही रहेगा। इसलिये भगवान्का यह कहना, कि मुझसे परे कुछ भी नहीं सो सांगोपांग सत्य ही है।

जब एवम्प्रकार उस वासुदेवसे इतर कुछ भी न रहा तो विकार कहांसे आवे ? इसलिये सेतु, उन्मान, सम्बन्ध और भेद जो चारों प्रकारके विकार दिखलाकर ब्रह्मसे इतर भी कुछ माना था सो सिद्धान्त खण्डन होगया तथा ब्रह्ममें कहीं भी विकार नहीं रहा और तिससे इतर अन्य किसी वस्तुका रहना भी सिद्ध न हुआ शंका मत करो।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**] इस ब्रह्माण्डमें सूर्य, चन्द्र, तारागण, सागर, पर्वत, नद, नदी तथा जितने लोक—लोकान्तर हैं सर्व मुझमें पिरोये

हुए हैं। किस प्रकार पिरोये हुए हैं ? तो जैसे सूतमें मणिकायें पिरोयी रेहती हैं; अर्थात जैसे माला बनानेवाले मणि, माणिक, मुक्ता, बिद्रुम, वैडूर्य्य इत्यादि मणियोंको एक सूतमें पिरोकर हार बनालेते हैं। इसी प्रकार उस ब्रह्मदेवने अपनी सत्तारूप सूतमें इन नाना प्रकारके विलग-विलग लोक-लोकान्तरोंको तथा उनमें स्थित भिन्न-भिन्न वस्तुओंको मणियोंके समान पिरोरखा है।

शंका— भगवानने विराट्रूप मालाको यहां मणिकी मालासे क्यों उपमादी ?

समाधान— ये जितने लोकलोकान्तर हैं तथा सूर्य्य, चन्द्र, तारागण इत्यादि हैं सब गोलमोल मणिके स्वरूपमें हैं। इसलिये यहां मणियोंसे उपमा दीगयी है।

शंका— पहले तो यह सिद्धान्त कियागया, कि ब्रह्मसे इतर अन्य कुछ नहीं। जैसा, कि मृत्तिका और घटकी उपमा देकर कारण और कार्य्यकी एकता दिखलायी है। अर्थात् सब ब्रह्म ही दिखलाया। और अब सूत और मणियोंकी उपमा देकर भिन्नता दिखलाते हैं ऐसा क्यों ? क्योंकि सभी जानते हैं, कि मालामें सूत और मणि दो भिन्न पदार्थ हैं। सो सूत मणियोंका कारण नहीं होसकता। इसलिये इस मालाकी उपमामें भगवानका स्वरूप तो सूत है और जगत्के पदार्थ मणि हैं तो ऐसी उपमासे जगत् और ब्रह्मका एक होना सिद्ध नहीं होता। तथा ब्रह्म जगत्का कारण भी नहीं रहता है। एकबारगी जगत्से भिन्न होजाता है। तो

पहले अभिन्नता दिखलाकर अब भिन्नता दिखलाते हैं । सो ऐसा करनेसे पूर्वापर विरोध क्यों ?

समाधान— +व्याप्ति दो प्रकारकी होती है—

प्रमाण— " द्वैविध्यन्तु भवेद्व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः (भाषापरिच्छेद श्लो० १४२) अर्थात् व्याप्ति दो प्रकारकी होती है अन्वय और व्यतिरेक । सो भगवान् इस सातवें श्लोकके आधेमें अपनी अन्वय-व्याप्ति दिखलाकर शेष आधेमें व्यतिरेक-व्याप्ति दिखलाते हैं । अर्थात् आधे श्लोकमें तो यह कहा, कि मुझसे विलग कोई वस्तु संसारमें नहीं है, मैं सर्वत्र व्यापक सबका कारण हूं । अर्थात् ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका उपादान कारण मैं न होऊँ । क्योंकि मैं सर्वत्र व्यापक हूं यह तो अव्यतिरेक अर्थात् अन्वयव्याप्ति दिखलायी । अब आधे श्लोकमें मालाका दृष्टान्त देकर आप सूत्रवत् बनते हैं । और संसारके लोकलोकान्तरोंको मणिके तुल्य बना सबको अपनेमें पिरोयाहुआ कहकर व्यतिरेक—व्याप्ति भी दिखलाते हैं । अर्थात् जहां सूत नहीं है वहां माला भी नहीं है यद्यपि सूत मालाका उपादान-कारण नहीं है निमित्तकारण है पर एक दूसरेसे व्यतिरेक-सम्बन्ध तो आही जाता है अर्थात् जहां सूत नहीं है वहां माला भी नहीं होसकती । इसी प्रकार जहां भगवान् भी नहीं हैं वहां जगत् भी नहीं है । क्योंकि व्यवहार-कालमें जब प्राणी संसृतिवस्तुओंसे

+ देखो भाषा परिच्छेद यह न्यायका विषय अत्यन्त गम्भीर है जिसके विस्तारपूर्वक वर्णन करनेका यहां अवकाश नहीं है इसलिये संक्षिप्त कहा ।

व्यवहार साधन करने लगजाते हैं और तिस व्यवहारमें वाचारंभण विकारका परमात्मतत्त्व जो सबोंका कारण तिसे भूल केवल सृष्टिके पदार्थरूप कार्य्यको स्मरणमें रखकर यह मेरा पुत्र, यह मेरी स्त्री, यह धन, ये बगीचे इत्यादिकी स्मृति करने लगता है और इनका मुख्य कारण जो भगवत्स्वरूप तिसकी विस्मृति होजाती है तब वह भगवान् अज्ञानियोंके अन्तःकरणसे घिराहुआ जानपड़ता है जैसे घटका लानेवाला कुलालकी दुकानपर जा मृत्तिकाकी सत्यताको भूल बार-बार घट-घट पुकारता है । इसी प्रकारे प्राणी ब्रह्मको भूल जगत्के पदार्थोंका जब भिन्न २ नाम रखने लगजाता है तब वह महेश्वर इन सब पदार्थोंमें अनुस्यूत मणिसूतके समान उस प्रत्यक्ष व्यवहारसे छिपाहुआ मणिके सूत्रवत् भासता है ।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ज्ञानीकी दृष्टिमें तो भगवान्की व्याप्ति इस संसारमें अन्वय व्याप्ति है और अज्ञानी अनात्मवादीकी दृष्टिमें व्यतिरेकव्याप्ति है । अर्थात् उसकी दृष्टिमें भगवान् हैं ही नहीं ।

यद्यपि वह अलग नहीं है उसके साथ ही है तथापि अन्तःकरणपर द्वन्द्वोंका आवरण होजानेके कारण वह ब्रह्म मणिकाके सूत्रवत भीतर ही भीतर छिपा रहता है और ऊपर सर्वत्र मणिकाके समान जगत् ही जगत् भासता है । तिस मालाके देखनेवाले वा पहिननेवालेको सूत्रका कहीं ध्यान भी नहीं रहता । इसी कारण इसको व्यतिरेक-व्याप्ति कहा ।

इसी कारण भगवानने आधे श्लोकमें अपनी अन्वयव्याप्ति और आधेमें अपनी व्यतिरेकव्याप्ति दिखलायी शंका मत करो ॥ ७ ॥

इतना सुन अर्जुनने कहा भगवन्! तुम किस प्रकार सब वस्तुओं में व्यापरहे हो ? और ये सब वस्तु तुममें कैसे ओत-प्रोत अर्थात् पिरोयी हुई हैं ? सो कृपा कर कहो !

इतना सुन भगवान् अगले पांच श्लोकोंमें अपनी व्यापकता और सम्पूर्ण जगत्का अपनेमें पिरोयाजाना दिखलाते हैं—

मू०— रसोऽहमप्सु कौन्तेय! प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

पदच्छेदः— कौन्तेय! (अर्जुन!) अहम् (महेश्वरः) अप्सु (जलेषु) रसः (अपां यः सारः) शशिसूर्य्ययोः (चन्द्रादित्ययोः) प्रभा (प्रकाशः । दीप्तिः) सर्ववेदेषु (ऋगादि चतुर्षु वेदेषु) प्रणवः (ॐकारः) खे (आकाशे) शब्दः (ध्वनिः । श्रोत्रग्राह्यगुणपदार्थविशेषः) नृषु (मनुष्येषु) पौरुषम् (शौर्य्यधैर्य्यादिरूपं पुरुषस्य सारम्) अस्मि ॥ ८ ॥

पदार्थः—(कौन्तेय!) हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! (अहम्) मैं वासुदेव (अप्सु) जलोंमें (रसः) सारांश रस हूं । और (शशिसूर्य्ययोः) चन्द्रमा और सूर्य्यमें (प्रभा) प्रकाश और दीप्ति हूं (सर्ववेदेषु) ऋक्, यजुरादि चारों वेदोंमें (प्रणवः) ॐकार मैं ही हूं और (नृषु) मनुष्योंमें (पौरुषम्) शौर्य्य, धैर्य्य इत्यादि पुरुषत्वका सार (अस्मि) मैं ही हूं ॥ ८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से उनकी व्यापकता तथा उनमें जगत् किस प्रकार ओतप्रोत है ? अर्थात् गुँथा हुआ है सो वर्णन करनेकी प्रार्थनाकी है इस विषयको वर्णन करते हुए और अपनी विभूतियोंको दिखलातेहुए भगवान् कहते हैं, कि [**रसोऽहमप्सुकौन्तेय ! प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः**] हे कुन्तीका पुत्र अर्जुन ! जलमें जो रस है सो मैं ही हूं अर्थात् जलभागमें जो सारांश तन्मात्रा रसरूप है सो तू मुझहीको जान ! और सूर्य्य चन्द्रमें जो प्रभा (ज्योति) है सो मैंही हूं । जल और रस दो भिन्न द्रव्य समझे जाते हैं । क्योंकि भगवान्के " अप्सु " शब्दको सप्तम्यन्तके प्रयोगमें कहनेसें ही ऐसा बोध होता है, कि जलके बीच किसी अन्य सारवस्तुको मानकर रस कहते हैं ।

शंका— भगवानने जो यहां यह कहा, कि जलोंमें रस, चन्द्र और सूर्य्यमें ज्योति, सब वेदोंमें प्रणव, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषार्थ मैं ही हूं ऐसा कहनेसे भगवानकी व्यापकतामें दोष आता है । क्योंकि जलमें रसहूं ऐसा कहनेसे बोधहोता है, कि जल नहीं हूं । और शशि सूर्य्यमें प्रभा कहनेसे बोध होता है, कि प्रभाही मात्र हूं शशि सूर्य्य नहीं । वेदोंमें प्रणव कहनेसे ऐसा बोध होता है, कि वेदोंमें प्रणवमात्र हूं वेद नहीं । आकाशमें शब्द हूं ऐसा कहनेसे बोध होता है, कि शब्दमात्र हूं आकाश नहीं हूं । मनुष्योंमें पुरुषार्थ हूं ऐसा कहनेसे यह बोध होता है, कि मनुष्योंमें पुरुषार्थ मात्र हूं मनुष्य नहीं हूं ।

ऐसे कहने ही से बोध होता है, कि भगवान् एक देशीय हैं सर्वव्यापक नहीं ऐसा क्यों ?

समाधान— जल और रसमें कुछ भेद नहीं है । इसलिये भगवान्‌की व्यापकतामें भी किसी प्रकारके दोषकी प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि जल कार्य्य और रस कारणरूप है इसलिये इन दोनोंमें तनक भी भेद नहीं है। केवल भेद इतना है, कि जल व्यष्टिरूप है और रस समष्टिरूप है । सो समष्टि और व्यष्टिका स्वरूप कहते हैं—

" समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् । तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यन्ते व्यष्टिसंज्ञया ॥ " (पंचद० प्र० १ श्लो० २५)

अर्थ— जो समष्टि है सो ईश्वर है, हिरण्यगर्भ है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड स्थित है । जैसे गर्भमें समस्त शरीर स्थित रहता है ऐसे ईश्वरके परमैश्वर्य-रूप गर्भमें यह सम्पूर्ण विराट् (ब्रह्माण्ड) स्थित है। इसी कारण समष्टि स्वात्मतादात्म्यके अभिमानका विषय है । अर्थात् सांगोपांग सम्पूर्ण विभवकी पूर्ण शक्तिका ज्ञाता है। क्योंकि यह सर्वदैशिक है और सर्वव्यापक है। पर इस ईश्वरसे अन्य जो जीव है सो अल्पज्ञ है और व्यष्टि है । इसलिये यह सब देशमें, सब ठौरमें व्यापक नहीं है । अतएव इसे स्वात्मतादात्म्यका अभिमान नहीं होसकता। अर्थात् सांगोपांग अपने सम्पूर्ण विभवकी पूर्ण शक्तिके जाननेका अभिमान नहीं होसकता है।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि समष्टि सम्पूर्ण (whobe) है और व्यष्टि अपूर्ण (Poetiou) है । किसी वस्तुका समूह समष्टि कहलाता है। जैसे वृक्षकी समष्टि बीज है जिसमें डाल, पात, फल, फूल इत्यादि सब एकसाथ हैं। और जब इस समष्टिके अंगोंको

विलग-विलग कर बोलिये तो डाल व्यष्टि है, पात व्यष्टि है, फल व्यष्टि है और फूल व्यष्टि है ।

इसी प्रकार रस समष्टि और आप जो जल सो व्यष्टि है । यद्यपि बहुतेरे बुद्धिमानोंकी बुद्धिमें यह बात समायीहुयी है, कि जल ही * समष्टि है और रस व्यष्टि है सो ऐसा नहीं है रस ही समष्टि है । इसी कारण भगवान्‌ने अपनेको रस कहकर अपना समष्टिरूप दिखला अपनी व्यापकता दिखलायी। ऐसे ही शशि सूर्य्यमें प्रभा, वेदों प्रणव, आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषार्थरूप समष्टिको अपना रूप दिखलाकर सर्वत्र अपनी व्यापकता दिखलायी शंका मत करो !

अब यहां पाठकोंके कल्याण निमित्त रसके भेदोंका
वर्णन करदिया जाता है—

जिस सारे रसको भगवान् इस श्लोकमें कहरहे हैं, कि रस मैं हूं, सो रस केवल जल हीमें नहीं है सर्वत्र सब तत्त्वोंमें है । यह बात पंचभूतोंके पंचीकरणमें भी दिखलायी गयी है, कि "द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः । स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते ॥" (पंचद० प्र० १ श्लोक २७)

* समष्टि— समुद्र जैसे समष्टि मानाजावे तो उसकी लहरें, बुद् बुद, फेन, मोती, कौडी, सीप इत्यादि व्यष्टि हैं । इसी प्रकार आग यदि समष्टि मानीजावे तो चिनगारी, ज्वाला, अंगारा इत्यादि उसकी व्यष्टि हैं ।

अर्थ— एक-एक भूतको पांचों भूतोंमें मिला दियागया। सो कैसे कियागया? कि प्रथम एक तत्त्व जैसे जलके दो भाग किये तिनमें आधा भाग तो जल ही में छोड दिया शेष आधेके चार समान भाग कर चारों तत्त्वोंको देदिया। इससे सिद्ध हुआ, कि अन्य तत्त्वोंमें भी रस है इसलिये पंचभूतकी सृष्टिमें जहांतक जितनी वस्तुएँ हैं सब रसमय हैं।

प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है, कि इन अन्नोंमें जो रस हैं वे जलके ही हैं। पर जलमात्रके रससे ये अन्न इतने रसीले नहीं होते जितने, कि अग्निके मेलसे। जब ये कच्चे अन्न चूल्हेपर चढा-कर पकायेजाते हैं तब ये अधिक रसीले और स्वादु होते हैं। इसी प्रकार जब वृक्षोंके फल सूर्यके ताप और वायुकी सहायतासे पकजाते हैं तब ये अधिक रसीले और स्वादु होते हैं। और इनमें पूर्ण मिठास आती है। इससे सिद्ध होता है, कि जिसे "रस" कहते हैं सो सब पदार्थोंमें व्यापक है। जितने अन्नादि हैं तथा औषधि, लता, वृक्ष, फल, फूल इत्यादि हैं सबोंमें रस जलरूपसे व्यापरहा है और जलमें रस प्रधान-रूपसे व्यापरहा है।

अब तिस जलके सम्बन्धसे कितने प्रकारके रस हैं सो वर्णन कियेजाते हैं अर्थात् इस जलने पंचीकरण होकर इस रसको कई प्रकारका करदिया है— "तत्र पृथिव्यम्बुगुणबाहुल्यान्मधुरः। तोयाग्नि-गुणबाहुल्यादम्लः। पृथिव्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः। वाय्वग्नि-गुणबाहुल्यात् कटुकः। वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात् तिक्तः।

पृथिव्यनिलगुणबाहुल्यात् कषायः । एते च रसाः परस्पर-संयोगात्सप्तपंचाशद्भवन्ति। भेदैश्चैषां त्रिषष्ठिविधविकल्पो द्रव्य-देशकालप्रभावात् । (सुश्रुत अ० ६३)

अर्थ— पृथिवी और जलके संयोगकी अधिकतासे मधुररस । जल और आगके गुणोंके संयोगकी अधिकतासे अम्ल (खट्टा)। इसी प्रकार पृथिवी और अग्निसे लवण। वायु और अग्निसे कटुक (कड़ुवा) वायु और आकाशसे तिक्त (तीता)। पृथिवी और वायुसे कषाय (कषैला)। फिर इन रसोंके परस्पर संयोगसे ५७ प्रकारके रस होते हैं। इनहीं ५७ रसोंमें दो-दो रसोंके तीन-तीन चार-चार, पांच-पांच और छौ-छौ रसोंके मेलसे एक रस बनाहुआ है।

पहले दो-दो रसोंके मेलसे जितने प्रकारके रस हैं सो कहते हैं:— १. मधुराम्ल। २. मधुरलवण। ३. मधुरतिक्त। ४. मधुरकटुक। ५. मधुरकषाय। ६. अम्लमधुर। ७. अम्ललवण। ८. अम्लकटुक। ९. अम्लतिक्त। १०. अम्लकषाय। ११. लवणकटुक। १२. लवणतिक्त। १३. कटुतिक्त। १४. कटुकषाय और १५. तिक्तकषाय।

अब तीन-तीनके संयोगोंको कहते हैं— १६. मधुराम्ललवण। १७. मधुराम्लकटुक। १८. मधुराम्लतिक्त। १९. मधुराम्लकषाय। २०. मधुरलवणतिक्त। २१. मधुरलवणकषाय। २२. मधुरकटुकतिक्त। २३. मधुरकटुककषाय। २४. मधुरतिक्तकषाय। २५. अम्ललवणकटुक। २६. अम्ललवणतिक्त। २७. अम्ललवणकषाय। २८. अम्लकटुककषाय। २९. अम्लकटुकतिक्त। ३०. अम्लतिक्तकषाय। ३१. लव-

णकटुतिक्त। ३२. लवणकटुकषाय। ३३. लवणतिक्तकषाय। ३४. कटु-तिक्तकषाय।

अब चार-चार रसोंके एकसाथ होनेका नाम लिखते हैं—
३५. मधुराम्ललवणकटुक। ३६. मधुराम्ललवणतिक्त। ३७. मधुराम्ल-लवणकषाय। ३८. मधुराम्लकटुकतिक्त। ३९. मधुराम्लकटुककषाय। ४०. मधुराम्ललवणतिक्तकटुक। ४१. मधुराम्लतिक्तकषाय। ४२. मधुर-लवणकटुतिक्त। ४३. मधुरलवणकटुकषाय। ४४. मधुरलवणतिक्त-कषाय। ४५. अम्ललवणतिक्तकषाय। ४६. अम्ललवणकटुतिक्त। ४७. अम्ललवणकटुकषाय। ४८. अम्ललवणतिक्तकषाय। ४९ अम्ल कटुतिक्तकषाय। ५०. लवणकटुतिक्तकषाय।

अब पांच-पांच रसोंके संयोग वाले रसोंको कहते हैं— ५१. मधु-राम्ललवणकटुतिक्त। ५२. मधुराम्ललवणकटुकषाय। ५३. मधुराम्ल-लवणतिक्तकषाय। ५४. मधुराम्लकटुतिक्तकषाय। ५५. मधुरलवण-कटुतिक्तकषाय। ५६. अम्ललवणकटुतिक्तकषाय। ५७. मधुराम्ललव-णकटुतिक्तकषाय।

ये तो षट्रसोंके सम्बन्धमें ५७ प्रकारके रस कहेगये जिनका ग्रहण केवल जिह्वा द्वारा होता है, इसी कारण जिह्वाको रसना कहते हैं। (रस+ युज्+ टाप् च)

अब इनसे इतर दूसरे प्रकारके रसोंका वर्णन कियाजाता है—
" सम्यक् पक्वस्य भुक्तस्य सारो निगदितो रसः।
स तु द्रवः सितः शीतः स्वादुः स्निग्धश्चलो भवेत् ॥

सर्वं देहचरस्यापि रसस्य हृदयं स्थलम् ।
समानमरुता पूर्वं यदयं हृदयं धृतः ।
स्वीयैर्व्याप्नोति च तनुं गुणैः…… ॥ " (भावप्रकाशः)

अर्थ— भोजनके पश्चात् जो अन्न परिपक्व होकरे सारांशको उत्पन्न करता है उसे रस कहते हैं। सो रस कोमल, श्वेत, शीतल, स्वादिष्ट, चिकना और सर्वत्र शरीरमें चलनेवाला होता है। पर उसका मुख्य स्थान हृदय है जहांसे सर्वत्र जाता है। जिसको समान वायु सर्वत्र फैलादेती है। एवम्प्रकार यह रस धमनी नामवाली नाडीके द्वारा रोम, चर्म, रुधिरादि सातों धातुओंको पहुंचजाता है, सर्व धातुओंको पुष्ट करता है और आप अपने गुणोंसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होता है। इस रसको सम्पूर्ण देह और प्राणसे सम्बन्ध है।

इसी कारण षट्रस सम्बन्धमें जो ५७ प्रकारके रस कहेगये तथा अन्नका सारांश शरीरमें दौडनेवाला जो रस है सबोंको इस शरीरमें केवल अन्नमय-कोश और प्राणमय-कोशसे सम्बन्ध है।

अब इस श्लोकमें " प्रभास्मि शशिसूर्य्ययोः " कहनेसे भगवानका यही तात्पर्य है, कि " प्रभा " जो मेरी समष्टि स्वरूप है जिससे सूर्य और चन्द्रमें थोडीसी जो प्रभा व्यष्टिरूप होकर व्यापती है वह मैं ही हूं।

शंका— सूर्यको सब ज्योतियोंमें उत्तम ज्योति कही है— " देवन्देवत्रा सूर्यमगन्मज्योतिरुत्तमम् " इस शु० यजु० अध्याय २०

मंत्र २१ से सिद्ध होता है, कि सब ज्योतियोंमें श्रेष्ठ सूर्य है। फिर अब दूसरे प्रकारका कौन प्रकाश है जो इससे भी उत्तम होगा?

समाधान— यह जो सूर्यमें प्रकाश है उसके उत्तम होनेमें कोई सन्देह नहीं। पर यहां जो वेद इस सूर्यकी ज्योतिको उत्तम कहता है सो केवल उन ज्योतियोंकी अपेक्षा कहता है जिनको हमलोग इन चर्म-चक्षुओंसे देख सकते हैं। अर्थात् तारागण, चन्द्रमा, अग्नि और विद्युदादि। पर जो परमज्योति (भगवत्का यथार्थ प्रकाश) है उसके सम्मुख तो सूर्यकी ज्योतिका कहीं पता भी नहीं लगता। प्रमाण श्रु०— "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् । नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (मुं० २ खं० २ श्रु० १०)

उस महाप्रभुकी प्रभाके सम्मुख सूर्य नहीं प्रकाश करसकता, चन्द्रमा तथा तारागण मलीन और तेजहीन होजाते हैं, ये बिजलियां भी जहां अपनी चपल, चमकीली दीप्तिको दीपित नहीं करसकतीं। भला तहां इस अग्निकी क्या गणना कीजावे? इसलिये श्रुति कहती है, कि उस महेश्वरकी ही प्रभासे ये सब प्रभायुक्त होरहे हैं उसीके तेजसे यह सारा जगत् प्रकाशमान होरहा है।

इस श्रुतिसे पूर्ण प्रकार यही सिद्ध होता है, कि इन सूर्य, चन्द्रादिमें जो प्रभा है सो उस महाप्रभुकी समष्टि-प्रभाकी व्यष्टि है अर्थात् उस महाप्रभुके तेजकी एक चिनगारीमात्र है।

दूसरी बात यह है, कि प्रभा केवल सूर्य, चन्द्र वा अग्निमें नहीं वरु अन्य सब तेजोमय पदार्थोंमें भी उसी महाप्रभुकी परम प्रभाका अणुमात्र सुशोभित होरहा है। जैसे हीरा, लाल, पन्ना, पुखराज, नीलम, पिरोजादि मणि-माणिकोंमें तथा सोना, चांदी, कांसा, पीतल इत्यादि धातुओंमें फिर बडे-बडे सुन्दर प्राणियोंके शरीरमें उसी परम प्रभाका अंश विराजमान होरहा है। तहां ऋग्वेदका मंत्र कहता है—

"ॐ कृष्णं त एम रुशतः पुरोभाश्चरिष्णुवर्चिर्वपुषामिदेकम्"
(ऋग्वेद मंड ४ अ० १ सू० ७ मंत्र ६)

अर्थ— हे ब्रह्मदेव! (ते कृष्णं एम) तेरे कृष्णस्वरूप अर्थात् कृष्णावतारकी हम लोग शरण प्राप्त हों। सो तेरा कृष्णस्वरूप कैसा है? कि (×रुशतः +पुरोभाः) जिसकी परमप्रकाशमय शोभा भक्तोंके आगे अथवा वसुदेव देवकीके सम्मुख शोभायमान होती है और (÷चरिष्णुः) जिसका सर्वत्र चलनेवाला तेज (वपुषाम) शरीरधारियोंके शरीरमें सुन्दरताका मुख्य कारण है। अर्थात् उसी महाप्रभुकी प्रभामात्र छवि होकर सुन्दर पुरुषोंमें सुशोभित होरही है।

इन प्रमाणोंसे सिद्ध होता है, कि उस महाप्रभुकी प्रभा जो

× रुशतः— रोचिष्णुवर्णः।

+ पुरोभाः— भाः तव सम्बन्धिनी दीप्तिः पुरः पुरस्ताद्भवति।

÷ चरिष्णुः— संचरणशीलमर्चिस्त्वदीयं तेजो वपुषां वपुष्मतां रूपवतां एकस्मिन् मुख्यमेव भवति (सायनाचार्यः)

समष्टि-स्वरूप है उसीकी एक व्यष्टि अर्थात् अंश इन सूर्य और चन्द्रमें सुशोभित है।

इसी कारण भगवान् यह कहकर, कि सूर्य और चन्द्रमें प्रकाश मैं ही हूँ। अपनी समष्टि प्रभाका संकेत कररहे हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु**] चारों वेदोंमें प्रणव (ॐकार) मैं ही हूँ। अर्थात् बिना प्रणव कोई मन्त्र उच्चारण नहीं किया जाता। यदि उच्चारण कियाजावे तो बीजरहित समझा जावेगा। जैसे बीजरहित क्षेत्रमें नाज उत्पन्न नहीं होसकता ऐसे प्रणव (ॐकार) रहित मन्त्रोंके जपनेका कोई फल नहीं होसकता। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि मन्त्रोंमें जो नाना प्रकारके प्रभाव हैं, वा मन्त्रोंसे जो नाना प्रकारकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं और तिनमें जो शक्तियां हैं वे केवल ॐकारकी ही हैं। इसी कारण वेदोंमें ॐकार भी मैं ही हूं।

यह ॐकार क्या है ? इससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी रचना कैसे होती है ? इसके उच्चारणसे प्राणी मोक्षपदको कैसे और क्यों प्राप्त होता है ? इस सबका विस्तारपूर्वक वर्णन अ० ८ श्लोक १३ में कियाजावेगा।

अब भगवान् कहते हैं, कि " शब्दः खे " आकाशमें जो शब्द है सो मैं ही हूं। यहां भी भगवान्के कहनेका सो ही तात्पर्य है, कि मैं जो स्वयं समष्टिरूप शब्द हूं तिसकी व्यष्टि जो आकाशमें व्यापक है सो मैं ही हूं। यह शब्द दो प्रकारका है " ध्वन्यात्मक "

और "वर्णात्मक" सो ये दोनों सर्वत्र व्यापक हैं। क्योंकि आकाशका गुण शब्द कहागया है सो आकाश सर्वव्यापक है। इसलिये उसका गुण शब्द भी ध्वन्यात्मक वा वर्णात्मक होकर सर्वत्र व्यापक है। क्योंकि गुणीका गुण गुणीके साथ रहता है। ध्वन्यात्मक शब्दकी ओर दृष्टि दीजावेतो यह अथाह देखपडता है। क्योंकि मेघमालाकी गर्जना, बिजलीकी तर्जना तथा ह्रादिनी (ठनका) का ठनकना, अत्यन्त घोर भयंकर जिसे सुन मारे भयके हृदय कांप उठता है। कानोंको बन्द करना पडता है। फिर व्याघ्र और सिंहका गर्जन भी ऐसा घोर और भयानक होजाता है, जिसे सुन सभी भय खाते हैं। एवम्प्रकार कूकर, शूकर, शृगाल, बैल, भैंस, हस्ती, ऊंट, गर्धभ बकरा और भेड इत्यादि पशुओंके ध्वन्यात्मक शब्द तथा कोयल, काक, कीर, कमेरी, कपोत चातक, चाहा, चकोर, शुक, सारिका इत्यादि पक्षियोंके ध्वन्यात्मक शब्दोंकी विचित्रता देखकर बुद्धिमानोंको "शब्द ब्रह्मका" बोध होकर आश्चर्य प्राप्त होता है, कि उस महाप्रभुने न जाने मृत्युलोकसे लेकर अन्य लोक-लोकान्तरोंमें कितने प्रकारके अनगिनत शब्दोंकी रचना की है? फिर इसी ध्वन्यात्मक शब्दको सितार, सारंगी, तानपूरा पखावज, बांसुरी, शंख, भेरी, पणव, आनक, सहनाई इत्यादि बाजाओंमें न जाने कैसी विचित्रता डालदी है, कि एक ध्वनि दूसरी ध्वनिसे नहीं मिलती। फिर आश्चर्य्य यह है? कि एक-एक ध्वनिमें ऐसा आकर्षण देदिया है, कि सुननेवालोंका चित्त चाहता है, कि इसे सुनते ही रहें।

इसी प्रकार यदि वर्णात्मकशब्दकी ओर दृष्टि दीजावे तो बुद्धि

अथाह सागरमें ऊब-डूब होने लगती है । यह पता तो लगता ही नहीं, कि कब किस समय उस रचयिताने इतने प्रकारके वर्णात्मक-शब्द बनाये ? कि प्रत्येक चार योजनपर एकके बातचीत करनेका ढंग दूसरे स्थानवालोंसे नहीं मिलता । सो ये वर्णात्मक शब्द भी ग्राम, पत्तन, देश इत्यादिके भेदसे अनगिनत प्रकारके हैं । जहां बुद्धि कुछ भी काम नहीं करती, कि सर्वदेशके मनुष्योंकी जिह्वा जो एक अत्यन्त छोटासा मांसका खंड है इसमें कितने प्रकारसे फिरनेकी शक्ति प्रदान कीगई है । जिससे अनगिनत भाषायें ऐसी बन गयी है, कि एक देशका विद्वान् दूसरे देशकी भाषाको कुछ भी नहीं समझ सकता । मूर्खोंकी तो क्या गणना होसकती है ?

इसी प्रकार इस मर्त्यलोकसे इतर ये जितने तारागण हैं सब एक-एक लोक हैं । इन सबोंमें नाना प्रकारके प्राणियोंका निवास है । तिनको परस्पर संभाषण करनेके निमित्त न जाने कितने प्रकारके शब्द होंगे ? फिर कोई बुद्धिमान् इन वर्णात्मक-शब्दोंका क्या पता लगा सकता है ? छोटे-छोटे विद्वान् संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, लैटिन, ग्रीक, अरबी इत्यादिको पढकर बडे अहंकारके साथ अपनेको विद्वान् कहते हैं, पर उस महाप्रभुकी रचनाकी ओर यदि वे दृष्टि करें तो उनकी जिह्वा यह कहनेमें अवश्य मूक होजावेगी, कि कितनी प्रकारकी भाषायें इस ब्रह्माण्डमें हैं ? किसीको कुछ भी थाह नहीं लगता ।

यह तो उन शब्दोंका संक्षिप्त वर्णन हुआ जो ध्वन्यात्मक होकर इस शरीरके द्वारा बाहरकी ओर सुने जाते हैं । पर इनसे इतर इस

शरीरके अन्तर्मुख भी नाना प्रकारके शब्द सुने जाते हैं। जिनको * अनाहतध्वनि कहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि (पौरुषं नृषु) मनुष्योंमें पुरुषार्थ भी मैं ही हूं। तात्पर्य्य यह है, कि बडे-बडे वीर बुद्धिमान् जो नाना प्रकार के यत्नोंको करके अत्यन्त कठिन कार्य्योंका साधन करलेते हैं। जिसे देख साधारण प्राणियोंको आश्चर्य्य होता है। ऐसे परिश्रमकी गणना पुरुषार्थमें ही कीजाती है। सो पुरुषार्थ मैं ही हूं। क्योंकि किसी प्रकारके यत्नमें यदि सहायता न करूं तो उस पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होसकती। इसी कारण जो कोई पुरुषार्थ करनेवाला यह अहंकार करे कि वह स्वयं अपने ही बलसे विद्या, पराक्रम, तेज, बुद्धि एवं साहस इत्यादिसे किसी कठिन कार्य्यको साधन करलेता है सो उसकी समझ मिथ्या है। इसलिये जो विद्वान्, बुद्धिमान् और भगवत्‌की उपासना करनेवाला प्राणी है वह उस महाप्रभुकी ही प्रभुता स्मरण करता हुआ

---

*अनाहतध्वनिः— आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः॥ मध्ये मर्दलशंखोत्था घण्टाकाहलजस्तथा॥ अन्ते तु किंकिणी वंशी वीणाभ्रमरनिस्वनाः। इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥

अर्थ— अभ्यास करते-करते जब वायु स्थिर होकर ब्रह्मरन्ध्रको गमन करता है तब आदिमें समुद्र, मेघ, भेरी, डमरु ऐसे ऐसे शब्द, मध्यमें पणव, शंख, घण्टा आदिके शब्द और अन्तमें प्राणके अच्छे ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर होनेसे किंकिणी, क्षुद्रघण्टिका, वेणु, बीणा और भ्रमर ऐसे शब्द शरीरके मध्य सुनपडते हैं।

अपने यत्नोंको आरम्भ करता है। और इतना दृढ निश्चय रखता है, कि अपने हाथमें खड्ग ले जब किसीपर चलावेगा तब ही उसका मस्तक छेदन होसकता है।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि पुरुषार्थ करने वालोंमें पुरुषार्थकी सिद्धिका कारण मैं ही हूं। सो पुरुषार्थ दो प्रकारका है लौकिक और पारलौकिक। लोकमें जो धन, सम्पत्ति, राज्यपाट इत्यादि-की प्राप्तिमें यत्न किया जाता है उसे लौकिक पुरुषार्थ कहते हैं। और मोक्षपदकी प्राप्तिके लिये जो किया जाता है उसे पारलौकिक पुरुषार्थ अथवा परमपुरुषार्थ कहते हैं। केवल लौकिक कार्य्योंके साधन निमित्त जो पुरुषार्थ है वह व्यष्टिरूप है और साधारण पुरुषार्थ है। एवम् मोक्षपदकी प्राप्ति निमित्त जो पुरुषार्थ है सो समष्टिरूप है और वही परमपुरुषार्थ है। सो सांख्यशास्त्रके कर्त्ता श्री कपिलदेव कहते हैं, कि '**त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**' (सांख्य० अ० १ सू० १) अर्थात् आत्मिक, दैविक, भौतिक तीनों प्रकारके दु:खोंकी अत्यन्त निवृत्ति करडालनेको "अत्यन्तपुरुषार्थ" कहते हैं। क्योंकि संसृतिव्यवहारों की सिद्धिमें जो पुरुषार्थ किया जाता है वह दु:खोंकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं करसकता। जैसे भोजनरूप पुरुषार्थके करनेसे क्षुधाकी निवृत्ति होती है। पर अत्यन्त निवृत्ति नहीं होसकती। क्योंकि थोडी देरके पश्चात् फिर क्षुधा लगती है। भोजन करते जाओ, क्षुधा लगती जावे, जन्मसे मरणतक यह साधारण पुरुषार्थ करते चले गये पर क्षुधाकी निवृत्ति नहीं हुई। इसी प्रकार ज्वर, खांसी इत्यादि रोगोंकी

शान्ति निमित्त औषधि सेवनरूप पुरुषार्थको करते रहते हैं पर वे रोग फिर बार-बार लौटते हैं । इसी प्रकार लौकिक विषयोंकी प्राप्तिसे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति होनी असंभव है ।

पर सर्व प्रकारके पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेवाला जो भगवत्स्वरूप है तिसकी उपासनामें चित्तको लगादेना परमपुरुषार्थ है । भगवत्स्वरूप सर्व लोकलोकान्तरोंके विभवको प्राप्त करतेहुए इन्द्रादि देवगणसे भी स्तुति करातेहुए ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्तके विषय भोगोंको त्याग करतेहुए जो भगवत्स्वरूपकी प्राप्ति होती है सो तो अत्यन्त पुरुषार्थ है ही पर साधारण विषयादिकी प्राप्तिमें जो व्यष्टिरूप पुरुषार्थ है सो भी भगवत्‌हीका स्वरूप है ।

इसी कारण भगवान लौकिक और पारलौकिक अर्थात् व्यष्टि और समष्टि-रूप पुरुषार्थोंका मुख्यरूप अपनेको बताकर अपनी उपासना करनेकी आज्ञा देरहे हैं ॥ ८ ॥

इस श्लोकमें भगवानने जलमें रस, सूर्य चन्द्रमें प्रभा, वेदोंमें प्रणव, आकाशमें शब्द और मनुष्योंमें पुरुषार्थको अपना ही स्वरूप बताकर मणिकाकी मालाके समान सबोंका अपनेमें ओत-प्रोत होना अर्थात् गुँथाहुआ होना बताया और अपनी उपासना करनेका संकेत करतेहुए अपनेको समग्र बतानेकी जो प्रतिज्ञा की है सो धीरे २ अपना सारा वैभव बतातेहुए फिरे आगे कहते हैं, कि—

मू०— पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

पदच्छेदः— पृथिव्याम् (भूमौ धरायाम् वा) पुण्यः (विकाररहितः । पवित्रः सुरभिर्वा) गन्धः (ग्राह्यपृथिवीगुणश्चामोदः) विभावसौ (अग्नौ) च (तथा) तेजः (दहनप्रकाशनसामर्थ्यसहितम् सितभास्वरम् रूपम) अस्मि, सर्वभूतेषु (सर्वेषु प्राणिषु) जीवनम् (प्राणधारणमायुः) च (तथा) तपस्विषु (तपोयुक्तेषु वानप्रस्थादिषु) तपः (शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वन्द्वे सहनसामर्थ्यरूपम) अस्मि ॥ ९ ॥

पदार्थः— (पृथिव्याम्) पृथिवीमें (पुण्यो) पवित्र और विकार रहित (गन्धः) गन्ध (विभावसौ) अग्निमें (तेजः) जलाने तथा प्रकाश करनेकी सामर्थ्ययुक्त जो अग्निकी आभा (च) सो भी (अस्मि) मैं ही हूं तथा (सर्वभूतेषु) सब प्राणियोंमें (जीवनम्) आयु (च) और (तपस्विषु) नाना प्रकारके तपस्वियोंमें (तपः) तपस्याकी शक्ति भी (अस्मि) मैं ही हूं ॥ ९ ॥

भावार्थः— जैसे पूर्व श्लोकमें भगवान्ने जल तथा सूर्य्य, चन्द्र इत्यादिमें अपने व्यष्टिरूपको दिखलातेहुए समष्टि स्वरूपका संकेत कर अपनी व्यापकता दिखलायी है अर्थात् सब वस्तुओंको अपनेमें पिरोया रहना दिखलाया है । इसी प्रकार इस श्लोकमें भी कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तू यह निश्चयकर जानले, कि

[पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ] पृथिवीमें जो पवित्र विकाररहित गन्ध है सो मैं ही हूं। अर्थात् गन्धरूप होकर जो मेरा समष्टिस्वरूप सर्वत्र व्यापरहा है उसमेंसे थोडासा अंश व्यष्टि-रूप होकर जो पृथ्वीमें फैला है वह भी मैं ही हूं और अग्निमें तेज मैं ही हूं।

शंका— " पुण्यो गन्धः " क्यों कहा ? गंधके साथ पुण्य शब्दके प्रयोग करनेका क्या तात्पर्य्य ? केवल इतना ही कहते, कि पृथ्वीमें गंध मैं ही हूं तो क्या हानि थी ?

समाधान— गन्ध दो प्रकारका है– सौरभ और असौरभ । तहां प्रमाण— " घ्राणग्राह्यो भवेद्गन्धो घ्राणस्यैवोपकारकः । सौरभश्चा सौरभश्च स द्वेधा परिकीर्त्तितः " ॥ (भाषापरिच्छेद श्लो० १०३)

अर्थ— नासिकेन्द्रियसे ग्रहण करने योग्य नासिकाका उपकार करनेवाला सौरभ और असौरभ दो प्रकारका गन्ध है। फिर इनके दस भेद हैं–"इष्टोऽनिष्टश्च गन्धश्च मधुरोऽम्लकटुस्तथा। निर्हारी संहतः स्निग्धो रूक्षो विशद एव च " ॥ (कल्किपु० अ० ६८)

१. इष्टः– जैसे कस्तूरी इत्यादिका गन्ध ।

२. अनिष्टः– जैसे मृतकशरीरादिका गन्ध ।

३. मधुरः– जैसे वेली, चमेली पाटलादि पुष्पोंके गंध।

४. अम्लः– जैसे नीबू, आम्रादिका गन्ध ।

५. कटुः— जैसे मरीचि, पिप्पलादिका गन्ध ।

६. निर्हारी— जैसे हिंगु, जीरा इत्यादिका गन्ध ।

७. संहतः— अनेक प्रकार गंधमिश्रित गंध, जिसे चित्र-गंध भी कहते हैं । जैसे आजकल बहुत प्रकारके इत्रोंको मिलाकर फितना बनाते हैं ।

८. स्निग्धः— जैसे तुरंतके तपायेहुए घृतादिका गन्ध ।

९. रूक्षः— जैसे सरसों इत्यादिके तैलका गन्ध ।

१०. विशदः— जैसे अन्नादिका गन्ध ।

एवम्प्रकार ये नाना प्रकारके गन्ध जो इस मर्त्यलोकमें फैले हैं इनसे इतर भी अनेक प्रकारके गन्ध हैं । जो इन्द्रलोकके नन्दनवनमें पुष्प, फल, पत्तोंके साथ मिश्रित हैं । इतना ही नहीं वरु ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितने लोकलोकान्तर हैं सबोंमें उनकी अपनी-अपनी प्राणोंकी रचनानुसार सौरभ और असौरभ गन्ध रचेहुए हैं । जिनकी गणना नहीं होसकती। इसी कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें जो विचित्र गन्ध फैलेहुए हैं वे सब मिलकर समष्टिरूप गन्ध हैं । इसी समष्टि-रूप गन्धसे जो इस मर्त्यलोकमें पृथ्वीके साथ व्यष्टिमात्र सौरभ (गन्ध) है उसीको पुण्यगन्ध कहते हैं । सो भगवान कहते हैं, कि वह गन्ध मैं ही हूं ।

पर इस पृथ्वीमें व्याप्त व्यष्टिरूप जो सौरभगन्ध है उसके भी पांच भेद हैं— " गन्धं च सम्यक् शृणु तं पुत्र वैताल भैरवम् ।

चूर्णीकृतो वा घृष्टो वा दाहाकर्षित एव वा ॥ रसः सम्मर्दजो वापि प्राण्यङ्गोद्भव एव वा । गन्धः पंचविधः प्रोक्तो देवानां प्रीति दायकः ॥ " (कल्किपु० अ० ६८)

अर्थ— प्रथम चूर्णीकृत गन्ध है जिसे चूर्ण कियाहुआ कहते हैं । जैसे जटामांसी, सुवर्णकेतकी, सुगन्धिकुसुमा, (पृक्का) सुगंधिमूल, देवनारि, गीर्व्वाण कुसुम (लवंग) लवंगकलिका, पत्रज, तज, केसर इत्यादि ये सब चूर्ण करनेसे गन्ध अधिक देते हैं । इसलिये इनसे जो गन्ध उत्पन्न होता है वह चूर्णीकृत गन्ध है।

२. दूसरा वह है जिसे घृष्ट (घिसाहुआ) कहते हैं । जैसे मलय, अगरु, नमेरु इत्यादि ।

३. तीसरा वह है जिसे दाहाकर्षित कहते हैं अर्थात् अग्निसे जलानेसे जिसका सुगन्ध फैलता है । जैसे देवदारु, कर्पूर, अगरु, ब्रह्मशाल, सारान्त, चन्दन, प्रिया इत्यादि ।

४. चौथा वह है, जिसे सम्मर्दज कहते हैं अर्थात जिसको निचोडनेसे सुगन्ध फैलता है । जैसे जम्भकुश (गुलाबकांडा) सगंध, करवीर, विल्वगंधिनी ।

५. पांचवां गंध वह है जिसे प्राण्यंगज कहते हैं । जैसे मृग-नाभ (कस्तूरी) ।

ये पांच ही प्रकारके सौरभ गन्ध होते हैं । इन्हींको पुण्यगन्ध भी कहते हैं । क्योंकि नाना प्रकारके यज्ञोंमें तथा देवता, पितरोंकी

पूजा इत्यादिमें ये ही पांचों प्रकारके गन्ध व्यवहारमें लायेजाते हैं। इन पांचों प्रकारके गन्धोंमें अन्योन्य सम्बन्ध है। क्योंकि इनमें बहुतेरे तीन और बहुतेरे दो ही प्रकारसे गन्धदायक हैं। और देवता पितरोंको प्रसन्न करनेवाले हैं। जिससे पुण्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि पृथिवीमें पुण्यगन्ध मैं ही हूं! अर्थात् कस्तूरी, कर्पूर कुमकुम, अगरु, चन्दन, मलय इत्यादिमें मैं ही गन्धका कारण हूं।

श्यामसुन्दरका तो शरीर ही मानो सर्व प्रकारके सौरभ गन्ध अर्थात् पुण्यगंधोंका एक समूह है। क्योंकि आपके तो अंग-अंगसे सारे ब्रह्माण्डमें गंध फैलेहुए हैं। आपके शरीरपर गोकुलमें जो भौंरे आकर बैठजाया करते थे उनको तो भगवान्के शरीरसे कमलका गंध ही निकलता हुआ बोध होता था। इसलिये भगवान् तो गंधोंके कारण हैं ही। फिर केवल पृथिवीमें व्याप्त गंधोंको अपनेमें पिरोयाहुआ अर्थात् सर्व गंधोंको अपनेमें ओत-प्रोत कहा तो फिर इसमें कुछ शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि "तेजश्चाऽस्मि विभावसौ" अग्निमें तेज मैं ही हूं अर्थात् अग्निमें जो प्रकाश करने और जलादेनेकी उज्वल प्रभा है वह मैं ही हूं। इस प्रभा और तेजके विषय इससे पूर्व-श्लोकमें बहुतकुछ कहागया है। इसलिये फिर कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी आपकी प्रभाके अर्थात् तेजके समष्टि-स्वरूपकी स्तुति चारों वेद कररहे हैं। "ॐ तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" (वाजसनेयी संहिता अ० १ मं० ३१)

अर्थ— हे ब्रह्मदेव! तुम तेज हो, शुक्र हो और अमृतस्वरूप हो।

अर्थात् तेजद्वारा शुक्ररूप होकर जलकी वृष्टिसे अन्नादिके बढ़ानेवाले हो। इसी कारण तुम अमृतस्वरूप हो। फिर ऋग्वेदका वचन है, कि "तेजोऽसि तेजो मयि देहि" हे ब्रह्मदेव ! तुम तेज हो इसलिये तुम उसी अपने तेजमेंसे मेरेलिये तेज प्रदान करो ! अर्थात् मुझको तेजस्वी बनाओ। फिर ऋग्वेदका ही मंत्र है, कि "ॐ जातवेदसे सुनवाम् सोममरातीयतो निदहाति वेदः" (ऋग्वे॰ अष्टक १ अ॰ ७ वर्ग ७ में देखो) अर्थात् जातवेदस कहिये अग्निको तिस अग्निके दहन करनेवाले तेजमें सुनवाम हवन करते हैं सो * तेज कैसा है ? कि मेरे दुःखोंको अर्थात् तीनों तापोंको जो शत्रुरूप है नाश करनेवाला है फिर सामवेद भी इस तेजकी स्तुति कररहा है— "त्वेषस्ते धूम ऋणवति दिविसं छुक्र आततः। सूरो नहि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥" (सामवेद अग्निपर्व अ॰ १ खं॰ ६ मं॰ ३-२३)

अर्थ— हे शोधक अग्ने ! तुमसे दीप्तिका निर्म्मल शुभ्रवर्ण धूम अन्तरिक्षमें फैलताहुआ मेघरूप होकर चलता है। फिर हे अग्निदेव ! तुम कैसे हो, कि सूर्य्यके समान अपनी समर्थ दीप्तिसे सर्वत्र प्रकाशके फैलानेवाले हो।

---

* जबतक तेज अर्थात् अग्निकी ताप नहीं बढ़ती तबतक जलकी वृष्टि नहीं होती। सभी जानते हैं, कि आज प्रचण्ड गरमी है, अधिक ताप होरहा है अवश्य वर्षा होगी इसी "अग्नेः" अग्निसे जलकी उत्पत्ति कही गयी है।

अथर्व वेद भी इस ब्रह्मदेवके समष्टिरूप तेजकी स्तुति करताहुआ कहता है, कि " ॐ अग्निं प्रणयामि मनसा " मैं मनसे + अग्निकी विनय करता हूं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यह जो तेज अग्निमें है उसे मैं बन्दन करता हूं।

अबभगवान् कहते हैं, कि [जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु] सब प्राणियोंमें जीवन अर्थात् आयु मैं ही हूं और

+ इस अग्निको " सप्तजिह्वा " के नामसे पुकारते हैं। क्योंकि इस अग्निमें जो तेज है उसकी सात जिह्वाएं हैं— काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुचि इन्हीं सातों जिह्वाओंसे अग्निदेव यज्ञादिके हविष्यको ग्रहण करते हैं। तहां श्रुति कहती है —

" एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाऽऽहुतयो ह्याददायन् तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥"(मुं० १ खं० २ श्रु० ५)

अर्थ— इन दीप्तिमान् सातों जिह्वाओंमें जो यजमान कालके नियमानुसार प्रातः वा सायं हवनको करते हैं उनको ये जिह्वाएं सूर्यकी किरणोंसे होकर वहां पहुंचाती हैं जहां सब देवोंका पति इन्द्रदेव सबोंसे उच्चस्थानमें निवास करता है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह परमात्मा जो तेजस्वरूप होकर सब तैजसपदार्थोंमें समष्टिरूपसे व्यापरहा है। उसका एक व्यष्टिरूप श्वेत तेज होकर इस अग्निमें व्यापता है। इसी कारण श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अग्निके तेजको संकेत करके अपने संपूर्ण तेजका कथन करदिया।

तपस्वियोंमें तप मैं ही हूं। तात्पर्य यह है, कि जबतक मैं स्वयं इन भूतोंके साथ निवास करता हूँ तब ही तक ये भूत जड वा चेतन वर्त्तमान रहते हैं सो "जीवत्यनेनेति" इस वचनके अनुसार जो अण्डज, पिण्डजादि चार खानिके जीव जिसके द्वारा जीते हैं अर्थात् वर्त्तमान रहते हैं सो जीवन मैं हूं।

चेतन भूतोंके साथ तो मैं प्राण होकर निवास करता हूं। सो प्राण इनके पूर्वजन्मार्जित कर्मोंके अनुसार नियमित कियाहुआ है। अर्थात् "प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणो हि भूताना-मायुः" इस श्रुतिके वचनानुसार प्राण ही करके ये प्राणी जीते हैं और प्राण ही इनकी आयु है। सो प्राण मैं ही हूं। तात्पर्य यह है, कि सब प्राणियोंका प्राण मैं हूं। मैं अपनी परा शक्तिसे जब-तक वर्त्तमान रहता हूं तब ही तक उनकी स्थिति रहती है। नहीं तो वे सब विनशकर परमाणुरूप होकर आकाशमें फैलजाते हैं।

भगवान्‌ने सर्व भूतोंमें अपनेको उनका जीवन कहा। इस श्लोकमें अपनेको सर्वभूतोंका जीवन कहनेसे भगवान्‌का मुख्य तात्पर्य यह है, कि अपरा और परा अर्थात् निकृष्ट और उत्कृष्ट विशेष प्रकृतिसे मैं इनको धारण किये रहता हूं। इन दोनों प्रकृति-योंका वर्णन भगवान् इसी अध्यायके चौथे पांचवें श्लोकोंमें पूर्णरीतिसे करचुके हैं।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवान् कूटस्थ और चिदाभास अपने दोनों स्वरूपोंको इन दोनों प्रकृतियों द्वारा दिखला रहे हैं।

कैसे दिखलारहे हैं ? और इन दोनोंके स्वरूप क्या है ? सो सुनो—

प्रमाण— " खादित्यदीपिते कुडचे दर्पणादित्यदीप्तिवत् ।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थ जीवेन भास्यते ॥ "

(पंचद० प्रक० ८ श्लो० १)

इसकी टीका करतेहुए श्री विद्यारण्यके शिष्य श्री रामकृष्ण कहते हैं, कि " अनेन सामान्यतो विशेषतश्च कुड्यावभासकादित्यप्रकाशद्वयमिव देहावभासके चैतन्यद्वयमस्तीति प्रतिज्ञानं भवति "

अर्थ— ख जो आकाश उसमें जो आदित्य (सूर्य) का प्रकाश फैलाहुआ है उसे 'खादित्य' कहते हैं और दर्पणमें जो आदित्यका प्रकाश है उसे 'दर्पणादित्य' कहते हैं । अर्थात् जैसे कुडच (भींत) दीवालपर जो प्रकाश पडता है वह सामान्य प्रकाश है । और उसी भींतमें जो बहुतसे दर्पण जडदिये जावें तो उन दर्पणोंमें जो प्रकाश पडेगा वह विशेष प्रकाश कहलावेगा। सो जैसे भीत (दीवाल) वाले सूर्यका प्रकाश सामान्य-रूपसे है और दर्पणके भीतर सूर्यका प्रकाश है वह विशेष रूपसे है। इसी प्रकार अपरा प्रकृतिसे बनीहुई पांचभौतिक भीत (दीवाल) पर तो ब्रह्मका सामान्य प्रकाश (जिसे कूटस्थ कहते हैं) सुशोभित है। और परा प्रकृति जीवभूतापर उसका चिदाभासरूप विशेष प्रकाश शोभायमान होरहा है ।

शंका— ब्रह्म-प्रकाश यदि दो प्रकारका हुआ तो दो प्रकारके प्रकाशोंके होनेका विकार उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ । ऐसा नहीं होना

चाहिये । क्योंकि ब्रह्म एक है तो प्रकाश भी उसका एक ही होगा दो क्यों कहा ?

समाधान— सो सत्य है प्रकाशके दो प्रकार नहीं हैं प्रकाश तो एक ही है पर वह प्रकाश जिन वस्तुओंपर पडता है उनकी रचनामें भेद होनेसे प्रकाशका भेद कहना वाचामात्र विकार है। जैसे पहले कहआये हैं, कि सूर्यका एक ही प्रकाश (कुडच) भीतपर पडनेसे सामान्य रूपसे देखा-जाता है और जिससे फिर कोई दूसरी वस्तु प्रकाशित नहीं होसकती। पर जो दर्पणमें प्रकाश पडता है तिससे फिर दूसरी वस्तु भी प्रकाशित होसकती है। दर्पणमें जो गोलाकार प्रकाश पडता है किसी दीवाल पर वा छतपर डालो तो वह बिम्ब गोलाकार ही सर्वत्र पडेगा। इसी प्रकार अपरा प्रकृतिपर जो ब्रह्म-प्रकाश पडरहा है वह केवल पंचभूत तथा मन, बुद्धि, अहंकारका वर्त्तमान रखनेवाला है। जैसे सूर्यके प्रकाश से सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी वस्तु दीखने लगजाती हैं इसी प्रकार ब्रह्म-प्रकाशके जिस अंशसे ये आठ प्रकृतियां जिनको अपरा कहते हैं प्रका-शित होती हैं, वही कूटस्थ कहलाता है। जो अपने स्थानसे हिलता नहीं अर्थात् सृष्टि होते समय इस कूटस्थ ब्रह्म-प्रकाश द्वारा सर्व-वस्तुओंमें जो शक्ति दीगयी वही प्रलयकाल तक इस अपरा प्रकृतिरूप भीतपर बनी रहेंगी। इसमें किसी प्रकारका न्यूनाधिक्य (कमी बेशी) नहीं होगा । इसीलिये यह कूटस्थ-ब्रह्म कहा जाता है।

अब चिदाभासब्रह्मका वर्णन सुनो—

उक्त दो प्रकारकी प्रकृतियोंमें जो परा प्रकृति है जिससे यह सम्पूर्ण जगत्

वर्त्तमान है और चेतन है जिसे जीव भी कहते हैं तिस जीवभूता प्रकृतिके ऊपर जो ब्रह्मका प्रकाश पडरहा है उसे ही **चिदाभास** कहते हैं। भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि चेतन-वस्तुओंमें जीव मैं ही हूं। अर्थात् मैं अपने चिदाभास-स्वरूपसे प्रकाश कररहा हूं। विशेष अभिप्राय यह है, कि सामान्य वस्तुओंमें कूटस्थ और विशेष वस्तुओंमें चिदाभासरूपसे वर्त्तमान रहता हूं। शंका मत करो!

अब भगवान् कहते हैं, कि (**तपश्चास्मि तपस्विषु**) तपस्वियोंमें तप भी मैं ही हूं। अर्थात् कृच्छ्र, चान्द्रायण, मौन, उपवासादि जो कष्टसाध्य (कठिन) क्रियाएँ हैं सो सब मैं ही हूं। तपका अर्थ ही नाना प्रकारके तापोंका सहना है। (तप उपतापे) धातुसे तापति वा तपयति बनता है। (सर्वधातुभ्योऽसुन् उण० ४-१८८ इति असुन्) अर्थात् शरीरको तपनकरनेवाले कायाक्लेश इत्यादिके सहनेमें जो धीरता है अर्थात् स्थिरता है सो मैं ही हूं। इसी कारण जितने प्रकारके तप करनेवाले हैं सब मेरे तपरूप महा ऐश्वर्य्यमें पिरोयेहुए हैं।

मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि यदि वह महाप्रभु सहायता न करे, अपनी प्रवल शक्तिको प्राणीके शरीरसे आकर्षण करलेवे तो जैसे सार (घृतके) खींच लेनेसे दुग्धका रूप कुछ रहता नहीं केवल खट्टा जलमात्र कांजी होकर रहजाता है, जिसमें कुछ भी पुष्टता नहीं रहती। इसी प्रकार यदि वह महाप्रभु तपस्वियोंसे अपने तपस्वरूपको खींच लेवे तो वे तपस्वी एक क्षण भी तपके साधनमें समर्थ न होंगे। वरु जितने तपस्वी हैं सब तपस्या छोड-छोड घर लौट फिर ज्योंके त्यों महा

दीन और दुखी हो इधर-उधर मारे २ फिरेंगे। इसलिये यह निश्चय है, कि तपस्वियोंमें स्वयं भगवान् ही तपस्वरूप हैं। जैसे भगवत्सत्तारूप सूत्रके आधारपर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके ब्रह्मा तथा सनक, सनन्दन, नारदादि सहस्रों ऋषि मुनि पिरोयेहुए हैं सो जो तपोबल है वह स्वयं भगवानका ही रूप है जिसमें बहुत बडा और विशेष महत्त्व है। प्राणी तपोबलसे जो कुछ चाहे करसकता है। तपहीके बलसे ब्रह्मा सृष्टिकी रचना करते हैं, विष्णु पालन करते हैं और शिव संहार करते हैं। फिर कैसा भी निर्बल प्राणी क्यों न हो तपोबलसे सबकुछ प्राप्त कर-सकता है। वह्निपुराणका वचन है, कि "तपसा क्षीयते पापं मोदते सह दैवतैः। तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः॥ तपसा सर्वमाप्नोति तपसा विन्दते परम्। ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः सौभाग्यं रूपमेवच॥" (अर्थ स्पष्ट है)

फिर यह तप तीन प्रकारका है शारीरिक, वाचिक और मानसिक फिर इस एक-एकके तीन-तीन भेद हैं सात्विक, राजस, और तामस। एवम्प्रकार इस तपके नव भेद हुए इन नवों प्रकारके तपोंका वर्णन विधिपूर्वक इस गीताके सतरहवें अध्यायके श्लोक १४ से १९ तक कियागया है, देखलेना! सो इन नवों प्रकारके तपस्वियोंमें जो तपबल है सो भगवानका ही विशेष स्वरूप है।

इस तपका दूसरा अर्थ मनकी एकाग्रता भी है। श्रुतिः— "ॐ मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यमेव परमं तपः" मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताको तप कहते हैं सो भगवान् कहते हैं, कि यह एकाग्रतारूप तप भी मैं ही हूं।

भगवान्‌का मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि जिस समय प्राणीकी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंको और सत्व, रज, तम, तीनों गुणोंको हटाकर आत्मामें एकाग्रता होजाती है उस समय वह प्राणी भगवान् का ही स्वरूप है। क्योंकि उस समय वह तुर्यावस्थित होकर परमानन्द और परम-सुखको लाभ करता है। सो परमानन्द और परम सुख भगवान् का ही स्वरूप है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि तपस्वियोंमें तप मैं ही हूं।

फिर इस विषयमें पतंजलिका यह मत है, कि "कायेन्द्रिया सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" अर्थात् मल, आवरण और विक्षेप रूप जो अन्तःकरणकी अशुद्धियां हैं, अथवा इन्द्रियोंके द्वारा नाना प्रकारके पापोंकी जो अशुद्धियां हैं, वे सबकी सब तप करनेसे क्षय होजाती हैं। जिनके क्षय होजानेसे काया और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है। और अन्तःकरण मलादिसे शुद्ध होजाता है। इस प्रकार शुद्धिके प्राप्त होनेसे कायाकी सिद्धि होती है अर्थात् अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं और अत्यन्त सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म पदार्थोंका देखना, अत्यन्त दूर-दूरके शब्दोंका सुनना, वस्तुको जिह्वापर रखनेहीसे उसकी मिश्रित वस्तुओंके स्वाद द्वारा उन वस्तुओंका बोध होना इत्यादि इन्द्रियोंकी सिद्धियां प्राप्त होती हैं। तहां व्यासदेव लिखते हैं, कि "तपः समभ्यस्यमानं चेतसः क्लेशादिलक्षणाशुचिक्षयद्वारेण कायेन्द्रियाणां सिद्धिमुत्कर्षमादधाति, चान्द्रायणादिना चित्तक्लेशक्षयः तत क्षयादिन्द्रियाणां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शनादि सामर्थ्य-

मात्रिर्भवति, कायस्य यथेच्छमणुमहत्वादीनि" इन वचनोंका अर्थ वही है जो पहले कह आये हैं ॥ ६ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की, कि "सर्वाणि भूतानि स्वकारणे प्रोतानि कथं तेषां त्वयि प्रोतत्वम्" हे भगवन् ! सब भूतमात्र अपने २ कारणमें प्रोत हैं तो तुमने अपनेमें इनको प्रोत कैसे कहा ?

यह सुन भगवान् बोले—

मू०— वीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

पदच्छेदः— [हे] पार्थ ! (पृथापुत्र अर्जुन !) सर्व-भूतानाम् (ब्रह्माण्डकानां चराचराणाम्) सनातनम् (नित्यमुत्तरोत्तर सर्वकार्येषु अनुस्यूतम्) वीजम् (सूक्ष्मादि कारणम् । सजातीयकार्योपपादनसामर्थ्यम्) माम् (वासुदेवम्) विद्धि (जानीहि [यस्मात्] अहम् (परमेश्वरः) बुद्धिमताम् (तत्त्वनिश्चयसमर्थानाम्) बुद्धिः (तत्त्वातत्त्वविवेकसामर्थ्यम् प्रज्ञा वा) तेजस्विनाम् (प्रागल्भ्ययुक्तानाम्) तेजः (प्रागल्भ्यम्) अस्मि ॥ १० ॥

पदार्थः— (पार्थ!) हे पृथाका पुत्र अर्जुन ! तू (सर्वभूतानाम्) ब्रह्माण्डमें जितने जड चेतन हैं सबोंका (सनातनम् वीजम्) नित्य तथा अनादि कारण (मां, विद्धि) मुझको जान ! क्योंकि (बुद्धिमताम्) तत्त्वके निश्चय करनेवाले बुद्धिमानोंमें (बुद्धिः) तत्त्वोंके निश्चय करनेकी सामर्थ्य तथा (तेजस्विनाम्)

तेज धारियोंमें (तेजः) पराक्रम (अहमस्मि) मैं ही हूं ॥ १० ॥

भावार्थः— भगवानने जो पूर्व दो श्लोकोंमें सब वस्तुओं को अपनेमें ओत-प्रोत कहा इसपर अर्जुनको शंका हुई, कि जितनी वस्तु इस विराट्में हैं सब अपने-अपने कारणमें ओत-प्रोत हैं फिर तुमने अपनेमें प्रोत क्यों कहा ?

इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि हे पृथा का पुत्र अर्जुन ! तेरी शंका तो निस्सन्देह सच है। पर जो अल्प-बुद्धि हैं जिनको ब्रह्मज्ञान वा आत्मज्ञान तथा मुझ महेश्वरके यथार्थ स्वरूपका बोध नहीं है, वे ही प्रत्येक वस्तुके कारणको मानते हैं। ऐसा माननेसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होगी। क्योंकि जब एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु मानी जावेगी तो उस दूसरी वस्तुका भी कारण तीसरी वस्तु माननी पडेगी फिर उस तीसरीका भी कारण चौथी वस्तु माननी पडेगी। एवम्प्रकार कारण कार्य मानते-मानते कहीं ठिकाना नहीं लगेगा तो × अनवस्थादोषकी प्राप्ति होगी। जैसे वृक्षका कारण बीज मानाजावे तो उस बीजका भी कारण वृक्ष मानना पडेगा। एवम्प्रकार वृक्षसे बीज, बीजसे वृक्ष बारम्बार मानते मानते यह सिद्धान्त नहीं होसकता, कि यथार्थमें कौन किसका कारण है ?

×अनवस्था— अप्रामाणिकानन्तप्रवाहमूलकप्रसंगत्वम् तर्कविशेषः ।
(तार्किकाः)

उपपाद्योपपादकयोरविश्रान्तिः (मीमांसकाः) (स्थित्यभावः)

पहले क्या है ? वृक्ष है, कि बीज है इसीको अनवस्था दोष कहते हैं। इसी कारण यह सिद्धान्त किया हुआ है, कि सब कारणोंका एक महा कारण मानना चाहिये तो महा कारण वही होगा जो सबसे पहले होगा।

सो इस सृष्टिका महा कारण अर्थात् सनातन बीज वह परमेश्वर ही है। क्योंकि जब कोई एक सृष्टि मानी जावेगी तो उससे भी पहले एक सृष्टि माननी पडेगी। तात्पर्य यह है, कि जबसे राजा होता है तब ही से उसका राज्य भी होता है, सो इस सृष्टिका राजा परमेश्वर अनादि है उसका आदि नहीं अर्थात् ऐसा कोई नहीं कहसकता, कि वह सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर अमुक साल वा घडीसे है। वह तो अजन्मा है, अविनाशी है इसलिये उसकी सृष्टिको भी अनादि कहना पडेगा। चाहे किसी सृष्टिकी गणना वा विचार क्यों न कियाजावे ! उसका नित्य बीज अर्थात् नित्य कारण जिसका कोई दूसरा कारणान्तर न हो केवल वही परमेश्वर मूल कारण है। क्योंकि उसीसे सबकी उत्पत्ति है पर उसकी उत्पत्ति किसीसे नहीं है।

" स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् " (पतं० अ० १ सूत्र २६)

अर्थ— ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि जो सबसे पूर्व हैं उनका भी वह गुरु है अर्थात् उनसे भी पहलेसे है। क्योंकि वह कालके आधीन नहीं उससे इतर सब कालके आधीन हैं, उत्पत्ति विनाशके आधीन हैं। केवल वही एक वासुदेव आनन्दकन्द कृष्णचन्द कालसे रहित है। चाहे

करोड, दो करोड, अरब, खरब, नील, संख्य, महा संख्य तथा असंख्य और अनगिनत सहस्रों वर्षोंको क्यों न एकत्र करलो पर वह वासुदेव उनसे भी पहलेसे है इसलिये वही नित्य है। जो नित्य होगा और सबसे पहलेसे होगा वही सबोंका कारण अर्थात् सनातन बीज होसकता है। इसलिये भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्**] हे पार्थ ! सब भूतोंका सनातन बीज मुझहीको जान ! नित्य कारण मैं ही हूं मुझसे इतर कोई दूसरा कारणान्तर नहीं है।

शंका— बहुतेरे विद्वानोंको यह शंका होती है, कि सृष्टिका नित्य कारण उस ब्रह्मदेवको क्यों कहते हो ? वह तो सृष्टिका कारण नहीं है कारण तो परमाणु है परमाणुसे सब उत्पन्न होते हैं और फिर उसी परमाणुमें लय होजाते हैं। सो परमाणु नित्य है और वही परमाणु स्वयं बनता विनशता रहता है। इसी कारण न्यायशास्त्रवालोंने इन पञ्चमहाभूतोंको परमाणुरूप करके नित्य कहा है। विषयकरके ये अनित्य हैं जैसे इतनी बडी पृथ्वी लम्बी चौडी सहस्रों योजनके विस्तारमें जो फैलीहुई है सो विषयरूप पृथ्वी है स्वरूप करके जो कुछ देखा जाता है वह प्रलयकालमें नाशको प्राप्त होता है। अर्थात् प्रलयकालमें जब जलका प्रवाह बढता है तो उस समय यह पृथ्वी जलमें ऐसे गलजाती है जैसे एक घडे पानीमें एक रत्तीमात्र लवणकी कंकरी जिसका पता ही नहीं लगता, कि क्या हुई। इसी प्रकार पृथ्वी का पता प्रलयकाल में कहीं भी नहीं लगता। पर जैसे रत्तीमात्र लवण की कंकरी जलमें

लय तो होगई परे परमाणुरूप होकर फैलगयी एक बारगी नाशको प्राप्त नहीं हुई अर्थात् एक बारगी उसका अभाव नहीं होगया यदि उसे बोध किया चाहें, कि इस जलमें वह कंकरी है वा नहीं तो आचमन करनेसे बोध होजावेगा, कि है। फिर किस स्वरूपमें है? तो कहना चाहिये कि परमाणुस्वरूपमें है। परमाणु कहते हैं अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थको जो आंखोंसे बिना किसी अन्य सहारेके देखा नहीं जाता। जैसे इंधन अग्निमें जलकर कोयला होजाता है फिर उस कोयलेको जलाओ तो जलकर भस्म होजाता है उस भस्मको वायुमें उडादो तो उसकी जो अत्यन्त छोटी-छोटी कणिकायें होती हैं, जिनको आंखें देख नहीं सकतीं आकाशमें फैलजाती हैं उन्हींको परमाणु कहते हैं।

प्राचीनकारिका वालेका सिद्धान्त है, कि—

" पृथिव्यादि भूतचतुष्टयानां द्व्यणुकानामवयवः स च नित्यः निरवयवः ततः किमपि सूक्ष्मं नास्ति " अर्थात् पृथिवी, जल इत्यादि चार तत्त्वोंके द्व्यणुक अवयव हैं उन्हींको परमाणु कहते हैं सो नित्य हैं और स्वयं निरवयव हैं उनसे बढकर अधिक सूक्ष्म और कुछ भी नहीं है। जैसे लवणकी डली और कोयलेकी डली गलकर और जलकर छोटे-छोटे परमाणुओंमें रहजाती हैं और जो नित्य हैं जिनका नाश नहीं होता। इसी प्रकारे " प्रलयेऽतिस्थूलस्थूलना-शानन्तरं परमाणुक्रियाविभागपूर्वसंयोगनाशादिक्रमेण द्व्यणुकना-शात्तिष्ठन्ति परमाणवः दोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः। "

अर्थ— लवणकी डलीकी जो उपमा दीगयी है तैसे ही पृथिवी

जलमें गलके तथा जल अग्निमें शुष्क होकरे, अग्नि वायुमें धुझकर और सो वायु आकाशमें फैलकर रहजाती है । इन चारों तत्त्वोंके स्थूल शरीरका नाश होकर पश्चात् सृष्टिके समय जो इन परमाणुओंका मेल हुआ था तिस संयोगका नाश होना आरम्भ होता है । तब त्रस-रेणु जो तीन-तीन परमाणुओंका मेल हुआ था सो नाश होकर द्व्यणुक रहता है अर्थात् दो-दो अणुओंका मेल रहजाता है । फिर उस द्व्यणुक अर्थात् दो-दो अणुओंके मेलका भी नाश होकर केवल अणुमात्र रह-जाता है । फिर दो-दो परमाणुओंके मेलको अणु कहते हैं सो अणु विभाग पाकर परमाणु होरहता है । इसी सिद्धान्तको प्राचीन कारिका वाले कहकर अब कहते हैं, कि प्रलयकालमें सब कुछ नाश होकर केवल परमाणु रहजाता है सो नित्य है और फिर सृष्टिकालमें इन्हीं परमाणुओंके मेलसे सब तत्त्वोंकी उत्पत्ति होकर सृष्टि वढती है सो परमाणु नित्य हैं और नष्ट नहीं होते । इसलिये इसी परमाणुको सृष्टि का नित्य, सनातन और आदि कारण कहना चाहिये ।

श्रीमद्भागवतमें भी इन परमाणुओंके विषय तीसरे स्कन्धके ११ वें अध्याय श्लोक ५ में मैत्रेयजी विदुरसे कहते हैं, कि—

" अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः । जालार्क रश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात् ।"

अर्थ— दो-दो परमाणुओंका एक अणु होता है । वह अणु तीन हों तो एक त्रसरेणु मानाजाता है । किसी झरोखे होकर वा छिद्र होकर जो सूर्यकी किरणोंके साथ घरमें बहुतसे रजके कण (धूलिके छोटे-

छोटे टुकडे) आकाशमें उडते हुए देखेजाते हैं उनमें जो अत्यन्त छोटा होता है उसे त्रसरेणु कहते हैं। वह अत्यन्त हलका होनेके कारण भूमि पर नहीं गिरता तहां तीन-तीन परमाणुओंका मेल है।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इस भागवत्के प्रमाणसे भी यही सिद्ध हुआ, कि सृष्टिका आदि, सनातन और नित्य कारण यह परमाणु ही है और प्रलयकालके अन्तमें भी यही रहजाता है, इसका नाश नहीं होता। फिर भगवानने न्यायशास्त्र और श्रीमद्भागवतका तिरस्कार कर ऐसा क्यों कहा, कि 'बीजं मां सर्वभूतानाम' हे पार्थ! सब भूतोंका आदि कारण मुझको ही जान!

समाधान— इसमें तो सन्देह नहीं, कि परमाणु नित्य है और पृथ्वी, जलादि चार तत्त्वोंका कारण है। इसीसे ये तत्त्व बनते हैं पर यह तो सिद्धान्त है, कि यह परमाणु जड है इसमें ज्ञानशक्ति नहीं है केवल क्रियाशक्ति हो तो हो। इसी कारण भगवानने पहले ही इस अध्यायके ४, ५ श्लोकोंमें अपनी दो प्रकृतियोंको कहकर इन पृथ्वी, जल इत्यादिकोंको अपरा (निकृष्ट) प्रकृति कहा है। और दूसरी प्रकृतिको जिसे जीवभूता प्रकृति कहते हैं चेतन अर्थात् ज्ञानशक्तिवाली बताया है।

जैसे नाजका बीज जिसमें अन्न उत्पन्न करनेकी शक्ति है स्वयम् उछलकर किसी खेतमें पडकर नाज नहीं प्रकट करसकता। तहां एक चेतन मनुष्यकी सहायताकी आवश्यकता होगी तब कहीं नाज खेतमें बोया जावेगा। इसी प्रकार सृष्टिके फैलनेमें भगवान्

की सहायताकी नितान्त आवश्यकता है । जबतक वह अपनी चेतन-शक्तिद्वारा सहायता न करे और केवल इन जड परमाणुओंको मिलाकर किसी विशेष रंग-रूपका न बनावे तबतक इन परमाणुओंके मेलकी रचनामें विचित्रता नहीं होसकती । जैसे रजके कण जो परमाणुओंका मेल है उसे एकत्रकर मिट्टीका पिण्ड बना चाकपर रखकर छोडदियेजावें तो स्वयं न वह चाक हिलेगा, न कोई पात्र बनेगा और न उन पात्रोंके-बननेमें घट दीवट इत्यादिकी विचित्रता ही रहेगी ।

बुद्धिसे विचारने योग्य है, कि जिस समय माली दस-पांच प्रकारके बीजोंको लेकर पुष्पवाटिकामें वपन करदेता है उस समय कोई दूसरा यंत्र वा किसी प्रकारका रंग उस खेतमें नहीं डालता । फिर क्या कारण है ? कि कोई पुष्प उजला, कोई पीला, कोई नीला तथा एक एकमें नाना प्रकारके चित्र-विचित्र रंग तथा टेढी सीधी रेखायें ऐसी बनती हैं, कि देखकर चित्त मोहित होजाता है । फिर फलोंकी ओर तथा अन्य पदर्थोंकी ओर विचारदृष्टिसे देखाजावे तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें यह विचित्रता क्यों ? जो वस्तु एक कारणसे उत्पन्न होगी उसमें कार्य्य भी उसी प्रकारका होगा । यदि केवल परमाणु ही सारी सृष्टिका कारण माना जावे तो सम्पूर्ण रचना जडस्वरूप ही होनी चाहिये थी । फिर इन परमाणुओंका जाननेवाला यहचेतन कहांसे आता । इसलिये यह सिद्धान्त है, कि कोई चेतन इन परमाणुओं पर आज्ञा रखनेवाला अवश्य है जो इन परमाणुओंसे विचित्र प्रकारके कार्योंका सम्पादन करता रहता है ।

यहं विषय पहले भी बार—बार कहागया है, कि " तदैक्षत एकोऽहं

वहुस्याम " उसने ईक्षण किया और कहा, कि एक हूं बहुत होजाऊं। इसलिये व्यासदेव कहते हैं, कि " ईक्षतेर्नाशब्दः " उस महेश्वरके ईक्षणसे सृष्टि हुई, प्रकृतिसे नहीं। प्रकृति (परमाणु) इसका महा कारण नहीं होसकती। अर्थात् परमाणुको सृष्टिका नित्य, सनातन और आदिकारण नहीं कहसकते। क्योंकि इन परमाणुओंको लेकर परमात्मा सृष्टिको करता है।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि हे पार्थ ! सब भूतोंका नित्य और आदि बीज तू मुझहीको जान ! शंका मतकरो।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्**] बुद्धिमानोंमें बुद्धि भी मैं ही हूं और तेजस्वियोंमें तेज भी मैं ही हूं।

तात्पर्य्य यह है, कि जिस प्राणीके शरीरमें बुद्धिका संस्कार नहीं है उससे संसृति-व्यवहार नहीं चलसकता। निर्बुद्धि एक तो विद्याहीन होता है और विद्यारहित होनेसे पशुतुल्य होजाता है। पशुओंको केवल अपने पेट भरने तथा सोजानेसे इतर दूसरे किसी कार्य्यके सम्पादनकी बुद्धि नहीं है। पशु यह नहीं जानसकता, कि यह सृष्टि क्या है ? मैं कौन हूं ? कहांसे आया हूं ? और कहां जाना है ? ये जितनी वस्तु सामने रची हुई दीख पड़ती हैं इनकी रचना किस प्रयोजनसे हुई है ?।

मुख्यतर अभिप्राय यही है, कि जिस बुद्धिको सम्यग्बुद्धि

कहते हैं वह मूर्खोंके पास नहीं होती। यों तो अपने पराये जाननेकी बुद्धि तो पशुमात्रमें भी है। गैया अपने बच्चेको दूध पिलाती है अन्यको नहीं पिलाती। क्योंकि बुद्धि शब्दका अर्थ है "बुध्यतेऽनयेति" बुध धातुसे क्तिन् प्रत्यय करनेसे बुद्धि शब्द बनता है जिसका अर्थ यह है, कि जिसके द्वारा किसी तत्त्वको जाना जावे उसे बुद्धि कहते हैं। फिर निश्चयात्मिका जो अन्तःकरणकी वृत्ति उसे भी बुद्धि कहते हैं। ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृतिखण्डके २३ वें अध्यायमें लिखा है, कि "बुद्धिर्विवेचनारूपा सा ज्ञानजननीति श्रुतौ" यह बुद्धि विवेचनास्वरूप है अर्थात सर्व वस्तुओंके विवेककी करनेवाली है तथा ज्ञानकी माता है, ऐसा श्रुतिमें लेख है।

यह बुद्धि गुणोंके भेदसे सात्विक, राजस तामस तीन प्रकारकी है और इस बुद्धिके पांच गुण हैं वे यों हैं– "इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता। संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पंचगुणान् विदुः" (महाभा मोक्षप०) अर्थ— १. इष्टानिष्टविपत्ति, २. व्यवसाय, ३. समाधिता, ४. संशय और ५. प्रतिपत्ति।

१. अब इष्टानिष्टविपत्ति किसे कहते हैं सो सुनो! "इष्टानिष्टानां वृत्तिविशेषाणां विपत्तिर्नाशः" अर्थात जिस समय इष्ट और अनिष्ट इन दोनोंकी विपत्ति होजावे अर्थात बुद्धि यह विचारे करते-करते, कि इस कार्य्यमें इतना अनिष्ट है और इतना इष्ट है इसलिये कहांतक करूं? कहांतक न करूं? ऐसे विचारते-विचारते लय अर्थात निद्राकीसी दशा होजावे उसे इष्टानिष्टविपत्ति कहते हैं। सो बुद्धिका प्रथम गुण है।

२. व्यवसाय—उत्साहको कहते हैं। जिससमय बुद्धि आनंद पूर्वक एक किसी विचारमें लग जावे। जैसे किसी विद्यार्थीको अपनी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेसे पुरस्कार (पारितोषिक) मिलजाता है तो उसकी बुद्धि आगेकी विद्या उपार्ज्जन करनेमें पूर्ण प्रकार लगजाती है इसीको व्यवसाय कहते हैं।

३. समाधिता—(चित्तस्थैर्य्यम्) चित्तकी स्थिरता अर्थात् वृत्तियोंके निरोध होजानेसे जब बुद्धि इस जगन्मात्रके द्वन्द्वादिकोंको त्याग निश्चयकरके एक ठौरमें रुककर स्थिर होजाती है। उसे समाधिता कहते हैं जिसे चित्तवृत्तिनिरोध भी कहते हैं।

४. संशय—(कोटिद्वयस्पृक् ज्ञानम्) जब दो कोटियोंमें बुद्धि लगजाती है, कि यह सत्य है, वा वह सत्य है, उसीको संशय कहते हैं। यह बुद्धिका चौथा गुण है।

५. प्रतिपत्ति—(प्रत्यक्षादिप्रमाणवृत्तिः) अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि कई प्रकारके प्रमाणोंसे मिलकर बुद्धि जब किसी विचारमें पूर्णरूपसे पडकर यथार्थ तत्वको निकाललाती है तब उसे प्रतिपत्ति कहते हैं।

सो भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन! एवम् प्रकार जो विविध-भांति बुद्धिका प्रकाश बुद्धिमानोंमें है जिसके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र, तन्त्र तथा पंचभूतोंके द्वारा आश्चर्यमय वस्तुओंकी रचना होती रहती है सो बुद्धि मैं ही हूं।

अब इतना कहनेके पश्चात् भगवान् कहते हैं, कि "तेजस्तेजस्विनामहम्" तेजस्वियोंमें तेज मैं हीं हूं। पहले जो कह आये हैं कि "तेजश्चास्मि विभावसौ" अग्निमें तेज मैं ही हूं सो उस तेज और इस तेजमें बहुत अन्तर है। उस तेजसे केवल प्रकाश मात्रका तात्पर्य्य है और इस तेजसे बल, पुरुषार्थ और श्रेष्ठता, अर्थात् उदारता, मधुरता, धीरता, कान्ति, दीप्ति इत्यादिसे तात्पर्य्य है। अतएव तेजस्वियोंमें जो इतने तत्त्व कहेगये सब मैं ही हूं। यदि मैं न रहूं तो तेजस्वियोंमें तनक भी इन पराक्रमोंका लेशमात्र न रहे। इसलिये सब तेजस्वी मुझहीमें पिरोये हुये हैं ॥ १० ॥

अब भगवन् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! इनसे इतर भी
मेरे अन्य वैभवोंको सुन—

मू०— बलम्बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम् ।
धर्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥ ११

पदच्छेदः— [हे] भरतर्षभ ! (भरतकुलभूषण !) बलवताम् (सात्विकबलयुक्तानाम्) कामरागविवर्जितम् (तृष्णारहितम्) बलम् (सामर्थ्यम् । ओजः) [तथा] भूतेषु (प्राणिषु) धर्माऽविरुद्धः (धर्मानुकूलः) कामः (जायापुत्रादि विषयाऽभिलाषः । कामदेवः) अहम्, अस्मि ॥ ११ ॥

पदार्थः— (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! (बलवताम्) बलवानोंका (कामरागविवर्जितम्) कामनासे

और सर्व प्रकारकी आसक्तिसे वर्जित (बलम्) बल, सामर्थ्य, ओज तथा (भूतेषु) सब प्राणियोंमें (धर्माऽविरुद्धः) धर्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्मानुकूल पुत्र पौत्रादिकी अभिलाषासे उचित कामदेव (अहमस्मि) मैं ही हूँ ॥ ११ ॥

भावार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे भरतकुलमें श्रेष्ठ अर्जुन ! [**बलं बलवतामस्मि कामरागविवर्जितम्**] कामरागसे विवर्जित जो बलवानोंमें बल एवं वीर्य्य है सो मैं ही हूं।

यहां कामरागविवर्जित कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि कामरागसे परिष्कृत और त्याज्य जो वीरोंमें शुद्ध बल है सो मैं ही हूं।

शंका— यदि कामरागसे विवर्जित बलको भगवानने अपना विशेष रूप कहा तो कामरागसहित बल जो रावण, कंस, हिरण्य-कश्यप, हिरण्याक्ष इत्यादिके हैं वे क्या किसी दूसरेके बल हैं ?

समाधान— सामान्यरूपसे तो जितने प्रकारके बल हैं सब भगवान्हीके रूप हैं और इनसे इतर भी काम, क्रोध, लोभ, मोहादि भी सब भगवान्हीके रूप हैं। पर इनसे उत्तम प्रकारसे काम लेना धर्म्म है और निकृष्ट प्रकारसे काम लेना अधर्म्म है। अर्थात् बलवान्को अपने बलसे निर्बलोंकी रक्षा करनी, धनवान्को अपने धनसे दरिद्रोंका पालन करना, गृहस्थोंको कामसे अपनी धर्म्मपत्नीमें पुत्रका उत्पन्न करना, बुद्धिमानोंको अपने क्रोधसे अपने भृत्योंको, बच्चोंको और अन्यायियोंको अशुद्ध कर्म्मोंसेबचाना इत्यादि। उत्तम प्रकारसे कामलेना है और धर्म्म है। पर इनके प्रतिकूल अपने

वलसे और धनसे निर्बलोंको दुःखदेना तथा परस्त्रीमें गमन करना, क्रोधसे परायेको मारडालना, उनके घरोंमें आग लगाना इत्यादि इन तत्वोंको निकृष्ट प्रकारसे काममें लाना है और अधर्म्म है। इसलिये इन राक्षसोंके बलकी गणना अधर्ममें कीजायगी शंका मतकरो।

यद्यपि भगवान् धर्म्म और अधर्म्म दोनोंके करते समय साक्षी रहते हैं पर धर्म्म करनेवालोंको स्वर्गादिका सुख और अधर्म्म करने वालोंको नरकादिका दुःख प्रदान किया करते हैं। इसलिये यहां विशेष रूप और सामान्य रूपका प्रयोग कियागया है और इसी दोषको बचानेके लिये भगवानको भी (कामरागविवर्जित) वाक्यका प्रयोग करना पडा है। " विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय " अर्थात् खलोंकी विद्या विवादके लिये, धन, मदके लिये और शक्ति परायेके दुःख देनेके लिये हैं पर इसीके प्रतिकूल साधुओंकी विद्या, धन और शक्ति ज्ञानके लिये, दानकेलिये और परायेकी रक्षा करनेके लिये हैं।

अब वलकी व्यापकता दिखलायी जाती है जिससे यह बोध होजावेगा, कि किसके लिये क्या वल है। क्योंकि जिसके लिये जो शुद्ध वल है सो तो भगवान् स्वयम् ही हैं।

" क्षत्रियाणां वलं युद्धं व्यापारश्च वलं विशाम्।
भिक्षावलं भिक्षुकाणां शूद्राणां विप्रसेवनम् ॥

हरेर्भक्तिर्हरेर्दास्यं वैष्णवानां वलं हरिः ।
हिंसावलं खलानां च तपस्या च तपस्विनाम् ॥
वलं वेशश्च वेश्यानां योषितां यौवनं वलम् ।
सतां सत्यं वलं ज्ञेयं मिथ्या चैवाऽसतां सदा ॥
विद्यावलं पण्डितानां वाणिज्यं वणिजो वलं ।
शश्वत् सुकर्म शीलानां गाम्भीर्य्यं साहसं वलम् ॥
धनं वलं च धनिनां शुचीनां च विशेषतः ।
वलं विवेकः शान्तानां गुणिनां वलमेकता ॥
गुणो वलञ्च गुणिनां चौराणां चौर्य्यमेव च ।
विप्रवाक्यं च कापट्यमधर्म्ममृणिनां वलम् ॥
हिंसा च हिंस्रजन्तूनां सतीनां पतिसेवनम् ।
वरशापौ सुराणां च शिष्याणां गुरुसेवनम् ॥
वलं धर्म्मो गृहस्थानां ब्रह्म च ब्रह्मचारिणाम् ।
यतीनां च सदाचारो न्यासः सन्न्यासिनां वलम् ॥
पापं वलं पातकिनां सुभक्तानां हरिर्वलम् ।
पुण्यं वलं पुण्यवताम् प्रजानां नृपतिर्वलम् ॥
जलं वलंच शस्यानां मत्स्यानां च जलं वलम् ।
शान्तिर्वलं च भूपानां विप्राणां च विशेषतः ” ॥

(ब्रह्मवैव० अध्या० ३५)

इन श्लोकोंका अर्थ स्पष्ट है । इन श्लोकोंमें जितने वल हैं सबोंमें भगवान् सामान्यरूपसे तो व्यापक हैं ही पर इनमें जो काम-रागसे विवर्जित वल है सो भगवान् कहते हैं, कि विशेषरूपसे मैं ही हूं,

जहां मैं नहीं वहां बल ही नहीं। व्याघ्रमें, हस्तीमें, तिमिंगल मछलीमें, वायुमें, जलमें जो आश्चर्य्यजनक बल है सो सब मेरे समष्टिरूप बलमें पिरोये हुए हैं तथा बलवान् पुरुषोंमें जो कामरागरहित सात्विक बल व्यष्टिरूप है सो भी विशेषकर मैं ही हूं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [**धर्म्माऽविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ!**] हे अर्जुन! सब जीवोंमें धर्म्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्म्मानुकूल जो काम सो मैं ही हूं। पर इसके प्रतिकूल धर्म्मसे विरुद्ध जो परस्त्रीमें कामका सुख सो मैं नहीं हूं।

शंका— पहले तो भगवान् अर्जुनके प्रति कहआये हैं, कि "**जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम्**" अर्थात् हे महापराक्रमी अर्जुन! तू कामरूप शत्रुको जो अत्यन्त दुर्निवार्य है त्याग कर! और अब कहते हैं, कि 'काम' मैं ही हूं तो ऐसा कब होसकता है? कि उनको त्याग दियाजावे।

समाधान— काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार ये पांचों, प्राणियोंके साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। क्योंकि पांच भूतोंसे इन पांचोंकी उत्पत्ति है। जैसे पृथ्वीसे मोह, जलसे काम, अग्निसे क्रोध, वायुसे लोभ और आकाशसे अहंकारकी उत्पत्ति है। सो ये पांचों तत्त्व शरीरके साथ-साथ हैं। ये शरीरसे विलग नहीं होसकते। क्योंकि ये पांचों तत्त्व तो शरीरके ही कारण हैं। इसलिये इनके विलग करनेसे तो संसारमें प्राणियोंकी स्थिति ही नहीं होसकती। फिर जब ये साथ हैं तो इनसे उत्पन्न काम, क्रोधादि पांचों विकार भी शरीरसे विलग नहीं

जासकते। इनका निवास तो शरीरमें ऐसे है जैसे नीलमें नीलता, जलमें शीतलता, अग्निमें अरुणता, तैलमें स्निग्धता। इसी कारण शरीरसे इनका छूटना नहीं होसकता। यदि ये एकबारगी शरीरसे छूटजाते तो ब्रह्मादि देवोंको कदापि क्रोध और कामका धब्बा नहीं लगता सो शास्त्र पुराणोंके देखनेसे ऐसा बोध होता है, कि पूर्वके भी बडे-बडे साधु महात्मा इन पांचोंको एक बारगी अपनेसे बिलग न करसके। इनके फन्दे पडकर बार-बार लज्जित हुए। इस कारण शरीरसे इनका छूटना दुस्तर देखपडता है। पर इनके दो भाग हैं— सात्विक और राजस इनमें जितना सात्विक अंश है वह ग्रहण करने योग्य है। दैवी सम्पदा वालोंका स्वभाव है, कि वे इनके केवल सात्विक-अंशको ग्रहण करते हैं। और जो आसुरी सम्पदावाले हैं वे इनके राजस-भागको ग्रहण करते हैं। जैसे कामका-सात्विक भाग अर्थात् जिससे सृष्टिकी वृद्धि होवे केवल अपनी धर्मपत्नीको सन्तुष्ट करतेहुए काम-सुखसे कोई तात्पर्य न रखकर धर्मानुकूल सन्तानको उत्पन्न करना शुद्ध और निर्मल तथा सात्विक-भाववालोंका काम है। इसलिये ऐसे कामका स्वरूप भगवान् कहते हैं कि मैं ही हूं। यहां शंका मत करो!

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वायु यद्यपि स्वयं गन्ध रहित है तथापि व्यवहारमें नासिका इन्द्रियकी अपेक्षा सुगन्धित वस्तुओंसे मिलकर सुगन्धित और दुर्गन्धित वस्तुओंसे मिलकर दुर्गन्धित होजाती है पर वह स्वयम् दुर्गन्ध वा सुगन्धका रूप नहीं है। इसकी हानि वा लाभ नासिकेन्द्रियसे होता है। इसी प्रकार भगवान्का रूप धर्म वा अधर्मसे मिश्रित नहीं है। स्वच्छ और निर्मल है। पर प्राणियों

की अपेक्षा धर्मानुकूल सुखदायी है और धर्मके प्रतिकूल दुखदायी है। जहां जहां भगवान्‌ने अपना विभव दिखलाया है तहां-तहां इसी प्रकार जानना ॥ ११ ॥

अब भगवान् सर्व प्रकारके सात्विक, राजस और तामस तत्त्वोंको अपनेसे उत्पन्न बताते हुए कहते हैं—

मू०— ये चैव सात्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥

पदच्छेदः—ये, च, एव, सात्विकाः (सत्वोद्भूताः) भावाः (स्वकर्मवशाज्जायमानाः पदार्थाः धर्मज्ञानवैराग्यादयः चित्तपरिणामाः शमदमादयो वा) [तथा] ये, च, राजसाः (रजउद्भूताः पदार्थाः लोभहर्षदर्पादयः) तामसाः (तमस उद्भूताः निद्रालस्यादयस्तथा शोक-मोहादयः) [भावाः] तान् (सर्वान्) मत्तः (मन्महेश्वरादुत्पन्नाः) एव (निश्चयेन) इति (अनेन प्रकारेण) विद्धि (जानीहि) तेषु (तदधीनेषु) अहम् (वासुदेवः) न (नैव) अस्मि [किन्तु] ते (त्रिगुणात्मकाः पदार्थाः) तु, मयि (मदधीनतायाम्। सत्ता-स्फूर्तिकत्वे) [वर्तन्ते] ॥ १२ ॥

पदार्थः— (ये, च, एव) जो कुछ भी निश्चय करके (सात्विकाः) सत्वगुणसे उत्पन्न (भावाः) पदार्थ धर्म, ज्ञान, वैराग्यादि हैं तथा (ये, च,) जो कुछ भी (राजसाः) रजोगुणसे उत्पन्न लोभ, हर्ष, दर्पादि हैं तथा जो कुछ भी (तामसाः) तमोगुणसे

उत्पन्न निद्रा, आलस्य, शोक, मोहादि हैं (तान्) तिन सबोंको (मत्त, एव) मुझसे निश्चय करके उत्पन्न हैं (इति) ऐसा (विद्धि) जान ! किन्तु (तेषु) तिनके अधीन (अहम, न) मैं नहीं हूं पर (ते, तु) वे तो (मयि) मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

भावार्थः— अब भगवान अपनी बिशेष शक्तियोंको कहते-कहते विचार करने लगे, कि यदि मैं अपने सब गुणोंको विलग-विलग कहना आरंभ करूं तो इतने थोडे समयमें जब, कि युद्ध उपस्थित है मेरे सब गुणोंका वर्णन नहीं होसकता । जिन मेरे गुणोंको वेद कहते—कहते नेति-नेति कहने लग पडा, जिन मेरे गुणोंके कहनेमें शेष, महेश, गणेश, शारदा इत्यादि मूक हैं । तिन गुणोंका कथन इस समय रथपर कैसे होसकता है । यदि मैं उनके कहनेमें समर्थ भी हूं क्षणमात्रमें कहसकता हूं पर अर्जुनको इतनी धारणा-शक्ति नहीं है, कि इन मेरे अनन्तगुणोंको इतने अल्प समयमें धारण करसके और स्मरण रखसके । पर मैं इससे प्रतिज्ञा करचुका हूं, कि "**असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु**" (श्लो० १) अर्थात् निस्सन्देह जिस प्रकार तू मेरे समग्र स्वरूपको जान आवेगा सो सुन ! तथा यह भी मैं कहचुका हूं, कि "**यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते**" (श्लो० २)

अर्थ— मैं तुझसे उन सब विषयोंको कहूंगा जिनके जाननेसे फिर किसी प्रकारकी कोई बात जाननेको शेष नहीं रहजावेगी । इसलिये भगवान् विचार कररहे हैं, कि ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे

यह सब कुछ जान जावे और जाननेमें समय भी थोडा लगे। ऐसे विचार भगवान् अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये] इस निःसार संसारमें सत्त्वगुणसे, रजोगुणसे और तमोगुणसे जितने पदार्थोंकी उत्पत्ति है अर्थात् जितने भी स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं इनही तीनों गुणोंसे उत्पन्न हैं।

(भावाः) शब्दका अर्थ " भवतीति भावः " है अर्थात् जो कुछ उत्पन्न हुआ उसे भाव कहते हैं। ये स्थूल वा सूक्ष्मके भेदसे अनगिनत हैं। जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत नद, सूर्य्य, चन्द्रादि ये सबके सब भाव (पदार्थ) हैं स्थूल हैं और साकार हैं जिनको नेत्रोंसे देख सकते हैं।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, हर्ष, शोक, काम, क्रोधादि सूक्ष्म और निराकार हैं जिनको नेत्रोसे नहीं देखसकते ये ही दो प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म भाव कहे जाते हैं और त्रिगुणात्मक कहेजाते हैं। क्योंकि " ब्रह्माश्रया या माया सा त्रिधा " ब्रह्मके आश्रय जो माया है सो तीन प्रकारकी है अर्थात् सत्व, रज, तमोगुणात्मिका है। इसी दुर्जया मायाने भगवत्की आज्ञा पाकर सृष्टिकी रचना की है।

इस तत्वको तत्वबोध ग्रन्थमें यों लिखा है, कि " ब्रह्माश्रया-सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका माया अस्ति " माया उस ब्रह्मके आश्रय त्रिगुणमयी एवं त्रिगुणात्मिका है। " तत आकाशः संभूतः " तिससे आकाश उत्पन्न हुआ। " आकाशाद्वायुः वायोस्तेजः तेजस आपः

अद्भ्यः पृथिवी ” आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई।

अब इन पंचभूतोंमें कौन–कौनसी वस्तु इन तीनों गुणोंद्वारा बनती हैं सो दिखलायी जाती हैं। सबसे पहले इनमें प्रथम पंचभूतोंके सात्त्विकगुणकी रचना कहते हैं–

“ एतेषां पंचतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य सात्त्विकांशाच्छ्रोत्रेन्द्रियं संभूतम्। वायोः सात्विकांशात् त्वगिन्द्रियं सम्भूतम्। अग्नेः सात्विकांशाच्चक्षुरिन्द्रियं संभूतम्। जलस्य सात्विकांशाद्रसनेन्द्रियं संभूतम्। पृथिव्याः सात्विकांशाद्घ्राणेन्द्रियं संभूतम्। एतेषां पंचतत्त्वानां समष्टिसात्विकांशान्मनोबुद्ध्यहंकारचित्तान्तःकरणानि संभूतानि। ” (तत्वबोध सू० ३०)

अर्थ–(१) इन पांचों तत्वोंमेंसे आकाशके सात्विकांशसे (श्रोत्रेन्द्रिय) कानकी उत्पत्ति हुई।

(२) वायुके सात्विकांशसे त्वचा उत्पन्न हुई।

(३) अग्निके सात्विक अंशसे (चक्षुरिन्द्रिय) नेत्र उत्पन्न हुआ।

(४) जलके सात्विक अंशसे (रसनेन्द्रिय) जिह्वाकी उत्पत्ति हुई।

(५) पृथिवीके सात्विक अंशसे (घ्राणेन्द्रिय) नासिका उत्पन्नहुई।

पूर्वोक्त इन पांचों तत्त्वोंके एकत्र होनेसे जो तत्त्वोंकी समष्टि होगयी तिसके सात्विकांशसे मन, बुद्धि, अहंकार तथा चित्त ये चारों अन्तःकरण उत्पन्न हुए।

अब इन्हीं तत्त्वोंके राजस अंशकी मीमांसा कीजाती है—

" एतेषां पंचतत्त्वानां मध्ये आकाशस्य राजसांशाद्वागिन्द्रियं संभूतम्। वायो राजसांशाद्घ्राणेन्द्रियं संभूतम। वह्ने राजसांशात्पादेन्द्रियं संभूतम। जलस्य राजसांशादुपस्थेन्द्रियं संभूतम्। पृथिव्या राजसांशाद्गुदेन्द्रियं सम्भूतम्। एतेषां समष्टिराजसांशात्पंचप्राणाः संभूताः। " (तत्वबोध सूत्र ३२)

अर्थ— इन पांचों तत्त्वोंमेंसे आकाशके राजस अंशसे वागिन्द्रिय (जिह्वा) वायुके राजस अंशसे घ्राणेन्द्रिय (नासिका) और वह्नी (अग्नि) के राजस अंशसे पादेन्द्रिय (दोनो पांव) जलके राजस अंशसे उपस्थेन्द्रिय (लिंग) उत्पन्न हुए। पृथिवीके राजस अंशसे गुदा उत्पन्न हुई। फिर इन पांचों तत्वोंके समष्टि—राजस अंशसे पांचों प्राण उत्पन्न हुए।

"एतेषां पंचतत्वानां तामसांशात् पंचीकृतानि पंचभूतानि भवन्ति "। (तत्व० सूत्र ३३)

फिर इनही पांचों तत्वोंके तामस अंशसे (पंचीकृत) पांच भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

एवम्प्रकार सबोंको एक संग मिलानेसे सब २४ तत्व उत्पन्न हुए—

५ ज्ञानेन्द्रिय, ४ अन्तःकरण, ५ कर्मेन्द्रिय, ५ प्राण और ५ पंचभूत ५+४+५+५+५=२४

पंचीकरण क्या है ? सो श्लो० ८ में दिखायाजाचुका है ।

" एतेभ्यः पंचीकृतपंचमहाभूतेभ्यः स्थूलशरीरं भवति " (तत्व० सूत्र ३४)

" स्थूलशरीराभिमानीजीवनामकब्रह्मप्रतिबिम्बं भवति । स एव जीवः प्रकृत्याः स्वस्मात् ईश्वरं भिन्नत्वेन जानाति । अविद्योपाधिःसन्नात्मा जीव इत्युच्यते " (तत्व० सूत्र ३५)

अर्थ— इन ही पंचभूतोंके पंचीकरणसे स्थूल देह उत्पन्न होती है इसी स्थूल—शरीरका अभिमानी (अपना समझनेवाला) जीव तामसकरके ब्रह्मका स्वयं प्रतिविम्ब है सो यह अपने स्वभावके अनुसार अपनेको ईश्वरसे भिन्न जानता है। केवल अविद्याकी उपाधिसे यह आत्मा जीव कहाजाता है पर स्थूल शरीरका अभिमान छूट जानेपर फिर यह जीव नहीं कहाजाता वरु निर्मल शुद्ध चेतन आत्मा हीं रहजाता है ।

इतना कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त त्रिगुणात्मक है । जितने पदार्थ इन पंचभूतोंसे उत्पन्न हैं सबमें तीनों गुणोंमेंसे किसी एक गुणकी प्रधानता रहती है । जैसे विष्णुमें सत्वगुणकी प्रधानता, ब्रह्मामें रजोगुणकी और शिवमें तमोगुणकी प्रधानता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्येक पदार्थ जड हों वा चैतन्य, तीनों गुणोंसे मिलकर बने हैं तथापि एक-एकमें

एक २ गुणकी प्रधानता है फिर जिसमें जिस गुणकी प्रधानता है वह वैसा ही गुणवाला कहाजाता है। जैसे गैया सत्वगुणी कही जाती है और व्याघ्र रजोगुणी कहाजाता है तथा सर्प (अजगर) तमोगुणी कहा जाता है। इसी प्रकार अण्डज, ऊष्मज, पिण्डज और स्थावर इन चारों खानिके जीवोंमें त्रिगुणात्मक जीव हैं। देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंगादि सब प्राणियोंमें इनही तीन गुण वाले मिलेंगे। जिनमें एक गुणकी प्रधानता रहेगी शेष दोनों गुण गौणरूपसे रहेंगे। इसी प्रकार जड-पदार्थोंमें जैसे नद, नदी, वन, पर्वत, स्वर्ण, चांदी, हीरा, लाल, पन्ना, पिरोजा इत्यादि तथा नाना प्रकारके काष्ठ, लोहे इत्यादि सबोंमें त्रिगुणात्मक रचना है। थोडा विचार करनेसे समझमें आजाता है, कि कौन पदार्थ किस गुणवाला है?।

ये तो स्थूल रचनाके अंग दिखलायेगये पर अब सूक्ष्म रचनायें भी त्रिगुणात्मक ही हैं सो दिखलायी जाती हैं। अर्थात् सूक्ष्म पदार्थोंमें भी इनही गुणोंका संयोग है। जैसे धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, शम, दम इत्यादि सात्विक-चित्तके परिणाम हैं। अर्थात् जिस प्राणीकी प्रकृतिमें सात्विक अंश अधिक है उसमें ये शुभ-अंग अवश्य होंगे। इसी प्रकार जिस प्राणीकी प्रकृतिमें रजोगुण प्रधान है उसमें लोभ, हर्ष, दर्प, शम, क्रोध इत्यादिकी विशेषता अवश्यहोगी। फिर जो प्राणी तामसी प्रकृतिवाला है उसमें निद्रा, आलस्य तथा शोक, मोह इत्यादि तामसी गुणोंका अभिनिवेश अवश्य होगा।

मुख्य अभिप्राय यह है, कि भगवत्की जो 'परा अपरा' प्रकृति

और हैं वे दोनों प्रकृतियां त्रिगुणात्मक हैं । इसलिये सारा ब्रह्माण्ड ही त्रिगुणात्मक सिद्ध हुआ ।

अब भगवान् कहते हैं, कि जितने स्थूल, सूक्ष्म, जड, चेतन, पदार्थ हैं तीनों गुणवाले हैं [**मत्त एवेति तान् विद्धि नत्वहं तेषु ते मयि**] हेपार्थ ! इन सबोंको मुझसे उत्पन्न जान । ये सब मुझहीसे उत्पन्न होते हैं और फिर मुझहीमें लय होजाते हैं पर मैं उनके अधीन नहीं हूं वे मेरे अधीन हैं ।

प्रमाण श्रुतिः—"ॐ तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति" (द्वि० मुण्डक २ खण्ड १ श्रुतिः १)

अर्थ— यह सत्य है, कि जैसे जलती हुई आगसे सहस्रों चिनगारियोंके रूप उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार हे सोम्य! (शिष्य !) उस अक्षर (अविनाशी) ब्रह्मसे भांति २ के (भावाः) पदार्थ उत्पन्न होते हैं और फिर उसीमें लय होजाते हैं ।

इस श्रुतिसे भी सिद्ध होता है, कि भगवान् स्वयम् इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंका अर्थात् संपूर्ण सृष्टिका कारण है । इसी निमित्त आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अपने मुखसरोजके वचन रूप मधुर अमृत रसको टपकाते हुए कहते हैं, कि हे पार्थ ! ये सब त्रिगुणात्मक पदार्थ जो ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त फैले हुए हैं मुझमें पिरोये हुए जान ! पर इसके साथ तू यह भी जानले, कि " नत्वहं तेषु ते मयि " मैं उनके अधीन नहीं हूँ किन्तु वे सब मेरे अधीन हैं ।

अर्थात् ब्रह्मादि देव भी मेरे अधीन हैं मैं उनके अधीन नहीं। अथवा सीधे यों अर्थ करलो, कि मैं समग्र उनमें नहीं। परवेसमग्र मुझमें हैं अर्थात् मैं व्यापक हूँ और ये व्याप्य हैं, मैं भोक्ता हूं और ये भोज्य हैं अर्थात इन सबोंका मैं भोगने वाला हूँ। जैसे राजा अपने राज्यका भोगने वाला होता है और राज्य भोज्य अर्थात् (भोगनेका पदार्थ) कहलाता है ऐसेही मैं हूं। जिस समय मैं जिनपर जो आज्ञा करूं वे मेरी आज्ञाके प्रतिपालनमें क्षणमात्रका भी विलम्ब न करेंगे। क्योंकि वे मेरे अधीन हैं पर मैं उनके अधीन नहीं हूँ।

लीलापुरुषोत्तम भगवानके इस वचनको श्रुति भी प्रति पादन करती है। श्रुतिः— "भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्य्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पंचम इति" (तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ८)

अर्थ— इस पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्द आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्रके भयसे हवा वहती है, सूर्य उदय होता है। इसीके भयसे आग तपती है, चन्द्रमा शीतल किरणोंसे संसारको सुखी करता है और इसीके भयसे पांचवीं जो मृत्यु सो जीवोंके प्रति धावती है।

फिर अभी जो कहागया, कि वही आनन्दकन्द भोक्ता है और उसकी सारी प्रकृति भोज्य है इसको भी श्रुतियां निरूपण करती हैं—

श्रु०— तस्माद्भोक्ता पुरुषो भोज्या प्रकृतिस्तस्थो भुंक्ते इति प्रकृतिमन्नं त्रिगुणभेदपरिणामत्वान्महदाद्यं विशेषान्तं लिंगम् "

(मैत्र्युपनिषद् प्रपा० ६ श्रुति १० के अन्तर्गत देखो)

अर्थ— यह कारण-पुरुष तो भोक्ता है और प्रकृति भोज्य है अर्थात् भोगनेके योग्य है । सो यह पुरुष तिस प्रकृतिमें व्यापक और उसे अपने अधीन रखकर भोगता है । अर्थात् उससे अपनी आज्ञाका प्रतिपालन कराता है । सो प्रकृति अन्नरूप सत्व, रज, तम तीन प्रकार से परिणाम पाकर तिस पुरुषकी आज्ञासे सृष्टिके कार्योंका सम्पादन करता है । जिस प्रकृतिकी आदिमें महत्तत्व है जो ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियोंसे संमूर्छित होकर अर्थात इन दोनों शक्तियोंके द्वारा पूर्ण होकर इस प्रकृतिमें आदिसे ही प्रवेश कियेहुए है इस कारण इस प्रकृतिको महदादिके नामसे पुकारते हैं । फिर कैसी है ? कि (विशेषान्तः है) पृथिवी इत्यादि महाभूतके लक्षणोंसे युक्त होना ही जिसका अन्त है इसलिये +विशेषान्त कहीजाती है ।

प्रमाण— तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पंचपंचभ्यः ।
एते स्मृता विशेषाः शान्ता घोराश्च मूढाश्च ॥
(सांख्यकारिका)

फिर वह महत्तत्व कैसा है ? कि (×लिंगम) जिसके द्वारा चेतनका सद्भाव जानाजाता है अर्थात इस प्रकृतिके भोज्य होनेसे भोक्ताकी ढूंढ होती है ।

+ विशेषान्तः— विकारशब्दवाच्या पृथिव्यादिमहाभूतलक्षणा ।

× लिंगम्— लिंग्यते ज्ञायते चेतनसद्भावोऽनेनेति ।

मुख्य तात्पर्य श्रुतिके कहनेका यह है, कि प्रकृति द्वारा धीरे-धीरे चेतनकी ओर दृष्टि जाती है और ऐसा बोध होता है, कि इस नियमके चलानेवाला कोई एक महापुरुष है।

इसी तात्पर्यको भगवानने अर्जुनसे कहदिया, कि "न त्वहं तेषु ते मयि" मैं उनके अधीन नहीं वे मेरे अधीन हैं ॥ १२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा— भगवन्! ये जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न संसार है सो आपके अधीन है फिर उसके निवास करनेवाले आपको क्यों नहीं जानते। आपके स्वरूपसे विमुख क्यों रहते हैं? सो कृपा कर कहो।

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
॥ १३ ॥

पदच्छेदः— एभिः (पूर्वोक्तैः) त्रिभिः (त्रिविधैः) गुणमयैः (सत्वरजस्तमोगुणविकारैः रागद्वेषमोहादि प्रकारैः) भावैः (पदार्थैः) इदम्, सर्वं, जगत् (चराचरं प्राणिजातम्) मोहितम् (विवेकाच्छादकं मोहं प्रापितम्) [सत्] एभ्यः (यथोक्तेभ्यो गुणेभ्यः) परं (असंस्पृष्टम् । अत्यन्तविलक्षणम् । व्यतिरिक्तम्) अव्ययम् (व्ययरहितम् । जन्मादि सर्वभावविकारवर्जितम्) माम् (वासुदेवम्) न, अभिजानाति (नवेत्ति) ॥ १३ ॥

पदार्थः— (एभिः) पूर्वमें कथन कियेहुए (त्रिभिः) तीनों प्रकारके (गुणमयैः) सत्व, रज और तमोगुणके विकार भरे-हुए (भावैः) पदार्थोंसे (इदम्) यह (सर्वं, जगत्) सम्पूर्ण जगत् (मोहितम्) मोहमें पडाहुआ है अर्थात् ज्ञानसे रहित होकर मोहित होगया है इसलिये (एभ्यः) इनसे परे (अव्ययम्) सर्व प्रकारके जन्मादि विकारोंसे रहित (माम्) मुझ परमेश्वरको (नाभि-जानाति) नहीं जानता है ॥ १३ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो यह प्रश्न किया, कि हे भगवन्! आप ऐसे शुद्ध, निर्मल, निर्विकारके साथ यह जगत् तद्रूप ही है तो क्या कारण है? कि इसका संसारित्व अर्थात् संसृति-दुःख नहीं मिटता और इसमें रहनेवाले प्राणी आपको नहीं जानते? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र कहते हैं, कि [**त्रिभिर्गुण-मयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितम्**] पहले जो मैं तुझसे त्रिगुणात्मक पदार्थोंका वर्णन कर आया हूं कि मेरी माया तीन गुण वाली है उनहीं मायामय त्रिगुणात्मक पदार्थोंसे यह सारा जगत् मोहित होरहा है अर्थात मेरी दुर्जया मायाने इन पदार्थोंमें ऐसा आकर्षण रखदिया है और ऐसे चिकने चुलबुले सुहावने बनाये हैं, जिनके देखनेसे यह संपूर्ण जगत् मोहित होरहा है अर्थात् विवेकका स्वरूप जिनसे आच्छादित होरहा है बडे-बडे विवेकी, ऋषि, महर्षि, देव और गन्धर्व सब जिसकी शोभा देख मोहित हो अपने यथार्थ स्वरूपको भूल रहे हैं जैसे मद्यपी मद्य पीकर अपनी मर्य्यादा इत्यादिको भूल पागलके सदृश विचित्र चेष्टा करने लगजाता है, उसे

किसी प्रकारकी लज्जा नहीं रहती । मग्न होकर लोगोंके बीच नाचने, कूदने और गाने लगजाता है तथा किसी खड्डेमें गिरकर अचेत होजाता है । इसी प्रकार इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंको देख यह सारा जगत् मोहित हो पागल होरहा है । जिसको देखो वही अपने २ संसृति-ध्यानमें मग्न मुँह बनाये इधर उधर चलरहा हैं। देखो! मेरी मायाने यह जो एक स्त्री बनायी है जिसका लावण्य ऐसा मोहमें डालने वाला दुःख-दायी है, कि जो कोई इसके फन्दे पडता है पागल होजाता है । दिन रात सब अपनी मर्य्यादा, सज्जनता, मान, बडाई इत्यादि त्याग निर्लज्ज होजाता है । जैसे नदीके तटपर जो लतायें लगी रहती हैं उनको नदीकी धारा खैंच लेजाती है ऐसे प्राणीके चित्तको ये मेरे त्रिगुणात्मक पदार्थ खैंचलेते हैं । यदि शंका हो, कि इन प्राणियोंको पागल क्यों कहते हो और मोहित क्यों कहते हो? तो पागल कहनेका कारण यह है, कि प्राणी इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंका परिणाम सुखदायी समझकर उनकी ओर दौडता है पर सुख नहीं पाता । जैसे मृगतृष्णाको देख मृग और दीपकको देख पतंग दौडते है । इसी प्रकार बडे—बडे विद्वान् भी इन त्रिगुणात्मक विषयोंकी ओर दौडते हैं । पर जब इनके समीप पहुँचते हैं इनमें लिपट अन्तमें वे अत्यन्त दुःख पाते हैं। जैसे किसी अत्यन्त गहरी खाईका मुंह हरे-हरे तृण और पान फूलोंसे ढका रहता है पर जब मृगा उसके खानेको उसपर कूदपडता है तो वह उस खड्डेमें गिरकर अत्यन्त दुःख पाता है । इसी प्रकार यद्यपि ये सम्पदारूप पदार्थ सब क्लेशदायक हैं इनमें रंचक मात्र भी सुख नहीं है तथापि इसी प्रकार प्राणी स्त्रीके सुन्दर कचरूपी सुहावनी वेली और

नेत्र नासिका रूप फूल पानको देख दौडपडती है पर इनके समीप होनेसे सदाकेलिये दुःख पाता है तथापि इन्हें छोडता नहीं इसीको मोहित होना कहते हैं ।

अब भगवान् कहते हैं, कि ये सब जीव एवम्प्रकार मोहित होकर [**नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्**] मुझको इन पदार्थोंसे परे तथा जन्मादि विकारोंसे रहित नहीं जानते हैं अर्थात् अज्ञानताके कारण मोहित होरहे हैं ॥ १३ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! ये जो आपकी माया है सो दुर्जया क्यों ? इसके तरनेका और कोई विशेष उपाय है वा नहीं ? सो कृपाकरे कहो ! इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥

पदच्छेदः— मम (मायाविनः । परमेश्वरस्य) एषा (यथोक्ता) गुणमयी (सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयविकारात्मिका) दैवी (माहेश्वरी । अलौकिकी । अत्यद्भुता) माया (प्रकृतिः) हि (निश्चयेन) दुरत्यया (दुःखेनाऽतिक्रमणं यस्याः) ये माम् (सर्वभूतस्थम् । भगवन्तम् । वासुदेवम्) प्रपद्यन्ते (सर्वात्मना प्रपन्ना भवन्ति । विषयीकुर्वन्ति वा) ते (ममोपासकाः) एव (निश्चयेन) एताम् (सर्वभूतचित्तमोहिनीम्) मायाम्, तरन्ति (अतिक्रामन्ति) ॥ १४ ॥

पदार्थः—(मम) मैं जो सबोंका ईश्वर मायावी जिसकी (एषा) यह जो कथन कीगयी (गुणमयी) तीनों गुणोंसे युक्त (दैवी) दिव्य अलौकिकी शक्ति (माया) माया (हि) निश्चयकरके (दुरत्यया) अत्यन्त कठिनतासे भी तरने योग्य नहीं है। इसी कारण (ये) जो लोग (माम) मुझ सर्वभूतस्थ भगवान् वासुदेवकी (प्रपद्यन्ते) शरण प्राप्त होते हैं (ते) वे मेरे उपासक (एव) निश्चय करके (एताम्) सर्व प्राणि-योंको मोहित करनेवाली इस (मायाम्) मायाको (तरन्ति) तरजाते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थः—अर्जुनने जो यह पूछा है, कि हे भगवन्! तुम्हारी माया दुर्जया क्यों है ? और इसके तरनेका कोई उपाय है ? वा नहीं ? सो कृपाकर कहो। इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [दैवी ह्येषा गुणमयी ममेमाया दुरत्यया] यह जो मेरी माया तीनों गुणमयी है वह दैवी अर्थात् माहेश्वरी है इसलिये अत्यन्त प्रबला होनेके कारण दुरत्यया अर्थात् बडे–बडे यत्न और परिश्रमोंसे भी पारहोने योग्य नहीं है। इसने सम्पूर्ण विश्वको मोहित कररक्खा है अर्थात् अज्ञानताके भ्रममें डालरक्खा है। यह मेरी माया दैवी है अर्थात् वैष्णवी है, मुझसे ही उत्पन्न है, मैं स्वयं तो मायावी हूँ अर्थात् इन्द्रजालका करनेवाला हूँ और यह मेरी माया इन्द्रजाल है तिसकी अलौकिक और अद्भुत-कलाको देख सभी मोहित होतेहैं। प्रमाण श्रुति— " मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् "

अर्थात् प्रकृतिको माया जानो! और माया फैलानेवालेको महेश्वर अर्थात् पुरुष जानो! यह माया मेरी क्यों है? सो कहते हैं।

प्रथम तो यह जानना चाहिये, कि माया किसे कहते हैं? मायाका क्या स्वरूप है? तब इसके पश्चात् दैवी शब्द उसी मायाके साथ लगा कर दिखलाया जावेगा। इसलिये पहले माया शब्दका अर्थ करते हैं —" माश्च मोहार्थवचनो याश्च प्रापणवाचकः।

तं प्रापयति या नित्यं सा माया परिकीर्तिता ॥ "

(ब्रह्मवैवर्त्त० श्रीकृष्णजन्मखण्ड अध्याय २७)

अर्थ—(मा) मोहार्थ वचन और (या) प्राप्तिके अर्थमें आता है इसलिये मोह प्राप्त करदेनेवाली शक्तिको ही माया कहते हैं। फिर

" विचित्रकार्य्यकरणा अचिन्तितफलप्रदा।

स्वप्नेंद्रजालवल्लोके माया तेन प्रकीर्त्तिता ॥ "

(देवीपुराण अध्याय ४५)

अर्थ—जो अद्भुत अलौकिक कार्य करनेवाली और उसके फलको देनेवाली हो जो बडे बडे बुद्धिमानोंकी बुद्धिमें न समावे तथा अनेक विद्यादिका भी बल लगानेसे जिसका गूढभेद समझमें न आवे उसे माया कहते हैं।

इस मायाके स्वरूपके विषय श्रुति यों कहती है:—

श्रु०— " माया च तमोरूपानुभूतेस्तदेतज्जडं मोहात्मकम-नन्तमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्तापि मूढैरात्मेव

दृष्टास्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव तद्यथा वटबीजसामान्यमेकमनेकान्स्वाव्यतिरिक्तान्वटान्सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णांसत्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति सैषा चित्रा सुदृढा बह्वंकुरा स्वयं गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता ···· ”।

अर्थ— यह माया तमका स्वरूप है (अनुभूतेः) अनुभव करनेसे ऐसा ही बोध होता है। क्योंकि जहां तम होता है तहां आगे पीछे, दायें, बायें कुछ सूझता नहीं देखो ! षोडशीका मुख मायारूप ही है जब उसकी ओर दृष्टि जाती है अज्ञानता फैलजाती है चारों ओर अन्धकार व्यापकर बुद्धिको घेर लेता है, कुलकी मर्यादा, बडाई, महत्व और लज्जा सबको धूलमें मिलादेता है । इसी प्रकारके उदाहरणोंके द्वारा अनुभवमें आता है, कि माया तमोरूप है इसी तात्पर्यसे श्रुतिने “ अनुभूतेः ” कहा । अब यहां श्रुतिने जड, मोहात्मक, अनन्त और तुच्छ ये चार विशेषण मायाके कहे तहां जड क्यों है ? सो कहते हैं—विराट्में पंचभूतका जहां तक विस्तार है उनमें जितनी वस्तु देखीजाती हैं प्रत्यक्ष होती हैं सब जड हैं क्योंकि चैतन्यको तो कोई देखता नहीं इसलिये देखनेमात्रसे जो मोहित करे वह जड अवश्य ही होगा। हां इतना तो अवश्य है, कि ये सब जडपदार्थ आत्मा जो चैतन्य तिस करके प्रकाशित हैं इसलिये श्रुति इस जड मायाको अन्तमें ‘चैतन्यदीप्ता’ कहेगी । अब यह

जड माया 'मोहात्मक' कहीगयी। मोह उसीको कहते हैं जहां बुद्धिमानोंकी बुद्धि कुंठित होजावे सो उदाहरणसे दिखलाते हैं, कि यह माया जड होकर मोहात्मक कैसे है ? तो देखो! हीरा, लाल, मोती, पुखराज, पन्ना, नीलम इत्यादि रत्न तथा स्वर्ण, चांदी इत्यादि धातु हैं पर यदि ये जडपदार्थ किसी स्थानमें पडे हों अथवा नाना प्रकारके आभूषणोंमें जडे हों तो अवश्य प्राणीके चित्तको मोहित कर अपनी ओर खींच लेवेंगे। इन्हींको देखकर मनुष्य चोरी, डाका इत्यादि कुकर्म करनेको तयार होजाते हैं। यदि ये जड-पदार्थ मोहात्मक न होते तो बुद्धिको ऐसी मोहित क्यों करते। इसी प्रकार बाग, बगीचे, कोठे, महल, अटारी जड पदार्थोंको भी मोहात्मक मायाका रूप ही जानना चाहिये।

अब श्रुति कहती है, कि यह माया अनन्त है और तुच्छ है तहां अनन्त इस कारण कहा, कि इसके जितने कार्य्य हैं उनका अन्त नहीं है यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है। जैसे तत्त्वोंमें प्रथम तत्त्व आकाशको ही उदाहरणमें लीजिये, कि यदि कोई इस आकाशका अन्त लानेको ऊपर नीचे दशों दिशाओंमें सहस्र युग पर्यन्त दौडा चला जावे तो कहीं इसका अन्त नहीं मिलेगा। इसी प्रकार सब मायारचित पदार्थोंको जानना चाहिये अतएव यह माया अनन्त है।

फिर श्रुति इसको तुच्छ कहती है, सो कहनेका कारण यह है, कि जब विवेकीजन ज्ञानकी दृष्टिसे इसको देखते हैं तो तुच्छ होजाती है कर्पूरकी डलीके समान उडजाती है कहीं इसका पता नहीं लगता सर्वत्र आत्मा ही आत्मा भासने लगता है। मोहनेवाली शक्ति न

जानें कहां भागजाती है। शिवने कामको जला ही दिया। शुकने रंभा ऐसी सुन्दरीको भगा ही दिया इसलिये श्रुतिने मायाके स्वरूप को तुच्छ कहा।

फिर (व्यंजिका) अर्थात् सर्वत्र फैलनेवाली है और नित्य निवृत्त अर्थात् सदा विद्यमान होने पर भी मूढोंसे यह माया आत्माके समान सत्य देखी जाती है। मूढ सदा इससे मोहित रहते हैं फिर यह सिद्धत्व करके सत्त्व और असिद्धत्त्व करके असत्त्व दीखपडती है। अर्थात् जब मोहनेमें समर्थ होती है तब सत्त्व और जहां इसका वश नहीं चलता तहां असत्त्व है। फिर यह माया स्वतन्त्र है क्योंकि असंगको संगवाला करदेती है, जिसको जैसा चाहे बना देती है। फिर वट और बीजके समान जैसे एक बीजसे अनेक वटके वृक्ष और फिर वट से बीज फिर उससे वट फिर उससे बीज एवम्प्रकार जैसे एक बीजसे सहस्रों वट उत्पन्न होते हैं ऐसे ही यह माया अपनी एक शक्तिसे अनेक प्रकारके मायामय पदार्थोंको रचकर प्रकट करती है अर्थात् यह जगत्से भिन्न होनेपर भी जगत्को रचती रहती है। तिस जगत् के अनेक होनेपर भी यह एक माया उनके साथ-साथ परिपूर्ण रहती है।

एवम् प्रकार अनेक क्षेत्रोंको (शरीरोंको) परिपूर्ण दिखलाकर अपने आभाससे जीव और ईश्वरका भेद दिखलाती है। भेद दिखलाती हुई आप भी अविद्या ही कहलाती है। यदि चाहो, कि इसका अप-मान करके इसको त्यागो तो यह ऐसा नहीं करने देती। क्योंकि इसको

विचित्रता है। नाना प्रकारसे विचित्र कलाओंको करके ठगकर मोहमें डाल देती है फिर दृढ है किसीके टलाए नहीं टलती तथा बहु अंकुरा है अर्थात् एक वीजसे बहुत अंकुरकी देनेवाली है। यहां बहु अंकुरा कहनेसे ईक्षणात्मक कहनेका तात्पर्य है जैसे "तदैक्षत" उस महेश्वरने ईक्षण किया, कि "एकोऽहं बहुस्याम" एक हूं बहुत होजाऊं उसी ईक्षणाके साथ-साथ यह माया भी बहुअंकुरा हुई। क्योंकि बाजीगरकी वाटिकाके समान इसमें एकसे अनेक होजानेकी शक्ति दीगयी है। चैतन्यको अभिव्यंजन अर्थात् प्रकट करनेके कारण तथा चैतन्यको आच्छादन करनेके कारण यह माया स्वयं रज, सत्व, तमस्वरूपा है। एवं प्रकार यह माया त्रिगुणात्मिका होनेके कारण ब्रह्मा, विष्णु, और शिव रूपिणी है। फिर चैतन्य दीप्ता है अर्थात् चैतन्य की सहायतासे इसकी मोहनेवाली शक्ति अधिक बढजाती है। जैसे किसी स्त्रीका सुन्दर मुख है वहां माया जडस्वरूप है अर्थात् उसकी चंचल आंखें, सुन्दर भौएं, अरुण अधराधर तथा चिक्कण कपोलादि जो बडे-बडे बुद्धिमान् और ज्ञानियोंके चित्तको आकर्षण करनेवाले हैं सो जड हैं। पर चैतन्यदीप्ता हैं अर्थात् उस शरीरके भीतर जो चैतन्य आत्मा निवास करता है और अपने स्पन्द-स्वरूपको धारण कियेहुए है इसीके प्रकाश द्वारा ये माया रचित अंग भी अधिक मोहनेवाले होरहे हैं। यदि इन अंगोंसे चैतन्य हटादिया जावे तो शरीर मृतक होजावे और उनके जितने मोहनेवाले अंग जड थे उनमें मोहनेकी शक्ति कुछ भी न रहे, घृणास्पद होजावें इसलिये मायाको चैतन्यदीप्ता कहा।

इस श्रुतिके अर्थके समझनेमें साधारण विद्वानोंको अत्यन्त कष्ट होगा ऐसा विचार कर स्वामी विद्यारण्यने अपने ग्रन्थ पंचदशीके छठवें प्रकरणमें श्लोक १२५ से १३६ तक १२ श्लोकोंमें इसी श्रुतिके अर्थको पूर्णप्रकार विस्तार करके वर्णन किया है । तिन श्लोकोंको पाठकोंके बोधार्थ यहां लिखते हैं—

"मायाचेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ।
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥ १२५ ॥
जडंमोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ।
आबालगोपं स्पष्टत्वादनित्यं तस्य साब्रवीत् ॥ १२६ ॥
अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ।
यत्र कुण्ठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥ १२७ ॥
इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत् सर्वैरप्यनुभूयते ।
युक्तिदृष्ट्यात्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥ १२८ ॥
नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ।
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्यानित्यनिवृत्तितः ॥ १२९ ॥
तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ।
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥ १३० ॥
अस्य सत्वमसत्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ।
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥ १३१ ॥
अस्वतन्त्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ।
स्वतन्त्राऽपि तथैव स्यादसंगस्यान्यथाकृतेः ॥ १३२ ॥
कूटस्था संगमात्मानं जगत्वेन करोति सा ।

चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥ १३३ ॥
कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ।
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥१३४ ॥
द्रवत्वमुदके वन्हावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ।
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥ १३५ ॥
न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ।
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥ १३६ ॥"

(पंचदशी चित्रदीपप्रकरण श्लोक १२५ से १३६ तक)

अर्थ— यह माया तमो-रूपा है ऐसा नृसिंह तापिनी उपनिषद्में कथन कियागया है इस मायाके तमोरूपा होनेमें अनुभव ही प्रमाण है श्रुति आप ऐसा ही कहती है ॥ २५ ॥

सो इस मायाका रूप जड है और मोहात्मक है इसी प्रकार श्रुति जिज्ञासुओंको अनुभव कराती है और बालकोंसे लेकर गोपालों पर्यन्त अर्थात् छोटे-छोटे बच्चोंसे लेकर चरवाहोंतक स्पष्ट होनेसे यह माया अनन्त है ऐसे श्रुति कहती है ॥ २६ ॥

चैतन्यसे रहित जो घट, पट इत्यादि पदार्थोंका स्वरूप है सो जड है और जहां पुरुषोंकी बुद्धि नहीं पहुंच सकती सो मोह है । ऐसी बात सब संसारी—पुरुष मानते हैं एवम्प्रकार जडस्वरूप और मोहें-स्वरूप करके इस मायाका स्वरूप प्रसिद्ध है ऐसी बात विद्वान् पुरुषोंने लौकिक दृष्टिसे अनुभव की है ॥ २७ ॥ पर युक्ति करके यदि देखा जावे तो इस मायाका स्वरूप अनिर्वचनीय है । न सत्य है न असत्य

है इसके स्वरूपके विषय कोई भी कुछ कह नहीं सकता ऐसे श्रुति कहती है ॥ २८ ॥ इसे असत्य क्यों नहीं कहते ? कारण यह है, कि यह प्रतीत होती है और सत्य इस कारण नहीं कहते, कि ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त होनेसे नाश होजाती है । फिर इन दोनों बातोंके परस्पर विरुद्ध होनेसे सत्य असत्य दोनों ही नहीं है । इस प्रकार युक्तिसे देखनेसे मायाका स्वरूप अनिर्वचनीय है । परे ज्ञानकी दृष्टि द्वारा देखनेसे मायाका स्वरूप तुच्छ है क्योंकि शशकशृंग (खरहेके सींग) के समान यह माया नित्य निवृत्त होनेसे सदा अविद्यमान ही है । कहीं रंचकमात्र भी कुछ नहीं है । क्योंकि "**नेह नानास्ति किंचन**" इस श्रुतिके वचनानुसार केवल ब्रह्मको छोड अन्य कुछ भी नहीं इसलिये मायाकी नित्य निवृत्ति सिद्ध है ॥ २६ ॥

अब इस मायाका स्वरूप तीन प्रकारका है— तुच्छ, **अनिर्वचनीय और वास्तवी श्रौतबोध** अर्थात् ज्ञानवानोंने जो श्रुतियोंसे अनुभव करके ज्ञान प्राप्त किया है तिस ज्ञानकी दृष्टिसे देखनेसे मायाका स्वरूप तुच्छ है, कुछ भी नहीं है । क्योंकि ज्ञान होनेसे माया रहती ही नहीं । जैसे बाजीगर चमडेसे सर्प बनाकर दिखलाता है, सिरपर आंच बालकर रोटी पकालेता है देखनेवालोंको आश्चर्य्य होता है पर जब उसका ठीक-ठीक भेद खुलजाता है तो बुद्धिमानोंकी दृष्टिमें वह सारी बाजीगरी तुच्छ होजाती है । इसी प्रकार संसृति-भेदके ज्ञान होनेसे माया तुच्छ होजाती है इसलिये तुच्छ कहीगयी ।

फिर युक्ति दृष्टिसे देखनेसे अनिर्वचनीय है सत्य असत्य दोनोंसे रहित है फिर यह सत्य करके भी भान होती और असत्य करके भी

भान होती है। जैसे दिङ्मगडल जिसे दिक्-चक्र और अंबरान्त (Horizon) भी कहते हैं तहां दृष्टि करनेसे आकाश, पृथ्वीके साथ लगाहुआ जान पडता है पर समीप जानेसे वह दिङ्मगडल असत्य होजाता है। इसी प्रकार शुक्लपक्षमें चन्द्रमा टुकडे-टुकडे देख पडता है पर यथार्थमें वह टुकडा नहीं है सम्पूर्ण है केवल जितना भाग उसका सूर्य्यके सम्मुख होता है प्रकाशित रहता है इसी कारण खगड-खगड देख पडता है। सो माया है। इसलिये युक्तिकी दृष्टिसे यह माया अनिर्वचनीय है। अज्ञानियोंकी दृष्टि करके मायाका स्वरूप सत्य है। क्योंकि अज्ञानी इस मायासे अवश्य मोहित होते हैं और मोहित होकर व्यभिचार, चोरी इत्यादि दुष्कर्मोंको दिन रात करते रहते हैं ॥ ३० ॥

यह माया दशों दिशाओंमें फैलकर जगत्की सत्ताको दिखाती है। जैसे चित्रित हुआ वस्त्र खोलकर पसारदेनेसे घोडे, हाथी इत्यादि नाना प्रकारके चित्रोंकी सत्ताको दिखाता है। इसी प्रकार माया फैलकर जगत्की सत्ताको दिखाती है पर जैसे वह चित्रित वस्त्र समेटदेनेसे चित्रोंको कोई नहीं देखता इसी प्रकार यह माया जब संकोचको प्राप्त होती है अर्थात् ब्रह्ममें सिमटती है तब जगत्की असत्ताको दिखलाती है अर्थात् जगत्का अभाव होजाता है ॥ ३१ ॥

फिर यह माया अस्वतंत्र है इसका अपना कुछ नहीं चलता क्योंकि बिना चैतन्यके इसकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जडकी प्रतीति नहीं होती। पर्वतको समुद्रकी गहरायी और समुद्रको पर्वतकी उँचायी प्रतीति नहीं होसकती। क्योंकि दोनों जड हैं। इसी प्रकार

जड होनेके कारण मायाकी प्रतीति नहीं होसकती। चैतन्यको ही माया मोहित करसकती है।

अब कहते हैं, कि सो माया स्वतंत्र भी है अर्थात् बिना किसीकी सहायताके सब कुछ करसकती है इसी कारण असंगको अन्यथा अर्थात् संग करदेती है। जैसे विश्वामित्र ऐसे असंग तपस्वीको मैनकाअप्सरासे संग करदिया ॥ ३२ ॥

अर्थात् कूटस्थ जो आत्मा तिसे जगत्-रूप बनादेती है और चिदाभास-रूप करके जीवको भी रचदेती है । यह माया सत्त्वगुणको स्वीकार कर ईश्वर और तमोगुणको स्वीकार कर जीवकी रचना करदेती है ॥ ३३ ॥

यदि शंका हो, कि जब यह माया कूटस्थ आत्माको जगत् जीव और ईश्वर-रूप करदेती है तब तो आत्माकी कूटस्थताका नाश हुआ सो नहीं होना चाहिये । तो उत्तर इसका यह है, कि आत्माकी कूटस्थताका कभी नाश नहीं होता फिर जगत् और जीव ईश्वर-रूप होजाते हैं। यदि शंका हो, कि ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं ऐसा होना कब संभव है? तो उत्तर इसका यह है, कि माया तो उसीको कहते हैं, कि जो वार्त्ता न बने तिसे बनादेवे। इसलिये आत्माकी कूटस्थताका नाश न करके जगत् और जीवको ईश्वर-रूप करदेना आश्चर्य्यकी बात नहीं। जब माया ही ठहरी और बुद्धिको कुंठित करदेनेवाली ठहरी तो कैसे क्यां करदेती है इसका ब्योरा कौन जाने? यही तो मायामें विशेष चमत्कार है ॥ ३४ ॥

फिर जैसे जलमें द्रवता (बहनेका स्वभाव) और अग्निके विषय उष्णता (जलानेका स्वभाव) है तथा पत्थरमें कठिनता स्वभाव सिद्ध है इसी प्रकार मायाका भी यह स्वभाव सिद्ध है, कि जो बात न बने उसे बनादेवे ॥ ३५ ॥

जितने काल पर्य्यन्त प्राणी इस मायाके रचनेवालेको नहीं जानता उतने काल पर्य्यन्त माया उसके सम्मुख अनेक प्रकारके चमत्कारोंको दिखाती रहती है अर्थात् मोहमें डालती रहती है। पर जब प्राणीको मायाके रचनेवालेका पता लगजाता है तब वह माया आपही नष्ट होजाती है ॥ ३६ ॥

इसी वार्त्ताको आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र इस श्लोकमें दिखलाया चाहते हैं। यहांतक मायाके स्वरूपका वर्णन होचुका।

अब इसे दैवी माया क्यों कहते हैं ? इसका वर्णन कियाजाता है— दैवी माया इसे इसलिये कहते हैं, कि यह माया स्वयम् उस ब्रह्मदेवकी है अन्य किसी देवता राक्षस वा बाजीगरकी नहीं है यह साक्षात् उसी महेश्वर महाप्रभुकी है गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

" कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ युगल प्रबल करिमाने ।
'तुलसिदास' जब छूट तीन भ्रम तब आपन पहिचाने ॥ "
" केशव " कहिन जात का कहिये । देखत तव रचना विचित्र
हरि समुझि मनहि मन रहिये ॥"

इसी कारण कहते हैं, कि " मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् । अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ "
(पंच० प्रक० ६ श्लो० १२३)

अर्थ— प्रकृतिको तो माया जानो और उस महेश्वरको उस मायाका करनेवाला जानो ! जिसके अवयव अर्थात अशेष जीवोंसे यह जगत् व्यापरहा है । श्रुतिका यही अर्थ है ॥ इसी कारण इस मायाको दैवी माया कहते हैं ।

अब विचारने योग्य है, कि साधारण कंगाल कौडी २ के मांगनेवाले बाजीगर नट मदारीकी माया तो एकाएक बिना मदारीके बताये समझमें नहीं आती और बुद्धिमानोंको मोहलेती है फिर कब संभव है ? कि उस महेश्वरकी वह माया किसीकी समझमें आजावे जिस मायासे सम्पूर्ण लोकलोकान्तरनिवासी सभी मोहित होरहे हैं ।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि **"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"** यह मेरी त्रिगुणमयी माया दुरत्यया है जिसको शीघ्र छोडना कठिन है। यहां तीन गुण कहनेसे यह भी तात्पर्य है, कि जैसे तीन गुणकी रस्सी जो दृढ करके बांटी जाती है वह पशुओंके बांधनेमें दृढ होती है । इसी प्रकार भगवान कहते हैं, कि यह मेरी तीनों गुण-वाली माया जीवोंके बांधनेमें अत्यन्त दृढ और प्रबल है । जो कोई चाहे, कि इससे बल करके छूटूं तो जैसे-जैसे बल करेगा अधिक-अधिक फँसता जावेगा। क्योंकि गलेमें जो फँसरी बैठजाती है उसमें जितना बल कीजिये अधिक-अधिक गलेमें बैठती चली जावेगी । अथवा किसी उलझीहुई डोरीको यदि शीघ्रताके साथ खैंचकर सुल-झाया चाहे तो और अधिक उलझती चलीजावेगी । इसी प्रकार जो

कोई चाहें, कि इस मायासे बल करके छूटे तो और अधिक फँसता जावे इसीलिये किसी उपायसे छूटना दुस्तर है। श्री गोलोकविहारी जगत्-हितकारी इस मायासे छूटनेका यथार्थ उपाय अर्जुनके प्रति यों कहते हैं, कि [**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**] जो प्राणी मेरी शरण प्राप्त होते हैं, मत्परायण होते हैं, अपना सर्वस्व मुझमें अर्पण कर मुझहीको अपना रक्षक जानते हैं, और अहर्निशि मेरे ही आश्रय रहकर अन्य किसी देवता देवी वा राजा रानीका भरोसा नहीं करते, सदा मुझ ही में मग्न रहते हैं अर्थात् जो मेरी उपासना करते हैं वे ही इस मेरी मायाको तरजाते हैं। उसपर यह मेरी माया तनक भी बल नहीं करसकती वरु उनसे डरती है और अलग होरहती है। कारण इसका यह है, कि मैं ही मायावी (नट) हूं मुझको लोग नटनागर कहते हैं अर्थात् चतुर नट कहते हैं। क्योंकि मेरी नटबाजीका पता आज तक वेदको भी नहीं लगा। ब्रह्मादि तैंतीस कोटि देव सब मेरी मायासे घबराते हैं। केवल मेरे आश्रय रहनेवाले ही इस मेरी प्रबला और दुर्जया मायाको तरसकते हैं।

सच है भगवान्के इस वचनमें तनक भी सन्देह नहीं है। गोसांई तुलसीदासका वचन है, कि " **नटसेवक नहिं व्यापै माया** " (रामायण) नटके सेवकको नटकी माया नहीं व्यापती क्योंकि सेवक नटका उपासक है, सदा उस नटके समीप बैठता है, रहता है और खाता पीता है। जिस समय वह नट (बाजीगर) अपनी पिटारीको खोल, खेल पसारता है उस समय उसका सेवक उसके समीप बैठा रहता है अर्थात् उस सेवककी उपासना उस नटमें है।

इसलिये वह सब कलाओंको जानता है नटका सेवक झट अपना मस्तक नटके आगे करदेता है, कि मेरे मस्तकपर चूल्हा बालकर रोटियां पकालो नट पूछताजाता है, कि क्योंरे जमूरे तेरा सिर पका तो नहीं? सेवक उत्तर देता है पकाये जाओ मैं बडे आनन्दमें हूं। इसी प्रकार जो भगवानका उपासक है उसे माया नहीं व्यापती ॥ १४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! जब आपकी शरण होकर आपकी उपसनासे मायाकी निवृत्ति होजाती है तो क्या कारण है, कि सर्व साधारण प्राणी इस विषयको जानकर आपकी शरण नहीं होते और आपकी उपासना क्यों नहीं करते ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥ १५ ॥

पदच्छेदः— **दुष्कृतिनः** (पापकारिणः पापेन सह नित्ययोगिनो वा) **मूढाः** (इदमर्थसाधनमिदमनर्थसाधनमिति विवेक-शून्याः । तस्मात् संमोहम्प्राप्ताः) **नराधमाः** (निकृष्टाः) **मायया, अपहृतज्ञानाः** (संमुषितज्ञानाः) **आसुरं, भावम्** (हिंसाऽनृतादि लक्षणम्) **आश्रिताः** (प्राप्ताः) **माम्** (वासुदेवम्) **न, प्रपद्यन्ते** (प्रपन्ना भवन्ति भजन्ति वा) ॥ १५ ॥

पदार्थः— (**दुष्कृतिनः**) पापोंके करनेवाले पापात्मा-पुरुष (**मूढाः**) ज्ञानरहित (**नराधमाः**) मनुष्योंमें अत्यन्त नीच और अधम (**मायया**) मायासे (**अपहृतज्ञानाः**) जिनका ज्ञान नष्ट होगया है इसी कारण जो (**आसुरं, भावम्**) आसुरीभावको

(आश्रिताः) आश्रय कियेहुए हैं अर्थात् राक्षसी भावको प्राप्त हैं वे (माम) मुझ सर्वेश्वर वासुदेवकी (न, प्रपद्यन्ते) शरण नहीं प्राप्त होते हैं अर्थात् मेरी उपासना द्वारा मुझको नहीं भजते ॥ १५ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः**] जो लोग दुष्कृत हैं अर्थात् अनेक जन्मोंसे पापाचरण करते चले आरहे हैं इसी कारण अन्तःकरणपर उन पापोंके मलके जमजानेसे चित्त जिनका शुद्ध नहीं रहता। जैसे दर्पणपर मल जमते २ वह ऐसा मलीन होजाता है, कि फिर उसमें मुख नहीं देखाजाता। इसी प्रकार अन्तःकरणपर पापके मल जमजानेसे अपनी हानि वा अपना लाभ नहीं सूझता इसलिये मूढताको प्राप्त होजाते हैं ऐसे पुरुष मेरी उपासना कर मुझको नहीं भजते तथा मेरी शरण नहीं प्राप्त होते हैं। क्योंकि हृदय मलीन होनेके कारण उनको सूझता ही नहीं है, कि मैं कौन हूं इसलिये उनका मेरे सम्मुख होना कठिन है। फिर कैसे हैं? कि मनुष्योंमें अत्यन्त नीच हैं, निकृष्ट हैं, पापी हैं, स्पर्श करनेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि जो लोग "**नराधम**" मनुष्योंमें अधम हैं, लज्जा शून्य हैं, कामी हैं, जिनको काम-क्रीडा करनेमें कर्तव्यका विचार नहीं है। फिर वे कैसे हैं, कि [**माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः**] मायासे जिनका ज्ञान नष्ट होगया है क्योंकि मायाको जिन मूढोंने सत्य समझकर आसुरी भावका आश्रय करलिया है अर्थात् पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादिको ही सत्य और परलोकको असत्य जानकर दिन रात द्रव्य कमा २ कर केवल

इन अपने सम्बन्धियोंके ही पालन पोषणमें लगे हैं । उपकारमें जिनकी एक कौडी भी कभी व्यय नहीं होने पाती, भूखे प्यासे जिनके द्वारसे लौटजाया करते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानताका आवरण जिनके ज्ञानपर पडाहुआ है कौडीके लिये तथा स्त्रीके लिये गौ और ब्राह्मणको मारडालनेमें जो तनक भी विलम्ब नहीं करते तथा देवता पितरको तो भूत-प्रेतके समान समझते हैं कभी किसी देव वा पितृ-कर्मको नहीं करते। क्योंकि वे तो परलोकको मिथ्या समझते हैं, इस मर्त्यलोक ही को जो मुख्य मानते हैं " ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् " ऋण करके घृत पीयेजावो यही जिनका सिद्धान्त है अनात्म-वादमें जो रत रहते हैं तथा वेद-शास्त्रको नहीं मानते वरु वेदादिकी निन्दा करते रहते हैं विषयके तो दास ही हैं जिनके वचन कागोंके शब्दसे भी अत्यन्त कठोर होते हैं। शरीरसे जिनको अधिक स्नेह रहता है साधु ब्राह्मणोंको देखकरे जो मुंहँ मोडलेते हैं और वेश्याको देखकर मुंह जोडलेते हैं उससे बडी रुचिसे बातें करते हैं। वेष तो हंसोंकासा बनाये रहते हैं पर उनके कर्तव्य कागलोंके सदृश हैं कलिमलके तो भण्डारे ही होते हैं परायेकी निन्दाकरनेमें जिनकी शेषके समान सहस्र जिह्वा बनजाती हैं और परायेकी निन्दा सुननेमें जो पृथुराजके समान सहस्र कानवाले बनजाते हैं, परायेकी हानि सुनकर जो हर्षित होते हैं और लाभ सुनकर अप्रसन्न होते हैं एवम्प्रकार जिनका ज्ञान मायासे आच्छादित होरहा है ऐसे प्राणियोंको मुझ भगवत्‌की उपासना अच्छी नहीं लगती।

फिर ऐसे अज्ञानी (आसुरं भावमाश्रिताः) आसुरी-भावको प्राप्त रहते हैं हिंसा करना, मिथ्या वचन कहकर परायेको धोकादेना

दंभ पाखण्डमें रत रहना, मारे अहंकारके अपने समान किसीको न समझना, चंचल-स्वभाव और अव्यवस्थित-चित्त रहना, शौचसे रहित रहना, अन्यायसे अर्थका संचय करना और नाना प्रकारकी आशाओंमें फँसे रहना एवम्प्रकार नानाविध मोह-जालसे घिरेहुए प्राणी आसुरीभाववाले कहेजाते हैं। इसी आसुरीभावका वर्णन भगवान् १६ वीं अध्यायमें पूर्णप्रकार करेंगे।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणी कदापि भगवत्-शरण नहीं होते। इसी कारण भगवान्ने अपने मुंहसे इनका लक्षण वर्णन करदिया। और कह दिया, कि ऐसे मूढ न मुझको जान सकते हैं, न मेरी उपासना कर सकते हैं वे तो सदा भगवद्विमुख रहते हैं। सगुण निर्गुण वा साकार निराकार तथा प्रवृत्ति वा निवृत्ति किसी प्रकारका बोध ही जिनको नहीं होता।

शंका— जब भगवान्की माया अत्यन्त प्रबला और बडे २ बुद्धिमानोंको मोहमें डालनेवाली है सो भगवान् स्वयं कह आये हैं तब इन बेचारे आसुरीभाववालोंका क्या दोष?

समाधान— जिस मायावी महाप्रभुने अपनी माया प्रकट करदी तो उसीके साथ २ इस मायाको हटानेके निमित्त वेद, शास्त्र, आचार्य तथा अन्य महापुरुषोंको भी तो प्रकट करदिया और यह आज्ञा देदी, कि प्र० श्रु०— उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। उठो जागो और आचार्योंसे जाकर शिक्षा लो फिर भी ये आसुरीमायावाले जो मायासे तरनेके साधनकी ओर अपनी बुद्धिको नहीं लगाते यही इनका दोष है। हां यदि परमात्मा इन आसुरीभाववालोंको बुद्धि

प्रदान नहीं करता तो अवश्य यह कहनेकी ठौर थी, कि परमात्माने माया क्यों बनायी। देखो ! परमात्माने पिपासा (प्यास) बनायी तो उसीके साथ शीतल जल बनाया, भूख बनायी तो उसके प्रतीकारमें अन्न बना दिया, ठण्डक बनायी तो अग्नि बनादी तात्पर्य्य यह है, कि परमात्माने माया बनायी तो उसीके साथ उसके दूर करनेका भी यत्न बनादिया। इसलिये परमात्माको तथा मायाको किसी प्रकारका दोष नहीं लगसकता। अतः भगवानका यह कहना, कि आसुरीभाववाले दूषित हैं मेरी शरण आनेका उपाय नहीं करते सांगो-पांग उचित है। इसमें शंकाका कोई स्थान नहीं है ॥ १५ ॥

अब अर्जुनने भगवान्से यह पूछा कि हे भगवन् ! आपके भजन-करनेवाले अर्थात् उपासना करनेवाले सब एक ही समान होते हैं अथवा इनमें कुछ भेद भी होता है ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मु०—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥ १६ ॥

पदच्छेदः--- [हे] भरतर्षभ ! (भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन !) आर्तः (तस्करव्याघ्रशत्रुरोगाद्यापद्ग्रस्तः तस्मात्पीडापरिहारार्थी तापत्रयपीडितः) जिज्ञासुः (मुमुक्षुः । भगवत्तत्त्वं ज्ञातुमिच्छुकः) अर्थार्थी (धनाद्यर्थी भोगसाधनभूतार्थलिप्सुः) ज्ञानी (विष्णोस्तत्त्ववित् भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारस्तेन नित्ययुक्तः) च [एते] चतुर्विधाः (चतुष्प्रकाराः) सुकृतिनः (कृतपुण्याः । पुण्यकर्माणः) जनाः (पुरुषाः) माम् (वासुदेवम्) भजन्ते (सेवन्ते) ॥ १६ ॥

पदार्थः— (भरतर्षभ !) हे भरतकुलमेंश्रेष्ठ (अर्जुन !) अर्जुन ! (आर्त्तः) जो प्राणी नाना प्रकारकी आपत्तियोंसे दुःखित हैं तथा (जिज्ञासुः) जो मुमुक्षु है भगवत्तत्त्वके जाननेकी इच्छा रखता है तथा (अर्थार्थी) जो धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्रादिकी कामना वाला तथा (ज्ञानी, च) जो निष्काम होकर केवल भगवत्तत्वमें मग्न रहता है (चतुर्विधाः) ये चार प्रकारके (सुकृतिनः, जनाः) पुण्यात्मा प्राणी, (माम) मुझ वासुदेवको (भजन्ते) भजते हैं अर्थात् मेरे भजन करनेवाले चार प्रकारके होते हैं आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ॥ १६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् कहते हैं, कि हे अर्जुन ! तूने जो मेरे भजन करनेवालोंके विषय पूछा सो तू निश्चय करके जान ! कि [चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !] चार प्रकारके मेरे भक्त जो पुण्य कर्मोंके करनेवाले हैं तथा जिन्होंने पूर्व-जन्मोंमें अनेक प्रकारकी सुकृतियोंका सम्पादन किया है इसलिये मेरे पूर्ववचनानुसार जिनकी बुद्धिका संयोग मेरी उपासनाकी ओर लगा है। जैसा, कि मैं पहले तुझसे कह आया हूं, कि "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम " अर्थात् पूर्व-शरीरमें जितना उत्तम कर्मोंके सम्पादन करनेसे जहांतक बुद्धिका संयोग होचुका था वहांतक विना परिश्रम इस वर्त्तमान जन्ममें आपसे आप बुद्धिका संयोग होजाता है, तिस बुद्धि-संयोगके बलसे वे मेरी उपासनाकी ओर झुकते हैं और मेरा भजन किया चाहते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि [आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ !] हे भरतकुल शिरोमणि अर्जुन ! वे चार प्रकारके ये हैं— आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी इनमें पूर्वके जो तीन हैं वे सकाम हैं और चौथा ज्ञानी निष्काम है सो ये चारों मेरा ही भजन करनेवाले हैं।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि ये चारों भिन्न-भिन्न तात्पर्यसे मेरा भजन करते हैं। इनमें जो आर्त हैं जिनको तस्करोंसे, लुटेरोंसे और चाण्डालोंसे नाना प्रकारके दुःख प्राप्त हुए हैं अथवा व्याघ्र, सर्प इत्यादि क्रूर जीवोंसे क्लेश पाया है अथवा किसी शत्रुसे आक्रमण कियेजानेके कारण राज्य--रहित होगये हैं वा धनादिक छिनजानेके कारण दरिद्र होगये हैं अथवा शत्रुसे पराजय होनेके कारण कारागार इत्यादिमें बँधेहुए हैं तथा नाना प्रकारके ज्वर, प्लीहा, काश स्वासादि रोगोंसे जो पीडित होरहे हैं अर्थात् आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंसे जो भयभीत होरहे हैं। तात्पर्य यह है, कि किसी प्रकारके दुःखसे जो पीडित हैं वे आर्त कहलाते हैं सो ये आर्त-जन अपने दुःखोंके नाश करनेके प्रयोजनसे भगवान्का भजन करते हैं, भगवान्की शरण जाकर उनकी उपासना करते हैं। जैसे जब इन्द्रदेव कोप करके ब्रजमें वर्षा करतेहुए वज्रपातादि दुःखोंसे ब्रजवासियों को पीडित करने लगा उस समय ब्रजवासियोंने अत्यन्त क्लेशित होकर भगवान्की शरण जा पुकारा, कि " कृष्ण ! २ महाभाग ! त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ! त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपिताद्भक्तवत्सल ! "

(श्रीमद्भागवत् स्कं० १० अ० २५ श्लो० १३)

अर्थ— हे कृष्ण! हे कृष्ण!! हे महाभाग! हे प्रभो! हे भक्तवत्सल! आप गोकुलके नाथ हो अर्थात् रक्षक हो! इसलिये इन्द्रदेवके कोपसे हमलोगोंकी रक्षा करने योग्य हो सो हे नाथ! हम लोगोंकी रक्षा करो!

एवम्प्रकार इन आर्तोंके वचनोंको श्रवणकर भगवान्‌ने गोवर्धन पर्वतको कनिष्टकापर उठालिया और उनकी रक्षा की। प्रमाण— "इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम्। दधारे लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः" (श्रीमद्भा० स्कं० १०श्लो०१९अ०२५)

अर्थ—भगवान्‌ने इन आर्तोंको यह कहकर, कि तुमलोग मेरी शरण हो इसलिये मैं तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा अपने एक हाथसे गोवर्धन पर्वतको उठाकर इस प्रकार धारण करलिया जैसे छोटा बालक गोवर छत्ताको उठालेता है और उसी पर्वतके नीचे सबकी रक्षा की।

इसी प्रकार जब गजेन्द्रको ग्राहने जलमें ग्रसलिया और गजराज अपना सारा पुरुषार्थ लगाकर थकगया और जाना, कि अब मैं ग्राहसे नहीं बचूंगा तब एकाग्रचित्त, अति दीन और आर्त होकर भगवान्‌को पुकारने लगा तब भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे उसकी जान बचायी सो गजराजने किस प्रकार स्तुति की है व्यासदेव लिखते हैं—

"मादृक्प्रपन्नपशुपाशविमोक्षणाय मुक्ताय भूरिकरुणाय नमोऽलयाय। स्वांशेन सर्वतनुभृन्मनसिप्रतीतप्रत्यग्दृशे भगवते बृहते नमस्ते॥" (श्रीमद्भागवत् स्कंध ८ अ० ३ श्लो० १७)

अर्थ— जो भगवान् मेरे समान शरणागत पशुओंके अज्ञानरूप फांसको एक बारगी तोडदेनेमें आलस्य रहित हैं तथा जो स्वयं मुक्त-स्वरूप हैं, जो जीवोंपर अत्यन्त करुणाके करनेवाले हैं, जो अन्तर्यामी-रूपसे सकल देहधारी प्राणियोंके मनमें प्रसिद्ध आन्तरिक ज्ञानरूप होकर भी अपरिच्छिन्न हैं और जो सकल प्राणियोंको अपने वशीभूत रखनेको समर्थ हैं ऐसे भगवत्के लिये मेरा नमस्कार है सो भगवत् मुझ पशुके फांसको भी छुडावे।

एवम्प्रकार गजेन्द्रके विलापको सुनकर भगवान् गरुडपर आरूढ हो उस गजेन्द्रके समीप पहुंच उसको ग्राहसे छुडाया जिसकेलिये भगवान् व्यासदेव यों लिखते हैं— " तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसा-वतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार। ग्राहाद्विपाटितमुखा-दरिणा गजेन्द्रं संपश्यतां हरिरमूमुचदुच्छ्रियाणाम्॥" (श्रीमद्भा० स्क० ८ अ० ३ श्लो० ३३)

अर्थ— तब भगवान् करुणानिधानने सरोवरके समीप गरुडपर शीघ्र ही पहुंच ऐसा विचारा, कि गरुड इतना शीघ्र नहीं पहुंच सकता इसलिये गरुडको छोड नीचे उतर पांपैदल जन्मादि विकारोंसे रहित श्री हरिने उस गजेन्द्रको पीडित देखकर बडी कृपाके साथ उस ग्राहसहित उसको सरोवरसे बाहर निकाल और उस ग्राहका मुख चीरकर सकल देवताओंके देखते हुए गजराजको छुडाया।

इसी प्रकार द्रोपदी इत्यादि आर्त भक्तोंकी अनेक कथाएँ पुराणों में भरी पड़ी हैं जिनसे यह सिद्धान्त होता है, कि चार प्रकारके भक्तों

में आर्तोंके विलापको सुन भगवान् प्रकट होते हैं इसी कारण यद्यपि ये आर्त भक्त सकाम हैं तथापि भगवानकी कृपादृष्टि तो इनपर होती ही है ।

अब दूसरे जिज्ञासु वे हैं जो भगवत्प्राप्तिके तात्पर्यसे भगवानकी उपासना और भजन करते हैं । जैसे उद्धवजी, राजा जनक, मुचकुन्द, जयवलि, अश्वपति, श्वेतकेतु इत्यादि ।

उद्धवजी जिज्ञासु होकर श्यामसुन्दरसे कहते हैं, कि " सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढस्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे । तत्त्वंजसा निगदितं भवता यथाऽहं संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥ " (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ७ श्लो० १६)

अर्थ— उद्धवजी कहते हैं, कि हे भगवन्! मैं आपकी विमूढा मायासे रचेहुए पुत्र, कलत्रादि तथा अपनी देहके विषय यह मैं और यह मेरा ऐसी मूढ-बुद्धिमें निमग्न होरहा हूं । इसलिये हे भगवन्! जो ब्रह्मतत्त्व आपने मुझसे संक्षेपसे कहा है उसे अपने सेवक मेरे लिये विस्तार-पूर्वक इस प्रकार कहिये, कि मैं उसे सुखपूर्वक साधन करसकूं ।

उद्धवकी इस जिज्ञासाको सुनकर भगवानने उद्धवको यह शिक्षा दी, कि मनुष्यमें मैंने एक बुद्धिरूप रत्न ऐसा देदिया है, कि जिसके द्वारा मनुष्य आपसे आप जहां चाहे जिसे गुरु बनाकर शिक्षा प्राप्त करले । जो बुद्धिमान हैं वे पात-पातसे डाल-डालसे शिक्षा ग्रहण कर लेते हैं और मूर्खको तो ब्रह्मा भी गुरु मिलजावे तो उससे कुछ भी

लाभ नहीं उठासकता। इसलिये जो अधिकारी है वह तो सब ठौर, सब वस्तुओंको गुरु मान शिक्षा प्राप्त करसकता है ऐसे पुरुषको यथार्थ जिज्ञासु कहते हैं। जैसे अवधूत दत्तात्रेयने २४ गुरु किये उन चौबीसोंसे शिक्षा प्राप्त की है किससे क्या शिक्षा प्राप्त की पाठकोंके तथा जिज्ञासुओंके कल्याणार्थ यहां कथन कीजाती है— "पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः। कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतंगो मधुकृद्गजः॥ मधुहा हरिणो मीनः पिंगला कुररोऽर्भकः। कुमारी शरकृत्सर्प उर्णनाभिः सुपेशकृत॥" (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ७ श्लो० ३३, ३४)

अर्थ— १. पृथ्वी, २. वायु, ३. आकाश, ४. जल, ५. अग्नि, ६. चन्द्रमा, ७. सूर्य, ८. कपोत, ९. अजगर, १०. समुद्र, ११. पतंग १२. मधुमक्षिका, १३. हाथी, १४. मधुहा (जो मधु छुड़ाता है) १५. हरिण, १६. मत्स्य, १७. पिंगला (वेश्या) १८. कुरर पक्षी, १९. बालक, २० कुमारी, २१. बाणबनानेवाला, २२. सर्प, २३. मकड़ी और २४. भृंगी (भौंरा)।

दत्तात्रेय अवधूत महाराज कहते हैं, कि इन्हीं चौबीसोंसे चौबीस प्रकारकी शिक्षा प्राप्त की।

१. पृथ्वी—से क्षमा सीखी क्योंकि पृथ्वीपर प्राणी मल-मूत्र करते हैं थूकते हैं, पांवसे खूंदते हैं पर पृथ्वी माता इन सब दोषोंको क्षमा ही करती है। इसीसे पृथिवीको क्षमा भी कहते हैं। फिर इस पृथिवी पर जो पर्वत और वृक्ष हैं इनसे परोपकार भी होता है क्योंकि ये नाना प्रकारके खनिजपदार्थोंसे तथा फल-फूलोंसे परोपकारही करते हैं।

२. वायु—यह वायु दो प्रकारकी है प्राण-वायु और सामान्य-वायु इनमें प्राण-वायुसे सन्तोष सीखा और साधारण-वायुसे निर्लेपता सीखी। क्योंकि प्राण-वायु किसी प्रकारका आहार मिलनेसे सन्तुष्ट होजाती है और साधारण वायु शीत, उष्ण, सुगन्ध, दुर्गन्धके साथ मिलनेपर भी निर्लेप रहती है। इस प्रकार साधु सबके संग रहते हुए भी सबसे निर्लेप रहे।

३. आकाश—से आत्माकी सर्वव्यापकता सीखी जैसे आकाश घटादिमें रहनेपर भी किसीसे बद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा सर्वत्र व्यापक रहनेसे किसी भी शरीरादिका बद्ध नहीं होता।

४. जल—से परायेको स्वच्छ करदेना सीखा जैसे जल परायेके मलोंको धोकर तथा वस्त्रोंके मलोंको धोकर स्वच्छ करडालता है। इसी प्रकार साधु परायेको उपदेश द्वारा स्वच्छ करे।

५. अग्नि—से तीन मुख्य बातें सीखीं जैसे अग्नि अपने पेटमें सब वस्तुओंको लेकर भस्म करडालती है ऐसे साधु परायेके दोषोंको पेटमें रखकर भस्म करदे।

जैसे अग्नि यज्ञादिमें पूजित होकर पापोंका नाशकर स्वर्गके प्रदान-करनेका कारण है। ऐसे साधु भी पराये पापोंको नाशकर स्वर्ग प्राप्त करनेके योग्य बनादेवे।

जैसे गोल, लम्बा, चौकोन इत्यादि काठोंमें लगकर अग्नि तदाकार बनजाती है पर आप नहीं विकृत होती। इसी प्रकार आत्मा सब रूपमें तदाकार होकर आप विकृत नहीं होता ऐसा जाने।

६. चन्द्रमा— से आत्माका अव्यय होना जाना। अर्थात् जैसे चन्द्रमण्डलमें कलाएँ बढती घटती देखपडती हैं पर यथार्थमें चन्द्रमण्डल घटता बढता नहीं वह तो ज्योंका त्यों रहता है। इसी प्रकार कुमार, युवा, वृद्ध इत्यादि अवस्थाओंकी घटी बढी शरीरमें होती है आत्मामें नहीं।

७. सूर्य—से यह ज्ञान प्राप्त किया, कि जैसे सूर्य्य आठ महीने तक संसारके जलको खींचता है और चार महीने छोडता है पर इस बातका अभिमान नहीं करता इसी प्रकार योगी भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयको खैंचे और उस प्राप्त-विषयको परायेको देदेवे उसमें आसक्त न होवे और अभिमान न करे।

फिर जैसे एक ही सूर्य्य भिन्न २ जल भरेहुए पात्रोंमें स्थूल बुद्धिवालों द्वारा विलग २ दीखपडता है पर यथार्थमें ऐसा नहीं इसी प्रकार स्थूल-बुद्धिवालोंसे यह आत्मा प्रति शरीरमें निराला २ देख पढता है पर यथार्थमें ऐसा नहीं एक ही आत्मा सबमें है।

८. कपोत— कपोतने जैसे अपनी स्त्री कपोती और अपने बच्चोंको बहेलियाके जालमें फँसेहुए देखकर अत्यन्त दुःखित हो आपने भी फँसके प्राण दिया क्योंकि उनसे यह अधिक स्नेह रखता था। इसी प्रकार जो गृहस्थ इन अपने सम्बन्धियोंसे अधिक स्नेह रखता है वह अन्तकालमें हाथ मल २ सर्वप्रकार पछताता है और मरजाता है। अर्थात् प्राणी किसीके साथ प्रीतिकर उसका लालन पालन न करे, यदि करेगा तो कपोतके समान पछताना पडेगा। (इसका पूर्ण इतिहास श्रीमद्भागवत स्कं० ११ अ० ७ में देखो)

९. अजगर—सर्पसे प्रारब्धाधीन होना सीखा। जैसे अजगर पडा २ कुछ नहीं करता आपसे आप उसके प्रारब्धानुसार मीठा फीका भोजन आमिलता है। इसी प्रकार परमहंस ईश्वरमें लौ लगाये आप एकठौर पडारहे कुछ न कुछ भोजन आही जावेगा।

१०. समुद्र—से गम्भीरता सीखी जैसे समुद्र वर्षाकालमें बहुतसी नदियोंके प्रवेशकरनेपर भी हर्षित नहीं होता और ग्रीष्मकालमें शुष्क नहीं होता। इसी प्रकार जिज्ञासु गंभीर रहे हर्ष शोक न करे और जैसे समुद्रका कोई थाह नहीं पाता इसी प्रकार ऐसा रहे, कि उसका कोई थाह न पावे।

११. पतंग— जैसे अग्निमें रूप देखकर दौडता है और भस्म होजाता है ऐसे किसी रूपको देखकर उसपर आसक्त न हो नहीं तो पतंगके समान नाश होना पडेगा।

१२. मधुकर— ये दो प्रकारके होते हैं एक तो भौंरा जो भिन्न २ पुष्पोंसे रस लेता है पर किसी पुष्पको कुछ दुःख नहीं देता इससे यह शिक्षा प्राप्त की, कि अवधूतको चाहिये, कि किसी गृहस्थको कुछ दुःख न देकर थोडी २ भिक्षा सबसे ग्रहण करे। ऐसा न करे, कि जैसे वह भौंरा अधिक रसके लोभसे एक कमलमें जा फँसता है तब सन्ध्याकालमें कमलके मुंदजानेसे वह भी उसी कमलमें बंधजाता है पीछे प्रातःकाल गजेन्द्र आकर उस कमलको जब चरने लगता है तो वह भ्रमर उसके मुंहमें प्रवेशकर नष्ट होजाता है। ऐसे अवधूत एक स्थानमें फँसकर नष्ट न होवे।

दूसरी मधु-मक्षिकासे यह शिक्षा पायी, कि भिक्षादिका संग्रह करके यह कल खाऊँगा और फिर परसों खाऊँगा ऐसा विचार एकत्र न करे नहीं तो जैसे मधुनिकालनेवाला मक्खियोंके मधुको निकाल लेता है और अनेकन मधुमक्खियां कुचलकर मरजाती हैं तथा जो जीती रहती हैं उनके भी वह मधु काम नहीं आता इसलिये योगी किसी प्रकारका संग्रह न करे।

१३. हस्ती—से स्पर्शसुखके त्यागकी शिक्षा पायी और स्त्री इत्यादिको शत्रु रूप जाना। क्योंकि जैसे हस्ती काठकी हथिनीको देख भोग करने दौडता है और गडहेमें गिरकर मनुष्योंके बन्धनमें आकर जन्म भरके लिये अपना आनन्द खोता है। अवधूत ऐसा न करे, स्पर्श तथा स्त्रीसुखका त्याग करे।

१४. मधुहा— से धनादि संग्रहके त्यागकी शिक्षा पायी अर्थात् जो कुछ दैवइच्छासे सामने आजावे उसका भी संग्रह न करे। क्योंकि जैसे मधुहा जब मधु लेकर चलता है तो उससे कोई दूसरा छीनलेता है इसी प्रकार धनके संग्रहकरनेवालेसे उसके सम्बन्धियोंमें कोई दूसरा छीनलेता है अथवा चोर डांकू लूट लेजाते हैं इसलिये संग्रह न करे।

१५. हरिण— से कानोंको सुखदेनेवाले राग तानका त्याग करना सीखा। क्योंकि जैसे बहेलियाके रागोंको सुन हरिण उसके फन्दे फँसजाता है। इसी प्रकार जो रागका विषयी है वह फंसकर मरजाता है। हाँ भगद्भजनके निमित्त राग तानमें दोष नहीं है।

१६. मत्स्य— से जिह्वा-रसके त्यागनेकी शिक्षा पायी। क्योंकि मछली जिह्वाके रसवश वंसी (लोहका कांटा) के बोरमें जा फंसती

है, कि सिर धुन-धुनकर मरजाती है। इसी प्रकार जिह्वारसवालेको मांसादि भक्षणसे अन्तमें पछताना पडता है। जिसने जिह्वा इन्द्रियको जीता जानो! सब इन्द्रियोंको जीता।

१७. पिंगलावेश्या— से आशाका त्यागदेना सीखा। क्योंकि राजा विदेहके नगरमें एक पिंगलानामकी वेश्या एक रात्रिमें रातभर किसी धनवान्‌की आशामें जागीरही पर जब कोई धनवान् उसके घर उस रात्रिमें नहीं आया तो सवेरे अपनी आशाको धिक्कार देकर विरक्त होगयी। क्योंकि आशामें रात्रिभरकी निद्रा गँवायी और कुछ हाथ न आया। इसलिये आशा परमदुःखका कारण है इसे त्याग ही देना उचित है। "आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम। यथा संछिद्य कान्ताऽशां सुखं सुष्वाप पिंगला" (श्रीमद्भा० स्कं० ११ अ० ८ श्लो० ४३)

१८. कुररपक्षी— इसके द्वारा लोभके त्यागसे सुखकी प्राप्ति सीखी। जैसे कुरर पक्षी एक दिन आकाशमें उडा हुआ मांसका खण्ड मुखमें लिये जाता था उसे देख अन्य सब पक्षी उससे मांस छीनलेनेके तात्पर्यसे उसे चारों ओर चोंचों से नोंचकर दुःख देने लगे तब उसने उस मांसको छोडदिया सब उसे छोड मांसकी ओर दौडे और कुरर सुख-पूर्वक उडता हुआ अपने निवासस्थानको चलागया। इससे सिद्ध होता है, कि लोभको त्यागना चाहिये विषयका संग्रह किंचिन्मात्र भी नहीं करना चाहिये।

१९. बालक— से सदा परमानन्दमें मग्न रहनेकी शिक्षा पायी। जैसे बालकको मान, अपमान, घरद्वार, बालबच्चोंकी कुछ भी चिन्ता नहीं

होती है बस सदा आनन्दपूर्वक खेल क्रीडामें मग्न रहता है। ऐसे साधु अपने आपमें और हरिकीर्तन इत्यादिमें मग्न रहे किसी प्रकारकी चिन्ता न करे।

२०. कुमारी— से एकाकी रहनेकी शिक्षा पायी। इतिहास यों है, कि एक कुमारी-कन्याको वरनेकेलिये उसके द्वारपर पाहुने आगये उस समय उसके घरके सबलोग किसी कार्य्यसे बाहर चलेगये थे उसने आप ही सब-लोगोंको आसन दे बिठला उनके भोजनके निमित्त धान कूटने लगी तब उसके हाथकी चूडियां खट २ बोलने लगीं उसने विचारा, कि पाहुने मुझे अत्यन्त दरिद्रा समझेंगे इसलिये शब्द न होनेके तात्पर्य्यसे सब चूडियां तोड-डालीं केवल दो रहगयीं फिर भी शब्द होनेलगा तब उसने और एक तोड एक चूडी रहने दी तब सुखपूर्वक धान कूटने लगी। इसी प्रकार योगी एकाकी रहे तब ही सुख पावेगा। दोके रहनेसे भी परस्पर बात-चीतमें समयकी हानि होती है। इसलिये दत्तात्रेय महाराज यदुसे कहते हैं, कि मैंने एकाकी रहनेकी शिक्षा कुमारीसे पायी।

२१. शरकृत् अर्थात् बाणबनानेवाले— से मनकी एकाग्रताकी शिक्षा पायी। दृष्टान्त ऐसे है, कि एक बाण बनानेवाला अपनी दूकानमें हो एकाग्रचित्त बाण बनारहा था उसकी मनोवृत्ति उस बाणमें ऐसी एकाग्र होरही, कि उस मार्ग होकर राजा अपनी सेना और बाजे गाजेके साथ चलागया पर उसने कुछ भी नहीं जाना। इसी प्रकार उपासकको चाहिये, कि भगवत्स्वरूपमें ऐसा एकाग्र हो, कि सम्पूर्ण संसार उसके सम्मुख हँसता रोतारहे पर वह कुछ भी न जाने।

२२. सर्प— से अकेला विचरना और परायेके द्वारपर समय विता-लेना सीखा। अर्थात् जैसे सर्प अकेला फिरता है और अपना मर्म किसीपर प्रकट नहीं करता जब ठहरना होता है तो चूहोंके बनायेहुए बिलमें जा ठहरता है अपना घर कभी नहीं बनाता। इसी प्रकारे अव-धूतको अकेला इस संसारमें विचरना चाहिये और ऐसी गुप्त-रीति और गूढ-युक्तिसे रेहना चाहिये, कि कोई उसको न लखे और अपना घर न बनाकर दूसरोंके द्वारपर समय बिता लियाकरे। किसीने कहा है, कि

" जो घर रक्खे है सो घर २ रोवे है।
जो घर खोवे है सो घर में सोवे है॥ "

२३. मकरी— जैसे मकरी आप ही जाल बनाकर अपने जालमें फंसजाती है वैसे अवधूत कुटुम्बियोंके जाल बनाकर आप न फंसे।

२४. भृंगी— से यह शिक्षा पायी, कि मैं भगवत्-स्वरूपमें सारूप्य-मुक्तिको अवश्य लाभ करसकता हूं। जिसे कुम्हरन वा लखेरी भी कहते हैं और जिसे वंगभाषामें काच, पोका कहते हैं। सो किसी अन्य कीट (भींगर) को पकडकर अपने मिट्टीसे रचेहुए घरमें डाललेती है सो वह कीडा मारे भयके उस भृंगीका स्वरूप दिन रात अपने ध्यानमें बनाये रहता है। यहांतक, कि अन्तमें वह कीट भृंगीका स्वरूप बनजाता है। इससे सिद्ध होता है, कि जो उपासक दिन रात अपने उपास्य भगवान्के स्वरू-पमें एकाग्रता प्राप्त करेगा। वह भगवत-स्वरूप ही होजावेगा॥

तात्पर्य्य यह है, कि जो यथार्थ जिज्ञासु है वह दत्तात्रेयके समान सब ठौर सब वस्तुओंसे भगवद्भजनके विषय शिक्षा प्राप्त करता है और उसी

भजनके प्रतापसे पूर्ण ज्ञानको प्राप्तकर परमानन्द लाभ करताहुआ भगवत्-स्वरूपमें जा मिलता है। यहांतक आर्त और जिज्ञासु दो प्रकारके भक्तोंके विषय वर्णन किया अब शेष तीसरे और चौथे अर्थात् अर्थार्थी और ज्ञानी भक्तोंका वर्णन कियाजाता है—

३. अर्थार्थी— इस संसारमें धन, सम्पत्ति, पुत्र, कलत्र इत्यादि की चाहनाको लौकिक-अर्थ कहते हैं और मृत्युके पश्चात् स्वर्ग-लोकादि उत्तम लोकोंकी चाहनाको पारलौकिक अर्थ कहते हैं । इन दोनों प्रकारकी कामनावाले भक्त अर्थार्थी कहलाते हैं जैसे सुग्रीव जो अपने राज्यके छिनजानेसे अत्यन्त क्लेशित था और केवल अपने राज्य और अपनी स्त्रीकेलिये श्रीरघुवंशमणि कोशल-किशोर श्रीरामचन्द्रजीकी शरण आया था। इस प्रकारकी चाहना लौकिक-अर्थकी चाहना कहलाती है।

इसी प्रकार ध्रुवने भगवदाराधन करके पारलौकिक-अर्थ अर्थात् स्वर्गका द्वार प्राप्त किया है ये दोनों अर्थार्थी भक्त कहेजावेंगे।

ये जो आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी तीन प्रकारके भक्त कहे गये हैं ये तीनों सकाम हैं। क्योंकि आर्तको दुःख निवारणकी कामना, जिज्ञासुको मोक्षसाधनकी कामना और अर्थार्थीको अपने अर्थ साधनकी कामना बनी रहती है। पर ये तीनों भगवत्की उपासना करते २ उन्नति करसकते हैं। क्यों कि जब आर्तोंके दुःख निवारण होजाते हैं और अर्थार्थियोंके अनेक अर्थ सिद्ध होजाते हैं तब इन दोनोंको ईश्वरकी स्थितिमें पूर्ण विश्वास होजाता है । जब

एवम् प्रकार इन दोनोंके हृदयोंका विश्वास पूर्ण रूपसेदृढ होजाता है। तब ये ईश्वरकी प्राप्तिकी कामना करते हैं अर्थात् जिज्ञासुकी पदवी पर पहुंच जिज्ञासु वा मुमुक्षु कहलाते हैं। इसी प्रकारे जिज्ञासु भी उन्नति करते २ ज्ञानी बनजाते हैं। क्योंकि भगवत्की उपासना करते-करते उन्हें ज्ञान लाभ होजाता है फिर तो क्या कहना है।

ज्ञानी— अब चौथे भक्त जो ज्ञानी कहलाते हैं वे निष्काम रहते हैं। क्योंकि निष्काम कर्म करते-करते जिनका अन्तःकरण शुद्ध होगया है। इसलिये ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्तके भोगोंको तुच्छ जान वैराग्य साधन कर अहर्निश भगवतस्वरूपमें ही मग्न रहते हैं इनका एक क्षण भी विना भगवद्भजनके निरर्थक नहीं जाता है ये चारों प्रकारके भक्तोंमें श्रेष्ठ और भगवत्को अधिक प्यारे होते हैं—
" चहुँ चतुरन कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा " ॥

सो ज्ञान क्या है ? इन ज्ञानियोंमें भी उत्तम, मध्यम इत्यादिके अनेक भेद हैं। सो आगे १३ से १८ अध्याय तक विस्तार पूर्वक वर्णन किये जावेंगे। उसे भगवान् विस्तार पूर्वक इस गीताके अध्याय १३ से १८ तक वर्णन करेंगे।

सबसे श्रेष्ठ ज्ञानी वह है जिसने भगवत्स्वरूपमें प्रेम लगाया है और प्रेमयोगका अभ्यास किया है। जैसे ब्रजगोपिकाएँ ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ कही जाती हैं। इसी प्रकारे सनत्कुमारादि चारों भैया नारद, शुकदेव, प्रल्हाद इत्यादि भगवान्के ज्ञानी-भक्तोंमें शिरोमणि हैं। क्योंकि इन महापुरुषोंने प्रेमपथको रोंद डाला है।

भगवान्‌ने जो इस श्लोकमें **ज्ञानी च** ऐसा कहकर चकारका प्रयोग किया है तिससे भगवान्‌ने स्पष्ट कर जनादिया है, कि पूर्वके तीन प्रकारके जो मेरे भजन करनेवाले हैं उनको तो भिन्न २ कामनाओंके सिद्ध करनेका भी तात्पर्य्य है पर ज्ञानी जो सर्व कामना रहित हैं वे मेरा भजन निष्प्रयोजन होकर करते हैं और केवल मुझहीको चाहते हैं अन्य कुछ भी नहीं चाहते। किसीने कहा है "तुझसे तुझहीको मैं मांगूँ कि, सभी कुछ मिल जाय" सौ सवालोंसे यही एक सवाल अच्छा है ⊛ ॥ १६ ॥

एवम् प्रकार जो ज्ञानियोंमें भी प्रेमभक्तियुक्त हैं वे श्रेष्ठ हैं इसी विषयको भगवान् आगेके श्लोकमें कहते हैं—

मू०— तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ १७

पदच्छेदः— तेषाम् (चतुर्विधसुकृतिनां भगवदभिमुखानाम्) नित्ययुक्तः (भगवति वासुदेवे सदा समाहितचित्तः) एकभक्तिः (एकस्मिन् भगवति स्नेहविशेषो यस्य सः) ज्ञानी (विवेकी) विशिष्यते (अधिकतामापद्यते अतिरिच्यते) हि (यस्मात्) अहम् (वासुदेवः) ज्ञानिनः, अत्यर्थम् (अतिशयम्) प्रियः (वल्लभः) च (तथा) सः (ज्ञानी) मम प्रियः ॥ १७ ॥

⊛ सवाल= फारसी भाषामें किसी प्रकारकी कामनाके विषय कुछ प्रार्थना करनेको कहते हैं — تجھسے تجھہ ہی کو میں مانگوں کہ سبھی کچھہ ملجاے
سو سوالوں سے یہی ایک سوال اچھا ہے

पदार्थः— (तेषाम) उन चार प्रकारके पुण्यवान् भक्तोंमें जिनका वर्णन पहले करआये हैं जो प्राणी (नित्ययुक्तः) सदा भगवतस्वरूपमें समाहितचित्त है और (एकभक्तिः) अन्य सब देवताओंका आश्रय छोड केवल एक वासुदेवहीमें भक्ति रखता है (ज्ञानी) ऐसा जो ज्ञानी है सो (विशिष्यते) अन्य सर्व प्रकारके भक्तों तथा ज्ञानियोंमें विशेष समझाजाता है (हि) इसी कारण (अहम्) मैं वासुदेव सर्वेश्वर (ज्ञानिनः) तिस ज्ञानीका (अत्यर्थम्) अत्यन्त (प्रियः) प्रिय (च) और (सः, ममप्रियः) सो ज्ञानी भक्त भी मेरा प्रिय है ॥ १७ ॥

भावार्थः— अब भगवान् प्रेमभक्तियुक्त ज्ञानीकी श्रेष्ठता दिखलाते हुए कहते हैं, कि ये जो पूर्वके श्लोकमें चार प्रकारके भक्त कहे गये हैं [तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्ति विशिष्यते] तिनमें जो ज्ञानी आत्मतत्वको जाननेवाला नित्य युक्त है केवल मेरी ही भक्तिमें मग्न है वही श्रेष्ठ समझाजाता है। अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण होनेके कारण चंचलताको त्यागकर सर्व प्रकारके द्वंद्वोंसे रहित होकर केवल एक मुझ भगवत्में चित्त को एकाग्र कररखा है ऐसा नहीं, कि दस दिन तो ज्ञानी बनकर भजन किया फिर चुपचाप मौन साधन कर बैठरहे, भजन ही छोड दिया चार्वाकादि नास्तिकोंके मतमें अथवा वर्त्तमान कालके नवीन कपोलकल्पित मतमें प्रवेश करगये वहां भी कुछ अपना स्वार्थ नहीं देखा तो किसी अन्य मतमें चलेगये। एवम्प्रकार आयुष्पर्यन्त इधर उधर ज्ञानी बन फिरते रहे, कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं की तो ऐसे अव्यव-

स्थित ज्ञानीको ज्ञानी कहना ही उचित नहीं है न वह यथार्थमें ज्ञानी है क्योंकि वह नित्ययुक्त अर्थात सदा भगवतमें एक रस नहीं रहा इसलिये जो प्राणी नित्ययुक्त होकर अपने आपमें स्थिर होरहा है, करोडों आपत्तियोंके डुलानेसे भी रंचकमात्र नहीं डोलता जिसकी बुद्धि धृतिगृहीत है जैसा, कि भगवान् पहले आज्ञा देआये हैं, कि "शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ....." (देखो अ० ६ श्लो० २५)

अर्थात् धारणावशीकृत बुद्धिसे आत्मामें धीरे-धीरे रमते रहो। सो जो पुरुष धीरे-धीरे आत्मामें रमण कर आत्मामें ही लय होरहा है, सर्वत्र सब दिशाओंमें आत्मा ही आत्मा देखरहा है और सदा आत्मा ही में जिसकी तृप्ति, रति और सन्तुष्टि है अन्य किसी भी ओर अपने चित्तको नहीं लेजाता सो भगवान् कहते हैं, कि मुझ ही को सर्वभूतान्तरात्मा जानकर मेरे स्वरूपमें नित्य युक्त है, सदा मनो-योग देरखा है तथा जो (एकभक्तिः) केवल मुझहीमें भक्ति रखता है अन्य किसी, देवता देवीका आश्रय नहीं करता। जैसे पति-व्रता स्त्री केवल अपने स्वामी ही को पुरुष-रूप देखती है। इसी प्रकार जो ज्ञानी केवल मुझ वासुदेवहीको अपना स्वामी जानकरमेरे ही स्वरूपमें मग्न रहता है वही सब ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ है उसीको विशेषरूपसे मेरा यथार्थ भक्त जानना चाहिये। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम् स च मम प्रिय] ऐसे ज्ञानीका तो मैं अत्यन्त प्रिय हूं और ऐसा ज्ञानी भी मेरा अत्यन्त प्यारा है। अर्थात् ऐसा ज्ञानी पुत्रसे, स्त्रीसे तथा अन्य सम्बन्धियोंसे बढकर मुझको

ही अपना प्रिय जानता है उसका श्रेष्ठ प्रेमी मैं ही हूं। क्योंकि मैं सम्पूर्ण जगत्का आत्मा हूं और आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय होता है यह बात प्रसिद्ध है। सभी जानते हैं, कि मांगनेवालेको प्राणी सब देसकता है पर आत्माको नहीं देसकता। आत्माहीके प्रिय होनेसे सब प्रिय देख पडता है। तहां बृहदारण्यकी श्रुति यों कहती है—

"न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति। न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वंप्रियं भवति" (बृ० अ० ४ ब्रा० ५ श्रुति ६)

अर्थ— देवताओंकी कामनासे देवता प्रिय नहीं होते केवल अपनी आत्माकी कामनासे अर्थात् अपने आत्माके सुखके लिये देवता प्रिय होते हैं। इसी प्रकार जितनी प्रिय वस्तु पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति इत्यादि हैं वे सब उन वस्तुओंके लिये प्रिय नहीं हैं केवल अपने आत्माके लिये अर्थात् अपने सुखके लिये प्रिय हैं।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि यह अपना आत्मा सबसे अधिक प्रिय है सो आत्मा वही वासुदेव है इसलिये ज्ञानियोंको उस वासुदेवसे इतर अन्य कुछ प्रिय नहीं। इसी कारण वे ज्ञानी केवल एक वासुदेव ही में प्रीति और भक्ति करते हैं। अतएव वे एकभक्त कहेजाते हैं। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ज्ञानीको मैं अत्यन्त (अतिशय) प्रिय हूं। फिर यह तो स्वाभाविक ही है, कि जब एकका स्नेह किसी दूसरे से होगा तो वह दूसरा भी अवश्य उससे स्नेह करेहीगा क्योंकि एक हृदयको दूसरे हृदयसे सूत्र लगाहुआ है। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि जैसे ज्ञानियोंको मैं प्रिय हूं इसी प्रकार (स च मम प्रियः)

वह भी मेरा प्रिय है अर्थात् जितना स्नेह वह मुझसे करता है मैं भी उससे उतना ही करता हूं। इसीलिये मेरी प्रतिज्ञा है, कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" (अध्याय ४ श्लो० ११) जो मुझमें जैसे जितने प्रेमसे आ प्राप्त होते हैं मैं भी उनको उसी भाव से स्मरण करता हूं इसमें तनिक भी सन्देह नहीं ॥ १७ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंका की भगवन्! आपके मुखारविन्दसे जो यह शब्द निकला, कि ज्ञानी मुझको प्रिय है इससे मुझ अल्प-बुद्धिको ऐसा बोध होता है, कि अन्य जो द्रौपदी, गज, सुग्रीव, विभीषण, ध्रुव इत्यादि भक्त हुए हैं जिनकी गणना आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासुओंमें है वे आपको प्रिय नहीं हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्
॥ १८ ॥

पदच्छेदः— एते (आर्तादयः) सर्वे, उदाराः (उत्कृष्टाः। महान्तः। ऋज्वाशयाः। शिष्टाः) एव, ज्ञानी (वासुदेवः सर्वमित्येवं दृढप्रतिपत्तिपवित्रीकृतहृदयः) तु, आत्मा, एव [इति] मे, मतम् (निश्चितम्) हि (यस्मात्) सः, युक्तात्मा (समाहितचित्तः) अनुत्तमाम् (सर्वोत्कृष्टाम्) गतिम् (गन्तव्यम्) माम् (वासुदेवम्) एव (निश्चयेन) आस्थितः (अंगीकृतवान्) ॥ १८ ॥

पदार्थः— (एते) ये जो आर्तादि मेरे भक्त हैं (सर्वे) सब (उदाराः, एव) उत्तम और श्रेष्ठ हैं इसमें सन्देह नहीं पर (ज्ञानी) वह ज्ञानवान् जो सर्वत्र मुझ वासुदेवको जानकर मुझमें सदा रमरहा है (तु) सो तो मेरा (आत्मा) आत्मा है अर्थात् स्वयम् मैं ही हूँ (मे, मतम्) ऐसा ही मुझको निश्चय है (हि) क्योंकि (सः, युक्तात्मा) वह समाहितचित्त एकाग्रवृत्तिवाला ज्ञानी (अनुत्तमाम्) अत्यन्त श्रेष्ठ (गतिम्) गति (मामेव) मुझहीमें अर्थात् मेरे ही स्वरूपमें (आस्थितः) सदा स्थित है ॥ १८ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि क्या चार प्रकारके भक्तोंमें केवल ज्ञानी ही तुमको प्रिय है और शेष तीन प्रिय नहीं हैं ? इसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैवमेमतम्] ये सब मेरे भक्त उदार हैं पर ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है ऐसा ही मैं मानता हूं। क्योंकि ये सब ऋज्वाशय हैं अर्थात इनका आशय सरल है इनमें किसी प्रकारका छल, कपट, प्रपंच, नहीं है तथा इनमें कोई कृपण-बुद्धि नहीं है। यदि शंका हो, कि भगवान पहले कह आये हैं, कि " कृपणाः फलहेतवः " फलकी इच्छा करनी ही कृपणता है और ये प्रथमके तीन भक्त सकाम हैं फलकी इच्छा करते हैं इसलिये इनको कृपण कहना चाहिये। फिर इनको भगवानने उदार क्यों कहा ? तो उत्तर इसका यह है, कि इसमें सन्देह नहीं, कि ये तीनों फलकी इच्छा करते हैं पर पूर्वमें जो भगवान् कृपण कह आये हैं इसका तात्पर्य्य यह है, कि बहुतेरे कामना वाले केवल अपनी कामनाके ही तात्प-

र्य्यसे बहुतेरे देवताओंकी उपासना करने लगजाते हैं और अब उनकी कामनाकी पूर्ति होजाती है तो फिर वह उस देव देवीका स्मरण कभीभी नहीं करते। जैसे जब किसी ग्राममें वा नगरमें महामारी, विशूचिकादि रोगोंकी उत्पत्ति होती है और सब छोटे बडे मृत्युको प्राप्त होते चलेजाते हैं तो केवल अपने वा अपने सम्बन्धियोंके प्राणके भयसे वहांके सर्व साधारण देवोंके मन्दिरोंमें तथा गह्वरोंमें जाकर भेटें चढाते हैं, पक्वान्नोंको लेजाकर भोग लगाते हैं और बकरोंका बलिदान करते हैं जबतक महामारीकी धूम रहती है तबतक देवीको इतना भोजन कराते हैं, कि देवी भोजन करते २ और बकरोंको खाते २ नाकों दम होजाती है पर जबसे महामारी रुकजाती है तबसे बरसों देवीजी बिना भोग रागके ग्रामकी एक ओर एक टूटी फूटी झोंपडीमें भूखी पडी रहती है न कोई पक्वान्न लेजाता है, न बकरे चढाता है। देवीके आगे सुन-सान पडा रहता है। क्योंकि इन मूर्ख सर्वसाधारण प्राणियोंको केवल अपनी मनःकामनासे ही तात्पर्य्य था देवीसे तो रञ्चक-मात्र भी स्नेह नहीं था। ऐसे ही पुरुषोंको कृपण कहते हैं भगवान्‌ने भी ऐसे ही पुरुषोंको कृपण कहा है। पर जो लोग ऐसे हैं, कि पूर्व-जन्मकी सुकृतियोंके कारण जिनकी बुद्धिका संयोग भगवद्भक्तिकी ओर तो है पर प्रारब्धानुसार गृहस्थाश्रमादिमें रहनेसे नाना प्रकारकी कामनाएँ भी मध्य२ में बाधा करती हैं तो उनको उन कामनाओंकी पूर्ति निमित्त भगवान्‌की प्रार्थना करनी पड़ती है। तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणी जो भगवत्‌को भी चाहते हैं और कुछ फल भी चाहते हैं उदार कहे-जाते हैं। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि फलको पाकर भगवत्‌को नहीं चाहने

वाले कृपण हैं और जो फलको तथा भगवत्‌को दोनोंके चाहनेवाले हैं उदार हैं एवम् महान हैं इसीलिये उनका आशय सरल है।

अब विचारकी दृष्टि द्वारा देखनेसे ऐसा अनुमान होता है, कि इस संसारमें ५ प्रकारके मनुष्य हैं—

१. फलको केवल आपत्तिके समय अर्थात् अपने प्रयोजनके समय देवताका पूजन करनेवाले।

२. जो फलके भी चाहनेवाले हैं और इन्द्र, वरुण, कुवेर, दुर्गा, सरस्वती इत्यादि देव देवीके चाहने वाले अर्थात् इनकी भक्ति भी करने वाले हैं।

३. जो अपनी कामनाओंको केवल भगवान्‌से चाहने वाले हैं पर कामनाकी पूर्तिके पश्चात् भगवान्‌को भूल जाने वाले हैं।

४. जो अपने फलको भी चाहने वाले हैं और भगवत्‌स्वरूपके भी चाहनेवाले हैं।

५. जो केवल भगवत्‌के चाहने वाले हैं ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त किसी भी फलको नहीं चाहते। येही यथार्थ ज्ञानी कहे जाते हैं।

इनमें प्रथम जो आपत्तियोंके समय केवल फलोंके चाहनेवाले हैं और देवता देवीसे कोई तात्पर्य्य नहीं रखते वे कृपण हैं। उनहींके विषय भगवान्‌ने "कृपणाः फलहेतवः" ऐसा वचन उच्चारण किया।

इनमें उदार वे हैं जो फलके और देवता देवीके भी चाहने वाले हैं।

इनसे अधिक उदार वे हैं जो फलको केवल भगवत्से चाहने वाले हैं अन्य किसी देवता देवीसे नहीं।

इनसे भी अधिक उदार वे हैं जो फल और भगवत् दोनोंके चाहने वाले हैं।

इन सबोंसे उदार अर्थात् महान् वे हैं जो केवल भगवत्के चाहने वाले हैं।

इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ये सब मेरे भक्त उदार हैं पर इनमें (**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्**) जो ज्ञानी है वह मेरा आत्मा ही है ऐसा मुझे निश्चय है। क्योंकि वह मुझे छोड अन्य किसी प्रकारका फल नहीं चाहता। कारण इसका यह है, कि फलचाहने वालेको तो मैं फल देकर उससे उऋण हो जाता हूँ पर जो मुझसे कुछ नहीं चाहता उसका मैं सदा ऋणी बना रहता हूं और इसी कारण मैं स्वयं उसको अपना स्वरूप ही बनालेता हूं।

भगवान्के कहनेका तात्पर्य यह है, कि वह तो मेरा आत्मा ही होजाता है। जैसे कीट भृंगीका ध्यान करते-करते भृंगी बनजाता है। ऐसे मनुष्य भगवत्का ध्यान करते-करते भगवत्-स्वरूप ही बनजाता है फिर इससे अधिक क्या कहिये ?

अब भगवान् आधे श्लोकमें कहते हैं, कि [**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्**] सो जो युक्तात्मा अर्थात् केवल मेरे स्वरूपमें समाहितचित्त होकर लौ लगाये हुआ है और केवल मेरे ही स्वरूपमें स्थिर रहता है वही युक्तात्मा कहलाता है सो जो ज्ञानी युक्तात्मा है सो निःसन्देह सब गतियोंमें उत्तम गति जो

मैं अर्थात् मेरा स्वरूप उसीमें जो स्थिर होता है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ जो मेरा स्वरूप सो ही जिसको अंगीकृत है।

अनेक जन्मोंके उत्तम संस्कार जब एकत्र होते हैं तब सबसे श्रेष्ठ गति जो मैं सो तिस पुरुषको प्राप्त होता हूं। क्योंकि भिन्न २ देवताओंकी उपासना करने वाले उन देवताओंके लोकको प्राप्त होते हैं पर उनके लोकोंको प्राप्त होना उत्तम गति नहीं है। क्योंकि उन लोकोंमें प्राप्त होकर पुण्यके छीज जाने पर फिर उनको संसारमें लौटना पडता है पर मेरे धामके प्राप्त होनेवाले लौटते नहीं " यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमम् मम " जहां जाकर फिर उलटा लौटना नहीं होता अर्थात् फिर संसार-बंधनमें आना नहीं होता सो मेरा ही परम धाम है इसी कारण मेरे स्वरूपको प्राप्त होना अत्यन्त उत्तम और श्रेष्ठ गति है।

दूसरा कारण यह है, कि अन्य सब देवता देवी महाप्रलयमें नष्ट होजाते हैं। महाप्रभु वासुदेव सर्वेश्वर सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्द आनन्दघन सदा एक रस रहने वाला है इसलिये उसके स्वरूपको प्राप्त होना सबोंसे श्रेष्ठ गति है तहां श्रुति कहती है " घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः " (श्वेताश्व० अ० ४ श्रुति १६)

यहां यह श्रुति उत्तम गतिके अतिशय आनन्दको जनाती हुई कहती है, कि घृतके ऊपर जो विद्यमान सारांश है उसे मण्ड कहते हैं। जैसे रसका अत्यन्त रस है इसी प्रकार सो महेश्वर मुमुक्षुओंका तथा ज्ञानियोंका अत्यन्त सार विषय है इसी कारण अत्यन्त प्रीतिका विषय

है। जैसे वह घृतका सार अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसी प्रकार उस महेश्वर वासुदेवके स्वरूपका आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म है और सो ही सर्वभूतमात्रमें अत्यन्त गूढ भी है अर्थात् ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्य्यन्त सबोंके कर्म-फलभोगका साक्षीरूप होनेसे वह अत्यन्त गूढ कहाजाता है, सम्पूर्ण विश्वमात्रका वह एक ही परिवेष्टन करनेवाला है अर्थात् सबको घेरे-हुए है ऐसे परम देवको प्राणी जानकर सर्वप्रकारके बन्धनोंसे छूटजाता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि सो युक्तात्मा ज्ञानी सबसे उत्तम गति जो मैं तिसे प्राप्त होता है॥ १८ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! ऐसे ज्ञानी पुरुष जो सबोंसे श्रेष्ठ हैं इस संसार में सब ठौर मिलते हैं या नहीं? अर्थात् उनका दर्शन सर्वसाधारण पुरुषोंको होता है वा नहीं? सो कृपाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥१९॥

पदच्छेदः— वासुदेवः (विश्वम्भरः) सर्वम् (ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम्) इति, ज्ञानवान् (विवेकपूर्वकभगवच्चरणानुरागी। प्राप्तपरिपक्वज्ञानः) [यः] बहुनाम्, जन्मनाम्, अन्ते (चरमे जन्मनि) माम् (वासुदेवम्) प्रपद्यते (सम्यग्दर्शनेन प्रत्यक्षीकरोति) सः, महात्मा (महिमावान्। सर्वोत्कृष्टमात्मशब्दितं वैभवमस्येति) सुदुर्लभः (अतिदुष्प्राप्यः)॥ १९ ॥

पदार्थः– (वासुदेवः) सम्पूर्ण विश्वमात्रका देव जो महेश्वर सो ही (सर्वम्) सब है अर्थात् ब्रह्मलोकसे पाताल पर्यन्त जितने पदार्थ हैं सब उसीके स्वरूप हैं तथा सब वही है (इति) इस प्रकार (ज्ञानवान्) जाननेवाला ज्ञानी जो (बहूनाम्) अनेक (जन्मनाम्) जन्मोंके (अन्ते) अन्तमें (माम्) मुझ वासुदेव को (प्रपद्यते) प्राप्त होता है (सः, महात्मा) सो ऐसा महात्मा (सुदुर्लभः) बडी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य है अर्थात् उसका दर्शन बहुत क्लेश करनेसे मिलता है ॥ १६ ॥

भावार्थः– अब भगवान् अर्जुनके प्रति उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि [बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते] अनेक जन्मोंके अन्तमें अर्थात् शुभाशुभ-कर्मानुसार बार-बारे भिन्न-भिन्न योनियोंमें नाना प्रकारके दुःख और सुख पाताहुआ कूपघटिका-यन्त्रके समान भ्रमता हुआ जब किसी जन्ममें किसी प्रबल पुण्यकी प्रेरणासे मनुष्य शरीरको पाता है और कईबार मनुष्य शरीरको भी प्राप्त कर स्वर्गादि लोकोंके भोगोंको भोगताहुआ लौटकर किसी धनवान् वा योगीके कुलमें जन्म लेकर किसी महान् गुरुकी कृपासे ज्ञानका लाभ कर भगवत्प्राप्तिका कोई सरल उपाय साधन करे भगवत्-स्वरूपको सर्वत्र देखता है और एक सूईके अग्रभागके बराबर भी कोई स्थान भगवत्से शून्य नहीं देखता तब जानो, कि यह उसका अन्तिम जन्म है । इसी अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान् पुरुष मुझको प्राप्त होजाता है तब इसे फिर मनुष्य-जन्म लेनेकी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह तो कीटभृंगीके न्यायसे ब्रह्मस्वरूप ही होजाता है । अर्थात् संसारी जितने आनन्द हैं

और विषयके जितने भोग हैं सबको तुच्छ जानता है । जैसे पथिक मार्ग चलताहुआ कच्चर पच्चरोंको अर्थात् मैले कुचैले चिथड़ोंको पांवसे मारकर हटा देता है। इसी प्रकार विषय भोगोंको जो शरीर-यात्रावाला ज्ञानवान् पथिक तुच्छ जान पैरोंसे मार अलग हटा केवल मेरेको लक्ष्य कियेहुए शरीरयात्राको समाप्त करता है और जब तक उसकी शरीरयात्रा प्रारब्धानुसार बनी रहती है तबतक [वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः] वासुदेव ही ये सब हैं ऐसा जो जानता है सो महात्मा दुर्लभ है। क्योंकि वह दिव्यचक्षुसे सर्वत्र वासुदेव ही को देखता है। ऊपर, नीचे, दायें, बायें जिधर दृष्टि जाती है सर्वत्र वासुदेव ही वासुदेव देखता है प्रत्येक डालमें, पातमें, फलमें, फूलमें, हलमें, मूसलमें, ऊखलमें, छड़ीमें, सूईमें, अन्न पानीमें, द्वारमें, आंगनमें, घरोंकी दीवारमें जहां देखो तहां ब्रह्महीको देखता है और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" इन श्रुतियोंके वचनानुसार सर्वत्र ब्रह्म ही को जानता है—

श्रुतिः— "पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य"

(मुण्ड० २ खण्ड १ श्रु० १०)

अर्थ— यह सम्पूर्ण विश्वमात्र ब्रह्म है और जो वस्तु भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारीजाती हैं ये सब केवल वाचारंभणविकारमात्र हैं यथार्थमें सब ब्रह्म ही है नाना प्रकारके अग्निहोत्रादि कर्म तथा मौन, कृच्छ्रचान्द्रायण इत्यादि तप सब ब्रह्मके ही कार्य हैं। इसलिये सब ब्रह्म ही है। सो कैसा है? कि "परामृतम्" परमअमृतस्वरूप है

जिसके स्पर्शसे फिर प्राणी मृत्युको प्राप्त नहीं होता अमर होजाता है । क्योंकि ब्रह्म स्वयम् अमृतस्वरूप है अतः ब्रह्मस्वरूप होनेसे वह प्राणी भी अमृतस्वरूप होजाता है इसीलिये श्रुति कहती है, कि "निहितं गुहायाम्" यह ब्रह्म सबोंके हृदयमें निवास करनेवाला है "एतद्यो वेद" इसको जो जानता है सो प्राणी अवश्य अविद्याकी गांठको नाश करके मायासे तरजाता है ।

अब भगवान कहते हैं, कि "स महात्मा सुदुर्लभः" ऐसा महात्मा जो सबको ब्रह्मस्वरूप ही देखता है दुर्लभ है बडे कष्टसे प्राप्त होने योग्य है । यों तो वेषमात्र बडी-बडी जटाओंको बढाये अथवा केवल संसारको ठगनेके लिये मूंडको मुडाये सहस्रों साधु फिराकरते हैं और वचनसे लोगोंको अपने वशीभूत करलेते हैं पर यथार्थमें उनके भीतर टटोला जाय तो सार कुछ नहीं ऐसे महात्मा अत्यन्त सुलभ हैं ।

पर जिन्होंने संसारके विषय-भोगोंको लात मारा है ऐसे तो बडे कष्टसे कहीं २ किसी निर्ज्जनस्थानमें पायेजाते हैं अथवा किसी नगर और ग्राममें भी देखे जाते हैं तो वह संसारी-जीवोंके संगसे बचनेकेलिये तथा इस तात्पर्य्यसे, कि विषयी जीव नाना प्रकारके विषयकी वस्तुओंके मांगनेके लिये न सतावें तथा विषय वार्तामें न फँसावें किसी प्रकारकी माया बना अपने आपको पागलोंके समान बना रखते हैं । अथवा सहस्र संसारीके समान अपनेको बना रखते हैं जिससे साधारण व्यक्ति उनको भी अपने समान संसारी समझें और उनसे अधिक लिपटकर

उनका समय न नष्ट करें । जैसे राजा जनक जो यथार्थमें सच्चे महात्मा थे अपनेको राजकाजमें ऐसा गुप्त रखा था, कि शुकदेव ऐसे महात्माको उनका व्यवहार देखकर भ्रम होगया यद्यपि व्यासदेवने चलनेके समय शुकको समझादिया था, कि जनक बहुत बडा महात्मा है, विदेही है, तुम वहां सत्संगके लिये जाओ ! यथार्थतत्त्वका बोध उसके द्वारा तुमको प्राप्त होगा। तथापि जब शुकदेव जनकपुरीमें पहुंचे तो जनकके व्यवहारोंको देख उनके चित्तमें अरुचि होगयी क्यों कि उनके राज्यमें सैंकडोंको कारागारमें फँसेहुए तथा अन्य नाना प्रकारके दण्ड इत्यादि पातेहुए देखकर घृणा होगयी, कि जिस राजाने ऐसे जीवोंको नाना प्रकारके क्लेशोंसे क्लेशित कर रखा है वह भला कब महात्मा होसकता है पर जब कुछ काल नारदके समझानेसे जनकको महात्माकी दृष्टिसे देखा तब शुकदेवको ऐसा बोध हुआ, कि जनक एक बारगी निःसंग है। इसको तो इन व्यवहारोंसे कोई तात्पर्य्य ही नहीं है यह तो राजकाजसे एक बारगी निर्लेप है, यह तो यथार्थ महात्मा है यह शुक और जनकका इतिहास प्रसिद्ध है इसलिये यहां संक्षिप्त वर्णन किया ।

इसी प्रकार बहुतेरे महात्मा जो यथार्थरूपसे ब्रह्मवेत्ता हैं उनकी पहचान करनी कठिन है क्योंकि वे नाना प्रकारकी माया फैलाकर अपनेको गुप्त रखते हैं। देखो! स्वयं श्यामसुन्दर आनन्दकन्द जो साक्षात् अवतार हैं ग्वालिनियोंके संग रासक्रीडाएँ तथा ग्वालबालोंके संग बछडे इत्यादिके चरानेमें अपनेको ऐसा गुप्त रखा, कि ब्रह्माको भी उनके कार्य्योंको देख उनके महत्त्वमें भ्रम उत्पन्न हुआ ।

जिस कारण बछड़ोंको चुराकर पर्वतकी गुफामें रख आये पीछे महत्त्वको जानने पर लज्जित हो चरणोंपर आगिरे यह लीला सबोंपर प्रकट है । इसी प्रकार नारदको भी भगवत्-लीला देखकर जब मोह प्राप्त हुआ फिर १६१०८ रानियोंके घरमें १६१०८ कृष्णको उसी रूप गुणसे नाना प्रकारके गृहकार्य्योंको तथा भिन्न व्यवहारोंको करतेहुए देखकर लज्जित हुए और उनका मोह नाश होगया। तात्पर्य्य यह है, कि जैसे भगवान् स्वयं गुप्तरूपसे प्रकट होकर अपनी महिमाको छिपा प्रत्यक्ष देखनेमें साधारण विषयी मनुष्योंके समान कार्य्यकर लोगोंको भ्रममें भुलादेते हैं इसी प्रकार जो महात्मा साक्षात् भगवत्स्वरूप ही हैं वे भी प्रत्यक्ष देखतेहुए मायाके व्यवहारोंमें मायाग्रस्त साधारण जीवोंके समान व्यवहार करते देखेजाते हैं। पर यथार्थमें वे सबसे निर्लेप हैं किसीमें लिप्त नहीं क्योंकि वे तो सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। जैसा, कि भगवान् ऐसे महात्माओंके विषय कह आये हैं, कि "नैव किंचित् करोमीति युक्तं मन्येत ···· " ऐसा महात्मा जो तत्त्ववित् है यथार्थ तत्त्वको जाननेवाला है वह कुछ देखना, सुनना, छूना, सूंघना, खाना, चलना, सोना इत्यादि कर्मोंको करता हुआ भी ऐसा जानता है, कि मैं कुछ नहीं करता। अर्थात् महात्मा पुरुष सब कर्मोंको करते हुए भी कर्तृत्त्वभिमानसे रहित होनेके कारण किसी कर्ममें लिप्त नहीं होते जिनका प्राप्त होना साधारण ज्ञानियोंको कठिन है ॥ १९ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी कि भगवन् ! जब यह सिद्धान्त है जो महात्मा " वासुदेवं सर्वमिति " जानता है वही सबोंमें श्रेष्ठ

और दुर्लभ है तो ऐसा जानकर भी बहुतेरे प्राणी अन्य देवताओंकी उपासना क्यों करते हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २०

पदच्छेदः— तैः तैः कामैः (पुत्रपशुस्वर्गकीर्तिशत्रुजयमोहनस्तम्भनाकर्षणवशीकरणमारणोच्चाटनाद्यभिलाषैः) हृतज्ञानाः (दूरीकृतं ज्ञानं येषान्ते) स्वया (स्वकीयया) प्रकृत्या (जन्मान्तरार्जितसंस्कारविशेषेण) नियताः (नियमिताः) तं तं नियमम् (चतुर्दश्युपवासजपप्रदक्षिणानमस्करोदिरूपम्) आस्थाय (आश्रित्य । स्वीकृत्य) अन्यदेवताः (इन्द्रवरुणयमकुवेरादीन्) प्रपद्यन्ते (भजन्ते) ॥ २० ॥

पदार्थः— (तैः तैः कामैः) पुत्र, पशु, स्वर्गादिकी कामनाओंसे (हृतज्ञानाः) जिनका ज्ञान नष्ट होगया है वे (स्वया प्रकृत्या) पूर्वजन्मोंमें उपार्जन किये हुए अपने विशेष संस्कार अर्थात् स्वभावके अनुसार (नियताः) जो नियत किये हुए नियम हैं (तं तं नियमम्) उनही उपवास, जप इत्यादि नियमोंको (आस्थाय) स्वीकार करके (अन्य देवताः) इन्द्र, वरुण, कुवेरादि देवताओंको (प्रपद्यन्ते) भजते हैं ॥ २० ॥

भावार्थः— हे भगवन् ! जब आपहीके भजनसे मनुष्योंको श्रेष्ठता प्राप्त होती है तो आपको छोड बहुतेरे प्राणी अन्य देवताओंका भजन क्यों करते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् कहते हैं, कि [कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः] अनेक जन्मोंमें जो प्राणीने बहुतसी कामनाओंको अन्तःकरणमें रखकर शरीर छोडा है जिनकी पूर्ति अभी तक नहीं हुई है तिन २ कामनाओंसे जिनका ज्ञान नष्ट होगया है अर्थात् वार २ मनुष्य-जन्म लेकर पुत्र, कलत्र, घोडे, हाथी तथा स्वर्ग कीर्ति, शत्रुको जय करनेकी कामना फिर मोहन, स्तंभन, आकर्षण वशीकरण, मारण, उच्चाटनादि प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाले ज्ञानसे रहित होजाते हैं । क्योंकि जब इन तुच्छ पदार्थोंकी इच्छा उनके हृदयमें उपजती है तो जबतक इनकी पूर्ति न हो तबतक इनकी दशा पागलोंके समान बनी रहती है फिर तो जहाँ किसीने कहदिया वहाँ ही पहुँचते हैं नाना प्रकारके छोटे २ देवताओंकी उपासना करते २ अपने प्रयोजन भरे हुए भूत, प्रेत, पिशाच तककी पूजा करने लग जाते हैं । शेख सद्दो (شیخ سدو) गोमापीर (گوما پیر) बूढे बाबूकी समाधि तथा लोना चिमारीकी पिण्डी बना अपने २ घरोंमें पूजते हैं । तिनके प्रसन्न करनेके लिये तिनके सम्मुख नाना प्रकारके जीवोंकी हिंसा करते हैं । बकरे मारते हैं मुर्गीके अण्डे चढाते हैं । बहुतेरे ज्ञान-रहित मूर्ख अपना शरीर चीरकर रुधिर निकाल इन देवताओंको तथा भूत प्रेतोंको चढाते हैं । बहुतेरे प्राणी भैंसे काटा करते हैं । तात्पर्य्य यह है, कि स्वार्थ साधन निमित्त अत्यन्त क्षुद्र २ देवता, देवी, प्रेत, पिशाच तथा यवनजातिकी समाधियोंके आगे दूध मलीदे चढाते हैं—

और मन माना आचरण करते हैं । बहुतेरे मरे हुए ब्रह्मपिशाचोंको भी पूजते हैं और उनसे अपनी मनःकामना मांगते हैं । फिर अन्धेर तो यह है, कि इनके साथ इनके आचार्य्य भी रहते हैं जो इनसे ऐसे २ आचारण करवा करके कटे हुए सिरके साथ कुछ पैसे भी दक्षिणा लेकर घरे जाते हैं फिर ये जितने हैं सब अपनेको धन्य २ मानते हैं पर " **अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः** " इस श्रुतिके वचनानुसार अन्धों को जैसे अन्धा मार्ग दिखलाता हुआ लेजाता है और दोनोंको मार्गका ज्ञान न होनेके कारण दुःखका अनुभव होता है । इसी प्रकार ये भी गुरु शिष्य दोनों अंधकूपमें गिरते हैं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्डनाथ स्वयं ज्योतिस्वरूप सच्चिदानन्द आनन्दकन्दसे एक बारगी विमुख रहते हैं ।

इसी कारण कृष्णचन्द्रने इस श्लोकमें उनको " हतज्ञानाः " कहा है क्योंकि यथार्थमें स्वार्थ-वश होनेके कारण इनका ज्ञान भ्रष्ट रहता है । इसके विषय श्रुतिका भी प्रमाण यों है, कि " **अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः** " (मु० १ खं २ श्रु० ९ में देखो) अर्थात् " बालाः " जो अज्ञानी जीव हैं वे अविद्याके कार्य्योंमें रत रहकर अर्थात् बहुतसे बाजे गाजेके साथ खेलते, कूदते, उछलते बकरोंको क्षुद्र देवता देवियोंके सम्मुख तथा भूत प्रेतके सम्मुख मारतेहुए बडे आनन्दसे अपनेको धन्य २ मानते हैं वे यह नहीं समझते, कि यह अविद्या उनको पहले ऊँचे चढाकर फिर नीचे स्थानमें गिरावेगी । क्योंकि वे स्वार्थवश यथार्थ-भगवद्भजनसे विमुख हैं ।

इसीलिये भगवान् कहते हैं, कि [तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया] अपनी प्रकृतिके अनुसार तिन-तिन साधनोंके कियेहुये नियमोंका पालन करतेहुए अर्थात् कभी उपवास करतेहुए, कभी जप करतेहुए, कभी कटिपर्यन्त पानीमें दिन-दिन भर खडे होतेहुए, कभी जिह्वामें सूईसे छिद्रकर मन्त्रोंका जप करतेहुए, कभी मृतकके कपाल में पानी भरकर उससे स्नान, पान इत्यादि करतेहुए पूर्वजन्मार्जित-संस्कारके अनुसार ऐसा समझते हैं, कि मानों अपने देव, देवियोंको प्रसन्न करलिया। एवम्प्रकार "प्रकृत्या नियताः स्वया" अपनी प्रकृतिके नियमित नियमोंसे बंधेहुए रहते हैं अर्थात् अपनी प्रकृतिके अनुसार नियत कियेहुए तिन २ साधनोंके नियमोंमें दृढ रहकर भिन्न २ देवताओंकी उपासना करते हैं।

यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, कि ऐसे अज्ञानी जीवोंको कितना भी समझाया जावे, कि तुमतो बहुत दिनोंसे क्षुद्र देवता देवियोंकी पूजा, स्तुति, उपासना करचुके और उनसे अपनी मनःकामनाओंकी सिद्धि करचुके अब तुम वृद्ध हुए अब तो इन विषयवासनाओंको त्याग, केवल भगवत्स्वरूपकी चाहनासे भगवत् शरण आओ! पर वे तो अपने जन्मान्तरके स्वभावसे बद्ध हैं इसलिये किसीकी एक भी नहीं मानते और भूत, प्रेत, पिशाचादिकी पूजा नहीं छोडते।

प्रिय पाठको! यह एक उदाहरण जो इन दिनों प्रत्यक्ष है सबोंके देखनेमें आता है क्या ऐसे मूर्ख बूढेको एक बारगी अज्ञानी "हृतज्ञानाः" और "प्रकृत्या नियताः स्वया" अपनी पूर्व

जन्मार्जित प्रकृतिसे बद्ध नहीं कहेंगे ? अवश्य कहेंगे। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि ऐसे हतज्ञान मूर्ख [प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः] भगवत्-शरण छोड अन्य देवताओंकी शरण जा अपनी मन:कामना सिद्ध करते हैं।

इसी कारण ये लोग कृपण कहलाते हैं उदार नहीं हैं। क्योंकि "कृपणाः फलहेतवः" इस भगवद्वचनके अनुसार फलके चाहने वाले सब कृपण हैं और पागलोंके समान आचरण करनेवाले हैं क्योंकि ऐसी कामनावाले रात दिन स्वार्थवश केवल कामनाके साधनमें लगे हैं वे राजा हों, महाराजा हों, चक्रवर्त्ती क्यों न हों, सहस्रों लक्षोंके दान देनेवाले क्यों न हों पर जब उनके हृदयमें केवल कामना निवास कररही है और कामना ही करके भिन्न देवताओंका आराधन करते हैं तो जानना चाहिये, कि वे प्रथम श्रेणीके कृपण हैं और हतज्ञान अर्थात् ज्ञानरहित हैं।

प्रिय पाठको ! मार्गमें जितने प्राणी नीचे मस्तक झुकाये चलते दीखते हैं इन सौमें निन्यानवें (९९) को हतज्ञान और पागल समझना चाहिये। बहुतेरे तो आपही आप बातें करते कुछ बोलते, गर्दन हिलाते, हां ना करते, हाथोंको ऊपर नीचे डुलाते ऐसे पागलके समान देखेजाते हैं मानों किसीसे बातें कररहे हैं ऐसे ही प्राणी जन्मान्तरके स्वभावसे बद्ध हतज्ञान कहे जाते हैं।

भगवान्‌के कहनेका मुख्य अभिप्राय यह है, कि अर्जुनने जो प्रश्न किया था, कि क्या कारण है ? कि तुमको छोड प्राणी अन्य २ देव-

ताओंकी उपासना करते हैं उसका उत्तर भगवान्‌ने यों देदिया, कि जन्मान्तरके कर्मोंसे बद्ध उनका स्वभाव ही पडजाता है, कि भगवद्भजनसे विमुख हो केवल स्वार्थसाधनके तात्पर्य्यसे जिसी किसी देवताकी उपासना करते हैं ॥ २० ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्‌ ! जो लोग ऐसे पामर हैं, कि आपको छोड पूर्वजन्मार्ज्जित स्वभावसे बद्ध होकर अन्य देवता और भूत पिशाचादिकी पूजा करते हैं उनपर भी कभी आपकी कृपा होगी वा नहीं ?

इतना सुन भगवान्‌ बोले—

मू०—यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्यतस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्‌ ॥
॥ २१ ॥

पदच्छेदः— यः, यः, भक्तः (भक्त्या संयुक्तः । उपासकः) यां, यां, तनुम्‌ (देवतामूर्त्तिम्‌ । यक्षरक्षोरूपम्‌) श्रद्धया (जन्मान्तरसंस्कारबलप्रादुर्भूतया भक्त्या) अर्चितुम्‌ (पूजयितुम) इच्छति (प्रवर्तते) तस्य, तस्य (कामिनः) ताम्‌ (देवतातनुंप्रति) एव (निश्चयेन) अचलाम्‌ (दृढाम) श्रद्धाम्‌ (पूर्ववासनावशात्‌ प्राप्ताम्‌) अहम्‌ (अन्तर्यामी) विदधामि (स्थिरीकरोमि) ॥ २१ ॥

पदार्थः— (यः, यः, भक्तः) जो-जो भक्त (यां, यां, तनुम्‌) जिस-जिस देवताकी मूर्तिको (श्रद्धया) पूर्ण भक्तिसे

(अर्चितुमेव) पूजन करनेकी (इच्छति) इच्छा करता है (तस्य तस्य) तिस-तिस पुरुषकी (ताम्) तिसी देवतामें (अचलाम्) अत्यन्त दृढ़ (श्रद्धाम्) श्रद्धाको (अहम्) मैं जो अन्तर्यामी हूं (विदधामि) स्थिर करदेता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि अन्य देवता वा यक्ष राक्षस पूजनेवालोंपर भी हे भगवन् ! आप कृपा करते हैं वा नहीं ? तिसका उत्तर देतेहुए भगवान् कहते हैं, कि [यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति] जो–जो भक्त जिस–जिस मूर्तिको श्रद्धासे पूजना चाहता है वे तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी रूपसे तीन प्रकारके हैं अर्थात् तमोगुणी वे हैं जो यक्ष, राक्षसादिकी पूजा करते हैं । रजोगुणी वे हैं जो जहां तहां किसी युक्तात्मा पुरुषकी समाधि तथा ६४ योगिनियोंकी पूजा करते हैं । सत्वगुणी वे हैं जो गन्धर्व, देव, अजानज देव, पितरलोकनिवासियोंकी, कर्मदेवोंकी, स्वर्गवासी वरुण, कुबेर, इन्द्रादि देवोंकी तथा बृहस्पति, प्रजापति इत्यादि पतियोंकी पूजा करते हैं। इन तीनों प्रकारके पूजन करनेवालोंमें जो तामसी हैं वे निकृष्ट हैं नीच हैं ।

इनसे जो कुछ अधिक विचारवान् हैं अर्थात् राजसी गुणोंसे सम्पन्न हैं वे अपनी मनःकामनाओंकी पूर्तिके तात्पर्यसे युक्तात्माओंकी तथा उनकी समाधिकी पूजा कियाकरते हैं । जैसे गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, पारसनाथ, भर्तृहरि, गोपीचन्द, ध्रुव, प्रह्लाद, भरद्वाज इत्यादि ।

इनसे श्रेष्ठ सात्विक पूजाकरनेवाले वे हैं जो इन्द्र, वरुण, कुवेर, वृहस्पति, प्रजापति इत्यादिकी पूजा करते हैं।

अब भगवान् कहते हैं, कि ये जितने प्रकारके पूजा करनेवाले हैं इन सबोंपरे मेरी कृपादृष्टि रहती है। मैं सदा यही चाहता हूं, कि मेरी सारी प्रजा धीरे-धीरे उन्नति करतीहुई मेरे तक पहुंचजावे। इसी कारण हे अर्जुन! मैं तुझसे कहता हूं, कि जो भक्त जिस-जिस मूर्तिकी उपासना (पूजा) करते हैं उनमेंसे भूत प्रेत पूजनेवालोंकी बुद्धि को तो मैं ऐसी प्रेरणा करता हूं, कि वे किसी साधु महात्माके संगमें पहुंच इनकी पूजा छोड तामसी बुद्धिको त्याग रजोगुणी बुद्धि फिर रजोगुणी बुद्धिको त्याग क्रमशः सत्वगुणी बुद्धिकी ओर झुकें। इसलिये भगवान् कहते हैं, कि [**तस्य तस्याचलां श्रद्धाम् तामेव विदधाम्यहम्**] तिन २ देवताओंकी पूजा करने वालोंकी श्रद्धा तिन-तिन देवताओंमें मैं पहले दृढ करदेता हूं।

शंका— इनमें उनकी अचल श्रद्धा होजानेसे फिर तो वे इनका कभी त्याग नहीं करेंगे। क्योंकि अचल श्रद्धा तो तबही होगी जब इन देवताओंके द्वारा इनकी मनःकामनाओंकी पूर्ति होती चलीजावेगी और जब प्राणीकी मनःकामनाओंकी पूर्ति हुई तो फिर उस देवता देवीमें उसका ऐसा विश्वास जमजाता है, कि ब्रह्माके डोलाये भी नहीं डोलता। इसलिये ये प्राणी तो ज्योंके त्यों जन्मजन्मान्तरसे जैसे करते आये हैं अभी सहस्रों जन्मोंमें तदनुसार ही करते रहेंगे। भगवत्स्वरूप तक पहुँचनेका तो संयोग ही नहीं होगा।

इसलिये भगवान्‌का यह कहना, कि उसी देवतामें मैं उनकी श्रद्धाको दृढ करदेता हूं अनुचित जान पढता है। ऐसा क्यों ?

समाधान— किसी प्राणीकी श्रद्धा किसी वस्तुमें, घासमें, पातमें, भींतमें, कंकडमें पत्थरमें कहीं भी जबतक स्थिर होकर जम न जावे तबतक उसके मनको एकाग्रता नहीं प्राप्त होसकती जबतक चित्त-वृत्तिकी एकाग्रता न हो तबतक अपने यथार्थस्वरूपका बोध नहीं होसकता। जैसे डोलते हुए जलमें अपनी मूर्ति विकृत देख पडती है। इसी प्रकार डोलते हुए अन्तःकरणको अपना स्वरूप विकृत भासता है यथार्थ नहीं भासता अर्थात् आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होसकती। जबतक आत्मज्ञान न हो भगवत्स्वरूपको कोई भी प्राप्त नहीं करसकता। इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि मैं इन अन्य देवताओंके पूजनेवालोंकी श्रद्धा उनके देवताओंमें दृढ करादेता हूं। दृढ करनेका तात्पर्य्य इतना ही है, कि उसे उसके मनकी एकाग्रताकी प्राप्ति होजावे। शंका मतकरो !

शंका— पूर्वश्लोक २० में तो भगवानने अन्य देवता देवियोंके पूजकोंको हतज्ञान अर्थात् ज्ञानहीन कहा और इस श्लोक २१ में कहते हैं, कि "**तस्य तस्याचलां श्रद्धाम्**" अन्य देवता, देवी इत्यादिके पूजकोंकी श्रद्धाको उन उपास्यदेवोंमें दृढ करदेता हूं। इन दोनों वचनोंमें विरोध देखा जाता है ऐसा क्यों ?

समाधान— इन दोनों वचनोंमें कुछभी विरोध नहीं है सर्व वेद शास्त्र इत्यादि तथा महर्षि गण भगवत्‌को **कृपासागर** और **पतितपावन** कहते हैं। तहां कृपा भी उसीपर कीजाती है जो दीन और दुःखी

तथा शोचनीय हो। और पावन भी वही कियाजाता है जो पतित हो। दीनोंपर कृपा करना और पतितोंका पावन करना भगवत्की मुख्य विरुदावली है। इसलिये जब अर्जुनने पूछा है, कि हे भगवन्! इन "हतज्ञान" अन्य देवता देवियोंके पूजकोंपर आप कभी कृपा भी करते हैं? तब अर्जुनके प्रति भगवान् कहते हैं, कि हां! इनपर मैं अवश्य कृपा यों करता हूं— पहले इनको तामसी वृत्तिकी प्रेरणाकर रजोगुणकी ओर और रजोगुणसे सत्वगुणकी ओर मोड देता हूं अर्थात् जब ये मेरी कृपासे सत्विकी बुद्धि पाकरे सत्वगुण बिशिष्टदेवोंकी उपासना करने लग-जाते हैं तब मैं इनकी श्रद्धाको उनके उपास्य-देवोंमें अचल और दृढ करदेता हूं जिससे इनको मनकी एकाग्रता प्राप्त होती है। क्योंकि उपास-नाका मुख्य तात्पर्य ही मनकी एकाग्रताका लाभ करना है, जिस एका-ग्रतासे अन्तःकरण शुद्ध होकर संसारबन्धनसे मुक्त होजाता है। तिस मुक्तिसे भगवच्चरणारविन्दोंमें प्रीतिकी वृद्धि होती है। तहां प्राणी प्रेमयोगमें उन्नति करते २ भगवत्स्वरूपमें जामिलता है। इसलिये भगवान् "हतज्ञान" अन्यदेवताओंके पूजकोंपर कृपाकर अपने स्वरूपमें मिलालेनेका उपाय प्रदान करते हैं। शंका मत करो!

अब यहां श्रुतिके प्रमाणसे भी दिखलाया जाता है, कि भगवान् अपनी शक्ति सब देवता, देवी, मनुष्य, गन्धर्व इत्यादिमें प्रदानकर उनके द्वारा भिन्न २ कार्य्योंका सम्पादन करवाया करते हैं। प्र० श्रुतिः—

"ॐ यएको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥"

(श्वेता० अ० ३ श्रुति १)

अर्थ— वही एक जालवान् अर्थात् मायाका जाल फैलानेवाला मायाजाल फैलाकर अपनी शक्तिसे सर्व लोकोंको शक्तिमान् बनाता है अर्थात इन सब देव, देवी, गन्धर्व, मनुष्य, राक्षसादिके " उद्भवे " (विभूतियोगप्रदानके समय) और " संभवे " (इनके प्रादुर्भाव होनेके समय) अपनी शक्ति देकर इन सबोंको शक्तिमान् बना देता है । सो जो प्राणी ऐसा जानता है वह अमृत अर्थात् कैवल्य परमपदको प्राप्त होता है। फिर इसी उपनिषद्के अध्याय ४ श्रु० १२ में यों कहा है— " ॐ यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः " अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् रुद्रस्वरूपसे सब देवताओंका प्रभव और उद्भव है तात्पर्य यह है, कि उत्पत्तिका (उनके बिभूतियोगके युक्त होनेका) कारण है तथा महर्षि अर्थात् सर्वज्ञ है ।

यदि शंका हो, कि ये अन्य देवताओंके पूजनेवाले प्राणी एवम्प्रकार अपने २ इष्टदेवमें श्रद्धाकी दृढतासे जब एकाग्रताको प्राप्त करलेवेंगे तो फिर उस महेश्वर वासुदेवतक कैसे पहुंचेंगे ?

उत्तर इसका यह है, कि जैसे छोटी २ नदियां बहतीहुई गंगा, यमुना, सिन्धु, नर्म्मदा इत्यादि बडी नदियोंमें गिरती हैं फिर वे बडी नदियां बहतीहुई समुद्रमें पहुंचजाती हैं । इसीप्रकार इन देवताओंके पूजनेवाले क्षुद्रदेवताओंसे बडे २ देवताओंके समीप पहुंचते हैं । फिर वे बडे देवता जब उस महेश्वरसे जा मिलते हैं तब उनके साथ २ उनके उपासक भी उस महेश्वरमें पहुंच जाते हैं । क्योंकि वह महाप्रभु वासुदेव सच्चिदानन्द विश्वम्भर सब देव देवियोंके

पति है इस कारण इन देवताओंको अपने पतिकी शरण जाना ही आवश्यक है। चाहे आज ही जावें चाहे कल्प कल्पान्तमें जावें पर जाना आवश्यक है। फिर जहां उपास्य जावेगा वहां उपासक भी अवश्य जावेगा। क्योंकि पहले ही भगवान् कहआये हैं, कि इन उपासकोंकी दृढ श्रद्धा मैं इन देवताओंमें करादेता हूं। तो यह प्रत्यक्ष है, कि जिसकी दृढ श्रद्धा पूर्ण संकल्पको लियेहुए अपने इष्ट देवमें बनीहुई है वह अवश्य अपने इष्टके स्वरूपको प्राप्त होकर इष्टके लोकमें पहुंचेगा। एवम्प्रकार जब वह अपने इष्टके लोकको पहुंच गया तो जब वह लोक नष्ट होकर ब्रह्मलोकमें जा मिलेगा तब वह प्राणी भी तहां ही पहुंच जावेगा। फिर तहांसे उस महेश्वरके परमधामको पहुंचेगा। क्योंकि सबोंका विश्रामस्थान वही महाप्रभु है।

प्रमाण श्रुतिः— "ॐ तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥" (अर्थ स्पष्ट है)

(श्वेता० अ० ६ श्रु० ७)

इसी कारण भगवानने इस श्लोकके अन्तमें कहा, कि "तामेव विदधाम्यहम्" मैं उन देवताओंमें उनके उपासकोंकी श्रद्धाको दृढकर जमा देता हूं जिसमें उनका विश्वास भी बढताजावे। क्योंकि श्रद्धा और विश्वास इन दोनोंकी वृद्धिसे मनुष्य परमतत्त्वको प्राप्त करलेता है ॥ २१ ॥

अब इसी तात्पर्य्यको भगवान् अगले श्लोकमें दृढ करते हैं—

मू०— स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥
॥ २२ ॥

पदच्छेदः— सः (भक्तः) तया (मद्विहितयाऽचलया) श्रद्धया, युक्तः (सहितः) तस्य (देवस्य) आराधनम् (पूजनम्) ईहते (चेष्टते । करोति) ततः (तस्य देवस्य सकाशात्) एव (निश्चयेन) च (तथा) मया, एव, विहितान् (निर्म्मितान् आज्ञापितान् वा) तान् कामान् (ईप्सितान् विषयान्) हि (निश्चयेन) लभते (प्राप्नोति) ॥ २२ ॥

पदार्थः— (सः) सो जो अन्य देवताओंका पूजनेवाला सकाम भक्त है (तया, श्रद्धया) तिस श्रद्धासे (युक्तः) युक्त होकर (तस्य) तिस देवताका अथवा तिस देवताकी मूर्तिका (आराधनम्) पूजन भजन (ईहते) करता है (ततः) तब वह उस देवताके द्वारा भी (मयैव, विहितान्) मुझसे निर्माण कीहुई

टि०— हितान्— इति पदच्छेदे हितत्वं कामानुपचरितं कल्प्यं नहि कामाः हिताः कस्यचित् । (शंकरः)

हितान्— ईप्सितान् (नीलकण्ठः)

हितान्— मनःप्रियान् (मधुसूदन)

वा मुझसे आज्ञा कीहुई (तान्, कामान्) उन कामनाओंको (हि) निश्चय करके (लभते) प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

भावार्थः— अब भगवान् इन अन्य देवताओंके पूजनेवाले सकामभक्तोंकी सच्ची दशा बताते हुए कहते हैं, कि [**स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते**] सो जो अन्य देवताओंका पूजनेवाला सकाम भक्त है तिस श्रद्धासे युक्त होकर तिस देवताका भजन करता है। सो जो नाना प्रकारके विषयोंकी प्राप्तिकी कामनासे इन्द्र, वरुण, यम, कुवेरादि देवताओंके पूजनेवाले हैं मैं उनकी श्रद्धा उन देवताओंमें ही करादेता हूँ अर्थात् उनकी मनःकामनाओंकी पूर्ति करवाता चलाजाता हूँ। यद्यपि मैं जानता हूं, कि ये मूर्ख हैं मुझको नहीं जानते तथापि जैसे पिताको गूंगे, बहरे, विद्याहीन पुत्रोंपर भी दया आती है और उनको अशक्य जानकर उनके भोजनाच्छादनादिका भी प्रबन्ध करदेता है। इसी प्रकार ये सारी लँगडी लूली ज्ञानसे रहित मेरी प्रजा है। मैं जगत्पिता कहलाता हूं केवल ज्ञानपिता नहीं वरु ज्ञानी वा अज्ञानी सबका पिता अर्थात् रक्षक मैं हूं। इसलिये उनकी बिगडी दशा देख उनपर दया आती है। क्योंकि मैं जानता हूं, कि ये कामनावाले हैं और कामना पापका मूल है, कामना कारागारमें लेजाती है, कामना मुशकें बंधवाती है, रौरव और कुम्भीपाकको पहुंचाती है, कामना द्वार-द्वार फिराती है, कामना मूर्ख धनवानोंके सामने बडे २ विद्वानोंसे अंजली जुडवाती है, कामना पृथ्वी खुदवाती है, कामना समुद्रमें डुबाती है कामना रणमें गर्दन कटवाती है, कामना नीचोंकी सेवा करवाती है, कामना चोरी सिखाती है, यहां

तक, कि कामना बढते-बढते प्राणीको धूलमें मिलादेती है। कामना-वाले की कामना यदि पूर्ण होगयी तब तो उस देव देवीमें उसके विश्वासको दृढ करदेती है यदि नहीं पूर्ण हुई तो वही मूर्खभक्त उस अपने देव देवीको सहस्रों गालियां सुनाता है और उसकी मूर्ति उखाडकर अपने घरसे बाहर फेंक आता है तथा उस देवताका कभी नाम भी नहीं लेता। तो ऐसी दशामें उस प्राणीका परिश्रम जो थोडे दिन उस देवता देवीके पूजनमें हुआ था व्यर्थ होजाता है। फिर तो वह प्राणी नष्ट ही होजाता है।

इसी कामनाके बिषय भगवान पहले भी कह आये हैं, कि " संगात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते········ "

अर्थ— संगसे कामना उत्पन्न होकर यदि उसकी पूर्ति न हुई तो क्रोध उत्पन्न होता है तिससे बुद्धि भ्रष्ट होती है। इस श्लोकके अन्तमें भगवानने कहा है, कि " प्रणश्यति: " अर्थात् प्राणी नाश होजाता है।

इसी कारण कृपासागर अपनी कृपाका परिचय देते हुए कहते हैं, कि मुझे इन अज्ञानी भक्तोंका परिश्रम देख दया आती है। जैसे कोई बालक अपनी मरी माताकी छातीपर उसके स्तनको मुखमें ले बारे २ खींचता है पर उसमें दूध नहीं आता तो देखनेवालेको उस बच्चेपर दया आती है। इसी प्रकार कामनावाले प्राणीकी कामना अन्य देवताओंसे जो मृतकके तुल्य हैं पूर्ण होना न देखकर मुझे उस-पर दया आती है तब मैं दोनोंपर अर्थात् उपास्य और उपासक (उस

देवता और उसके पूजनेवाले) पर कृपा दृष्टि करके उस देवमें अपनी शक्ति प्रदानकर उसके पूजनेवालेकी मनःकामनाओंको पूर्ण करदेता हूँ। यदि ऐसा न करूँ तो मेरी कृपामें बट्टा लगता है। इसलिये मैं अवश्य उन देवताओंके द्वारा इन पामर सकामी मनुष्योंकी मनःकामना पूर्ण करा ही देता हूँ।

एवम्प्रकार उसकी मनःकामनाकी पूर्ति होजानेसे उस देवता, देवीमें उस प्राणीकी श्रद्धा उत्पन्न होती है वह उस श्रद्धासे युक्त होकर "तस्याराधनमीहते" तिस देवताकी आराधना करता है अर्थात् मन ही मन उसकी मूर्ति बनाकर अथवा पाषाण, मृत्तिका इत्यादिकी प्रतिमा बनाकर पूजता है।

एवम्प्रकार यह भक्त अपने इष्टदेवकी आराधना कर [**लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्**] उन्हीं देवताओंमें अपनी कामनाओंको पाता है अर्थात् मारण, मोहन, वशीकरण इत्यादिका फल प्राप्त कर प्रसन्न होता है। भगवान् कहते हैं, कि एवम्प्रकार जो इन देवताओं द्वारा प्राणी कामनाएं लाभ करता है सो सब कामनाएं कैसी हैं ? कि '**मयैव विहितान् हितान्**' वे सब मुझसे विहित कीगयी हैं अर्थात् जिस समय मैंने "**एकोहं बहुस्याम**" कहकर सृष्टिको फैलायी थी उसी समय प्रजापतिको आज्ञा देदी, कि जीवोंके कर्मोंका और उनके फलोंका प्रबन्ध करदो। इसलिये प्रजापतिके सृष्टिकी रचनाकरनेके साथ२ देवता और मनुष्योंमें परस्पर वृद्धि करने

की आज्ञा देदी। (देखो अध्याय ३ श्लोक १० से १२ तक जहां यह दिखलादिया गया, कि किस देवतासे प्रजाको क्या लाभ होता है ?)

इसी तात्पर्यको स्पष्टरूपसे दिखलानेके लिये भगवान इस श्लोक के अन्तमें कहते हैं, कि " विहितान् हितान " अर्थात् मेरे द्वारा जिन कर्मोंके फल वेदोंमें विहित कियेगये हैं वे विधि कहलाते हैं । और जिन कर्मोंसे नरकादि नाना प्रकारके दुःख भोगनेका ब्योरा दिखलाया गया वे निषेध कहलाते हैं । अर्थात वेदोंके द्वारा विधि (पुण्य) और निषेध (पाप) का भेद मनुष्योंको बताया गया।

इसी कारण भगवान कहते हैं, कि जो फल जिस प्रकार मेरे द्वारा विधि कियागया उसको उसी रीतिसे देवता लोग प्रदान करते हैं। यदि इन दोनों पदोंका एकसाथ करके अन्वय कियाजावे, कि विहितान हितान तब यो अर्थ होगा, कि जो मनःकामनाएं प्रजापतिके द्वारा विहित कीगयी और जो कामनाएं सकामभक्तोंको हित हैं अर्थात् प्रिय हैं उनको भक्तजन लाभ करते हैं ॥ २२ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन ! यदि ये अन्य देवपूजक अपने-अपने इष्टकी पूजा कर अपनी मनःकामनाओंकी पूर्ति करते चले जावें और उनके लोकको प्राप्त होते चलेजावें तो इसमें हानि क्या है ?

इतना सुन भगवान् मन्द-मन्द मुसकातेहुए गम्भीर शब्दोंसे बोले—

मू०—अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३

पदच्छेदः— तेषाम् (बाह्यार्थाभिलाषिणाम्) अल्पमेधसाम् (मन्दप्रज्ञत्त्वेन तत्त्वविवेकासमर्थानाम) तत् (अन्य देवताराधनजम्) फलं, तु, अन्तवत् (विनाशि) भवति, देवयजः (इन्द्राद्यर्चकाः) देवान्, यान्ति (प्राप्नुवन्ति) मद्भक्ताः (मदाराधनतत्पराः) अपि, माम् (वासुदेवम् सच्चिदानन्दघनमनन्तम् परमात्मानम्) यान्ति (गच्छन्ति) ॥ २३ ॥

पदार्थः— (तेषाम्) नाना प्रकारकी वाह्य कामनाओंके करनेवाले (अल्पमेधसाम) क्षुद्रबुद्धियोंका (तत्फलम्) वह फल जो अन्य देवताओंकी आराधनासे प्राप्त होता है (तु) निश्चय करके (अन्तवत्) नाशवान् (भवति) होता है क्योंकि (देवयजः) देवताओंके पूजन करनेवाले (देवान्) केवल उन देवताओंको (यान्ति) प्राप्त होते हैं और (मद्भक्ताः) मेरे भक्त (मामपि) मुझ अनन्त वासुदेव सच्चिदानन्दघनको भी (यान्ति) प्राप्त होजाते हैं अर्थात् मेरे स्वरूपमें प्रवेश करजाते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थः— जिस मार्गचलनेवालेको अपने सच्चे विश्रामस्थानपर पहुंचना है उसे किसी सेतुपर खडा रहना नहीं चाहिये वरु उस सेतुको पारकर आगेका मार्ग लेना चाहिये । कहनेका तात्पर्य यह

है, कि अन्य देवताओंकी पूजा सेतुके समान है जिसे छोडकर भगवत्स्वरूपरूप अपने विश्रामस्थान तक पहुंच जाता है। इसलिये अन्य देवताओंकी पूजा थोडे दिनके लिये विहित कहते हुए भगवान् यथार्थ तत्त्वके दिखलानेके तात्पर्यसे अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं, कि [**अन्तवत्तु फलं तेषाम् तद्भवत्यल्पमेधसाम्**] इन क्षुद्रबुद्धियोंके अन्य देवताओंकी पूजाका फल नाशवान् है अर्थात् वे जो नाना प्रकारकी कामनाओंके करनेवाले जो मारण, मोहन, वशीकरण द्वारा अप्सराओंको वश करनेकी कामना रखते हैं तथा पुत्र, कलत्र, धन, सम्पत्ति राज्य पाट इत्यादिकी अभिलाषा रखते हैं अथवा नाना प्रकारकी आराधना करके स्वर्गलोक, वरुणलोक, कुवेरलोक इत्यादि लोकोंकी आकांक्षा करते हैं उनका फल भी अन्तवाला है अर्थात किसी न किसी समय कहीं न कहीं जाकर नाश होजानेवाला है स्थिर रहनेवाला नहीं है। क्योंकि जब तक इन देवलोकोंकी स्थिति रहेगी तबहीतक अर्थात केवल एक कल्पतक उन लोकोंका सुख भी रहेगा जो बहुतही अल्प है। इसलिये ऐसे अल्प सुखकी कामना करनेवाले अल्पमेधस अर्थात क्षुद्रबुद्धि कहे जाते हैं।

शंका— एक दो दिनके आनन्दकेलिये तो सहस्रों पुरुष सिर धुना-करते हैं केवल संसारी विषयकेलिये जो अत्यन्त अल्पकाल तक रहने वाला है रणभूमिमें जाकर सहस्रों मनुष्य मस्तक कटवा देते हैं बडे-बडे चक्रवर्त्ती बाणोंसे बेधेजाते हैं। फिर विचार करने योग्य है, कि संसारी चक्रवर्त्तीका सुख जो देवलोकोंके सुखकी अपेक्षा अति अल्प है जिसके लिये ही अपना प्राण संकल्प करदेते हैं तो यदि देवपूजकोंने स्वर्गकेलिये

तथा प्रजापति लोकादि लोकोंके लिये जिसका सुख महाप्रलयपर्यन्त भोगेंगे तो क्या यह सुख थोडा है? फिर भगवान्ने इन कामनावालों को " अल्पमेधस " क्षुद्रबुद्धि क्यों कहा?

समाधान— जो प्राणी उदारबुद्धि अर्थात् विशाल प्रज्ञावाला है और लोक, परलोक तथा इस सृष्टिकी रचनाको समझताहुआ आत्मज्ञानका साक्षात्कार करनेवाला है उसको तो यह अनुभव है, कि यह काल अनादि और अनन्त है। चाहे सहस्रों महाप्रलय क्योंन होजावें पर इन सहस्रों महाप्रलयके समयको यदि एकत्र करदिया जावे तो उस महाकालकी अपेक्षा ये सब मिलकर इतना भी नहीं हैं जितना, कि एक वर्षकी अपेक्षा पलमात्र।

जैसे छोटे बच्चेकी शान्ति माताके स्तनसे केवल एक चिल्लुमात्र क्षीर खींचलेनेसे होजाती है पर वह संतोष अधिक काल रहनेवाला नहीं होता फिर शीघ्र ही उसे क्षुधा लग आती है। इसी प्रकार इन अन्य देवपूजकोंका सुख चाहे सहस्रों कल्पमात्रका क्यों न हो पर आत्मज्ञानसे महाकालकी अपेक्षा इतना भी अत्यन्त अल्प ही है केवल अल्पबुद्धियोंकेलिये ही यह बहुत बडा सुख है। जैसे हस्तीके अहारके सामने एक छोटीसी पिपीलिकाका अहार अत्यन्त अल्प है। शंका मत करो! लो और सुनो—

श्रुतिः— " ॐ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति॥ यो वा

एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः”

(वृह० अ० ३ ब्रा० ८ श्रु० १०)

अर्थ— याज्ञवल्क्य कहते हैं, कि हे गार्गी! जो प्राणी इस भूत भविष्यत् वर्तमान तीनों कालमें एकरस रहनेवाले, कभी भी नाश नहीं होनेवाले अक्षर ब्रह्मके आनन्दको नहीं जानकर केवल अपनी स्वर्गादि मनःकामनाके साधनेके तात्पर्य्यसे इस संसारमें नाना प्रकारके यज्ञोंका सम्पादन करता है, भजन करता है तथा तपस्यासे अपनेको तपायमान करता है, सहस्रों वर्ष पर्य्यन्त बनमें निराहार रहकर अथवा सूखी पत्ति खाकर वा केवल जल वा वायुमात्रका आहार करके तप करता है तिस प्राणीके तपका फल भी नाशवान् ही होता है। क्योंकि किसी प्रकारका फल क्यों न हो जब फल हुआ तो कभीनकभी अवश्य नाश होही जावेगा। इसलिये हे गार्गी! जो उस अक्षर ब्रह्मको न जानकर केवल कर्मोंको करता हुआ इस कर्मलोकसे जाता है वह कृपण है उदार नहीं है पर हे गार्गी! जो इसको जानकर अर्थात् आचार्य्यद्वारा उपदेश पाकर “अहं ब्रह्मास्मि” ऐसा जानता हुआ इस लोकसे जाता है सोही ब्राह्मण है अर्थात् ब्रह्मानन्दमें मग्न होकर भगवत्स्वरूपमें लय होजानेवाला है।

ऐसे पुरुषकेलिये फिर श्रुति कहती है, कि “आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्” (वृह० अ० ४ ब्रा० ४ श्लो० १२)

अर्थ— जो अल्पबुद्धि नहीं है उदार बुद्धि है वह अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण ऐसा जानता है, कि जो परमात्माख्य पुरुष है सो मैं हूँ। ऐसा आत्मज्ञानी केवल भगवत्तकी ही उपासना कर भगवत्-स्वरूपसें ही मग्न रहकर किसी भी कामनाकी इच्छा न कर तथा अन्य देवताओंकी उपासना न कर केवल उसी सच्चिदानन्द आनन्दघनके प्रेमका रस लेता हुआ अपना समय आनन्दसे बिताता रहता है।

इसी कारण भगवान् कहते हैं, कि [**देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि**] जो देवताओंके भजन करनेवाले हैं वे देवताओंको प्राप्त होते है अर्थात् जिस २ देवताकी जो उपासना करता है वह उसी २ देवताके रूपको और उसकी समीपताको पाता है और जो मेरी उपासना करनेवाले हैं वे मुझको प्राप्त करते हैं। इसी विषयको भगवान् आगे अध्याय ८ के ६ वें श्लोकमें कहेंगे "यं यं भावं स्मरन्वाऽपि त्यजत्यन्ते....” अर्थात् प्राणी जिस २ भावको स्मरण करता हुआ अन्तमें अपने शरीरको परित्याग करता है वह तिन्हीं २ भावोंको प्राप्त होता है।

मुख्य तात्पर्य्य भगवान्के कहनेका यह है, कि साधारण प्राणी जो अल्पमेधस (संकीर्णबुद्धि) हैं वे मुझको एकाएक नहीं जान-सकते। क्योंकि उनकी बुद्धिका संयोग पूर्वकर्मानुसार वहाँतक नहीं पहुँचा, कि मेरेमें उनकी प्रीति हो अतएव किसी साधारण देवताका भजन करके उसके लोकके सुखको प्राप्त होते हैं। जैसे देवता-ओंके भजन करने वाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, ऐसेही मेरे भक्-

नकरनेवाले भी मुझहीको प्राप्त होते हैं। अथवा यों अर्थ करलो, कि जैसे अन्य देवताओंके भक्तोंको मैं उन देवताओंसे कामना पूर्ण करवादेता हूँ ऐसे ही मैं भी अपने भक्तोंकी कामनाओंको पूर्ण करदेता हूँ। मेरे भक्त अपनी कामनाओंको भी पाते हैं और मुझको भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि मेरे भक्तोंको मुझे छोड अन्य कुछ भी कामना नहीं होती न उनको कोई अर्थ साधन करना रहता है तथापि बिना माँगे, बिना कामना किये सब पदार्थ उनके पास आपसे आप दौडे चलेआते हैं। यह वचन भगवान् पहले ही इस गीताके दूसरे अध्यायके ७० वें श्लोकमें कहआये हैं, कि " विहाय कामान् यः सर्वान् " अर्थात् जैसे सर्वप्रकार जलसे भरे पूरे अचलप्रतिष्ठ समुद्रको जलकी कामना नहीं रहती तथापि सब नदियाँ बिना बुलाये आपसे आप समुद्रमें आ गिरती हैं। इसी प्रकार मेरा भक्त जो सर्वकामपूर्ण है उसके पास सब कामनाएँ आपसे आप आन पहुंचती हैं। इसलिये कामनाओंकी कुछ भी परवाह न कर केवल मेरे ही स्वरूपमें मग्न रहता है। " अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यन्मनुतेऽन्यद्विजानाति तदल्पम्। " अर्थात् जबतक यह मनुष्य उस सच्चिदानन्दघन सत्यस्वरूप अनन्तगुणविशिष्ट वासुदेवको छोड अन्य पदार्थोंको अथवा अन्य देवताओंको देखता है अन्यको सुनता है, अन्यको मानता है और अन्यको जानता है, तबतक वह अल्प है अर्थात् उसका सुख भी अल्प है और वह प्राणी भी अल्पमेधस है ॥ २३ ॥

इतना सुन अर्जुनने शंकाकी, कि हे भगवन्! जब आपके भजनसे प्राणियोंको सर्वोत्तमसुख भी लाभ होता है और आप साक्षात्

परब्रह्मस्वरूप भी उसे मिलजाते हैं तो क्या कारण है, कि आपको छोड प्राणी अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं ?

इतना सुन भगवान् बोले—

मू०— अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परंभावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

पदच्छेदः— अबुद्धयः (विवेकहीनाः) मम, अव्ययम् (नित्यम् । अविनाशिनम्) अनुत्तमम् (निरतिशयमखण्डैश्वर्य्यपूर्णम् । सर्वोत्कृष्टम् वा) परंभावम् (परमात्मस्वरूपम्) अजानन्तः, अव्यक्तम (सर्वोपाधिशून्यत्वेनास्पष्टम् । प्रपंचातीतम् वा) माम (वासुदेवम्) व्यक्तिम् (मनुष्यमत्स्यकूर्मादि शरीराभिमानिनम्) आपन्नम् (प्राप्तम) मन्यन्ते ॥ २४ ॥

पदार्थः— (अबुद्धयः) बुद्धिहीन पुरुष (मम) मेरे (अव्ययम्) नित्य अविनाशी (अनुत्तमम्) सबोंसे श्रेष्ठ (परं भावम्) परमात्मस्वरूपको (अजानन्तः) नहीं जानतेहुए (अव्यक्तम, माम्) मुझ अव्यक्तको अर्थात् सर्व प्रकारकी उपाधिसे शून्य शरीररहितको (व्यक्तिमापन्नम्) मनुष्य, कूर्म्म, मत्स्यादि शरीरको धरण क्रियेहुए (मन्यन्ते) मानते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो प्रश्न किया है, कि हे भगवन् ! तुमको सर्वप्रकार सुखस्वरूप जानकर अन्य देवताओंको छोड प्राणीमात्र केवल तुम्हारी ही उपासना क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर देतेहुए

श्री आनन्दकन्द गोकुलचन्द कहते हैं, कि [**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः**] जो प्राणी बुद्धिहीन हैं वे मुझ अव्यक्तको व्यक्त मानते हैं अर्थात् मुझ अशरीरीको शरीरवाला मानते हैं। वे लोक, परलोक, कर्म, उपासना, ज्ञानादिके तात्पर्य्यको नहीं जानते। सगुण, निर्गुण, साकार और निराकारका भेद कुछ नहीं समझते। किसी प्रकारके तत्त्वका जिनको बोध नहीं है, जिनकी बुद्धिका संयोग ज्ञानके साथ नहीं हुआ अर्थात् ज्ञानकी सातों भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका शुभेच्छा भी जिनको प्राप्त नहीं हुई, किसी सद्गुरुके शरण जाकर सेवासे उनको प्रसन्न न करके ईश्वरमार्गको कुछ भी नहीं जाना। वे भगवान्के अव्यक्तस्वरूपको व्यक्तकरके मानते हैं। जैसे साधारण प्राणी रजवीर्य्यसे उत्पन्न होकर बाल, पौगण्ड, कौमार, किशोर, युवा, वृद्ध इत्यादि परिवर्तनोंको प्राप्त हो मृत्युको प्राप्त होते हैं इसी प्रकार जितने मूर्ख हैं वे मुझको भी व्यक्तिमापन्न (शरीरधारी) समझते हैं इसी कारण उनकी प्रीति मुझमें नहीं जमती और मेरी उपासना नहीं करते। फिर ये बुद्धिहीन पुरुष कैसे हैं? कि [**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्**] मेरे परमभावको नहीं जानते हुए अर्थात् मेरा जो परमात्मस्वरूप है उसे एक वारगी भूलतेहुए और जो सब स्वरूपोंसे मैं परे हूं तिससे अनभिज्ञ होते हुए बुद्धिहीन मेरे स्वरूपकी पूजा वा उपासना नहीं करते।

वह परभाव अर्थात् परमात्म-स्वरूप कैसा है? कि अव्यय अर्थात् अविनाशी है और अनुत्तम अर्थात् सबोंसे उत्कृष्ट और श्रेष्ठ है। मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मेरा स्वरूप ब्रह्मादि देवोंसे उत्कृष्ट है और अखण्ड

ऐश्वर्य्यसे पूर्ण है। इसी वार्ताको भगवान्‌ने आगे भी अध्याय ६ श्लोक ११ में कहा है, कि " अवजानन्ति माम् मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् " अर्थात् जो मूढ हैं वे मुझको मनुष्य-शरीरधारी मानते हैं नहीं तो यथार्थमें मेरा शरीर मानुषी नहीं, रजवीर्यसे नहीं यह तो केवल मायाकृत मनुष्यरूप है।

भगवान्‌के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि विवेकहीन इस मेरे अव्यय और अनुत्तम परमभावको नहीं जानतेहुए मुझ जन्ममरणरहित, अजर और अविनाशीको जन्ममरणवाला, नाशवान मानते हैं इसलिये मुझे छोड अन्य२ देवता देवीकी उपासनामें रत रहते हैं ॥ २४ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! आप साक्षात् पूर्णपरब्रह्म, जगदीश्वर, सच्चिदानन्दघन, सर्वेश्वर, जन्म मरणसे रहित, अज और अविनाशी हो फिर क्या कारण है, कि प्राणी आपको नहीं जानते?

यह सुन श्रीगोलोकबिहारी बोले—

मू० -नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥२५

पदच्छेदः— अहम् (वासुदेवः) सर्वस्य (सर्वेषां भूतानाम) प्रकाशः (स्पष्टरूपेणातिप्रसिद्धः) न [तस्मात्] योगमायासमावृतः (योगो युक्तिर्मदीयः सः कोप्यचिन्त्यप्रज्ञाविलासः स एव माया। अथवा युक्तिर्गुणानां घटनं सैव माया तया संछन्नः) मूढः (मोहंगतः) अयं, लोकः, माम्, अजम् (जन्मादिरहितम्) न (नैव) अभिजानाति (वेत्ति) ॥ २५ ॥

पदार्थः—(अहम्) मैं जो महेश्वर वासुदेव सो (सर्वस्य) सब लोकलोकान्तरनिवासियोंको (प्रकाशः, न) प्रकाशित अर्थात् स्पष्टरूपसे प्रसिद्ध नहीं हूं। इसी कारण (योगमायासमावृतः) मेरी योगमायासे आच्छादित होकर (मूढः) मोहको प्राप्तहुआ (अयं, लोकः) यह लोक (माम्) मुझको (अजम्) जन्मरहित और (अव्ययम्) अविनाशी (नाभिजानाति) नहीं जानता है ॥ २५ ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्से प्रश्न किया है, कि तुम्हारे ऐसे पूर्णपरब्रह्म जगदीश्वरको सब लोग क्यों नहीं मानते ? और तुम्हारी ही उपासना क्यों नहीं करते ? इस प्रश्नका उत्तर देतेहुए श्रीआनन्दकन्द ब्रजचन्द कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [नाहं प्रकाशः सर्वस्य] मैं सब लोकोंकेलिये प्रकाशमान् अर्थात् स्पष्टरूपसे प्रसिद्ध वा प्रकट नहीं हूं मैं क्या हूं ? क्या मुझमें शक्ति है ? कहां निवास करता हूं ? मेरा नित्यकर्म क्या है ? मेरे साथ मेरा सहायक कोई है वा नहीं ? मैं किसी माबापसे उत्पन्न होता हूं वा नहीं ? कबतक जीवित रहता हूं ? फिर शरीर छोडकर कहां जाताहूं ? यह कोई भी नहीं जानता इसलिये मैं सबोंपर प्रकट नहीं हूं। यदि यह कहो, कि मैं कृष्ण हूं, नन्दयशोदा वा वसुदेव देवकीका पुत्र हूं, मैं शत्रुओंको विजयकर नाश करसकता हूं, मैं गोकुल बृन्दावन वा मथुराका रहने वाला हूं, तेरा ममेरा भाई हूं, तुझको युद्धमें सहायता देने आया हूं और सर्वसाधारणके समान कुछ दिन जीवित रहकर मृत्युको

प्राप्त होजाऊंगा सो ऐसा नहीं। क्यों कि मैं पहले ही तुझसे कह आया हूं, कि जो मेरे परमभावके नहीं जानने वाले हैं वे ही मुझको ऐसा मानते हैं पर मैं सो नहीं हूं। मैं साक्षात् परमात्मा हूं, अजन्मा हूं, जन्ममरणसे रहित हूं, अविनाशी हूं, सर्वव्यापक हूं, सम्पूर्ण सृष्टिके उत्पत्ति पालन और संहार करनेकी शक्ति मुझमें है, मैं सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके भीतर बाहर निवास करने वाला हूं, नानाविधि अनगिनत सृष्टिको बनाना और नाश करदेना मेरा नित्य कर्म है, मैं किसी मा-बापसे उत्पन्न नहीं हूं, मैं तीनों कालमें एकरस वर्त्तमान रहता हूं, मैं मृत्युसे रहित हूं, वरु यों कहना चाहिये, कि मृत्यु मेरी आज्ञामें है और मेरा एक भी शरीर नहीं। सो इस मेरे स्वरूपको स्पष्टरूपसे कोई भी नहीं जानता इसी कारण हे अर्जुन! मैं तुझसे कहता हूं, कि मैं सबलोकोंपर प्रकट नहीं हूं।

प्रिय पाठको! इतनातो भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति अपने यथार्थस्वरूपके विषयमें कहा है क्योंकि जो उनका यथार्थस्वरूप है उसको किसी प्रकार जानना नहीं बनता। ये दशों इन्द्रियां उस महा प्रभुके यथार्थस्वरूपके जाननेमें समर्थ नहीं हैं। भगवान्‌के इस बचनको श्रुति भी प्रतिपादन करती है "ॐ नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा" (कठो० अ० २ वल्ली ३ मं० १२ में देखो)

अर्थ— वह महा प्रभु सर्वान्तरात्मा न वचनसे प्राप्त होसकता है, न मनसे और न नेत्रोंसे अर्थात् किसी भी इन्द्रिय द्वारा उसे कोई प्राप्त नहीं करसकता और प्रकट रूपसे प्रत्यक्ष नहीं करसकता।

फिर दूसरी श्रुति भी कहती है— "ॐ न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" (श्वेता० अ० ४ श्रु० २०)

अर्थ— उस महाप्रभुका स्वरूप (सदृश) अर्थात् जितनी देखनेवाली वस्तु दर्पण इत्यादि हैं उनमें कहीं भी नहीं देखाजाता और न इसको कोई प्राणी इन आंखोंसे देखसकता । क्योंकि यह कहीं भी प्रकट और प्रसिद्ध नहीं है ।

फिर तीसरी श्रुति कहती है— "ॐ न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा" (मुं० ३ खं० १ श्रु० ८)

अर्थ— वह महेश्वर नेत्रसे तथा वचनसे नहीं ग्रहण करनेमें आता है और न अन्य किसी देवताद्वारा जानाजाता है, न तपस्यासे हाथ आता है, न अश्वमेध, गोमेधादि यज्ञोंसे प्राप्त होता है ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि वह वासुदेव यथार्थ स्वरूपसे सबोंपरप्रकट नहीं है कोई-कोई अनन्यभक्त ही उसके जाननेवाला हो तो हो ।

अब इस नहीं जाननेकाकारण भगवान् श्रीमुखसे वर्णन करते हैं, कि [योगमायासमावृतः । मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्] मूढलोक मेरी योगमायासे घिरे रहनेके कारण जो मोहसे मोहित होरहा है मुझ अज, अव्ययको नहीं जानता । क्योंकि मैं "अणोरणीयान" अर्थात् अत्यन्त छोटेसे छोटा होनेके कारण अतर्क्य हूं । कोई अणुमात्र कहता है तो दूसरा मुझे अणुतर अर्थात् अणुसे भी छोटा कहता है और कोई मुझे अणुतम अर्थात्

अणुतरसे भी अधिक सूक्ष्म कहता है। इसलिये बडे-बडे बुद्धिमान् और आचार्योंके तर्कमें मैं नहीं आता, एक बालके अग्रभागका करोडभाग करनेसे भी अधिक सूक्ष्म मुझ निरंजन को जानना चाहिये। भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि यह लोक मेरी योगमाया करके मोहित है इसलिये मैं सबको प्रसिद्ध नहीं हूं। अतएव पामर जीव अन्य-अन्य देवताओंकी उपासना करके अपनी-अपनी मनःकामनाओंकी सिद्धि करते रहते हैं और अत्यन्त प्रसन्न हो अपनेको धन्य मानते हैं मुझको नहीं जानते।

इसी कारण यह सिद्धान्त वचन है, कि भगवान्की मायासे मोहित प्राणी भगवत्के सम्मुख नहीं होते ॥ २५ ॥

इसी विषयको फिर भगवान् अगले श्लोकमें स्पष्टरूपसे दिखलाते हैं, कि जो मेरा भक्त नहीं है वह मुझे नहीं जानता—

मू०— वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

पदच्छेदः— [हे] अर्जुन! अहम् (महेश्वरः) समतीतानि (समतिक्रान्तानि) वर्त्तमानानि * (प्रारब्धापरिसमाप्तानि) च, भविष्याणि (अनागतानि, आगामीनि) भूतानि (श्वस्तनानि) वेद (जानामि) मां (अजमव्यक्तम्) तु (निश्चयेन) कश्चन, न, वेद जानाति ॥ २६ ॥

* प्रवृत्तोपरतश्चैव वृत्ता विरत एव च। नित्यः प्रवृत्तः सामीप्यो वर्त्तमानाश्चतुर्विधाः ॥

पदार्थः—(अर्जुन !) हे अर्जुन (अहम्) मैं जो महेश्वर सो (समतीतानि) जितने भूत पहले होकर विनशगये हैं तिनको तथा (वर्त्तमानानि) जितने अब वर्त्तमान हैं तिनको (च) फिर जितने (भविष्याणि) आगे अब होनेवाले हैं तिनको (च) भी (वेद) जानता हूं (मान्तु) परं मुझको तो (कश्चन) कोई प्राणी (न, वेद) नहीं जानता है ॥ २६ ॥

भावार्थः— अब भगवान् अपने परमभावको प्रकट करते हुए कहते हैं, कि [**वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चाऽर्जुन ! । भविष्याणि च भूतानि**] हे अर्जुन ! मैं जो सर्वव्यापक, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, सर्वगत, सर्वान्तर्य्यामी, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ यद्यपि अपनी माया फैलाकर सर्वत्र क्रीडा कररहा हूं तथापि मैं इस अपनी मायासे मोहित नहीं होता। इसी कारण मैं इस ब्रह्माण्डमें समतीतानि जितने प्राणी वा पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट होगये हैं तिनको तथा वर्त्तमानानि जितने प्रवर्तित अब इस समय ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त वर्तमान हैं तिनको भी फिर भविष्याणि च भूतानि जो भूत आगे होनेवाले हैं उनको भी जानता हूं।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि इस ब्रह्माण्डमें ब्रह्मलोकसे पाताल पर्य्यन्त जितनी रचनाएं होचुकी वा होरही हैं और आगे होनेवाली हैं उनमें जितने विशेष प्राणी, पदार्थ, वस्तु अर्थात् अण्डज, पिण्डज, ऊष्मज, स्थावर तथा ८४ लक्ष योनि फिर पर्वत, समुद्र, हीरा, लाल, मणि, माणिक इत्यादि जितने स्थावर जंगम रूप

भूत हैं मैं सबोंके गुण, कर्म और स्वभावको विलग २ जानता हूं। अर्थात् ब्रह्मलोकमें ब्रह्मा बैठे हुए जिस प्रकार सृष्टिकी रचना कररहे हैं और विष्णुभगवान् क्षीरसागरमें शयन करतेहुए जिस प्रकार पालन कररहे हैं तथा कैलाशमें शिवभगवान् बैठे २ जिस प्रकार संहार कररहे हैं तिस सबको पूर्णप्रकार जानता हूं तथा एक छोटीसी चींटी वा पिपीलिका जो किसी छोटे बिलमें चलरही है तिसके गुण, कर्म और स्वभावको तथा उसके अनेक जन्मोंके कर्मोंको भी मैं सांगोपांग जानता हूं अर्थात् सब छोटे बडोंके कर्मोंको मैं पूर्ण प्रकार जानता हूं पर हे अर्जुन! [मान्तु वेद न कश्चन] मुझको अर्थात् मेरे दिव्य कर्मोंको कोई नहीं जानता, कि मैं बैठा२ क्या करता रहता हूं? किसी कार्य्यका साधन करता हूं वा चुपचाप बैठा रहता हूं। किसीको कुछ देता रहता हूं वा किसीसे कुछ लेता रहता हूं।

यहां भगवान्ने जैसा अर्जुनसे कहा है श्रुतियां भी उसी प्रकार कहती हैं, कि " न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितात् " (केनोपनि० खं० १ श्रु० ३ में देखो)

अर्थ— श्रुति कहती है, कि मैं उस महेश्वर सर्वान्तरात्माको नहीं जानती हूं और न शिष्यको जना सकती हूं, कि वह इस प्रकारका है। इसीलिये जब स्वयम् श्रुति ही उस महेश्वरको नहीं जानती तो औरोंकी क्या गणना है? अर्थात् जैसे भगवान् पूर्वश्लोकमें कह आये हैं, कि " नाहं प्रकाशः सर्वस्य " मैं सबोंको प्रकाशित नहीं हूं अर्थात् सब मुझको नहीं जानते। जिसका कारण भी

तहां ही दिखाआये हैं, कि " योगमायासमावृतः " ये जीव मेरी योगमायासे प्रच्छन्न हैं इसलिये मुझको नहीं जानते । इसी विषयको श्रुति भी ज्यों का त्यों कहती है, कि " ॐ एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते " (कठो० अ० १ वल्ली ३ श्रु० १२ में देखो) जिसका भाष्य श्री शंकरस्वामी यों करते हैं, कि " एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादि कर्माविद्यामायाच्छन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित " अर्थात यह परम पुरुष ब्रह्मासे लेकर स्तम्ब पर्य्यन्त सब भूतोंमें गूढ है तथा गुप्त-रूपसे प्रवेश कियेहुआ है इसलिये दर्शन, श्रवण इत्यादि कर्म अविद्या अर्थात् मायासे संछन्न है । इसी कारण किसी प्राणीको वह पुरुष आत्मत्त्व करके प्रकाशित नहीं है ।

कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मायासे वशीभूत होनेके कारण उसे कोई नहीं जानता ।

शंका— इस सातवें अध्यायको आरम्भ करतेहुए भगवान अर्जुनसे प्रथमही श्लोकमें यह प्रतिज्ञा करचुके हैं, कि हे अर्जुन ! तू मुझको पूर्ण-प्रकार जैसे जानेगा सो सब बातें मैं तुझसे कहता हूं चित्त लगाकर श्रवण कर ! और अब कहते हैं, कि " मान्तु वेद न कश्चन " कोई मुझको नहीं जानता ऐसा क्यों ?

समाधान— भगवान्ने जो यहां "कश्चन" शब्दका प्रयोग किया है तथा 'तू' शब्दका प्रयोग किया है इन दोनों शब्दोंका विशेष तात्पर्य्य यह है, कि "कश्चन" अर्थात जितने प्राणी मेरी दुरत्यया मायासे मोहित हैं

उनमें तो कोई भी मुझे नहीं जानसकता पर जो प्राणी मायासे मोहित नहीं है वह तो मुझको जानसकता है । अब कहते हैं कि वह कौन है ? जो भगवन्मायासे मोहित नहीं होता तो उत्तर यह है, कि वह भगवान्‌का परम स्नेही, परम प्रिय, प्रेम-पथका पथिक, जिसने प्रेम मार्गको पूर्ण प्रकार देखाभाला है, केवल देखा ही नहीं वरु प्रेमका स्वरूप ही होरहा है जो उठते, बैठते, सोते, जागते, खाते, पीते और चलते, फिरते हा कृष्ण! हा यादव ! हा माधव ! हा केशव ! हा प्राणनाथ ! इत्यादि प्रेमभरे शब्दोंसे भगवन्नाम उच्चारण करता रहता है उसे माया नहीं व्यापती । सो भगवान् पहले कह आये हैं, कि " मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते " (श्लोक १४) अर्थात् जो मेरे भक्त मेरीशरण आ प्राप्त होते हैं वे ही इस मायाको तरसकते हैं । तात्पर्य्य यह है, कि जैसे नटकी माया बडे २ विद्वानोंको मोहित करती है पर नटके सेवकको मोहित नहीं करती वह उस मायाके सब भेदोंको जानता रहता है ।

अर्जुन जो भगवानका भक्त है जिसे भगवान पहले कह चुके हैं, कि " भक्तोऽसि मे सखा चेति " (अ० ४ श्लो० ३ में देखो) अर्थात् "हे अर्जुन ! तू मेरा भक्त है और सखा है " इसलिये अन्य भक्तोंसे अर्जुनमें विशेषता यह है, कि वह भगवानका भक्त भी है और सखा भी है । ६ प्रकारके जो प्रेमभक्तिके भाव हैं उनमें सख्य-भाव सब भावोंमें श्रेष्ठ है अर्थात् सखाभावसे जो भगवान्‌में प्रेम किया जाता है वह सर्वोत्तम भाव है । इसलिये अर्जुनमें अन्य भक्तोंसे विशेषता भी है । दूसरी बात यह है, कि अर्जुन ज्ञानी भक्त है और ज्ञानी

भक्तके विषय भगवान् कहआये हैं, कि " तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक-भक्तिर्विशिष्यते । प्रियो हि ज्ञानिनः.... " (श्लोक १७ में देखो)

अर्थ— आर्तादि जो मेरे चार प्रकारके भक्त हैं उनमें ज्ञानी सदा मुझहीमें श्रद्धा रखने वाला और मेरा अनन्यभक्त है सो मैं ज्ञानीको अति प्रिय हूं और मुझको भी मेरा ज्ञानीभक्त अत्यन्त प्यारा है जो मुझसे कुछ नहीं मांगता । सो यह अर्जुन भगवान्‌का ज्ञानीभक्त तथा सखा है इसलिये अर्जुन भगवान्‌की समग्ररूपसे जानसकता है । यदि शंका हो, कि अर्जुन ऐसा एका-एक क्यों होगया ? तो उत्तर इसका यह है, कि अर्जुन अनेक जन्मोंसे परिश्रम कर निष्काम-कर्मोंका साधन करता हुआ चला आरहा है और यह जन्म उसका अन्तिम जन्म है इसलिये वह भगवानकी शरण प्राप्त है और भगवद्भक्तिका लाभ किया है । भगवान स्वयं श्रीमुखसे कहचुके हैं, कि " बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते " (श्लोक १६) जिसका अर्थ यह है, कि बहुत जन्मोंके पश्चात् ज्ञानवान प्राणी मुझको प्राप्त होता है तबही मुझको जानता है। इसी कारण भगवान्‌ने जो अर्जुनको यह कहा, कि तू मुझको समग्र जिस प्रकार जानेगा सो सुन !

भगवान्‌के वचनमें बिरोध नहीं है भक्तोंके अतिरिक्त भगवान्‌को मायामोहित प्राणियोंमें कोई भी नहीं जानसकता । इसीलिये जो भक्त हैं भगवत्‌की उपासनामें लगे हैं तथा ज्ञानी हैं निष्काम हैं आत्मज्ञान ब्रह्मज्ञान तथा ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करचुके हैं वे ही भगवान्‌को जान सकते हैं, इनसे इतर कोई नहीं जानसकता । भगवत्‌के जानने वालोंका लक्षण श्रुतियोंने भी यों वर्णन किया है—

" ॐ दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः " (कठो अ० १ बल्ली ३ श्रुति १२ में देखो) अर्थ– जो सूक्ष्मदर्शी हैं अर्थात् ज्ञानी हैं उनहीकी अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिके अग्रभागसे वह महाप्रभु देखाजाता है अर्थात् ज्ञानियोंसे वह जानाजाता है ।

फिर श्रुति कहती है– " नित्यं बिभुं सर्वगतं सुसूक्ष्म तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति + धीराः " (मुण्ड० १ खं० १ श्रु० ६)

अर्थ— जो धीर हैं अर्थात् विवेकी हैं भगवत्स्वरूपनिष्ठ हैं भगवत्परायण हैं वे ही उस नित्य प्रभुको जो सर्वत्र व्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, दिव्य है और सर्व स्थावर जंगम भूतमात्रकी उत्पत्तिका स्थान है जानते हैं। शंका मतकरो ॥ २६ ॥

अब भगवान् अपने नहीं जाननेका प्रथम कारण जीवोंका योग-मायासे मोहित होना बताकर आगेके श्लोकमें दूसरे२ कारणोंको बताते हैं जो भगवत्स्वरूपके जाननेमें प्रतिबन्धक अर्थात् रोकनेवाले हैं—

मू०— इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥ २७

पदच्छेदः— [हे] परन्तप ! (शत्रुतापन !) भारत ! (भरतकुलोद्भवाऽर्जुन !) सर्वभूतानि (सर्वे प्राणिनः) सर्गे (स्थूल-देहोत्पत्तिकाले) इच्छाद्वेषसमुत्थेन (अनुकूलप्रतिकूलविषयाभ्यां समु-

+ धीराः— " धीमन्तो विवेकिनः " जो बुद्धिमान् विवेकी अर्थात् ज्ञानी भक्त हैं ॥

स्थितेन) द्वन्द्वमोहेन (शोभनाऽशोभनसुखदुःखशीतोष्णसत्याऽसत्य-नित्याऽनित्याऽत्माऽनात्मसु विपर्ययस्तेन) सम्मोहम् (सम्मूढताम्) यान्ति (गच्छन्ति) ॥ २७ ॥

पदार्थः—(परन्तप !) हे शत्रुओंके नाशकरनेवाले (भारत!) भरतकुलमें उत्पन्न अर्जुन ! (सर्वभूतानि) इस ब्रह्माण्डमें जितने प्राणी हैं वे (सर्गे) जन्म लेनेके समय (इच्छाद्वेषसमुत्थेन) इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुआ (द्वन्द्वमोहेन) जो द्वन्द्व तिसके कारण (संमोहम्) मूढताको (यान्ति) प्राप्त होजाते हैं । इसी कारण मुझको नहीं जानते, कि मैं कौन हूं ॥ २७ ॥

भावार्थः— अब भगवान् प्राणियोंकी मूढताका कारण जिससे वे भगवत्स्वरूपको नहीं जानसकते बतातेहुए कहते हैं, कि हे शत्रु-ओंका नाश करने वाला [इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत !] हे श्रेष्ठ भरतवंशमें उत्पन्न अर्जुन ! तू भरतके पवित्र वंशमें उत्पन्न है अतएव इच्छा, द्वेष, द्वन्द्व, मोह इत्यादि शत्रुओंका भी दमन करनेवाला है, तू मेरा भक्त है और प्रिय सखा है तथा भरत ऐसे वीरवंशमें उत्पन्न होनेसे तुझमें इन सांसारिक साधारण शत्रु-ओंके ही नाश करनेकी शक्ति नहीं वरु इच्छा, द्वेष करके उत्पन्न द्वन्द्व इत्यादि अलौकिक शत्रुओंके नाश करनेकी सामर्थ्य भी तुझमें है। इसलिये मैं तुझको यह कहता हूं, कि इच्छा और द्वेषसेउत्पन्न जो द्वन्द्व है तिस द्वन्द्वके द्वारा जो मोहकी प्राप्ति होती है उससे सब प्राणीमात्र मोहित होरहे हैं अर्थात् सब प्राणी सदा नाना प्रकारकी अभिलाषा करते ही रहते

हैं जो-जो वस्तु इनको तत्काल सुख देनेवाली हैं इच्छा करते हैं क्योंकि वे इनके अनुकूल होती हैं । उनसे ये अपनी भलाई समझते हैं । क्योंकि जब प्राणी अपने संगी साथियोंको तथा अडोस पडोसवालोंको नाना प्रकारके विषयोंकी प्राप्ति द्वारा परम प्रसन्न और हर्षित होकर सुख भोगता हुआ तथा राजा, बाबू, सेठ, साहूकार इत्यादि पदवियोंसे सुशोभित देखता है तब इसके चित्तमें भी यही बार्त्ता घुसती है, कि अपने पडोसियोंके समान मैं भी बडा आदमी धनपात्र बनजाऊं ऐसी-ऐसी इच्छाओंसे वे मोहको प्राप्त रहते हैं । तथा जिन-जिन वस्तुओंसे उनको द्वेष है उनके सम्मुख उपस्थित होनेसे घृणा उत्पन्न होती है जिससे वे मोहमें पडे रहते हैं इसलिये मुझको नहीं जानते ।

मुख्य तात्पर्य यह है, कि इन्हीं इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न जो द्वन्द्व अर्थात् इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिसे सुख और द्वेषयुक्त वस्तुओंकी प्राप्तिसे दुःख होता है । इसी सत्य, असत्य, नित्य, अनित्य, शोभन और अशोभन आत्मा और अनात्मा इनका जो विषय प्राणीके चित्तमें होता रहता है वही मोहका उत्पन्न करनेवाला है । सो भगवान् कहते हैं, कि [सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप !] जिस समय इन प्राणियोंका जन्म होता है उसी क्षणसे ये उक्त प्रकारके द्वन्द्वोंसे जनित मोहसे घिरजाते हैं अर्थात् संसारके खड्डेमें गिरजाते हैं । दुःख सुखका अनुभव करने लगजाते हैं क्योंकि यदि इनको दुःख सुखका बोध न होता तो गर्भसे बाहर आते ही रुदन नहीं करते । अभिप्राय यह है, कि यह द्वन्द्वजनित मोह

प्राणीके साथ-साथ उत्पन्न होता है कारण इसका यह है, कि जब यह प्राणी माताके गर्भमें सर्वांगसे तयार होजाता है और नवें मास में सर्वलक्षणापूर्ण होजाता है तब इसे पूर्वजन्मके शुभाशुभ सब कर्म स्मरण होआते हैं फिरतो गर्भहीमें यह नाना प्रकार दुःख सुखका अनुभव करने लगता है। तहां श्रुतिका प्रमाण है– " अथ-नवमे मासि सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति पूर्वजातीः स्मरति कृता-कृतं च कर्म भवति। शुभाशुभं च विदन्ति। "

एवम्प्रकार गर्भहीमें इसको अपने शुभाशुभ कर्म देखपडते हैं फिर जन्म लेनेके पश्चात् उन्हींकी स्मृति (अभिव्यक्त) प्रकट होकर थोडेकाल पश्चात् प्रबुद्ध होजाती है तब धीरे २ पूर्व जन्मके सब संस्कार उदय होतेजाते हैं और प्राणी तदनुसार इच्छा और द्वेष से बद्ध होता चलाजाता है। बचपन ही से अपनी माता और अपने पिताके तो गले लिपटता है पर औरोंके समीप नहीं जाता जो कोई पुरुष वा स्त्री उसे एकबार भी किसी प्रकारका भय दिखादे वा पीडित करदे तो फिर वह बच्चा उसे देख डरता है। द्वेषके कारण उसके समीप नहीं जाता। माताके स्तनको देख दूधके लिये दौडता है यदि किसी प्रकारका प्रतिबन्धक उस दूधके मिलनेमें आनपडे तो वह बच्चा रोने लगता है। जब तक दूध न मिले अथवा माताकी गोद न मिले तब तक रोता ही चलाजाता है। और जब किसी प्रकारसे कभी वह बच्चा प्रसन्न होता है तो हँसता और किलकिलाता है। बुद्धि-मान् उसके रोने और हँसनेहीसे यह अनुभव कर सकते हैं, कि इतने से छोटे बच्चेको भी हर्ष विषादका अनुभव होता है। अतएव यह

पूर्ण प्रकार सिद्ध होता है, कि बचपन ही से वरु पूर्वजन्महीसे यह प्राणी इच्छा द्वेष करके बद्ध है ।

इसी कारण भगवान् इस श्लोकमें कहते हैं, कि जन्म लेनेके समयसे ही (सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति) ये सब जीव जन्तु इच्छा द्वेपसे उत्पन्न द्वन्द्वजनित मोहको प्राप्त होते हैं अर्थात द्वन्द्वों वा उनके अन्तःकरणपर आवरण पडनेसे बुद्धि प्रकाशरहित होनेके कारण अज्ञानतामें लिपटजाती है ।इसी कारण ये मेरे यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते ।

जो प्राणी पूर्वजन्मका जितना अधिक पापी होगा उसको उतनी ही अधिक इच्छा द्वेषके द्वन्द्वोंकी प्राप्ति होगी वह उतना ही मुझसे विमुख होगा । अर्थात् ब्रह्मानन्दकी ओर उसकी बुद्धि कभी भी नहीं जावेगी भगवत्स्वरूपका मिलना तो उसकेलिये अत्यन्त ही असम्भव है ।

ऐसे पापीकी संगतिसे भी बहुत बडी हानि होती है । इसलिये ऐसोंसे विलग रहना उचित है । ऐसे ही मूर्ख, गुरु शास्त्र तथा सनातन धर्मके सिद्धान्तोंकी निन्दा करते हैं और मनमुखी बनकर सात पीढी नीचे और सात पीढी ऊपर वालोंको नरकमें लेजाते हैं। क्योंकि ऐसे प्राणी भगवद्विमुख होनेके कारण आप तो कष्ट भोगते ही हैं पर औरोंको भी दुःखके कारण होते हैं ॥ २७ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन्! पहले तुमने कहा है, कि मेरे चार प्रकारके भक्त हैं और सब उदार हैं मुझ ही को भजते हैं और अब कहते हो, कि सब प्राणी मेरी मायासे मोहित होकर पूर्व-जन्मार्जित नाना प्रकारके पापोंके कारण संस्कारसे मलीन रहते हैं अतएव मुझको नहीं जानते तो वे जो तुम्हारे चार प्रकारके भक्त हैं वे भी तो इसी संसारमें मायाग्रस्त हैं फिर वे तुम्हें कैसे जान सकते हैं? यदि इसमें और भी कोई गुप्त रहस्य हो तो कृपाकर कहो!

इतना सुन भगवान् बोले अर्जुन! सुन—

मू०— येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

पदच्छेदः— येषाम् (सफलजन्मनाम्) तु, पुण्यकर्मणाम् (पुण्याचरणशीलानाम्) जनानाम् (प्राणिनाम्) पापम् (दुष्कृतम्, पातकम्) अन्तगतम् (अवसानप्राप्तम्) ते, दृढव्रताः (अचलसंकल्पाः, अर्थात् एवमेव परमार्थतत्त्वं नान्यथेत्येवं सर्वपरित्यागव्रतेन निश्चितविज्ञानाः) द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (यथोक्तद्वन्द्वमोहेन वर्जिताः, रागद्वेषादिबन्धनविपर्यासेन स्वत एव वर्जिताः) माम् (वासुदेवम्) भजन्ते (अनन्यशरणाः सन्तः सेवन्ते) ॥ २८ ॥

पदार्थः— (येषाम्) जिन (पुण्यकर्मणाम्, जनानाम्) पूर्वजन्मोंमें पुण्य अर्थात् शोभन कर्मोंके आचरण किये-हुए प्राणियोंका (तु) निश्चयकरके (पापम्) पापकर्म (अन्त-

गतम्) समाप्त होगया है अर्थात नष्ट होगया है (ते, दृढव्रताः) वे ही दृढव्रतवाले अर्थात् दृढसंकल्प वाले (द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः) पूर्व श्लोकमें कथन कियेहुए द्वन्द्वमोहसे छुटकारा पाजाने वाले (माम्) मुझ वासुदेवको (भजन्ते) अनन्यशरण होकरे सेवन करते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थः— अब आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके पूर्व प्रश्नका उत्तर देतेहुए कहते हैं, कि हे अर्जुन ! [**येषां त्वन्तगतं पापं जनानाम्पुण्यकर्मणाम्**] जिन पूर्वजन्मके पुण्यकर्म करने वालोंका पाप-कर्म नष्ट होगया वे ही मुझको भजते हैं । क्योंकि नाना प्रकारके निष्काम-कर्मोंके सम्पादन करनेसे उनका अन्तःकरण शुद्ध होगया है । इसलिये जिन पुरुषोंने अनेक जन्मोंमें शुभाचरण करते २ अपने अशुभ आचरणोंको नष्ट करदिया है वे ही मेरी भक्तिके अधिकारी हैं। क्योंकि पहले तो अनेक जन्मोंमें यह मनुष्य मायासे मोहित रहकर सकामकर्मोंका सम्पादन करते २ अनेक देवताओंकी उपासना द्वारा उस देवताको प्राप्त होते २ उसकी संगतिसे अपनी बुद्धि स्वच्छ करता है तब वह इस संसारको मायाकृत जानकर धीरे २ संसृति द्वन्द्वोंसे मुंह फेरता है फिर उसे कई जन्मोंके पश्चात् यथार्थ वैराग्य उत्पन्न होता हैं सो वैराग्य एक जन्ममें नहीं कई जन्मोंमें धीरे २ वृद्धिको प्राप्त होते २ पहले संसारसे उदासीन करता है पर स्वर्ग-लोक इत्यादिकी आकांक्षा उसे बनी रहती है । फिर बार २ अनेक जन्मोंमें स्वर्गादि लोकोंपर चढते उतरते जब उसकी दृष्टिमें ऐसा ज्ञान होता है, कि इन स्वर्गादि लोकोंके सुख भी नश्वर हैं, इनमें आस्था नहीं करनी

चाहिये । तब उसे इन लोकोंसे घृणा उत्पन्न होकर केवल भगवच्चरणोंकी चाह होती है । एवम्प्रकार भगवच्चरणोंकी चाहमें कितने जन्म बीत जाते हैं तब प्राणीको प्रेम उत्पन्न होता है [**ते द्वन्द मोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः**] ऐसे ही प्राणी दृढव्रत होकर पूर्व कथन कियेहुये द्वन्द्व और मोहसे छूटकर मुझको भजते हैं। भगवान्के कहनेका तात्पर्य्य यह है, कि ऐसे प्राणी दृढव्रत होते हैं अर्थात् जब उनको भगवच्चरणोंमें प्रीति होजाती है तो फिर चाहे सहस्रों आपत्तियां क्यों न आजावें कदापि अपने नियमसे विचलित नहीं होते । वे तो अनन्य शरण होकर केवल भगवत्की ही उपासनामें मग्न रहते हैं ।

यह भगवत्की उपासना केवल उन ही प्राणियोंको प्राप्त होती है जो दृढव्रत हैं अर्थात् जो सच्चे संकल्प और सच्चे नियम वाले होते हैं । क्योंकि द्वन्द्व और मोहसे वे छुटकारा पायेहुए रहते हैं ।

प्रमाण— " **ॐ तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः** " (श्वेता० अ० १ श्रु० १० में देखो) अर्थात् जिस परमात्म-देवके ध्यानसे तथा अपनेको योजना करनेसे उसमें अहर्निश लगजानेसे तथा उस भगवत्तत्त्वकी भावना करनेसे " **भूयश्चान्ते** " अनेकवार जन्म लेनेके पश्चात् अन्तिम जन्ममें विश्वमायाकी निवृत्ति होजाती है । पहले भगवान् भी ऐसा ही कह आये हैं, कि " **बहूनां जन्मनामन्ते....** " (इसी अध्यायके १० वें श्लोकमें देखो)

जब एवम्प्रकार मायाकी निवृत्ति अर्थात् द्वन्द्वमोहकी निवृति हो जाती है तब समग्र भगवत्तत्त्वको प्राणी जानने लगजाता है ॥२८॥

इतना सुन अर्जुने पूछा भगवन् ! ऐसे जो द्वन्द्वमोहसे, रहित पापसे मुक्त और दृढव्रत तुम्हारे चरणोंकी सेवा करनेवाले किन तत्त्वोंके वेत्ता होजाते हैं ? सो कृपा कर कहो !

श्रीआनन्दकन्द बोले अर्जुन ! सुन—

मू०— जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म्म चाखिलम् ॥
॥ २९ ॥

पदच्छेदः— ये (द्वन्द्वमोहादिनिर्मुक्ताः दृढव्रताः) **जरामरणमोक्षाय** (वार्द्धक्यम् मरणवियोगादि विविधदुःसहसंसारदुःखनाशाय) **माम्, आश्रित्य** (मयि समाहितचेतसो भूत्वा) **यतन्ति** (मदर्पितानि फलाभिसन्धिशून्यानि विहितानि कर्माणि कुर्वन्ति) **ते, तत्, ब्रह्म** (मायाधिष्ठानं शुद्धं परंब्रह्म) **कृत्स्नम्** (समस्तम्) **अध्यात्मम्** (प्रत्यगात्मविषयम) **अखिलम्** (सम्पूर्णम्) **कर्म, च, विदुः** (जानन्ति) ॥ २९ ॥

पदार्थः— (**ये**) जो (**जरामरणमोक्षाय**) वृद्धता और मृत्यु इत्यादि दुःखोंसे छूटनेकेलिये (**माम्**) मुझ वासुदेवको (**आश्रित्य**) अवलम्बन करके (**यतन्ति**) मेरेको प्राप्त करनेकेलिये समस्त कर्मोंको मुझमें अर्पण करतेहुए मेरी प्राप्तिका यत्न

करते हैं (ते) वे (तद्ब्रह्म) तिस शुद्ध परमब्रह्मको तथा (कृत्स्नम) समस्त प्रत्यगात्मविषयको और (अखिलं, कर्म) सब कर्मोंको (च) भी (विदुः) जानजाते हैं।

भावार्थः— श्रीसकलसुखदाक अखिल ब्रह्माण्डनायक आनन्दकन्द भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुनके प्रति कहते हैं, कि [**जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये**] वृद्धता और मृत्युसे छुटनेके लिये जो लोग मेरे आश्रित यत्न करते हैं उन्हें क्या लाभ होता है ? सो सुनो !

यहां भगवानने जो जरा मृत्यु कहा सो जरा तथा मृत्यु मनुष्यके लिये कैसी दुःखदायी है ? सो दिखलाया जाता है—

चारों अवस्थाओंमें जरावस्था अत्यन्त दुःखदायिनी है और इससे भी अधिक मृत्युका दुःख है इनमें जरा किसीपर आवे वा न आवे पर मृत्यु तो सबोंपर आती ही है। प्राणियोंको इन दोनोंसे छूटनेका यत्न अवश्य करना चाहिये सो यत्न केवल भगवतका आश्रय लेना है इसी लिये यहां भगवानने कहा है, कि मेरे आश्रय होकर जो जरा मरणसे छुटनेका यत्न करते हैं वे इनसे छुटजाते हैं और सब कुछ जानजाते हैं। पाठकोंके कल्याणार्थ यहां इन अवस्थाओंका तथा मृत्युका वर्णन करदिया जाता है—

प्रमाण— " वयस्तु त्रिविधं वाल्यं मध्यं वृद्धमिति। तत्रोन षोडशवर्षा वालाः॥ तेऽपि त्रिविधाः क्षीरपाः, क्षीरान्नादाः, अन्नादा इति। तेषु सम्वत्सरपराः क्षीरपाः द्विसम्वत्सरपराः क्षीरान्नादाः परतोऽन्नादा इति॥ षोडशसप्तत्योरन्तरे मध्यं

वयः । तस्य विकल्पो वृद्धिर्यौवनं सम्पूर्णता हानिरिति ॥ तत्रा-विंशतेर्वृद्धिः, आत्रिंशतो यौवनं, आचत्त्वारिंशतः सर्वधातुरिन्द्रिय-बलवीर्य्यसम्पूर्णता, अत ऊर्ध्वमीषत्परिहाणिर्यावत् सप्ततिरिति ॥ सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधातुरिन्द्रियबलवीर्य्योत्साहमहन्यहनि ॥ वलीपलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरभिभूयमानम् सर्व-क्रियासुत्वसमर्थं जीर्णागारमिव अभीष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते"

(सुश्रुत अ० ३५ सूत्र २९)

अर्थ— तीन प्रकारकी अवस्थायें हैं— बाल्य, मध्यम और वृद्ध। पन्द्रह सालतक बाल्यावस्था कही जाती है सो भी तीन प्रका-रकी है– १. क्षीरपा (दूधपीनेवाली अवस्था) २. क्षीरान्नादा (दूध और अन्न दोनोंके ग्रहण करने वाली अवस्था) ३. अन्नादा (अन्नग्रहणकरनेवाली अवस्था) एक सालतक क्षीरपा, दोसालतक क्षीरान्नादा और इससे ऊपर केवल अन्नादा होती है।

फिर सोलह और सतरहके मध्यमें मध्य अवस्था कहीजाती है तिसके भी चार भेद हैं– १. वृद्धि, २. यौवन, ३. सम्पूर्णता, ४. हानि। तहां बीस साल तककी अवस्था वृद्धि कही जाती है अर्थात् शरीरके सब अवयव (अंग) बढते हैं। तीस सालतक युवा अवस्था कही जाती है। चालीस सालतक सब धातुओंका अर्थात् रोम, चर्म, रुधिर इत्यादि सातों प्रकारकी धातुओंकी तथा सब इन्द्रियोंकी, बल और वीर्य्यकी सम्पूर्णता होती है अर्थात् ये सब पुष्ट होते हैं। इससे ऊपर थोडी २ हानि आरंभ होजाती है अर्थात् धातु, इन्द्रिय, बल

और वीर्य्य सबोंकी हानि होने लगती है सो सत्तर सालतक बराबर हानि होती चलीजाती है। फिर वली (चमडेका सिकुडजाना) पलित (केशका श्वेत होना) खालित्य (खल्वाट वा चांदिल होजाना) आरंभ होजाता है, कास, श्वास (खासी दमा) इत्यादि रोगोंकी उत्पत्ति होती है, सर्वप्रकारकी क्रियाओंमें असमर्थ होजाता है। जैसे पुराने घरकी दीवालोंपर जलकी बूंदोंकी चोटसे हानि पहुंचती है धीरे २ नष्ट होजाती है। इसी प्रकार इस वृद्धावस्थामें सारा शरीर छीजने लगता है।

इस सुश्रुतके वचनसे भी जरावस्था दुःखदायिनी होना सिद्ध होता है।

सो भगवान् कहते हैं, कि ऐसी जो जरा तथा मृत्यु जो सबके साथ २ उत्पन्न हुई है प्राणियोंको अत्यन्त दुःखदायिनी है। जराके पश्चात् तो मृत्युका आना सर्वशास्त्रसम्मत है। अन्य अवस्थाओंमें जो मृत्यु आती है वह तो अचानक एका-एक अचेत अवस्थामें आपहुं-चती है पर जरा तो मृत्यु की दूती है जो पहलेसे पत्रपर कुछ लिखा हुआ लिये आती है। जैसे यहां इन राजा महाराजाओंकी कचह-रीसे जब बुलाहट (संमन) होती है तब एक श्वेतपत्रपर काले अक्ष-रोंसे बुलाहट (संमन) की आज्ञा लिखी हुई आती है। इसी प्रकार जब सिरके बाल सब श्वेत होजाते हैं और कहीं २ दो चार बालोंकी काली पंक्ति रहजाती है तब जानना चाहिये, कि मृत्युकी दूती जरा यमके दरबार (कचहरी) से बुलाहटका आज्ञापत्र (सम्मन) लेकर पहुंचगई है और कहती

है, कि प्यारे अबभी तो चेतो ! कब तक इस मिट्टी पानीकी लोथमें डूबा रहना चाहते हो ?

सो दूती कैसी कराली है, कि सहस्रोंवार उससे आदर सम्मानसे प्रार्थना और विनय कीजिये परे वह तो कुछ भी नहीं मानती। इतनेमें मृत्यु भी पहुंचजाती है फिर तो मत पूछिये! जिसके भयसे सारा ब्रह्माण्ड थर्रा रहा है, जिसके भयसे चक्रवर्त्ती वीर सहस्रों विद्या निपुण भागे फिरते हैं, जो इस संहारकारिणी देवीसे बचसके ऐसा कौन है ? अब मृत्यु अर्थात् मरनेके समय किस प्रकारके दुस्सह क्लेश सहने पडते हैं ? सो कहते हैं।

भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे कह आये हैं, कि " जीर्णानि वस्त्राणि "···· (देखो अ० २ श्लो० २ में) अर्थात् मरणके समय प्राणी एक शरीरसे दूसरे शरीरमें बदल जाता है इसका पूर्ण व्याख्यान इस श्लोककी टीकामें करआये हैं। यहां फिर पुनर्बार उसके वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। एवम् प्रकार मरणके समय २४००० वृश्चिक दंशन (डंक) शरीरपर चढते हैं। जिस समय प्राण शरीरको छोडने लगता है सब इन्द्रियां व्याकुल होकर एक दूसरेके साथ लिपटकर मिल जाती हैं। जैसे सर्पको धक्का देनेसे सिमट कर गोलाकार बनजाता है और मारेजानेके भयसे अपने मुखको अपने शरीरके भीतर करलेता है।

इसी प्रकार सब इन्द्रियां अपनी चालोंको समेट लेती हैं और सब प्राणके साथ मिलजाती हैं। क्योंकि जितनी इन्द्रियां हैं वा मन,

बुद्धि हैं ये सब आत्माके सूतमें पिरोयी हुई हैं जिस समय प्राण ऊर्ध्वमुख अर्थात् ऊपरकी ओर निकलनेके लिये मार्ग खोजता है उस समय इन्द्रियोंको बडी व्याकुलता होती है। जैसे चक्कीमें गोधूम पिसकर चूर २ होजाता है ऐसे अंग २ पिसकर चूरे २ होजाते हैं। जो बुद्धिमान हैं और ज्ञानी हैं वे दूसरोंको मरते हुए देख इन दुःखोंका अनुभव करते हैं।

अवधूत दत्तात्रेयने जो मनुष्योंकी मृत्युका समय पहचाननेकेलिये थोडेसे लक्षण वर्णन किये हैं पाठकोंके कल्याणार्थ इस स्थानमें लिखे जाते हैं जिससे कुछ काल पूर्व ही अपने मरनेका समय प्राणियोंको तो ज्ञात होसकता है। साधारण पुरुषोंको ज्ञात हो वा न हो पर योगियोंको तो ये लक्षण अवश्य ज्ञात होते हैं।

" देवमार्गं ध्रुवं शुक्रं सोमच्छायामरुन्धतिम्।
यो न पश्येन्न जीवेत्स नरः सम्वत्सरात्परम्॥
अरश्मिबिम्बं सूर्यस्य वह्निं चैवांशुमालिनम्।
दृष्ट्वैकादशमासेभ्यो नरो नोर्ध्वं स जीवति॥
वान्त्यां मूत्रे पुरीषे वा सुवर्णं रजतं यथा।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम्॥
दृष्ट्वा प्रेतपिशाचादीन् गन्धर्वनगराणि च।
सुवर्णवर्णान् वृक्षांश्च नवमासान् स जीवति॥
स्थूलः कृशं कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते।
प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम्॥
खण्डं यस्य पदं पार्ष्ण्योः पादस्याग्रेऽथवा भवेत्।

पांशुकर्दमयोर्मध्ये सप्तमासान् स जीवति ॥
कपोतगृध्रकाकोलं वायसो वापि मूर्द्धनि ।
क्रव्यादो वा खगो लीनः षण्मासायुः प्रदर्शकः ॥
हन्यते काकपंक्तीभिः पांशुवर्षेण वा पुनः ।
स्वच्छायां चान्यथा दृष्ट्वा पञ्चमासान् स जीवति ॥
अनभ्रे विद्युतं दृष्ट्वा दक्षिणां दिशमाश्रितम् ।
पयसीन्द्रधनुर्वापि जीवितं द्वित्रिमासिकम् ॥
घृते तैले तथाऽदर्शे तोये वा चात्मनस्तनुम् ।
यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीवति ॥
यस्य वस्तसमो गन्धो गात्रे शवसमोपि वा ।
तस्यार्द्धमासिकं ज्ञेयं योगिनो नृप ! जीवितम् ॥
यस्य वै स्नानमात्रस्य हृत्पादमवशुष्यति ।
पिवतश्च जलं शोषो दशाऽहं सोपि जीवति ॥
स्तम्भितो मारुतो यस्य मर्म्मस्थानानि कृन्तति ।
न हृष्यत्यम्बुसंस्पर्शात्तस्य मृत्युरुपस्थितः ॥
रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च यम् ।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति ॥
आमस्तकंतलाधस्तु निमग्नं पंकसागरे ।
स्वप्नेऽपश्यत्तथात्मानं नरः सद्यो म्रियेत सः ॥
करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यतायुधैः ।
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युं स आप्नुयात् ॥
सूर्य्योदये यस्य शिवा क्रोशन्ती याति सम्मुखम् ।

विपरीतं परीतं वा स सद्यो मृत्युमृच्छति ॥
द्वीपादिगन्धं नो वेत्ति वमत्यग्निं तथा निशि ।
नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति ॥
शक्रायुधं चार्द्धरात्रे दिवाग्रहगणं तथा ।
दृष्ट्वा मन्येत संक्षीणमात्मजीवितमात्मवान् ॥
उष्ट्ररासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम् ।
प्रयाति तं विजानीयात् सद्यो मृत्युं नरेश्वर ! ॥
ऊर्द्धा च दृष्टिर्न च संप्रतिष्ठा रक्ता पुनः संपरिवर्त्तमाना ।
मुखस्य चोष्मा शिशिरा च नाभिः शंसन्ति पुंसामपरं शरीरम ॥
स्वभाववैपरीत्यन्तु प्रकृतेश्च विपर्ययः ।
कथयन्ति मनुष्याणां सभासन्नौ यमान्तकौ ॥"

(मार्कण्डेयपुराणे अलर्कोव्याख्याने अ० ४३)

अर्थ स्पष्ट है तो भी संस्कृत रहित पाठकोंके कल्याण निमित्त इनश्लोकोंका संक्षिप्त तात्पर्य्य लिखदिया जाता है अर्थात् मृत्युके लक्षणोंको जनादिया जाता है—

१. देवमार्ग जो आकाशमें डगरके समान उदय होता है जिसको तथा ध्रुवको,शुक्रको,चन्द्रमाकी छायाको जो चन्द्रमाकी ओर घिरी हुई रहती है और अरुन्धती नामकी जो एक छोटीसी तारा सप्तर्षियोंमें वशिष्ठके साथ केवल दो अंगुल मात्रके अन्तरपर उदय देख पडती है इनको जो न देखे वह साल भरके भीतर मरजावे ।

२. सूर्य्य और अग्निकी किरणोंको जो न देखे सो केवल ग्यारह महीने जीवे ।

३. अपने उवान्तमें, मूत्रमें और मलमें जो सोना चांदीके समान प्रत्यक्षमें अथवा स्वप्नमें देखे सो केवल दस महीने तक जीवे।

४. भूत, प्रेत, पिशाच, गन्धर्वनगर तथा स्वर्णके वृक्षोंको जो देखे तो केवल नव महीने तक जीवित रहे।

५. जो एकाएक मोटेसे दुबला और दुबलेसे मोटा होजावे और जिसका स्वभाव रुक जावे वह केवल आठ महीने तक जीवे।

६. जिसका पांव, एडी तथा पांवका अगला भाग धूलिमें वा कीचडमें टुकडे २ देखपडे वह केवल सात महीनोंतक जीवे।

७. कपोत, गीध, सर्प, काग, कच्चा मांस खाने वाले पक्षी इत्यादिको सिरपर देखनेसे केवल ६ महीना जीवित रहे।

८. कागोंकी पंक्तियां अपनी चौंचसे यदि मारने लग जावें अथवा धूलीकी वर्षासे मनुष्य व्याकुल हो तथा अपनी छायाको पुलटा देखे तो पांच माससे अधिक न जीवे।

९. यदि दक्षिण दिशामें बिना मेघके विजली चमकती हुई देखे और जलमें इन्द्र धनुष (पनसोखा) देखे तो दो तीन माससे अधिक न जीवे।

१०. घी, तेल, दर्पण और जलमें जो अपने शरीरको बिना सिरके देखे तो एक माससे अधिक न जीवे।

११. बकरेके समान वा मृतक शरीके समान जिसके अंगसे दुर्गन्ध निकले तो जानो, कि तिस योगीका शरीर पन्द्रह दिवससे अधिक न वर्त्तमान रहे।

१२. जिस प्राणीका हृदय और पांव स्नानके पश्चात सूखा देखे और जल पीनेपर भी पिपासाकी शान्ति न होवे तो वह प्राणी १० दिनसे अधिक न जीवे।

१३. जिसके शरीरके वायुका प्रवाह रुकजावे तथा मर्मस्थानोंको बेधे और जलके स्पर्शसे जो हर्षित न हो तो जानना चाहिये, कि इसकी मृत्यु सिरपर आगई।

१४. जो नारी लाल और काले वस्त्रोंको धारण किये हुई तथा गाती हुई और हंसती हुई जिस प्राणीको दक्षिण दिशामें लिये जाती हुई स्वप्नमें देखपडे तो जानना, कि वह प्राणी नहीं बचेगा।

१५. जो प्राणी स्वप्नमें अपना मस्तक पंक (दल-दल) में डूबाहुआ देखे तो जानो, कि वह शीघ्र ही मरजावेगा।

१६. जो प्राणी ऐसा स्वप्न देखे, कि कोई अत्यन्त कराल बिकट काला वर्ण हाथमें हथियार उठाकर पाषाणसे मार रहा है तो जानो, कि उसकी मृत्यु आगई।

१७. सूर्य्योदय होते ही जिसके सामनेसे सियाली रोतीहुई सम्मुख आजावे चाहे सीधी हो वा उलटी हो तो जानो, कि वह प्राणी मरा।

टिप्पणी— " सप्तोत्तरशतं सन्ति देहे मर्माणि देहिनाम् । तान्येकादशमासेस्युरथावस्थिषु सन्ति हि। सन्धीनां विंशतिस्तानि स्नायुनां सप्तविंशतिः। चत्वारिंशत्तथैकं च शिरामर्माणि तत्र तु ॥ द्वाविंशतिः सक्थियुगे तावन्त्येव भुजद्वये । द्वादशोरसि कुक्षौ च पृष्ठदेशे चतुर्दश ॥ ग्रीवायामूर्ध्वभागे तु सप्तत्रिंशन्मतानि हि " (भावप्रकाशः)

१८. जिसको दीपककी जलीहुई बत्ती की गन्ध न जानपडे, रात्रिको आग वमनकरे और जो अपने आकारको परायेके नेत्रोंमें न देखे तो जानो, कि अब वह नहीं जीवेगा ।

१६. यदि अर्द्धरात्रिको इन्द्रधनुष (पनसोखा) और दिनमें तारागणको देखे तो प्राणी ऐसा जाने, कि अब मेरा जीवन क्षीण होगया ।

२०. जो प्राणी स्वप्नमें ऊँटपर अथवा गधेपर चढाहुआ दक्षिण दिशाकी ओर अपनेको जाताहुआ देखे तो दत्तात्रेय कहते हैं, कि हे राजन्! उसको शीघ्र मराहुआ जानो ।

२१. जिसकी आंखें ऊपरको चढजावें अपने स्थानपर न लौटें तथा लाल हों और चारों ओर फिरतीहुई हों तथा मुख गर्म हो नाभि टघडी हो तो जानो, कि अब उसका शरीर बदल जावेगा ।

२२. जिसका स्वभाव और प्रकृति बदलजावे अर्थात् देवता, पितरे, गुरुदेव, प्रतिमा इत्यादिमें जो पहले पूज्य-बुद्धि थी वह एकाएक बदलगई अर्थात् इनमें जिसकी पूज्य-बुद्धि न रही तो उसे लोग ऐसा कहते हैं, कि यह यमके समीपमें जा बैठा है । (इससे और अधिक कुछ जाननेकी इच्छा हो तो मार्कण्डेयपुराण अलर्क उपाख्यान अ० ३ को देखो)

अब उक्त प्रकार जो जरा मरणके दुःखोंका वर्णन कियागया उसके विषय भगवान कहते हैं, कि (मामाश्रित्य यतन्ति ये) मेरे आश्रित होकर जो यत्न करते हैं उन्हें ये जरा और मृत्यु नहीं सताती ।

शंका— भक्तोंको मृत्यु क्यों नहीं सताती ?

समाधान— भक्तोंकी मृत्यु तो अवश्य होती है परं उनको सताती नहीं अर्थात् मृत्युके समय कोई क्लेश नहीं व्यापता। भक्तोंका शरीर सुखपूर्वक ऐसे छुटता है जैसे हस्तीके गलेसे पुष्प-माला टूट-कर गिरजाती है। जैसे छोटा बच्चा माताकी गोदमें सुखपूर्वक सोजाता है ऐसे भक्त अन्तकालमें भगवत्-स्वरूपमें सुखपूर्वक शयन करेजाते हैं। शंका मत करो!

फिर भगवान् कहते हैं, कि जब एवम्प्रकार मेरे भक्त जरा और मृत्युसे छूटजानेकेलिये मेरे आश्रय हो उपासना और भजन करतेहुए यथार्थ यत्न करते हैं।

[ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्]

तब वे तिस शुद्ध परब्रह्मको जो मायाका अधिष्ठान है जहांसे माया निकलती है जानजाते हैं। इसी कारण वे मायाके धोखेमें नहीं पडते माया उनको नहीं सतासक्ती। क्योंकि जिसने मायावालेको जानलिया और मायावालेसे मिलगया तब माया उसे क्या करसकती है? क्यों कि जितनी कलाएं मायाकी हैं सबोंके मर्मको वह भक्त जानलेता है अतः वह दुःख नहीं पासकता।

भगवान पहले भी कह आये हैं, कि "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" (देखो श्लोक १४) अर्थात् जो मेरी शरण होते हैं वे मेरी मायाको तरजाते हैं फिर जो प्राणी मायासे रहित हुआ वह अवश्य उस मायावीको समग्ररूपसे जाननेवाला होहीगा।

भगवान्के कहनेका मुख्य तात्पर्य्य यह है, कि मेरे भक्त जरा मरणके भयसे छूटकर तिस ब्रह्मको अर्थात् मेरे यथार्थ स्वरूपको समग्र-रूपसे जानजाते हैं। फिर वे (कृत्स्नमध्यात्मम्) सम्पूर्ण अध्यात्मतत्वको भी जानते हैं तथा (कर्म चाखिलम्) अखिल कर्मको जानते हैं।

यह अध्यात्म क्या है ? और कर्मसे क्या तात्पर्य है ? भगवान् अर्जुनके पूछनेपर आठवें अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णन करेंगे। इसलिये यहां इनके विषय कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २९ ॥

इतना सुन अर्जुनने पूछा भगवन् ! इस अध्यात्म और अखिल कर्म जाननेके अतिरिक्त तुम्हारे भक्त और क्या २ जानते हैं ? सो कृपा कर कहो !

यह सुन भगवान् बोले—

मू०— साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३०

पदच्छेदः— ये, साधिभूताधिदैवम् (अधिभूतं च अधिदैवं च ताभ्यां सहितम्) साधियज्ञम् (अधियज्ञेन सह) ये, च, माम् (महेश्वरम्) विदुः (चिन्तयन्ति भावयन्ति वा) ते, युक्तचेतसः, (समाहितचित्ताः) प्रयाणकाले (मरणकाले) अपि, च, माम् विदुः (जानन्ति) ॥ ३० ॥

पदार्थः—(ये) जो पुरुष (साधिभूताधिदैवम्) अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा (साधियज्ञम्) अधियज्ञके सहित

च (भी) माम् (मुझ महेश्वरको) विदुः जानते हैं अर्थात् मेरा चिन्तमन और भजन करते हैं (ते, युक्तचेतसः) वे समाहित-चित्तवाले अर्थात् एकाग्रवृत्तिवाले (प्रयाणकालेपि, च) मरणकालके उपस्थित होनेपर भी (माम्, विदुः) मुझको ही स्मरण करते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थः— अर्जुनने जो भगवान्‌से पूछा है, कि अध्यात्मादि जाननेके अतिरिक्त आपके भक्त जन और क्या २ जानते हैं? तिसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं, कि **[साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः]** अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ के साथ भी जो २ प्राणी मुझ वासुदेवको सबोंका ईश्वर अर्थात् महेश्वर करके जानते हैं तात्पर्य यह है, कि इन तीनों तत्त्वोंके साथ जो मेरी उपासना करते हैं **[प्रयाणकालेपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः]** वे युक्तचित्तवाले जिनकी मनोवृत्ति अहर्निश मुझे छोड अन्य किसी देवता देवीकी ओर नहीं जाती और न मुझे छोड किसी अन्य लोक-लोकान्तरके सुखोंकी जिनको चाहना है वे इसी कारण केवल मुझमें युक्तचित्त हैं अर्थात् एकाग्रचित्त हो मुझहीमें ध्यान लगाये रहते हैं मेरे नाम, रूप, गुण, लीला, धाम इत्यादिका चिन्तमन करते रहते हैं ऐसे युक्त-चेतस मरणकालमें भी मुझको ही स्मरण करते हैं, मेरे ही रूपमें आसमाते हैं अर्थात् मरणकालके समय उनको मृत्युका दुःख नहीं होता। क्योंकि उनको किसी प्रकारका द्वन्द्व वा किसी प्रकारकी चिन्ता अथवा किसी प्रकारका क्लेश वा भय तथा किसी प्रकारका रोग मरणके समय नहीं होता, वे तो हंसते, खेलते, गाते, बजाते मेरे ही स्वरूपमें प्रवेश करजाते हैं।

अब रहा यह, कि भगवान‌ने जो कहा, कि अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञके साथ मुझको जानते हैं सो ये तीनों तत्त्व क्या हैं ? उनका वर्णन आगे अष्टम अध्यायमें किया जावेगा ।

इति श्रीसत्परमहंसपरिव्राजकाचार्येण श्रीस्वामिना हंसस्वरूपेण विरचितायां श्रीमद्भगवद्गीतायां हंसनादिन्यां टीकायां ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

महाभारते भीष्मपर्वणि तु एकत्रिंशोऽध्यायः ॥

इति सप्तमोऽध्यायः

शुद्धाशुद्धपत्रम् ।

पृष्ठ	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१६०४	५	हित्वा	हिता
१६०७	४	स्तया	स्तस्या
,,	५	आत्माज्ञान	आत्मज्ञान
१६२४	११	नामुंचन्ति	न मुंचति
१६२५	३	है	हैं
१६२७	१८	ह	है
११३१	१०	है	हैं
१६३६	४	पर	परम
१७००	११	करता	कराता
१७१८	१३	अनन्दकन्द	आनन्दकन्द
१७१८	१६	स्तस्थो	स्तत्स्थो
,,	२०	महदादयं	महदाद्यं
[illegible]७२४	१	मम	मम
१७३०	६	दनित्यं	दानन्त्यं
,,	१५	तस्यानित्य	तस्यनित्य
१७६०	१८	मभप्रिय	मम प्रियः
१७६८	१७	बहुनाम	बहूनाम्
१७७३	१६	कर्तृत्वभिमान	कर्तृ-त्वाभिमान
१७७६	१५	पुजयितुम	पूजयितुम्
१७८३	२१	य ए वैक	य एवैक
१७८८	१३	प्रणार तिः	प्रणश्यति
१७६१	३	याति	यान्ति
		म-मपि	मामपि
१७६३	१७	अन्यन्त	अत्यन्त
१८०६	४	गूढोत्मा	गूढात्मा
१८०८	२२	श्रुयियों	श्रुतियों
१८१७	१०	वार्द्धक्यन्-मर०	वार्द्धक्य-मरण
१८२२	१८	नखायस्तु	नखाग्रस्तु
१८२४	११	सभासन्नौ	समासन्नौ
१८२६	११	स्नायुनां	स्नायूनां